जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

आगम-अनुशीलन ग्रन्थमाला

ग्रन्थ-२

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

विवेचक और सम्पादक
मुनि नथमल
(निकाय सचिव)

प्रकाशक
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम०, बी० एल०

सकलक
आदर्श साहित्य सघ
चूरू (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक
श्री रामलाल हँसराज गोलछा
विराटनगर (नेपाल)

प्रकाशन-तिथि
जनवरी, १९६८

मुद्रित प्रति
११००

पृष्ठाक
५४४

मूल्य
रु० १२ ००

मुद्रक :
न्यू रोशन प्रिंटिंग वर्क्स
३१/१, लोअर चितपुर रोड
कलकत्ता-१

UTTARADHYAYAN : EK SAMIKSHATMAK ADHYAYAN
(The Uttaradhyayan Sutra : A Study)

Vacana Pramukh
ACARYA TULASI

Editor
Muni Nathmal
(Nikaya Saciva)

Publisher
Jain Swetambar Terapanthi Mahasabha
Agam-Sahitya Prakashan Samiti
3, Portuguese Church Street
CALCUTTA-1 (INDIA)

First Edition, 1967] *[Price · Rs 12.00*

समर्पण

विलोडियं आगम दुद्ध मेव,
लद्ध सुलद्ध णवणीय मच्छं।
सज्झाय सज्झाण रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

विनयावनतः
आचार्य तुलसी

ग्रन्थानुक्रम

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमो का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगे। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मै उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति मे सविभागी रहे हैं। संक्षेप मे वह संविभाग इस प्रकार है :

विवेचक-सम्पादक : मुनि नथमल
सहयोगी : मुनि दुल्हराज

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना सविभाग समर्पित किया है, उन सबको मै आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

इस ग्रन्थ में उत्तराध्ययन का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत है। श्रमण और वैदिक धाराओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवकाश जिन आगमों में है, उनमें उत्तराध्ययन प्रमुख है। समसामयिक दर्शनों में वैचारिक विसदृशता होने पर भी भाषा-प्रयोग, शैली आदि तत्त्व सदृश होते हैं। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में वे एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं। अत उनका तुलनात्मक अध्ययन किए बिना शाब्दिक व आर्थिक बोध सम्यक् नहीं होता। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन-तत्त्व-विद्या, साधना-पद्धति आदि विषय चर्चित हुए हैं तथा श्रमण और वैदिक संस्कृति के व्यावर्तक तत्त्वों का ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक विश्लेषण हुआ है। वैदिक, जैन व बौद्ध तीनों धाराओं में प्राप्त सदृश कथाओं के मूल स्रोत को खोजने की चेष्टा की गई है। उस समय की इन तीनों महान् धाराओं में एक-दूसरी धारा का परस्पर मिश्रण हुआ है, प्रभाव पड़ा है। किसी एक धारा ही ने दूसरी को प्रभावित किया और वह दूसरी धाराओ से प्रभावित नहीं हुई, ऐसा मानना सत्य की कक्षा में समाहित नही हो सकता।

श्रमण-परम्परा वैदिक-परम्परा से उद्भूत हो या वैदिक-परम्परा श्रमण-परम्परा से उद्भूत हो तो उसका ऐतिहासिक मूल्य बदल सकता है किन्तु गुणात्मक मूल्य नहीं बदलता। उद्भूत शाखा की गुणात्मक सत्ता अपने मूल से अधिक विकासशील हो सकती है। समय-समय पर कुछ विद्वानों ने जैन-धर्म को वैदिक-धर्म की शाखा माना है। उस अभिमत के पीछे उनका कोई दुराग्रह रहा है, ऐसा कहना मुझे उचित नहीं लगता, किन्तु यह कहने में संकोच अनुभव नहीं होता कि उन्होने वैसा निर्णय स्वल्प सामग्री के आधार पर किया था। डॉ० हर्मन जेकोबी आदि विद्वान् उस अभिमत का निरसन कर चुके हैं। प्राप्त सामग्री के आधार पर हम भी इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि वैदिक और श्रमण धाराओं में जन्य-जनक का पौर्वापर्य खोजने की अपेक्षा उनके स्वतन्त्र अस्तित्व और विकास की खोज अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस ग्रन्थ में तीनों परम्पराओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है। उसका मनन करने से यह प्रतीति होती है कि पारम्परिक भेदानुभूति के उपरान्त भी धर्म की अभेदानुभूति का स्रोत सब धाराओं में समान रूप से प्रवाहित रहा है। जो लोग धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करते, उनका दृष्टिकोण संकीर्ण रहता है। आग्रह और संकीर्ण-दृष्टि की परिसमाप्ति के लिए धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का बहुत ही महत्त्व है।

प्राकृत-साहित्य में तात्कालिक जीवन के चित्र बहुत ही प्रस्फुट हैं। उनमें दार्शनिक, सांस्कृतिक व सामाजिक जीवन की रेखाएँ बड़े कौशल से अंकित हुई हैं। इस ग्रन्थ में उसकी एक संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की गई है।

आचार्य श्री की यह इच्छा थी कि उत्तराध्ययन पर ऐसा अध्ययन प्रस्तुत किया जाय, जो जैन-धर्म की धारणाओं का प्रतिनिधित्व कर सके। उनकी अन्तःप्रेरणा ने हमारे अन्तस् को प्रेरित किया, उनके पथ-दर्शन ने हमारा पथ प्रशस्त किया और प्रस्तुत ग्रन्थ निष्पन्न हो गया।

इस ग्रन्थ की निष्पत्ति मे मुनि दुलहराजजी का अनन्य योग रहा है। मुनि श्रीचन्दजी ने भी इस कार्य में मेरा सहयोग किया है। साध्वी कानकुमारीजी और मञ्जुलाजी का भी इस कार्य मे कुछ योगदान रहा है।

'नामानुक्रम' साध्वी कनकप्रभाजी ने तैयार किया है। प्रतिलिपि के संशोधन में मुनि गुलाबचन्दजी तथा उद्धरणों की प्रतिलिपि में मुनि चम्पालालजी भी भाग-संभुक्त रहे हैं। इस ग्रन्थ में जिनकी कृतियों का उपयोग किया गया है, उन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सागर सदन, शाहीबाग,
अहमदाबाद–४
कार्तिक शुक्ला १२, वि०सं० २०२४

मुनि नथमल

प्रकाशकीय

प्रस्तुत "उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन" आगम अनुशीलन ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है। "दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन" इस ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ है, जो पहले प्रकाशित हो चुका है और अपनी तरह का अद्वितीय होने के कारण विद्वान् और जनसाधारण सभी श्रेणियों के पाठकों द्वारा समादृत हुआ है।

इस ग्रन्थमाला के प्रथम ग्रन्थ के समान ही "उत्तराध्ययन · एक समीक्षात्मक अध्ययन" अपनी तरह का अनुपम और अभूतपूर्व ग्रन्थ है, जो हिन्दी-साहित्य को एक नवीन देन है। यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हिन्दी मे ही नहीं, अपितु, किसी भी भाषा मे—उत्तराध्ययन पर समीक्षात्मक अध्ययन अद्यावधि प्रकाशित नही हुआ है।

यो तो प्रस्तुत ग्रन्थ-गत विषयो का ज्ञान आद्योपान्त पठन से ही होगा; फिर भी चर्चित विषयों के सम्बन्ध में किञ्चित आभास ग्रन्थ के सम्पादक विद्वान् मुनि श्री नथमलजी, निकाय सचिव ने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में दे दिया है। फिर भी इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार हैं—

ग्रन्थ दो खण्डो में विभाजित है। प्रथम खण्ड में श्रमण और वैदिक परम्पराएँ, श्रमण संस्कृति का प्राग्ऐतिहासिक अस्तित्व, श्रमण-संस्कृति के मतवाद, आत्म-विद्या, तत्त्व-विद्या, जैन-धर्म का प्रसार-प्रचार, साधना-पद्धति, योग आदि अतीव महत्त्वपूर्ण और गम्भीर विषयो पर सविस्तार और प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध की गई है। द्वितीय खण्ड में व्याकरण, छन्दोविमर्श, परिभाषा, कथानक संक्रमण, भौगोलिक व व्यक्ति परिचय, तुलनात्मक व सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

उत्तराध्ययन जैनों का मूल सूत्र है, जिसका गम्भीर और तलस्पर्शी अध्ययन इस ग्रन्थ के पढने से होगा तथा तात्कालिक श्रमण संस्कृति, समाज व्यवस्था, शिल्प, मतवाद, आचार, विचार, धार्मिक-आध्यात्मिक उन्मेष आदि का भी सम्यक् बोध हो सकेगा। इस तरह यह ग्रन्थ प्राचीन इतिहास, धर्म, दर्शन, तत्त्व-विद्या, भाषा, व्याकरण और जैन, बौद्ध एवं वैदिक विचारधारा मे पल्लवित अथवा तत्कालीन चर्चित विषयो का तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन करने वाले अन्वेषक और साधारण पाठक के लिए बहुत उपयोगी और दिशा सूचक होगा।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि

सन्तों द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि को नियमानुसार अवधार कर उसकी प्रतिलिपि करने का कार्य आदर्श साहित्य संघ, 'चुरू' द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसके लिए हम संघ के संचालको के प्रति कृतज्ञ हैं।

अर्थ-व्यवस्था

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय विराटनगर (नेपाल) निवासी श्री रामलालजी हँसराजजी गोलछा द्वारा श्री हँसराजजी बुलासचन्दजी गोलछा की स्वर्गीया माता श्री

धापीदेवी (धर्म-पत्नी श्री रामलालजी गोलछा) की स्मृति में प्रदत्त निधि से हुआ है। एतदर्थ इस अनुकरणीय अनुदान के लिए गोलछा-परिवार हार्दिक धन्यवाद का पात्र है।

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से उक्त निधि से होने वाले प्रकाशन-कार्य की देख-रेख के लिए निम्न सज्जनों की एक उपसमिति गठित की गई है :

(१) श्रीमान् हुलासचन्दजी गोलछा
(२) " मोहनलालजी बाँठिया
(३) " श्रीचन्द रामपुरिया
(४) " गोपीचन्दजी चोपड़ा
(५) " केवलचन्दजी नाहटा

सर्वश्री श्रीचन्द रामपुरिया एवं केवलचन्दजी नाहटा उक्त उपसमिति के संयोजक चुने गए हैं।

आगम-साहित्य प्रकाशन-कार्य

महासभा के अन्तर्गत गठित आगम-साहित्य प्रकाशन समिति का प्रकाशन-कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ रहा है, त्यों-त्यों हृदय में आनन्द का पारावार नहीं। मैं तो अपने जीवन को एक साध ही पूरी होते देख रहा हूँ। इस अवसर पर मैं अपने अनन्य बन्धु और साथी सर्व श्री गोविन्दरामजी सरावगी, मोहनलालजी बाँठिया एवं खेमचन्दजी सेठिया को उनकी मुक्त सेवाओं के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आभार

आचार्य श्री की सुदीर्घ-दृष्टि अत्यन्त भेदिनी है। जहाँ एक ओर जन-मानस की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना की जागृति के व्यापक नैतिक आन्दोलनों में उनके अमूल्य जीवन-क्षण लग रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर आगम-साहित्य-गत जैन-संस्कृति के मूल-सन्देश को जन-व्यापी बनाने का उनका उपक्रम भी अनन्य और स्तुत्य है। जैन-आगमों को अभिलषित रूप में भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के सम्मुख ला देने की आकांक्षा में वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य श्री तुलसी ने जो अथक परिश्रम अपने कन्धों पर लिया है उसके लिए जैनी ही नहीं अपितु सारी भारतीय जनता उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी का सम्पादन-कार्य एवं तेरापन्थ संघ के अन्य विद्वान् मुनि-वृन्द के सक्रिय-सहयोग भी वस्तुतः अभिनन्दनीय हैं।

हम आचार्य श्री और उनके साधु-परिवार के प्रति इस जनहितकारी पवित्र प्रवृत्ति के लिए नतमस्तक हैं।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१
१४ जनवरी, १९६८

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

विषयानुक्रम

प्रथम खण्ड

प्रकरण : आठवाँ २०४-२२६

द्वितीय खण्ड

प्रकरण : पहला

१–श्रमण और वैदिक परम्पराएँ तथा उनका पौर्वापर्य

हिन्दुस्तान में श्रमण और वैदिक—ये दो परम्पराएँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इनका अस्तित्व ऐतिहासिक काल से आगे प्राग्-ऐतिहासिक काल में भी जाता है। इनमें कौन पहले थी और कौन पीछे हुई, यह प्रश्न बहुत चर्चनीय और विवादास्पद है। यह प्रश्न विवादास्पद इसलिए बना कि श्रमण-परम्परा के समर्थक श्रमण परम्परा को प्राचीन प्रमाणित करते है और वैदिक परम्परा के समर्थक वैदिक-परम्परा को। श्रमण-साहित्य की ध्वनि है कि वैदिक-परम्परा श्रमण-परम्परा से उद्भूत हुई है और वैदिक-वाङ्मय की ध्वनि है कि श्रमण परम्परा वैदिक-परम्परा से उद्भूत हुई है।

श्रमण-साहित्य

भगवान् ऋषभ प्राग् ऐतिहासिक काल में हुए। वे जैन-परम्परा के आदि तीर्थङ्कर थे और धर्म-परम्परा के भी प्रथम प्रवर्तक थे। उनके पुत्र सम्राट् भरत ने एक स्वाध्यायशील श्रावक मण्डल की स्थापना की। एक दिन उन श्रावकों को आमन्त्रित कर भरत ने कहा—'आप प्रतिदिन मेरे घर पर भोजन किया करें, खेती, व्यापार आदि न करें। अधिक समय स्वाध्याय मे लगाएँ। प्रतिदिन मुझे यह चेतावनी दिया करें—आप पराजित हो रहे हैं, भय बढ रहा है इसलिए 'मा हन, मा हन,'—हिंसा न करें, हिंसा न करें।"

उन्होने वैसा ही काम करना शुरू किया।

भरत चक्रवर्ती था। वह राज्य चिन्ता और भोगों मे कभी प्रमत्त हो जाता। उनकी चेतावनी सुनकर सोचता— मैं किनसे पराजित हो रहा हूँ? भय किस ओर से बढ रहा है?" इस चिन्तन से वह तत्काल समझ जाता—' मै कषाय से पराजित हो रहा हूँ और कषाय से भय बढ़ रहा है। वह तत्काल अप्रमत्त हो जाता।

वे श्रावक चक्रवर्ती की रसोई में ही भोजन करते थे। उनके साथ-साथ और भी बहुत लोग आने लगे। रसोइयों के सामने एक समस्या खडी हो गई। वे भोजन करने वालों की बाढ से घबडा गए। उन्होने चक्रवर्ती से निवेदन किया—"पता नहीं कौन श्रावक है और कौन श्रावक नहीं है? भोजन के लिए इतने लोग आने लगे हैं कि उन सबको भोजन कराने में हम असमर्थ हैं।"

सम्राट् ने कहा—"कल जो भोजन करने आएं उन्हें पूछ-पूछ कर भोजन कराना और जो श्रावक हों, उन्हें मेरे पास ले आना।"

दूसरे दिन भोजन करने वाले आए। तब रसोइयो ने पूछा— "आप कौन हैं ?"

"श्रावक।"

"श्रावक के कितने व्रत होते हैं ?"

"पाँच।"

"शिक्षा व्रत कितने हैं ?"

"सात।"

जिन्होंने यह उत्तर दिया उन सबको वे रसोइए सम्राट् के पास ले गए। सम्राट् ने अपने काकणी रत्न से उनके वक्ष पर तीन रेखाएँ खींच दीं। वे 'माहन' 'माहन' कहते थे इसलिए 'माहन' या 'ब्राह्मण' कहलाने लगे। भरत के पुत्र आदित्ययशा ने ब्राह्मणों के लिए सोने के यज्ञोपवीत बनवाए। महायशा आदि उत्तरवर्ती राजाओं ने चाँदी, सूत्र आदि के यज्ञोपवीत बनवाए। ब्राह्मण भरत द्वारा पूजित थे इसलिए दूसरे लोग भी उन्हें दान देने लगे। भरत ने उनके स्वाध्याय के लिए वेदो की रचना की। उन वेदो में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन था। नवें तीर्थङ्कर सुविधिनाथ का निर्वाण होने के कुछ समय पश्चात् साधु-संघ का विच्छेद हो गया। उन ब्राह्मणो और उन वेदो का भी विच्छेद हो गया। वर्तमान के ब्राह्मण और वेद उनके बाद की सृष्टि हैं।[1]

इस प्रकार आवश्यक निर्युक्तिकार (ई० सन् १००-२००) की कल्पना के अनुसार भरत द्वारा चिह्नित श्रावक मूल ब्राह्मण है और भरत द्वारा निर्मित वेद ही मूल वेद हैं। इन सबकी उत्पत्ति का आदि स्रोत जैन-परम्परा है। इस विषय में श्रीमद् भागवत के स्कंध ५, अध्याय ४ तथा स्कंध ११, अध्याय २ द्रष्टव्य है।

वैदिक-वाङ्मय

डॉ० लक्ष्मण शास्त्री ने वैदिक-संस्कृति को श्रमण-संस्कृति का मूल माना है। उनका अभिमत है—"जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक-संस्कृति की ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हे वैदिक नही मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओ के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धों की तीनो अंतिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति—अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।"[2] कुछ आगे लिखा है—"जैन तथा बौद्ध धर्म वेदान्त की यानि उपनिषदों की विचारधाराओं के विकसित रूप हैं।"[3]

कविवर दिनकर ने लिखा है—"वैदिक-धर्म पूर्ण नही है, इसका प्रमाण उपनिषदों

१—आवश्यक निर्युक्ति, गा० ३६१-३६६, वृत्ति पत्र २३५,२३६।

२—वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १५।

३—वही, पृ० १६।

में ही मिलने लगा था और यद्यपि वैदिकों की प्रामाणिकता में उपनिषदों ने संदेह नहीं किया, किन्तु वैदिक-धर्म के काम्य स्वर्ग को अयथेष्ट बताकर वेदों की एक प्रकार की आलोचना उपनिषदो ने ही शुरू कर दी थी। वेद सबसे अधिक महत्त्व यज्ञ को देते थे। यज्ञों की प्रधानता के कारण समाज में ब्राह्मणों का स्थान बहुत प्रमुख हो गया था। इन सारी बातो की समाज में आलोचना चलने लगी और लोगों को यह संदेह होने लगा कि मनुष्य और उसकी मुक्ति के बीच में ब्राह्मण का आना सचमुच ही ठीक नहीं है। आलोचना की इस प्रवृत्ति ने बढ़ते-बढ़ते, आखिर ईसा से ६०० वर्ष पूर्व तक आकर वैदिक-धर्म के खिलाफ खुले विद्रोह को जन्म दिया जिसका सुसंगठित रूप जैन और बौद्ध धर्मों में प्रगट हुआ।"[१]

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने जैन और बौद्ध-धर्म का नई धार्मिक सुधारणा के रूप में अंकन किया है। उनके शब्दों में—"इस नई धार्मिक सुधारणा ने यज्ञों के रूढ़िवाद व समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाकर प्राचीन आर्य-धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया।"[२]

श्रमण-साहित्य के अभिमत पर एक दृष्टि

निर्युक्ति तथा पुराण ग्रन्थो में ब्राह्मण और वेदों की उत्पत्ति जैन स्रोत से बतलाई गई है। आवश्यक निर्युक्ति की व्याख्या को हम एक रूपक मानें तो उसका अर्थ जैन-परम्परा का वैदिक-परम्परा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना होगा और यदि उसे यथार्थ मानें तो उसका अर्थ यह होगा कि जैन-परम्परा में भी ब्राह्मण, वेद और यज्ञोपवीत का स्थान रहा है।

वैदिक-वाङ्मय के अभिमत पर एक दृष्टि

डॉ० लक्ष्मण शास्त्री ने कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति—इन तीनो कल्पनाओ को वैदिक मानकर जैन और बौद्धो को वैदिक संस्कृति की शाखा मानने का साहस किया, किन्तु सच तो यह है कि कर्म-बन्धन और मुक्ति की कल्पना सर्वथा अवैदिक है। उपनिषदो के ऋषि श्रमण-संस्कृति से कितने प्रभावित थे या वे स्वयं श्रमण ही थे, इस पर हमें आगे विचार करना है।

जैन-धर्म वैदिक-धर्म के क्रिया-काण्डों के प्रति विद्रोह करने के लिए समुत्पन्न धर्म नहीं है और आर्य-धर्म के पुनरुद्धार के रूप में भी उसका उदय नहीं हुआ है। ये सारी धारणाएं सामयिक दृष्टिकोण से बनी हुई हैं।

१—संस्कृति के चार अध्याय (द्वितीय संस्करण), पृ० १०२।

२—पाटलीपुत्र की कथा, पृ० ६७-६८।

सच तो यह है कि श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराएँ स्वतंत्र रूप से उद्भूत हैं। दोनों एक साथ रहने के कारण एक दूसरे को प्रभावित करती रही है, इसीलिए किसी ने यह कल्पना की कि श्रमण-परम्परा वैदिक-परम्परा से उद्भूत है। किन्तु ये दोनों परि-कल्पनाएँ वस्तु-स्थिति से दूर हैं।

जैन और बौद्ध

श्रमण-परम्परा में अनेक सम्प्रदाय थे, किन्तु काल के अविरल प्रवाह मे जैन और बौद्ध—ये दो बचे, शेष सब विलीन हो गए—कुछ मिट गए, कुछ जैन-परम्परा में मिल गए और कुछ वैदिक-परम्परा मे।

दो शताब्दी पूर्व जब पश्चिमी विद्वानो ने भारतीय इतिहास की खोज प्रारम्भ की तो उन्होंने बौद्ध और जैन परम्परा मे अपूर्व साम्य पाया। बौद्ध-धर्म अनेक देशो मे फैला हुआ था। उसका साहित्य सुलभ था। विद्वानो ने उसका अध्ययन शुरू किया और बौद्ध-दर्शन पर प्रचुर मात्रा में लिखा गया।

जैन-धर्म उस समय भारत से बाहर कही भी प्राप्त नही था। उसका साहित्य भी दुर्लभ था। उसका अध्ययन पर्याप्त रूप मे नही किया जा सका। एक सीमित अध्ययन के आधार पर कुछ पश्चिमी विद्वान् त्रुटिपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे।

बुद्ध और महावीर के जीवन-दर्शन की समानता देखकर कुछ विद्वान् मानने लगे कि बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति है। प्रो० वेबर ने उक्त मान्यता का खण्डन किया किन्तु वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जैन-धर्म बौद्ध-धर्म की शाखा है।[1]

डॉ० हर्मन जेकोबी ने इन दोनो मान्यताओ का खण्डन कर यह प्रमाणित किया कि जैन-धर्म बौद्ध-धर्म से स्वतन्त्र ही नही, किन्तु उससे बहुत प्राचीन है।[2]

भगवान् पार्श्व

डॉ० हर्मन जेकोबी ने भगवान् पार्श्व को ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित किया।[3] फिर इस विषय की पुष्टि अनेक विद्वानो ने की। डॉ० बासम का अभिमत है · "भगवान् महावीर बौद्ध-पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में अंकित किए गए हैं इसलिए उनकी

---

१. Indische Studien, XVI, p 210.

२. The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction pp. 18-22.

३. The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction p. 21 : "That Pārsva was a historical person, is now admitted by all as very probable , . "

ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। भगवान् पार्श्व चौबीस तीर्थङ्करों में से तेईसवें तीर्थङ्कर के रूप में प्रख्यात थे।"[१]

डॉ० विमलाचरण लॉ के अनुसार भगवान् पार्श्व के धर्म का प्रचार भारत के उत्तरवर्ती क्षत्रियों में था। वैशाली उसका मुख्य केन्द्र था।[२] वृज्जिगण के प्रमुख महाराज चेटक भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे।[३] भगवान् महावीर के माता-पिता भी भगवान् पार्श्व के धर्म का पालन करते थे।[४] कपिलवस्तु में भी पार्श्व का धर्म फैला हुआ था। वहाँ न्यग्रोधाराम में शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक 'वप्प' के साथ बुद्ध का संवाद हुआ था।[५] भगवान् महावीर से पूर्व जैन-धर्म के सिद्धांत स्थिर हो चुके थे।

डॉ० चार्ल सरपेंटियर ने लिखा है—हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिए कि जैन-धर्म निश्चित रूपेण महावीर से प्राचीन है; उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चित रूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं एवं परिणाम स्वरूप मूल सिद्धांतों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होंगी।[६]

गौतम बुद्ध और वर्द्धमान महावीर से पूर्ववर्ती पुरुष के रूप में पार्श्व का उल्लेख करते हुए बताया गया है—"नातपुत्त (श्री महावीर वर्द्धमान) के पूर्वगामी उन्हीं की मान्यता

---

१ The Wonder That Was India (A L Basham, B A, Ph D, F R A S), Reprinted 1956, pp 287-88

"As he (Vardhamāna Māhavīra) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt . Pārswa was remembered as the twenty-third of the twenty-four great teachers Or Tirthankaras "ford-makers" of the Jaina faith"

२. Kshatriya clans in Buddhist India, p 82

३—उपदेशमाला, श्लोक ९२ :

वेसालीए पुरीए सिरिपासजिणेससासणसणाहो।
हेहयकुलसंभूओ चेडगनामा निवो आसि॥

४—आचारांग, २।३।४०१।

५—अंगुत्तर निकाय, चतुक्कनिपात, महावर्ग वप्पसुत्त, भाग २, पृ० २१०-२१३।

६. The Uttarādhyayana Sūtra, Introduction p 21

'We ought also to remember both that the Jain religion is certainly older than Mahāvīra, his reputed predecessor Pārśva having almost certainly existed as a real person, and that, consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Māhavīra."

वाले अनेक तीर्थङ्करों में उनका (जैनों का) विश्वास है और इनमें से अंतिम पार्श्व या पार्श्वनाथ के प्रति वे विशेष श्रद्धा व्यक्त करते हैं । उनकी यह मान्यता ठीक भी है क्योंकि अंतिम व्यक्ति पौराणिक से अधिक है । वह वस्तुत जैन-धर्म के राजवंशी संस्थापक थे जबकि उनके अनुयायी महावीर कई पीढ़यो से उनसे छोटे थे और उन्हें मात्र सुधारक ही माना जा सकता है । गौतम के समय में ही पार्श्व द्वारा स्थापित 'निग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध धार्मिक संघ एक पूर्व संस्थापित सम्प्रदाय था और बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार उसने बौद्ध-धर्म के उत्थान में अनेक बाधाएँ डाली ।"[१]

भगवान् पार्श्व का व्यक्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणित होने पर यह प्रश्न उठा—"क्या पार्श्व ही जैन-धर्म के प्रवर्तक थे ?" इसके उत्तर में डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है—"किन्तु यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नही है कि पार्श्व जैन-धर्म के संस्थापक थे । जैन-परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थङ्कर (आद्य संस्थापक) बताने में सर्वसम्मत है । परम्परा में कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है जो उन्हें प्रथम तीर्थङ्कर मान्य करती है ।"[२]

डॉ० राधाकृष्णन ने भी इसी अभिमत की पुष्टि की है । उन्होने लिखा है—"जैन-परम्परा के अनुसार जैन-धर्म का प्रवर्तन ऋषभदेव ने किया था । वे अनेक शताब्दियों पहले हो चुके हैं ।···यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैन-धर्म का अस्तित्व वर्द्धमान और पार्श्व से पहले भी था ।"[३]

---

१ Harmsworth, History of the world, Vol II, p 1198
"They, the Jainas believe in a great number of prophets of their faith anterior of Nātaputta (Mahāvīra Vardhmāna) and pay special reverence to the last of these, Pārśwa or Pārśwa Nātha. Herein they are correct, in so far as the latter personality is more than mythical He was indeed the royal founder of Jainism (776 B C) while his successor Mahāvīra was younger by many generations and can be considered only as a reformer As early as the time of Gotama, the religious confraternity founded by pārśwa, and known as the Nirgrantha, was a formally established sect, and according to the Buddhist chronicles, threw numerous difficulties in the way of the rising Buddhism".

२. Indian Antiquary, Vol. IX, p 163.
"But there is nothing to prove that Pārśwa was the founder of Jainism Jaina tradition is unanimous in making Rṣabha, the first Tīrthankara, as its founder There may be something historical in the tradition which makes him the first Tīrthankara".

३. Indian Philosophy, Vol. I, p. 287.

अरिष्टनेमि

अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर थे। उन्हें अभी तक पूर्णतः ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना गया है किन्तु वासुदेव कृष्ण को यदि ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाय तो अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक न मानने का कोई कारण नहीं। कौरव, पाण्डव, जरासंध, द्वारका, यदुवंश, अन्धक, वृष्णि आदि का अस्तित्व नहीं मानने का कोई कारण नहीं। पौराणिक विस्तार व कल्पना को स्वीकार न करें फिर भी ये कुछ मूलभूत तथ्य शेष रह जाते हैं।

ऋषि-भाषित (इसि-भासिय) में ४५ प्रत्येक बुद्धों के द्वारा निरूपित ४५ अध्ययन हैं। उनमें २० प्रत्येक बुद्ध भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे।[1] उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंभूत प्रमाण हैं।

ऋग्वेद में 'अरिष्टनेमि' शब्द बार बार आया है।[2] "स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः" (ऋग्वेद, १।१४।८९।६) में अरिष्टनेमि शब्द भगवान् अरिष्टनेमि का वाचक होना चाहिए। महाभारत में 'तार्क्ष्य' शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3] तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष विषयक उपदेश दिया उसकी तुलना जैन-धर्म के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धांतों से होती है। वह उपदेश इस प्रकार है :

"सगर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है, परन्तु जो धन-धान्य के उपार्जन में व्यग्र तथा पुत्र और पशुओं में आसक्त है, उस मूढ मनुष्य को उसका यथार्थ-ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है; जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्य की चिकित्सा करनी कठिन है, क्योंकि जो स्नेह के बंधन में बंधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्ष पाने के लिए योग्य नहीं होता।"[4]

इस समूचे अध्याय में संसार की असारता, मोक्ष की महत्ता, उसके लिए प्रयत्नशील होने और मुक्त के स्वरूप का निरूपण है। सगर के काल में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, इसलिए यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। यहाँ 'तार्क्ष्य अरिष्टनेमि' का प्रयोग भगवान् अरिष्टनेमि के लिए ही होना चाहिए।

१—इसि-भासियाइं, पृ० २९७, परिशिष्ट १, गाथा १ :
पत्तेय बुद्धमिसिणो बीस तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।

२—ऋग्वेद, १।१४।८९।६ ; १।२४।१८०।१० ; ३।४।५३।१७ ; १०।१२।१७८।१।

३—महाभारत, शान्तिपर्व, २८८।४ :
एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदां वरः।
विबुध्य सम्पदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत्॥

४—महाभारत, शान्तिपर्व, २८८।५,६।

लगता है कि ऋग्वेद के व्याख्याकारो ने उसका अर्थ-परिवर्तन किया है। अरिष्टनेमि विशेषण ही नहीं है। प्राचीन काल मे यह नाम होता था। महाभारत मे मरीचि के पुत्र के दो नाम बतलाए गए है—अरिष्टनेमि और कश्यप। कुछ लोग उसे अरिष्टनेमि कहते और कुछ लोग कश्यप।[1]

ऋग्वेद में भी तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है।[2] अरिष्टनेमि का नाम महावीर और बुद्ध-काल में महापुरुषो की सूची में प्रचलित था। लंकावतार के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नामो मे अरिष्टनेमि का भी नाम है। वहाँ लिखा है—"जिस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक नाम प्रयुक्त होते है, उसी प्रकार बुद्ध के असंख्य नाम हैं। कोई उन्हें तथागत कहते हैं तो कोई उन्हें स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बलि, वरुण आदि नामो से पुकारते हैं।[3]

प्रभासपुराण में अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण का सम्बन्धित उल्लेख है। अरिष्टनेमि का रेवत (गिरनार) पर्वत से भी सम्बन्ध बताया गया है। और वहाँ बताया गया है कि वामन ने नेमिनाथ को शिव के नाम से पुकारा था। वामन ने गिरनार पर बलि को बाँधने का सामर्थ्य पाने के लिए भगवान् नेमिनाथ के आगे तप तपा था।

इन उद्धारणो से श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि के पारिवारिक तथा धार्मिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्ययन से भी यही प्रमाणित होता है।[4]

प्रोफेसर प्राणनाथ ने प्रभास पाटण से प्राप्त ताम्रपत्र को इस प्रकार पढा है—रेवा

१–महाभारत, शान्तिपर्व, २०८।८ :

मरीचे. कश्यप. पुत्रस्तस्य द्वे नामनी स्मृते।
अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदु ॥

२–ऋग्वेद, १०। १२।१७८।१ :

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमि पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥

३–बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १६२।

४–विशेष जानकारी के लिए देखें "अर्हन् अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण।"

नगर के राज्य के स्वामि सु—जाति के देव नेबुशर नेजर आए हैं। वह यदुराज के स्थान (द्वारिका) आए हैं। उन्होंने मंदिर बनवाया है। सूर्य—देवनेमि कि जो स्वर्ग समान रेवत पर्वत के देव हैं (उन्हें) सदैव के लिए अर्पण किया।[1]

बावल के सम्राटों में नेबुशर और नेजर नामक दो सम्राट् हुए हैं। पहले का समय ई० सन् से लगभग दो हजार वर्ष पहले है और दूसरे ई० सन् पूर्व छठी या ७ शती में हुए हैं। इन दोनों में से एक ने द्वारिका आकर रेवत (गिरनार) पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का मंदिर बनवाया था।[2] इस प्रकार साहित्य व ताम्र-पत्र-लेख-दोनों से अरिष्टनेमि का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

*

१–गुजराती 'जैन', भाग ३५, पृ० २।
२–संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग १, पृ० ९।

२—श्रमण-संस्कृति का प्राग्-ऐतिहासिक अस्तित्व

आर्य लोग हिन्दुस्तान में आए उससे पहले यहाँ एक ऊंची सभ्यता, संस्कृति और धर्म-चेतना विद्यमान थी। वह वैदिक परम्परा नही थी। यह मोहनजोदडो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त ध्वंसावशेषों से प्रमाणित हो चुका है। पुरातत्त्वविदो के अनुसार जो अवशेष मिले है, उनसे वैदिक धर्म का कोई सम्बन्ध नही है। उनका सम्बन्ध श्रमण-संस्कृति से है। अत यह प्रमाणित होता है कि आर्यो के आगमन से पूर्व यहाँ श्रमण-सस्कृति विकसित अवस्था मे थी।

इस तथ्य की सपुष्टि के लिए हम साहित्य और पुरातत्त्व दोनो का अवलम्बन लेंगे। भारतीय साहित्य मे वेद बहुत प्राचीन माने जाते हैं। उनमे तथा उनके पार्श्ववर्ती ग्रन्थो में आए हुए कुछ शब्द—वातरशन-मुनि, वातरशन-श्रमण, केशी व्रात्य और अर्हन्—श्रमण-संस्कृति की प्राग्-ऐतिहासिकता के प्रमाण है।

वातरशन-मुनि—वातरशन-श्रमण

ऋग्वेद मे वातरशन-मुनि का प्रयोग मिलता है—

मुनयो वातऽरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिम् यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥[१]

इसी प्रकरण में 'मौनेय' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। वातरशन-मुनि अपनी 'मौनेय' की अनुभूति में कहता है—"मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु मे स्थित हो गए हैं। मर्त्यो! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।"[२]

तैत्तिरीयारण्यक मे श्रमणो को 'वातरशन-ऋषि' और 'ऊर्ध्वमन्थी' कहा गया है—

वातरशना हवा ऋषय श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः।[३]

ये श्रमण भगवान् ऋषभ के ही शिष्य थे। श्रीमद्भागवत मे ऋषभ को जिन श्रमणो के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है, उनके लिए ये ही विशेषण प्रयुक्त किए गए है—

१—ऋग्वेद, १०।११।१३६।२।

२—वही, १०।११।१३६।३

उन्मदिता मौनेयन वातॉं आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥

३—तैत्तिरीयारण्यक, २।७।१, पृ० १३७।

'धर्मान् दिर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनु-नावततार।'[१]

अर्थात् भगवान ऋषभ श्रमणो, ऋषियो तथा ब्रह्मचारियो (ऊर्ध्वमन्थिन·) का धर्म प्रकट करने के लिए शुक्ल-सत्त्वमय विग्रह मे प्रकट हुए।

वैदिक-साहित्य मे मुनि का उल्लेख विरल है, किन्तु इसका कारण यह नही कि उस समय मुनि नही थे। वे थे, अपने ध्यान में मग्न थे। पुरोहितो के भौतिक जगत् से परे वे अपने चिन्तन मे लीन रहते थे और पुत्रोत्पादन या दक्षिणा-ग्रहण के कार्यों से भी दूर रहते थे।[२] मुनि के इस विवरण से स्पष्ट है कि वे किसी वैदिकेतर परम्परा के थे। वैदिक जगत् मे यज्ञ-सस्थान ही सब कुछ थी। वहाँ सन्यास या मुनि-पद को स्थान नही मिला था।

वातरशन शब्द भी श्रमणो का सूचक है। तैत्तिरीयारण्यक और श्रीमद्भागवत द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती रही है। श्रमण का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद्[३] और रामायण[४] आदि में भी होता रहा है।

केशी

ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन-मुनि का उल्लेख है, उसी मे केशी की स्तुति की गई है —

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥'[५]

यह 'केशी' भगवान् ऋषभ का वाचक है। वातरशन के संदर्भ में यह कल्पना करना कोई साहस का काम नही है। भगवान् ऋषभ के केशी होने की परम्परा जैन-साहित्य में आज भी उपलब्ध है।

भगवान् ऋषभ जब मुनि बने तब उन्होने चार मुष्टि केश-लोच किया जबकि सामान्य परम्परा पाँच-मुष्टि केश-लोच करने की है। भगवान् केश-लोच कर रहे थे, दोनो पार्श्व-भागो का केश-लोच करना बाकी था। तब देवराज शक्रेन्द्र ने भगवान् से

१—श्रीमद्भागवत, ५।३।२०।
२—वैदिक कोश, पृ० ३८३।
३—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२।
४—बालकाण्ड, सर्ग १४, श्लो० २२ :
तपसा भुंजते चापि, श्रमणा भुजते तथा।
५—ऋग्वेद, १०।११।१३६।१।

प्रार्थना की—"इतनी रमणीय केश-राशि को इसी प्रकार रहने दें।" भगवान् ने उसकी बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसीलिए भगवान् ऋषभ की मूर्ति के कंधों पर आज भी केशों की वल्लरिका की जाती है। घुँघराले और कंधों तक लटकते हुए बाल उनकी प्रतिमा के प्रतीक हैं।[1]

भगवान् ऋषभ की प्रतिमाओं को जटा-शेखर युक्त कहा गया है।[2] केशी वृषभ प्राग्-वैदिक थे और श्रमण-संस्कृति के आदि-स्रोत—यह इस केशी-स्तुति से स्पष्ट है।

ऋग्वेद में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख मिलता है।[3] मुद्गल ऋषि की गाएँ (इन्द्रियाँ) चुराई जा रही थी, तब ऋषि के सारथी केशी वृषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आईं अर्थात् ऋषभ के उपदेश से वे अन्तर्मुखी हो गईं।

व्रात्य

अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। आचार्य सायण ने व्रात्य को विद्वत्तम, महाधिकार, पुण्यशील, विश्व सम्मान्य और ब्राह्मण-विशिष्ट कहा

१—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सू० ३० :

चउहिं अट्ठाहि लोअं करेइ। वृत्ति—तीर्थकृतां पंचमुष्टिलोचसम्भवेऽपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टिकलोचगोचर श्रीहेमाचार्यकृतऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयं—'प्रथममेकया मुष्ट्या स्मश्रुकूर्चयोर्लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलितां कनकावदातयो प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्ती मरकतोपमानमाबिभ्रती परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन्! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामियमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवतापि सा तथैव रक्षितेति, 'न ह्येकांतभक्तानां याच्ञामनुग्रहीतारः खण्डयन्ती'ति, अत एवेदानीमपि श्रीऋषभमूर्त्तौ स्कन्धोपरि वल्लरिका क्रियन्ते।

२—(क) तिलोयपन्नत्ती, ४।२३० :

आदिजिणप्पडिमाओ, ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा, अभिसित्तुमणा व सा पडदि॥

(ख) तिलोयसार, ५९० :

सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिहासणं जडामउलं।
जिणमभिसित्तुमणा वा, ओदिण्णा मत्थए गंगा॥

३—ऋग्वेद, १०।९।१०२।६ :

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

है।[1] तथा व्रात्य-काण्ड की भूमिका के प्रसंग में उन्होंने लिखा है—"इसमें व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे मनुष्य को लोग वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित मानते हैं। परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करे परन्तु वह सर्व पूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।[2] व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को प्रेरणा दी थी।[3]

श्री सम्पूर्णानन्दजी ने व्रात्य का अर्थ परमात्मा किया है।[4] श्री बलदेव उपाध्याय भी इसी मत का अनुसरण करते है।[5] किन्तु समूचे व्रात्य-काण्ड का परिशीलन करने पर यह अर्थ संगत नही लगता।

व्रात्य-काण्ड के कुछ सूत्र

वह संवत्सर तक खडा रहा। उससे देवों ने पूछा—व्रात्य! तू क्यों खडा है?[6]

वह अनावृत्ता दिशा मे चला। इससे (उसने) सोचा न लौटूँगा।[7] अर्थात् जिस दिशा में चलने वाले का आवर्तन (लौटना) नही होता वह अनावृत्ता दिशा है। इसलिए उसने सोचा कि मैं अब न लौटूँगा। मुक्त पुरुष का ही प्रत्यावर्तन नहीं होता।[8]

तब जिस राजा के घरो पर ऐसा विद्वान् राजा व्रात्य अतिथि (होकर) आए।

१—अथर्ववेद, १५।१।१।१ सायण भाष्य :
कश्चिद् विद्वत्तमं, महाधिकारं, पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं ब्राह्मणविशिष्टं व्रात्य मनुलक्ष्य वचनमिति मंतव्यम्।

२—वही, १५।१।१।१।

३—वही, १५।१।१।१
व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्॥

४—अथर्ववेदीयं व्रात्यकाण्ड, पृ० १।

५—वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२९।

६—अथर्ववेद, १५।१।३।१।

७—वही, १५।१।६।१९ :
सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यऽचलत्ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत।

८—अथर्ववेदीयं व्रात्यकाण्ड, पृ० ३६।

(इसको) (वह राजा) इस (विद्वान् के आगमन) को अपने लिए कल्याणकारी माने। ऐसा (करने से) क्षेत्र तथा राष्ट्र के प्रति अपराध नहीं करता।[1]

यदि किसी के घर ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथि आ जाए (तो) स्वयं उसके सामने जाकर कहे, व्रात्य, आप कहाँ रहते है ? व्रात्य (यह) जल (ग्रहण कीजिए) व्रात्य (मेरे घर के लोग आपको भोजनादि से) तृप्त करें। जैसा आपको प्रिय हो, जैसी आपकी इच्छा हो, जैसी आपकी अभिलाषा हो, वैसा ही हो अर्थात् हम लोग वैसा ही करें।[2]

(व्रात्य से) यह जो प्रश्न है कि व्रात्य आप कहाँ रहते है, इस (प्रश्न) से (ही) वह देवयान मार्ग को (जिससे पुण्यात्मा स्वर्ग को जाते है) अपने वश मे कर लेता है।[3]

इससे जो यह कहता है व्रात्य यह जल ग्रहण कीजिए इससे अप् (जल या कर्म्म) अपने वश मे कर लेता है।

यह कहने से व्रात्य (मेरे घर के लोग आपको भोजनादि से) तृप्त करें, अपने आपको चिरस्थायी (अर्थात् दीर्घजीवी) बना लेता है।[4]

जिसके घर में विद्वान् व्रात्य एक रात अतिथि रहे, वह पृथ्वी मे जितने पुण्य-लोक है उन सबको वश मे कर लेता है।

जिसके घर में विद्वान् व्रात्य दूसरी रात अतिथि रहे, वह अन्तरिक्ष मे जो पुण्य-लोक हैं, उन सबको वश में कर लेता है।

जिसके घर मे विद्वान् व्रात्य तीसरी रात अतिथि रहे, वह जो द्युलोक मे पुण्य-लोक हैं उन सबको वश मे कर लेता है।

१–अथर्ववेद, १५।२।३।१,२ :
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते।

२–वही, १५।२।४।१,२ :
तद यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत।
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीः व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रिय तथास्तु व्रात्य यथाते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति।

३–वही, १५।२।४।३ :
यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे।

४–वही, १५।२।४।४,५ :
यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे।
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते॥

जिसके घर में विद्वान् व्रात्य चौथी रात अतिथि रहे, वह पुण्य-लोकों से श्रेष्ठ पुण्य-लोकों को वश में कर लेता है।

जिसके घर में विद्वान् व्रात्य अपरिमित (बहुधा) अतिथि रहे, वह अपरिमित पुण्य-लोकों को अपने वश में कर लेता है।[1]

इन सूत्रों से जो प्रतिपादित है, उसका सम्बन्ध परमात्मा से नहीं किन्तु किसी देहधारी व्यक्ति से है।

व्रात्य-काण्ड में प्रतिपादित विषय की भगवान् ऋषभ के जीवन-व्रत से तुलना होती है। वे दीक्षित होने के बाद एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक भोजन न करने पर भी शरीर में पुष्टि और दीप्ति को धारण कर रहे थे।[2]

मुनियों की चर्या को धारण करने वाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहाँ-जहाँ जाते थे, वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न होकर और बड़े संभ्रम के साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे। उनमें से कितने ही लोग कहने लगते थे—"हे देव ! प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है ?"[3]

१—अथर्ववेद, १५।२।६।१-१०

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति।
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति।
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोका स्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति।
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थी रात्रिमतिथिर्गृहे वसति।
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे।
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रिरतिथिर्गृहे वसति।
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥

२—महापुराण, २०।९५

हायनेऽप्यनश्नतोऽस्याङ्गं, पुष्टिं दीप्तिञ्च बिभ्रते।

३—वही, २०।१४,१५ :

यतो यतः पदं धत्ते, मौनीं चर्यां स्म संश्रितः।
ततस्ततो जनाः प्रीताः, प्रणमन्त्येत्य सम्भ्रमात्॥
प्रसीद देव ! किं कृत्यमिति केचिज्जगुर्गिरम्।

कितने ही लोग भगवान् से ऐसी प्रार्थना करते थे कि भगवन् ! हम पर प्रसन्न होइए। हमें अनुगृहीत कीजिए।[1]

भगवान् ऋषभ अन्त में अपुनरावृत्ति स्थान को प्राप्त हुए, जहाँ जाने के पश्चात् कोई लौट कर नहीं आता।[2]

यह बहुत सम्भव है कि व्रात्य-काण्ड में भगवान् ऋषभ का जीवन रूपक की भाषा में चित्रित है। ऋषभ के प्रति कुछ वैदिक ऋषि श्रद्धावान् थे और वे उन्हें देवाधिदेव के रूप में मान्य करते थे।

अर्हन्

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ के अनेक उल्लेख हैं।[3] किन्तु उनका अर्थ-परिवर्तन कर देने के कारण वे विवादास्पद हो जाते हैं। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का बहुत प्रिय शब्द है। श्रमण लोग अपने तीर्थङ्करो या वीतराग आत्माओ को अर्हन् कहते है। जैन और बौद्ध साहित्य में अर्हन् शब्द का प्रयोग हजारो बार हुआ है। जैन लोग आर्हत् नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। ऋग्वेद मे अर्हन् शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है—

> अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
> अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥[4]

आचार्य विनोबा भावे ने इसी मंत्र के एक वाक्य 'अर्हन्निद दयसे विश्वमभ्वं' को उद्धृत करते हुए लिखा है—"हे अर्हन् ! तुम जिस तुच्छ दुनियाँ पर दया करते हो—

१–महापुराण, २०।२२।

२–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति, पत्र १५८ :
समुज्जाए—तत्र सम्यग्-अपुनरावृत्त्या ऊर्ध्वं लोकाग्रलक्षणं यातः प्राप्तः।

३–ऋग्वेद,
१।२४।१९०।१।
२।४।३३।१५।
५।२।२८।४।
६।१।१।८।
६।२।१९।११।
१०।१२।१६६।१। आदि-आदि

४–वही, २।४।३३।१०।

इसमें 'अर्हन्' और 'दया' दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दू-धर्म प्राचीन है, शायद उतना ही जैन-धर्म भी प्राचीन है।"[1]

अर्हन् शब्द का प्रयोग वैदिक विद्वान् भी श्रमणों के लिए करते रहे हैं। हनुमन्नाटक में लिखा है—

"अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः।"

ऋग्वेद के अर्हन् शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण-संस्कृति ऋग्वैदिक-काल से पूर्ववर्ती है।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने व्रात्यों को अर्हतों का अनुयायी माना है—"वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से पहले भी थे और अनेक चैत्य भी बुद्ध से पहले थे। उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी 'व्रात्य' कहलाते थे जिनका उल्लेख अथर्ववेद में भी है।"[2]

असुर और अर्हत्

वैदिक-आर्यों के आगमन से पूर्व भारतवर्ष में दो प्रकार की जातियाँ थीं—सभ्य और असभ्य। सभ्य जाति के लोग गाँवों और नगरों में रहते थे और असभ्य जाति के लोग जंगलों में। असुर, नाग, द्रविड—ये सभ्य जातियाँ थीं। दास-जाति असभ्य थी। असुरों की सभ्यता और संस्कृति बहुत उन्नत थी। उनके पराक्रम से वैदिक-आर्यों को प्रारम्भ में बहुत क्षति उठानी पड़ी।

असुर लोग आर्हत्-धर्म के उपासक थे। बहुत आश्चर्य की बात है कि जैन-साहित्य में इनकी स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती, किन्तु पुराण और महाभारत में इस प्राचीन परम्परा के उल्लेख सुरक्षित हैं।

विष्णुपुराण[3] पद्मपुराण,[4] मत्स्यपुराण[5] और देवीभागवत[6] में असुरों को आर्हत् या जैन-धर्म का अनुयायी बनाने का उल्लेख है।

१—हरिजन सेवक, ३० मई १९४८।
२—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, प्रथम जिल्द, पृ० ४०२।
३—विष्णुपुराण, ३।१७।१८
४—पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, अध्याय १३, श्लोक १७०-४१३।
५—मत्स्यपुराण, २४।४३-४९।
६—देवीभागवत, ४।१३।५४-५७।

विष्णुपुराण के अनुसार मायामोह ने असुरों को आर्हत्-धर्म में दीक्षित किया।[1] त्रयी (ऋग्, यजु और साम) में उनका विश्वास नहीं रहा।[2] उनका यज्ञ और पशु-बलि से भी विश्वास उठ गया।[3] वे अहिंसा-धर्म में विश्वास करने लगे।[4] उन्होंने श्राद्ध आदि कर्म-काण्डों का भी विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।[5]

विष्णुपुराण का मायामोह किसी अर्हत् का शिष्य था। उसने असुरों को अर्हत् के धर्म में दीक्षित किया, यह भी इससे स्पष्ट है। असुर जिन सिद्धान्तों में विश्वास करने लगे, वे अर्हत्-धर्म के सिद्धान्त थे।

मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी निरूपण किया। उसने असुरों से कहा—"यह धर्म-युक्त है और यह धर्म-विरुद्ध है, यह सत् है और यह असत् है, यह मुक्तिकारक है और इससे मुक्ति नहीं होती, यह आत्यन्तिक परमार्थ है और यह परमार्थ नहीं है, यह कर्त्तव्य है और यह अकर्त्तव्य है, यह ऐसा नहीं है और यह स्पष्ट ऐसा ही है, यह दिगम्बरों का धर्म और यह साम्बरों का धर्म है।"[6]

पुराणकार ने इस कथानक में अर्हत् के धर्म की न्यूनता दिखलाने का यत्न किया है, फिर भी इस रूपक में से जैन-धर्म की प्राचीनता, उसके अहिंसा और अनेकान्तवादी सिद्धान्त और असुरों की जैन-धर्म परायणता—ये फलित निकल आते हैं।

विष्णुपुराण में असुरों को वैदिक रंग में रंगने का प्रयत्न किया गया है; किन्तु ऋग्वेद द्वारा यह स्वीकृत नहीं है। वहाँ उन्हें वैदिक-आर्यो का शत्रु कहा गया है।[7]

असुर और वैदिक आर्य

वेदों और पुराणों में वर्णित देव-दानव-युद्ध वैदिक-आर्यों और आर्य-पूर्व जातियों के प्रतीक का युद्ध है। वैदिक-आर्यों के आगमन के साथ-साथ असुरों से उनका संघर्ष

१–**विष्णुपुराण** ३।१८।१२ :
अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यत.।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥
२–**वही**, ३।१८।१३,१४।
३–**वही**, ३।१८।२७।
४–**वही**, ३।१८।२५।
५–**वही**, ३।१८।२८-२९।
६–**वही**, ३।१८।८-११
७–**ऋग्वेद**, १।२३।१७४।२-३।

छिड़ा और वह ३०० वर्षों तक चलता रहा।[1] आर्यों का इन्द्र पहले बहुत शक्तिशाली नहीं था।[2] इसलिए प्रारम्भ में आर्य लोग पराजित हुए।[3]

भारतवर्ष मे असुर राजाओ की एक लम्बी परम्परा रही है।[4] वे सभी व्रत-परायण, बहुश्रुत और लोकेश्वर थे।[5] असुर प्रथम आक्रमण मे ही वैदिक-आर्यों से पराजित नहीं हुए थे। जब तक वे सदाचार-परायण और संगठित थे तब तक आर्य लोग उन्हें पराजित नही कर सके। किन्तु जब असुरो के आचरण मे शिथिलता आई तब आर्यो ने उन्हे परास्त कर डाला। इस तथ्य का चित्रण इन्द्र और लक्ष्मी के सवाद मे हुआ है। इन्द्र के पूछने पर लक्ष्मी ने कहा—"सत्य और धर्म मे बध कर पहले मैं असुरो के यहाँ रहती थी, अब उन्हे धर्म के विपरीत देख कर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसन्द किया है। मैं उत्तम गुणो वाले दानवो के पास सृष्टि-काल से लेकर अब तक अनेको युगों से रहती आई हूँ। किन्तु अब वे काम-क्रोध के वशीभूत हो गए हैं, उनमें धर्म नही रह गया है इसलिए मैंने उनका साथ छोड दिया।"[6] इससे स्पष्ट है कि दानवो की राज्य-सत्ता सुदीर्घ-काल तक यहाँ रही और उसके पश्चात् वह इन्द्र के नेतृत्व मे संगठित आर्यो के हाथ में चली गई।

वैदिक-आर्यों का प्रभुत्व उत्तर भारत पर अधिक हुआ था। दक्षिण भारत मे उनका प्रवेश बहुत विलम्ब से हुआ था, विशेष प्रभावशाली रूप मे नही हुआ। जब दैत्यराज बलि की राज्यश्री ने इन्द्र का वरण किया तब इन्द्र ने दैत्यराज बलि से कहा—"ब्रह्मा ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारा वध न करूँ। इसीलिए मैं तुम्हारे सिर पर वज्र नही छोड

१–मत्स्यपुराण, २४।३७ :
अथ देवासुरं युद्धमभूद् वर्षशतत्रयम्।

२–महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।२२
अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं, कथंचिच्छक्ततां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं, सुक्रूरां वक्तुमर्हति॥

३–विष्णुपुराण, ३।१७।९।
देवासुरमभूद् युद्धं, दिव्यमब्दशतं पुरा।
तस्मिन् पराजिता देवा, दैत्यैर्ह्रादपुरोगमैः॥

४–महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।४९-५४।

५–वही, २२७।५९-६०।

६–वही, २२८।४९,५०।

रहा हूँ। दैत्यराज ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चले जाओ। इन्द्र की यह बात सुन दैत्यराज बलि दक्षिण-दिशा में चले गए और इन्द्र उत्तर दिशा में।"[१]

पद्मपुराण मे भी बताया गया है कि असुर लोग जैन-धर्म को स्वीकार करने के बाद नर्मदा के तट पर निवास करने लगे।[२] इससे स्पष्ट है कि अर्हत् का धर्म, उत्तर भारत मे आर्यों का प्रभुत्व बढ जाने के बाद, दक्षिण भारत मे विशेष बलशाली बन गया। असुरो का उत्तर से दक्षिण की ओर जाना भी उनकी तथा द्रविडो की सभ्यता और संस्कृति की समानता का सूचक है।

असुर और आत्म-विद्या

आर्य-पूर्व असुर राजाओ की पराजय होने के बाद आर्य-नेता इन्द्र ने दैत्यराज बलि, नमुचि और प्रह्लाद से कहा—"तुम्हारा राज्य छीन लिया गया है, तुम शत्रु के हाथ मे पड़ गए हो फिर भी तुम्हारी आकृति पर कोई शोक की रेखा नही, यह कैसे ?"[३]

इस प्रश्न के उत्तर मे असुर राजाओ ने जो कहा वह उनकी आत्म-विद्या का ही फलित था। विरोचनकुमार बलि ने इन्द्र को इस प्रकार फटकारा कि उसका गर्व चूर हो गया। बलि ने इन्द्र से कहा—"देवराज ! तुम्हारी मूर्खता मेरे लिए आश्चर्यजनक है। इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन हो गई है। ऐसी अवस्था मे तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसा के गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यश के अनुरूप नहीं है।"

१–महाभारत, शान्तिपर्व, २२५।३७ :
　एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो बलिरिन्द्रेण भारत।
　जगाम दक्षिणामाशामुदीची तु पुरन्दर: ॥

२–पद्मपुराण, १३।४१२.
　नर्मदासरितं प्राप्य, स्थिता दानवसत्तमा।

३–(क) महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।१५ :
　　शत्रुभिर्वशमानीतो, हीन: स्थानादनुत्तमात्।
　　वैरोचने ! किमाश्रित्य, शोचितव्ये न शोचसि ? ॥
　(ख) वही, २२६।३ .
　　बद्ध: पाशैश्च्युत: स्थानाद्, द्विषतां वशमागत:।
　　श्रिया विहीनो नमुचे ! शोचस्याहो न शोचसि ? ॥
　(ग) वही, २२२।११ .
　　बद्ध: पाशैश्च्युत: स्थानाद्, द्विषतां वशमागत:।
　　श्रिया विहीन: प्रह्लाद !, शोचितव्ये न शोचसि ? ॥

नमुचि और बलि राज्यहीन होने पर भी जिस प्रकार शोक-मुक्त रहे, वह उनकी अध्यात्म-विद्या का ही फल था। इन्द्र उनके धैर्य और अशोक भाव को देख कर आश्चर्य चकित रह गया।[1]

महाभारत में असुरों पर वैदिक विचारों की छाप लगाई गई है फिर भी उनकी अशोक शान्त व समभावी वृत्ति से जो आत्म विद्या की झलक मिलती है निश्चित रूप से उन्हें श्रमण धर्मानुयायी सिद्ध करती है।

सांस्कृतिक विरोध

असुरों और वैदिक आर्यों का विरोध केवल भौगोलिक और राजनीतिक ही नहीं, किन्तु सांस्कृतिक भी था। आर्यों ने असुरों की अहिंसा का विरोध किया तो असुरों ने आर्यों की हिंसा और यज्ञ पद्धति का विरोध किया।

भारतवर्ष में वैदिक आर्यों का अस्तित्व सुदृढ़ होने के साथ-साथ यह विरोध की धारा प्रखर हो उठी थी। एम० विंटरनित्ज ने लिखा है— वेदों के विरुद्ध प्रतिक्रिया बुद्ध से सदियों पूर्व शुरू हो चुकी थी। कम से कम जैनों की परम्परा में इस प्रतिक्रिया के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं और उस धर्म की संस्थापना ७५० ई० पू० में हो चुकी थी। इस विषय में जैनों की अपनी विश्वसनीय काल बुद्धि और काल गणना को यहाँ (और यहीं पर ?) झुठलाने की आवश्यकता नहीं। ब्यूलर का तो यह विश्वास था कि वेदों (और ब्राह्मण धर्म) की प्रगति तथा वेद विरोध की प्रगति, दोनों प्रायः समानान्तर ही होती रही है। दुर्भाग्यवश एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में यह साबित करने से पूर्व ही ब्यूलर की मृत्यु हो गई।[2]

श्रमण संस्कृति का अस्तित्व पूर्ववर्ती था इसलिए वैदिक यज्ञ संस्था का प्रारम्भ से ही विरोध हुआ। यदि वह न होती तो उसका विरोध कैसे होता ?

आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार तीर्थ पूजा भक्ति नदी की पवित्रता तुलसी, अश्वत्थ आदि वृक्षों से सम्बन्धित देव और सिन्दूर आदि उपकरण—ये सब वेद-बाह्य वस्तुएँ हैं। आर्यों ने इन्हें आर्य पूर्व जातियों से ग्रहण किया था।[3]

श्रमण-परम्परा में धर्म संघ के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग होता था और उसके प्रवर्तक तीर्थङ्कर कहलाते थे।[4] दीघनिकाय में पूरणकस्सप मक्खली गोशाल अजितकेश-

१—महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।१३।

२—प्राचीन भारतीय इतिहास, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० २३३।

३—भारतवर्ष में जाति-भेद, पृ० ७५ ७७।

४—भगवती, २०।८।

कम्बल, प्रक्रुद्धकात्यायन, संजयबेलट्ठीपुत्र और निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र—इन छहों को तीर्थङ्कर कहा है।[1]

नाग-पूजा भगवान् ऋषभ के पुत्र भरत के समय में प्रचलित हुई थी।[2] भक्ति का मूल उद्‌गम द्रविड प्रदेश है, अतः वह भी आर्य-पूर्व हो सकती है।[3] गंगा-यमुना आदि नदियों का वेदों में उल्लेख नहीं है और ब्राह्मण-ग्रन्थों में वे बहुत पवित्र और देवता रूप मानी गई हैं। जैन-सूत्रों में भवनवासी देवों के दस चैत्य-वृक्ष बतलाए गए हैं। जैसे—

असुरकुमार	—अश्वत्थ
नागकुमार	—सप्तपर्ण— सात पत्तों वाला पलाश
सुपर्णकुमार	—शाल्मली— सेमल
विद्युत्कुमार	—उदुम्बर
अग्निकुमार	—सिरीस
दीपकुमार	—दधिपर्ण
उदधिकुमार	—वंजुल—अशोक
दिशाकुमार	—पलाश— तीन पत्तों वाला पलाश
वायुकुमार	—वप्र
स्तनितकुमार	—कर्णिकार— कणेर[4]

इसी प्रकार व्यन्तर देवों के भी आठ चैत्य-वृक्ष बतलाए गए हैं—

पिशाच	—कदम्ब
भूत	—तुलसी
यक्ष	—बरगद
राक्षस	—खट्वांग
किन्नर	—अशोक
किंपुरुष	—चंपक
नाग या महोरग	—नाग
गन्धर्व	—तिन्दुक[5]

१—दीघनिकाय (सामञ्ञफल सुत्त), प्रथम भाग, पृ० ५६-९७।
२—आवश्यकनिर्युक्ति, २१८।
३—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, ५०।५१
उत्पन्ना द्राविडे चाहम्।
४—स्थानांग, १०।७३६।
५—वही, ८।६५४।

महात्मा बुद्ध के बोधि-वृक्ष का महत्त्व आरम्भ से ही रहा है। जैन के २४ तीर्थङ्करों के २४ ज्ञान-वृक्ष माने गए हैं—

तीर्थङ्कर	ज्ञान-वृक्ष
१—वृषभ	न्यग्रोध
२—अजित	सप्तपर्ण
३—संभव	शाल
४—अभिनन्दन	प्रियाल
५—सुमति	प्रियगु
६—पद्मप्रभ	छत्राभ
७—सुपार्श्व	सिरीस
८—चन्दप्रभ	नाग
९—सुविधि	मल्ली
१०—शीतल	प्लक्ष
११—श्रेयांस	तिंदुक
१२—वासुपूज्य	पाटल
१३—विमल	जम्बू
१४—अनन्त	अश्वत्थ
१५—धर्म	दधिपर्ण
१६—शान्ति	नंदि
१७—कुन्थु	तिलक
१८—अर	आम्र
१९—मल्ली	अशोक
२०—मुनिसुव्रत	चंपक
२१—नमि	बकुल
२२—नेमि	वेतस
२३—पार्श्व	धातकी
२४—महावीर	शाल[1]

सिन्दूर भी आर्य-पूर्व नाग-जाति की वस्तु है। श्रमण-साहित्य में नदी, वृक्ष आदि का उत्सव मनाने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य

१—समवायांग, समवाय १५७।

२—राजप्रश्नीय, पृ० २८४।

क्षितिमोहन सेन ने जिन वस्तुओं को वेद-बाह्य या अवैदिक कहा है, उनका महत्त्व या महत्त्वपूर्ण उल्लेख श्रमण-परम्परा के साहित्य में मिलता है। उनके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं है कि जिसे आर्य-पूर्व संस्कृति या अवैदिक-परम्परा कहा जाता है, वह श्रमण-परम्परा ही होनी चाहिए।

पुरातत्त्व

मोहनजोदडो की खुदाई से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनका सम्बन्ध श्रमण या जैन-परम्परा से है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। यद्यपि एक मत से यह तथ्य स्वीकृत नहीं हुआ है फिर भी सारे परिकर का सूक्ष्म अवलोकन करने पर उनका सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से ही जुड़ता है। इसके लिए सर जान मार्शल की "मोहनजोदडो एण्ड इंडस सिविलिजेशन" के प्रथम भाग की बारहवीं प्लेट की १३, १४, १५, १८, १९ और २२ वीं कोष्टिका के मूर्ति-चित्र दर्शनीय हैं।

सिन्धु-घाटी से प्राप्त मूर्तियों और कुषाणकालीन जैन-मूर्तियों में अपूर्व साम्य है। कायोत्सर्ग-मुद्रा जैन-परम्परा की ही देन है। प्राचीन जैन-मूर्तियाँ अधिकांशतः इसी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। मोहनजोदडो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की विशेषता यह है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यान-लीन हैं और नग्न हैं। खड़े रह कर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन-परम्परा में बहुत प्रचलित है। इस मुद्रा को 'स्थान' या 'ऊर्ध्वस्थान' कहा जाता है। पतञ्जलि ने जिसे आसन कहा है, जैन आचार्य उसे 'स्थान' कहते हैं। स्थान का अर्थ है 'गति-निवृत्ति'। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्व स्थान— खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

(२) निषीदन स्थान—बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(३) शयन स्थान— सोकर कायोत्सर्ग करना।[1]

पर्यङ्कासन या पद्मासन जैन-मूर्तियों की विशेषता है। धर्म-परम्पराओं में योग-मुद्राओं का भेद होता था, उसी के सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

"प्रभो! आपकी पर्यङ्क आसन और नासाग्र दृष्टि वाली योग-मुद्रा को भी पर-तीर्थिक नहीं सीख पाए हैं तो भला वे और क्या सीखेंगे?"[2] प्रोफेसर प्राणनाथ ने मोहनजोदडो की एक मुद्रा पर 'जिनेश्वर' शब्द पढ़ा है।[3]

डेल्फी से प्राप्त प्राचीन आर्गिव मूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यान लीन है और

१–आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४६५, आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ७७३।

२–अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक २०।

३–इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ८, परिशिष्ट पृ० ३०।

उसके दोनों कंधों पर ऋषभ की भाँति केश-राशि लटकी हुई है। डॉ० कालिदास नाग ने उसे जैन-मूर्ति के अनुरूप बताया है। वह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है।[1] अपोलो रेशफ (यूनान) की धड़-मूर्ति भी वैसी ही है।[2] ये भी श्रमण-संस्कृति की सुदीर्घ प्राचीनता के प्रमाण हैं।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मूर्तियों या उनके उपासकों के सिर पर नाग-फण का अंकन है। वह नाग-वंश के सम्बन्ध का सूचक है। सातवें तीर्थङ्कर भगवान् सुपार्श्व के सिर पर सर्प-मण्डल का छत्र था।[3]

नाग-जाति वैदिक-काल से पूर्ववर्ती भारतीय जाति थी। यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और द्राविड़ जातियाँ भी मूलत भारतीय और श्रमणों की उपासक थीं। उनकी सभ्यता और संस्कृति ऋग्वैदिक सभ्यता और संस्कृति से पूर्ववर्ती और स्वतंत्र थी। उनके उपास्य ऋषभ, सुपार्श्व आदि तीर्थङ्कर भी प्राग्-वैदिककाल में हुए थे।

पूर्वोक्त दोनों साधनों (साहित्य और पुरातत्त्व) से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रमण-परम्परा वैदिक-काल से पूर्ववर्ती है।

१–Discovery of Asia, plate No 5

२–(क) आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव, पृ० १४० के बाद।

(ख) R. G. Marse—The historic importance of bronze statue of Reshief, discovered in Syprus. (Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona, Vol XIV, pp. 230-236).

३–त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व ३, सर्ग ५, श्लोक ७८-८० :

तीर्थाय नम इत्युक्त्वा तत्र सिंहासनोत्तमे।
उपाविशज्जगन्नाथोऽतिशयैरुपशोभितः ॥
पृथ्वीदेव्या तदा स्वप्ने दृष्टं तादृग्महोरगम्।
शक्रो विचक्रे भगवन्मूर्ध्निच्छत्रमिवापरम् ॥
तदादि वासूत्समवसरणेष्वपरेष्वपि।
नाग एकफणः पञ्चफणो नवफणोऽथवा ॥

४–सर जॉन मार्शल : 'मोहनजोदड़ो', भाग १, अंक ८, पृ० ११०-११२।

प्रकरण : दूसरा

१–श्रमण-संस्कृति के मतवाद

श्रमण-संस्कृति की आधारशिला प्राग्-ऐतिहासिक काल में ही रखी जा चुकी थी। बुद्ध और महावीर के काल में तो वह अनेक तीर्थों में विभक्त हो चुकी थी। विभाग का क्रम भगवान् ऋषभ से ही प्रारम्भ हो चुका था।

उसका प्रारम्भ भगवान् ऋषभ के शिष्य मरीचि से हुआ था। एक दिन गर्मी से व्याकुल होकर उसने सोचा—यह श्रमण-जीवन बहुत कठिन है, मैं इसकी आराधना के लिए अपने आपको असमर्थ पाता हूँ। यह सोच कर वह त्रिदण्डी तपस्वी बन गया।

उसने परिकल्पना की—श्रमण मन, वचन और काया इन तीनो का दमन करते हैं। मैं इन तीनो दण्डो का दमन करने में असमर्थ हूँ, इसलिए मैं त्रिदण्ड चिन्ह को धारण करूंगा।

श्रमण इन्द्रिय मुण्ड है। मैं इन्द्रियो पर विजय पाने में असमर्थ हूँ, इसलिए सिर को मुण्डाऊँगा, केवल चोटी रखूँगा।

श्रमण अकिंचन हैं। मैं अकिंचन रहने मे असमर्थ हूं, इसलिए कुछ परिग्रह रखूँगा।

श्रमण शील से सुगन्धित है। मैं शील से सुगन्धित नही हूँ, इसलिए चदन आदि सुगन्धित द्रव्यो का लेप करूंगा।

श्रमण मोह से रहित है। मैं मोह से आच्छन्न हूँ, इसलिए छत्र धारण करूंगा।

श्रमण पादुका नही पहनते, किन्तु मैं नंगे पैर चलने मे असमर्थ हूँ, इसलिए पादुका धारण करूंगा।

श्रमण कषाय से अकलुषित है, इसलिए वे दिगम्बर या श्वेताम्बर हैं। मैं कषाय से कलुषित हूँ, इसलिए गेरुवे वस्त्र धारण करूंगा।

श्रमण हिंसा-भीरु है। मैं पूर्ण हिंसा का वर्जन करने मे असमर्थ हूँ, इसलिए परिमित जल से स्नान भी करूंगा और कच्चा जल पीऊँगा भी।

इस परिकल्पना के अनुसार वह परिव्राजक हो गया।[1]

१–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ३४७, ३५०,३५९।

जैन-साहित्य में श्रमणों के पाँच विभाग बतलाए गए हैं—

निर्ग्रन्थ— जैन-मुनि,
शाक्य— बौद्ध-भिक्षु,
तापस— जटाधारी वनवासी तपस्वी,
गेरुक— त्रिदण्डी परिव्राजक और
आजीवक— गोशालक के शिष्य।[1]

निशीथ चूर्णि में अन्यतीर्थिक श्रमणो के ३० गणो का उल्लेख मिलता है।[2] बौद्ध-साहित्य में बुद्ध के अतिरिक्त छह श्रमण-संघ के तीर्थङ्करो का उल्लेख मिलता है।[3]

दशवैकालिक निर्युक्ति में श्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं— प्रव्रजित, अणगार, पाषण्ड, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्रायी, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रूक्ष और तीरस्थ।[4]

इन नामो में चरक, तापस, परिव्राजक आदि शब्द निर्ग्रन्थो से भिन्न श्रमण-सम्प्रदाय के सूचक है। श्रमण के एकार्थवाची शब्दो में उन सबका संकलन किया गया है।

१–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३१-७३३ :
निग्गंथ सक्क तावस गेरुय, आजीव पंचहा समणा।
तम्मि निग्गंथा ते जे, जिणसासणभवा मुणिणो॥
सक्का य सुगयसीसा, जे जडिला ते उ तावसा गीया।
जे धाउरत्तवत्था, तिदंडिणो गेरुया ते उ॥
जे गोसालगमयमणुसरंति, भन्नंति ते उ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे, पंचवि पत्ता पसिद्धिमिमे॥

२–निशीथ सूत्र, सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ० ११८-२००।

३–दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० १६–२२।

४–दशवैकालिक निर्युक्ति, १५८-१५९ :
पव्वइए अणगारे, पासंडे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे, निग्गंथे संजए मुत्ते॥
तिन्ने ताई दविए, मुणी य खंते य दन्त विरए य।
लूहे तीरट्ठेऽविय, हवंति समणस्स नामाइं॥

२—श्रमण-परम्परा की एकसूत्रता और उसके हेतु

जितने श्रमण-सम्प्रदाय थे, उनमें अनेक मतवाद थे। पूरणकश्यप अक्रियावादी था।[1] मस्करी गोशालक संसार-शुद्धिवादी या नियतिवादी था।[2] अजितकेशकम्बल उच्छेदवादी था।[3] प्रक्रुद्धकात्यायन अन्योन्यवादी था।[4] संजयवेलट्ठिपुत्र विक्षेपवादी था।[5]

बौद्ध-दर्शन क्षणिकवादी और जैन-दर्शन स्याद्वादी था। इतने विरोधी विचारों के होते हुए भी वे सब श्रमण थे, अवैदिक थे। इसका हेतु क्या था? कौन सा ऐसा समता का धागा था, जो सबको एक माला में पिरोए हुए था। इस प्रश्न की मीमांसा अब तक प्राप्त नहीं है। किन्तु श्रमणों की मान्यता और जीवन-चर्या का अध्ययन करने पर हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं —

(१) परम्परागत एकता

(२) व्रत

(३) सन्यास या श्रामण्य

(४) यज्ञ प्रतिरोध

(५) वेद का अप्रामाण्य

(६) जाति की अतात्त्विकता

(७) समत्व की भावना व अहिंसा

१—दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० १९।

२—(क) भगवती, १५।

(ख) उपासकदशा, ७।

(ग) दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० २०।

३—(क) दशाश्रुतस्कंध, छट्ठी दशा :

(ख) दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० २०-२१।

४—(क) सूत्रकृतांग, १।१२।७ :

(ख) दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० २१।

५—दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, पृ० २२।

उत्तराध्ययन में इन विषयो पर बहुत व्यवस्थित विवेचन किया गया है। वह आध्यात्मिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक भी है।

परम्परागत एकता

श्रमण-परम्परा का मूल उद्गम एक है, इसलिए अनेक सम्प्रदाय होने पर भी मूलतः वह अविभक्त है। श्रमण-परम्परा का उद्गम भगवान् ऋषभ से हुआ है। जयघोष ब्राह्मण ने निर्ग्रन्थ विजयघोष से पूछा—धर्म का मुख क्या है? विजयघोष ने उत्तर दिया—धर्म का मुख काश्यप ऋषभ है।[1]

श्रीमद्भागवत के अनुसार वे श्रमणों का धर्म प्रकट करने के लिए अवतरित हुए।[2]

उन्होने राजा नमि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार ने समस्त आसक्तियों से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप मे स्थिर होकर समदर्शी के रूप में जडों की भाँति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस-पद कहते हैं।[3]

निरन्तर विषय-भोगो की अभिलाषा के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगो को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्म-लोक का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्म-स्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।[4]

ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार महादेव ऋषभ ने दस प्रकार के धर्म का स्वयं आचरण

१—उत्तराध्ययन, २५।१४,१६।

२—श्रीमद्भागवत, ५।३।२० :
धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।

३—वही, २।७।१० :
नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥

४—वही, ५।६।१६।
नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥

क्रिया और केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर भगवान् ने जो महर्षि परमेष्ठी, वीतराग, स्नातक, निर्ग्रन्थ, नैष्ठिक थे—उन्हे उसका उपदेश दिया ।

जैन-साहित्य मे तो यह स्पष्ट है ही कि श्रमण धर्म के आदि-प्रवर्तक भगवान् ऋषभ थे ।[1]

इस प्रकार जैन व वैदिक दोनो प्रकार के साहित्य से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण-धर्म का आदि-स्रोत भगवान ऋषभ हैं ।

ऋषभ का धर्म प्राग्-ऐतिहासिक काल की सीमा का अतिक्रमण कर जब इतिहास की सीमा में आता है तब भी उसका मूल-स्रोत बहुत विभक्त नहीं मिलता ।

भगवान् महावीर के तीर्थ काल में जो श्रमण सघ उपलब्ध थे, वे अधिकाश पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित थे । दीघनिकाय में जिन छह तीर्थङ्करो का वर्णन है, उन सबको 'संघी' और 'गणी' कहा गया है ।[2] धर्म सम्प्रदायो में 'सघ' की परम्परा श्रमणों की देन है । ऐतिहासिक काल मे श्रमण-सघ का सबसे पहला उदाहरण भगवान पार्श्व के तीर्थ का है । धर्मानन्द कोशाम्बी ने लिखा है—

"पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धम के प्रचार के लिए उन्होने सघ बनाए । बौद्ध-साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बद्ध के समय जो सघ विद्यमान थे, उन सबो मे जैन साधु और साध्वियो का सघ सबसे बडा था ।

"पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बडे-बडे समूह थे, पर वे सिफ यज्ञ-याज्ञ का प्रचार करने के लिए ही थे । यज्ञ-याज्ञ का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जगलो मे तपस्या करने वालों के सघ भी थे । तपस्या का एक अंग समझ कर ही वे अहिंसा-धर्म का पालन करते थे, पर समाज मे उसका उपदेश नही देते थ । वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे ।

"बुद्ध के पहले यज्ञ-याज्ञ को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याज्ञ से ऊबकर जंगलो में जाने वाले तपस्वी थे । बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—

१–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, २।३०, पत्र १३५ :
उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे ।

२–दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, प्रथम भाग, पृ० ४१-४२ :
संघी चेव गणी चेव ।

ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले तीसरे प्रकार के भी संन्यासी थे और उन लोगों में पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए।"[1]

भगवान् पार्श्व और महात्मा बुद्ध

देवसेनाचार्य (आठवीं सदी) के अनुसार महात्मा बुद्ध आरम्भ में जैन थे। जैनाचार्य पिहितास्रव ने सरयू-नदी पर स्थित पलाश नामक ग्राम में पार्श्व के संघ में उन्हें दीक्षा दी और मुनि 'बुद्धकीर्ति' नाम रखा।[2]

श्रीमती राइस डेविड्स का भी मत है कि बुद्ध पहले गुरु की खोज में वैशाली पहुँचे। वहाँ आचार और उदक से उनकी भेंट हुई, फिर बाद में उन्होंने जैन-धर्म की तप-विधि का अभ्यास किया।[3] डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अभिमत में बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल मे प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया। आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण-मार्ग का और तब जैन-मार्ग का और बाद में अपने स्वतंत्र साधना-मार्ग का विकास किया।[4]

महात्मा बुद्ध पार्श्व की परम्परा मे दीक्षित हुए या नहीं इन दोनों प्रश्नों को गौण कर हम इस रेखा पर पहुँचते हैं कि उन्होंने अहिंसा आदि तत्त्वों का जो निरूपण किया, उसका बहुत बडा आधार भगवान् पार्श्व की परम्परा है। उनके शब्द-प्रयोग भी पार्श्व की परम्परा के जितने निकट है, उतने अन्य किसी परम्परा के निकट नहीं है। आज भी त्रिपिटक और द्वादशांगी का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले सहज ही इस कल्पना पर पहुँच जाते हैं कि उन दोनों का मूल एक है। विचार-भेद की स्थिति में सम्प्रदाय परिवर्तन की रीति उस समय बहुत प्रचलित थी। पिटकों व आगमों के अभ्यासी के लिए यह अपरिचित विषय नहीं है। महात्मा बुद्ध के प्रमुख शिष्य मोद्गल्यायन भी पहले पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा में थे। वे भगवान् महावीर की किसी प्रवृत्ति से रुष्ट होकर बुद्ध के शिष्य बन गए।"[5]

१–भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ४१, ४३।

२–दर्शनसार, ६ :

सिरिपासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो, महासुवो बुद्धकित्ति मुणी॥

३–Gautma, the man, 22/5

४–हिन्दू सभ्यता, पृ० २३९।

५–धर्म परीक्षा, अध्याय १८।

गोशालक और पूरणकश्यप

आजीवक-सम्प्रदाय के आचार्य गोशालक के विषय में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार वह भगवान् महावीर का शिष्य था और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वह पार्श्व की शिष्य-परम्परा में था।

मंखलीपुत्र गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र – इन दोनों निर्ग्रन्थों को अपनी तेजोलेश्या से जला डाला, तब भगवान् महावीर ने कहा—"गोशालक ! मैंने तुम्हें प्रव्रजित किया, बहुश्रुत किया और तुम आज मेरे ही साथ इस प्रकार का मिथ्या आचरण कर रहे हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है।"[1] इसका आशय स्पष्ट है कि गोशालक भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था। छह वर्ष तक भगवान के साथ रहा और उसके बाद वह आजीवक-संघ का आचार्य बन गया। उस समय उसके साथ भगवान पार्श्व के छह शिष्य सम्मिलित हुए।[2]

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार मस्करी गोशालक और पूरणकश्यप भगवान महावीर के प्रथम समवसरण (धर्म-परिच्छेद) में विद्यमान थे। वे दोनों पार्श्वनाथ के प्रशिष्य थे। उस परिषद् मे इन्द्रभूति गौतम आए। भगवान महावीर की ध्वनि का क्षरण हुआ। मस्करी गोशालक रुष्ट होकर चला गया। उसने सोचा—बहुत आश्चय की बात है ग्यारह अगो (शास्त्रो) को धारण करने वाला मैं परिषद् मे विद्यमान था फिर भी भगवान् की ध्वनि का क्षरण नही हुआ। मुझे उसके योग्य नही समझा गया। यह इन्द्रभूति गौतम वेद-पाठी है। अंगो को नहीं जानता फिर भी उसके आने पर भगवान् की ध्वनि का क्षरण हुआ। उसे उसके योग्य समझा गया। इससे लगता है कि ज्ञान का कोई मूल्य नही है। अज्ञान ही श्रेष्ठ है। उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3] इस प्रकार वह अज्ञानवादी बन गया।

श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओ मे भेद होने पर भी इसमें कोई मतभेद नही है कि गोशालक का सम्बन्ध श्रमण-परम्परा के मूल उद्गम से था। आजीवक-सम्प्रदाय गोशालक से पहले भी था। वह उसका प्रवर्तक नही था। उस सम्प्रदाय का मूल-स्रोत भी प्राचीन श्रमण-परम्परा से भिन्न नही है।[4] जैन-श्रमणों और आजीवको की तपस्या पद्धति

१–भगवती, १५।
तुमं मए चेव पव्वाविए जाव मए चेव बहुस्सुई कए, ममं चेव मिच्छं विप्पडिवन्ने तं मा एवं गोसाल ?

२–वही, १५।

३–दर्शनसार, १७६-१७९।

४–History and Doctrines of the Ajivikas, p 98

और सिद्धान्त निरूपणा में कुछ भेद था तो बहुत समानता भी थी, किन्तु उसमें मुख्य भेद आजीविका की वृत्ति की था। आजीवक-श्रमण विद्या आदि के प्रयोग द्वारा आजीविका करते थे। जैन-श्रमणों को यह सर्वथा अमान्य था। जो श्रमण लक्षण, स्वप्न और अंग-विद्या का प्रयोग करते थे, उन्हें जैन-श्रमण कहने को भी वे तैयार नहीं थे।[१]

आजीवक लोग मूलत पार्श्व की परम्परा से उद्भूत थे, यह मानना निराधार नहीं है। सूत्रकृतांग (१।१।२।५) में नियतिवादियों को पार्श्वस्थ कहा है—

एवमेगेहु पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया॥

वृत्तिकार ने पार्श्वस्थ का अर्थ 'युक्ति से बाहर ठहरने वाला' या 'पाश—बन्धन में स्थित' किया है[२], किन्तु ये सारे अर्थ कल्पना से अधिक मूल्य नही रखते। वस्तुत पार्श्वस्थ का अर्थ 'पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित' होना चाहिए।

भगवान् महावीर ने तीर्थ की स्थापना की और वे चौबीसवें तीर्थङ्कर हुए। उसके पश्चात् भगवान् पार्श्व के अनेक शिष्य भगवान् महावीर के तीर्थ में प्रव्रजित हो गए और अनेक प्रव्रजित नही भी हुए। हमारा ऐसा अनुमान है कि भगवान् पार्श्व के जो शिष्य भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित नही हुए उनके लिए 'पार्श्वस्थ' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा भगवान् महावीर से पहले ही कुछ साधु भगवान् पार्श्व की मान्यता का अतिक्रमण कर अपने स्वतंत्र विचारो का प्रचार कर रहे थे। उनके लिए भी 'पार्श्वस्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। पहली श्रेणी वालो को 'देशत. पार्श्वस्थ' कहा गया है एव दूसरी श्रेणी वालों को 'सर्वत पार्श्वस्थ' कहा गया है। भगवान् महावीर के तीर्थ-प्रवर्तन के बाद भी पार्श्व की परम्परा के जो श्रमण जैन-धर्म की रत्नत्रयी—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—से सर्वथा विमुख होकर मिथ्या दृष्टि का प्रचार करने में रत थे, उन्हें 'सर्वतः पार्श्वस्थ' कहा गया है।[३]

१—उत्तराध्ययन, ८।१३,१५।७,१६।

२—सूत्रकृतांग, १।१।२।५ वृत्ति :
युक्तिकदम्बकाद्बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यं, यदि वा—पाश इव पाशः—कर्मबन्धनं, तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणं तत्र स्थिताः पाशस्थाः।

३—प्रवचनसारोद्धार, गाथा १०४-१०५:
सो पासत्थो दुविहो, सव्वे देसे य होइ नायव्वो।
सव्वंमि नाणदंसणचरणाणं जो उ पासंमि॥
देसंमि य पासत्थो, सेज्जायरऽभिहडरायपिण्डं च।
नीयं च अग्गपिण्डं भुंजइ निक्कारणे चेव॥

जो श्रमण शय्यातर-पिण्ड, अभिहृत-पिण्ड, राज-पिण्ड, नित्य-पिण्ड, अग्र-पिण्ड आदि आहार का उपभोग करते थे, उन्हें 'देशतः पार्श्वस्थ' कहा गया ।

आजीवक 'सर्वतः पार्श्वस्थ' थे । गोशालक आजीवक-सम्प्रदाय के आचार्य थे, प्रवर्तक नही । वह गोशालक से पहले ही प्रचलित था ।[1]

श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार गोशालक भगवान् महावीर के शिष्य थे और दिगम्बर-साहित्य के अनुसार वे भगवान् महावीर की प्रथम प्रवचन-परिषद् में उपस्थित थे । महावीर से उनका सम्पर्क था, इसमें दोनों सहमत है ।

दिगम्बर-साहित्य के अनुसार गोशालक पार्श्व-परम्परा मे थे और श्वेताम्बर-साहित्य में नियतिवादियो को 'पार्श्वस्थ' कहा है । इस प्रकार उनके पार्श्व की परम्परा मे सम्बन्धित होने में भी दोनो सहमत है ।

इन दो अभिमतो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोशालक प्रारम्भ मे पार्श्व की परम्परा में दीक्षित हुए और बाद में महावीर के साथ रहे । दिगम्बरो ने पहली स्थिति को प्रमुखता दी और गोशालक को पार्श्व की परम्परा का श्रमण माना । श्वेताम्बरो ने दूसरी स्थिति को प्रमुखता दी और गोशालक को महावीर का शिष्य माना । किन्तु इतना निश्चित है कि भगवान् पार्श्व की परम्परा व भगवान् महावीर से उनका पूर्व सम्बन्ध रहा था ।

दर्शनसार मे मस्करी गोशालक व पूरणकश्यप का एक साथ उल्लेख है । इससे उनके घनिष्ट सम्बन्ध की भी सूचना मिलती है । एक परम्परा में दीक्षित होने के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही । अगुत्तरनिकाय मे मस्करी गोशालक के छह अभिजाति के सिद्धान्त को पूरणकश्यप का बतलाया गया है ।[2]

इस प्रकार बुद्ध, मस्करी गोशालक और पूरणकश्यप का श्रमण-परम्परा के मूल-स्रोत भगवान् पार्श्व या महावीर से सम्बन्ध था, इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है । संजय, अजितकेशकम्बल और प्रकुद्धकात्यायन के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती, फिर भी उनकी परम्परा सर्वथा मौलिक रही हो, ऐसा प्रतिभासित नही होता ।

१–History and Doctrines of the Ājivikās, p 97
२–अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ० ३८३ ।

व्रत

श्रमण-परम्परा मे व्रत का बहुत महत्त्व रहा है। उसके आधार पर सभी मनुष्य तीन भागो में विभक्त किए गए हैं—बाल, पंडित और बाल-पंडित। जिसके कोई व्रत नहीं होता, वह 'बाल' कहलाता है। जो महाव्रतो को स्वीकार करता है, वह 'पंडित' कहलाता है और जो अणुव्रतो को स्वीकार करता है अर्थात् व्रती भी होता है और अव्रती भी, वह 'बाल-पंडित' कहलाता है।[1]

भगवान् महावीर ने साधु के लिए पॉच महाव्रत और रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत का विधान किया। पाँच महाव्रत ये है—

(१) अहिंसा।
(२) सत्य।
(३) अस्तेय।
(४) ब्रह्मचर्य।
(५) अपरिग्रह।

श्रावक के लिए बारह व्रतो की व्यवस्था की।[2] उनमें पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा-व्रत है। पॉच अणुव्रत ये है—

(१) स्थूल प्राणातिपात-विरति।
(२) स्थूल मृषावाद-विरति।
(३) स्थूल अदत्तादान-विरति।
(४) स्वदार-संतोष।
(५) इच्छा-परिमाण।

सात शिक्षा-व्रत ये हैं—

(१) दिग्-व्रत।
(२) उपभोग-परिभोग परिमाण।
(३) अनर्थ-दण्ड-विरति।
(४) सामायिक।
(५) देशावकाशिक।
(६) पौषध।
(७) अतिथि-संविभाग।

१–सूत्रकृताङ्ग, २।२।
२–उपासक दशा, १।१२।

महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए दस शीलों का विधान किया था। दस-शील ये हैं—

(१) प्राणातिपात-विरति।
(२) अदत्तादान-विरति।
(३) अब्रह्मचर्य-विरति।
(४) मृषावाद-विरति।
(५) सुरा-मद्य-मैरेय-विरति।
(६) अकाल-भोजन-विरति।
(७) नृत्य-गीत-वादित्र-विरति।
(८) माल्य-गंध-विलेपन-विरति।
(९) उच्चासन-शयन विरति।
(१०) जातरूप-रजत-प्रतिग्रह-विरति।[1]

उपासकों के लिए पञ्चशील का विधान है। पञ्चशील ये हैं—

(१) प्राणातिपात-विरति।
(२) अदत्तादान-विरति।
(३) काम-मिथ्याचार-विरति।
(४) मृषावाद-विरति।
(५) सुरा मैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति।[2]

आजीवक-उपासक बैलों को नपुसक नहीं करते थे, उनकी नाक भी नहीं बींधते थे; आजीविका के लिए त्रस जीवों का वध नहीं करते थे, उदुम्बर और बरगद के फल तथा प्याज-लहसुन और कन्द-मूल आदि नहीं खाते थे।[3]

इस प्रकार जैन, बौद्ध और आजीवक—इन तीनों में व्रतों की व्यवस्था मिलती है। शेष श्रमण-सम्प्रदायों में भी व्रतों की व्यवस्था होनी चाहिए। जहाँ श्रामण्य या प्रव्रज्या की व्यवस्था है, वहाँ व्रतों की व्यवस्था न हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता।

जैन-धर्म और व्रत-परम्परा

डॉ० हर्मन जेकोबी ने ऐसी संभावना की है कि जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से उधार

१—**बौद्धधर्मदर्शन**, पृ० १९।
२—**वही**, पृ० २४।
३—**भगवती**, ८।५।

लिए हैं।[1] ब्राह्मण संन्यासी मुख्यतया अहिंसा, सत्य, अचौर्य, संतोष और मुक्तता—इन पाँच व्रतों का पालन करते थे। डॉ० जेकोबी का अभिमत है कि जैन-महाव्रतों की व्यवस्था के आधार उक्त पाँच व्रत बने हैं।

यह संभावना केवल कल्पना पर आधारित है। इसका कोई वास्तविक आधार नहीं है। यदि हम व्रतों की परम्परा का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो अहिंसा आदि व्रतों का मूल ब्राह्मण-परम्परा में नहीं पाएँगे। डॉ० जेकोबी ने बौधायन में उल्लिखित व्रतों के आधार पर यह संभावना की, किन्तु प्रश्न यह है कि उसमें व्रत कहाँ से आए ?

इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व सन्यास-आश्रम पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि व्रत और संन्यास का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। वैदिक-साहित्य में सर्व प्राचीन ग्रन्थ वेद है। उनमें 'आश्रम' शब्द का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में भी आश्रमों की चर्चा नहीं है। उपनिषद्-काल में आश्रमों की चर्चा प्रारम्भ होती है। बृहदारण्यक में संन्यास को 'आत्म-जिज्ञासा के बाद होने वाली स्थिति' कहा है। वहाँ लिखा है—"इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम-तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। इसी को जान कर मुनि होते हैं। इस आत्म-लोक की ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर चले जाते हैं, संन्यासी हो जाते हैं। इस संन्यास में कारण यह है—पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान (तथा सकाम कर्म आदि) की इच्छा नहीं करते थे। (वे सोचते थे) हमें प्रजा से क्या लेना है, जिन हमको कि यह आत्म-लोक अभीष्ट है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थान कर फिर भिक्षा-चर्या करते थे।"[2]

इस उद्धरण में "पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान की इच्छा नहीं करते थे और लोकैषणा से व्युत्थान कर फिर भिक्षा-चर्या करते थे"—ये वाक्य निवर्तक-परम्परा की ओर संकेत करते हैं। वैदिक-परम्परा लोकैषणा से विमुख नहीं रही है। उसमें पुत्रैषणा की प्रधानता रही है और यहाँ बताया है कि जो भी पुत्रैषणा है, वह वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।[3]

श्रमण-परम्परा का मुख्य सूत्र है—"लोकैषणा मत करो"—"नो लोगस्सेसण चरे।"[4] भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से कहा—"पहले पुत्रों को उत्पन्न करो, फिर आरण्यक मुनि हो

१—The Sacred Books of the East, Vol XXII, Introduction p. 24.
"It is therefore probable that the Jainas have borrowed their own vows from the Brâhmans, not from the Buddhists

२—बृहदारण्यक, ४।४।२२।

३—वही, ४।४।२२।

४—आचारांग, १।४।१।१२८।

जाना।"[१] उन्होंने उत्तर की भाषा में कहा—"पिता ! पुत्र त्राण नहीं होते, इसलिए उन्हें उत्पन्न करना अनिवार्य धर्म नहीं है।"[२] वैदिक धारणा ठीक इस धारणा के विपरीत है। तैत्तिरीय संहिता मे कहा गया है—"जन्म प्राप्त करने वाला ब्राह्मण तीन ऋणो के साथ ही जन्म लेता है। ऋषियों का ऋण ब्रह्मचर्य मे, देवो का ऋण यज्ञ से तथा पितरो का ऋण प्रजोत्पादन से चुकाया जा सकता है। पुत्रवान्, यजनशील तथा ब्रह्मचर्य को पूर्ण करने वाला मानव उऋण होता है।"[३] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण मे बताया है—"इक्ष्वाकु-वंश के वेधस राजा का पुत्र राजा हरिश्चन्द्र निस्संतान था। उसके सौ पत्नियाँ थी। परन्तु उसके कोई पुत्र न हुआ। उसके घर मे पर्वत और नारद दो ऋषि रहते थे। उसने नारद से पूछा—"सभी पुत्र की इच्छा करते है, ज्ञानी हो या अज्ञानी। हे नारद ! बताओ, पुत्र से क्या लाभ होता है ?"

नारद ने इस एक प्रश्न का दस श्लोको मे उत्तर दिया। उनमे पहला श्लोक इस प्रकार है—

ऋण मस्मिन् सनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतोमुखम्॥

—अगर पिता जीते हुए पुत्र का मुख देख ले तो उसका ऋण छूट जाता है और वह अमर हो जाता है।[४]

उक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा मे सन्यास को प्रधानता रही है और वैदिक-परम्परा मे पुत्र उत्पन्न करने की। उस स्थिति में इस उपनिषद् का यह वाक्य—'तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयते' बहुत ही अर्थ-सूचक है।

जैन-दर्शन का संन्यास नितान्त आत्मवाद पर आधारित है। आचार की आराधना वही कर पाता है, जो आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है।[५] आत्म-जिज्ञासा के बिना संन्यास का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। इस धारणा के आलोक मे हम सहज ही यह देख पाते हैं कि आत्म-जिज्ञासा पर आधारित संन्यास (जिसका संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् देता है) श्रमणो की दीर्घकालीन परम्परा है।

१—**उत्तराध्ययन**, १४।९।
२—**वही**, १४।१२।
३—**तैत्तिरीय संहिता**, ६।३।१०।५।
४—**ऐतरेय ब्राह्मण**, ७ वी पंचिका, अध्याय ३।
५—**आचारांग**, १।१।१।५।

भगवान् पार्श्व के समय श्रमण-संघ बहुत सुसंगठित था। उपनिषद् का रचना-काल उनसे पहले नहीं जाता। भगवान् पार्श्व का अस्तित्व-काल ई० पू० दसवीं शताब्दी है[1] और उपनिषदों का रचना-काल प्राय ई० पूर्व ८०० से ३०० के बीच का है।[2]

१–भगवान् महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२८ में हुआ था। भगवान् महावीर का जीवन-काल ७२ वर्ष का था। (देखिए—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० २६) :
भगवान् पार्श्व भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे।

पासजिणाओ य होइ वीरजिणो।
अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं चरिमो समुप्पन्नो॥

उनका १०० वर्ष का जीवन-काल था। इस प्रकार भगवान् पार्श्व का अस्तित्व-काल ई० पू० दसवीं शताब्दी होता है। आचार्य गुणभद्र के अनुसार भगवान् पार्श्व के निर्वाण के २५० वर्ष बाद भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ था—

पार्श्वेशतीर्थे सन्ताने, पंचाशद्द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायु, र्महावीरोऽत्र जातवान्॥

—महापुराण (उत्तरपुराण), पर्व ७४, पृ० ४६२।

अर्थात् श्री पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के बाद दो सौ पचास वर्ष बीत जाने पर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु (७२ वर्ष) भी इसी में शामिल है। आचार्य गुणभद्र के उक्त अभिमत से भगवान् पार्श्व का अस्तित्व-काल ई० पू० नौवीं शताब्दी होता है।

२ (क) History of the Sanskrit Literature, p 226
आर्थर ए० मैकडॉनल के अभिमत से प्राचीनतम वर्ग बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौशीतकी उपनिषद का रचना-काल ईसा पूर्व ६०० है।

(ख) A. B Kieth the Religion and Philosophy of the Veda and Upanisads, P 20.

इसके अनुसार वैदिक-साहित्य का काल-मान इस प्रकार है—

१–उपनिषद् — ई० पू० ५वीं शताब्दी।
२–ब्राह्मण — ई० पू० ६वीं शताब्दी।
३–बाद की संहिताएँ — ई० पू० ८-७वीं शताब्दी।

इन्होंने जैन तीर्थङ्कर पार्श्व का काल ईसा पूर्व ७४० निर्धारित किया है और प्राचीनतम उपनिषदों का काल पार्श्व के बाद माना है।

इस स्थिति में यह मान लेना कोई कठिन बात नहीं कि संन्यास और व्रतों की व्यवस्था के लिए श्रमण-धर्म वैदिक-धर्म का ऋणी नहीं है।

वेद, ब्राह्मण और आरण्यक-साहित्य में महाव्रतों का उल्लेख नही है। जिन उपनिषदों, पुराणों और स्मृतियों में उनका उल्लेख है, वे सभी ग्रन्थ भगवान् पार्श्व के उत्तरकालीन हैं। अत· पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तरवर्ती व्रत-व्यवस्था ने प्रभावित किया—यह मानना स्वाभाविक नही है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के उत्तरवर्ती तीर्थङ्कर हैं। उन्होंने भगवान् पार्श्व के व्रतों का ही विकास किया था। उन्होंने इस विषय में किसी अन्य परम्परा का अनुसरण नहीं किया। उनके उत्तरकाल में महाव्रत इतने व्यापक हो गए कि उनका मूल-स्रोत ढूँढना एक पहेली बन गया। इस दिशा मे कभी-कभी प्रयत्न हुआ है। उनके अभिमत इस प्रकार हैं—पार्श्वनाथ का धर्म महावीर के पञ्च महाव्रतो मे परिणत हुआ है। वही धर्म बुद्ध के अष्टागिक मार्ग मे और योग के यम-नियमो में प्रकट

(ग) एफ० मेक्समूलर—दी वेदाज, पृ० १४६-१४८ ·

इनकी मान्यता है कि उपनिषदों में प्रतिपादित वेदान्त दर्शन का काल-मान ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी है।

(घ) एच० सी० रायचौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया, पृ० ५२

ये मानते हैं कि विदेह का महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य, बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पाँच पात्र हैं। उनका काल-मान ईसा पूर्व सातवी शताब्दी है। वही, पृ० ९७—जैन तीर्थङ्कर पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाण काल ईसा पूर्व ७७७ है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्राचीनतम उपनिषद् पार्श्व के बाद के है।

(ङ) राधाकृष्णन—इण्डियन फिलोसफी, भाग १, पृ० १४२ :

(१) इनकी मान्यता है कि ऐतरेय, कौशीतकी, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—ये सभी उपनिषद् प्राचीनतम हैं। ये बुद्ध से पूर्व के है। इनका काल-मान ईसा पूर्व दसवी शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक माना जा सकता है।

(२) राधाकृष्णन—दी प्रिंसिपल उपनिषदाज्, पृ० २२ :

बुद्ध-पूर्व के प्राचीनतम उपनिषदों का काल-मान ईसा पूर्व आठवी शताब्दी से ईसा तीसरी शताब्दी तक का है।

हुआ। गाँधीजी के आश्रम-धर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम-धर्म दृष्टिगोचर होता है।[1]

हिन्दुत्व और जैन-धर्म आपस में घुल मिल कर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैन-धर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं।[2]

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत

भगवान् पार्श्व के चातुर्याम-धर्म में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे शब्दो की व्यवस्था नहीं थी। उनकी व्यवस्था में बाह्य वस्तुओं की अनासक्ति का सूचक शब्द था 'बहिस्तात्-आदान-विरमण।' भगवान् महावीर ने इस व्यवस्था में परिवर्तन किया और 'बहिस्तात्-आदान-विरमण' को 'ब्रह्मचर्य' और 'अपरिग्रह' इन दो शब्दों में विभक्त कर डाला। ब्रह्मचर्य शब्द वैदिक-साहित्य में प्रचलित था। किन्तु भगवान् महावीर ने एक महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य का प्रयोग किया। उस रूप में वह वैदिक साहित्य में प्रयुक्त नहीं था। अपरिग्रह शब्द का भी महाव्रत के रूप में सर्व प्रथम भगवान् महावीर ने ही प्रयोग किया था। जाबालोपनिषद् (५), नारद परिव्राजकोपनिषद् (३।८।६), तेजोबिन्दूपनिषद् (१।३), याज्ञवल्क्योपनिषद् (२।१), आरुणिकोपनिषद् (३), गीता (६।१०), योगसूत्र (२।३०) में अपरिग्रह शब्द मिलता है, किन्तु ये सभी ग्रन्थ भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती हैं। उनके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ मे अपरिग्रह शब्द का एक महान् व्रत के रूप में प्रयोग नहीं हुआ है।

जैन-धर्म का बहुत बडा भाग व्रत और अव्रत की मीमांसा है। सम्भवतः अन्य किसी भी दर्शन में व्रतों की इतनी मीमांसा नहीं हुई। चौदह गुणस्थानों—विशुद्धि की भूमिकाओं में अव्रती चौथे, अणुव्रती पाँचवें और महाव्रती छट्ठे गुणस्थान का अधिकारी होता है। यह विकास किसी दीर्घकालीन परम्परा का है, तत्काल गृहीत परम्परा का नही।

संन्यास या श्रामण्य

संन्यास श्रमण-परम्परा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। अजितकेशकम्बल जैसे उच्छेदवादी श्रमण भी संन्यासी थे। वैदिक-परम्परा में संन्यास की व्यवस्था उपनिषद्-काल में मान्य हुई है। वैदिक-काल में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—ये दो ही व्यवस्था-क्रम थे। आरण्यक-काल में 'न्यास' (संन्यास) को मोक्ष का हेतु कहा गया है और वह सत्य,

---

१—पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, भूमिका पृ० ६।

२—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२५।

तप, दम, शम, दान, धर्म, पुत्रोत्पादन, अग्निहोत्र, यज्ञ और मानसिक-उपासना—इन सबसे उत्कृष्ट बतलाया गया है।[१] किन्तु वह किन लोगो द्वारा स्वीकृत था, इसका उल्लेख नहीं है। आश्रम-व्यवस्था का अस्पष्ट वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् मे मिलता है। वहाँ लिखा है—धर्म के तीन स्कन्ध (आधार-स्तम्भ) हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। यज्ञ पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य-लोक के भागी होते है। ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित संन्यासी अमृतत्व को प्राप्त होता है।[२]

बृहदारण्यक में संन्यास का उल्लेख है।[३] जाबालोपनिषद् मे चार आश्रमो की स्पष्ट व्यवस्था प्राप्त होती है। वहाँ बताया है कि ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ, उसके बाद वानप्रस्थ और उसके बाद प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष है। यदि वैराग्य उत्कट हो तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी भी आश्रम से सन्यास स्वीकार किया जा सकता है। जिस समय वैराग्य उत्पन्न हो, उसी समय प्रव्रजित हो जाना चाहिए। यह विकल्प पक्ष है।[४]

चार आश्रमो की व्यवस्था हो जाने पर भी धर्म-शास्त्र और कल्पसूत्रकार गृहस्थाश्रम को ही महत्त्व देते रहे है। वशिष्ठ ने लिखा है—'आश्रम चार हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक।[५] गृहस्थ ही यजन करता है, तप तपता है। इसलिए चारो आश्रमो में वही विशिष्ट है। जैसे सब नदी और नद समुद्र में आकर स्थित होते है, वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थ आश्रम में स्थित होते हैं।[६]

१–तैत्तिरीयारण्यक १, अनुवाक ६२, पृ० ७६६ :
न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपाँसि न्यास एवात्यरेचयत् इति।

२–छान्दोग्योपनिषद्, २।२३।१।

३–बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२२।

४–जाबालोपनिषद्, ४।

५–वाशिष्ठ धर्म-शास्त्र, ७।१।२।

६–वही, ८।१४-१५ :
गृहस्थएव यजते, गृहस्थ स्तप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणां तु, गृहस्थश्च विशिष्यते॥
यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एव माश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

वैदिक-परम्परा के मूल में यह मान्यता स्थिर रही है कि वस्तुत आश्रम एक ही है, वह है गृहस्थाश्रम। बौधायन ने लिखा है—"प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवों के प्रति स्पर्धा के कारण आश्रम-भेदों की व्यवस्था की है, इसलिए मनीषी वर्ग को उसका स्वीकार नही करना चाहिए।"[१]

इसी भूमिका के संदर्भ में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा था—"राजर्षे! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यही रहो और यही धर्म-पोषक कार्य करो।"

इसके उत्तर में नेमि राजर्षि ने जो कहा वह श्रमण-परम्परा का पक्ष है। उन्होने कहा—"ब्राह्मण! मास-मास का उपवास करने वाला और पारण मे कुश की नोक पर टिके उतना स्वल्प आहार खाने वाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की तुलना मे भी नही जाता।"[२]

श्रमण-परम्परा मे जीवन के दो ही विकल्प मान्य रहे है—गृहस्थ और श्रमण। श्रमण कोई गृहस्थ ही बनता है। अत जीवन का प्रारम्भिक रूप गृहस्थ ही है श्रामण्य विवेक द्वारा लक्ष्य पूर्ति के लिए स्वीकृत पक्ष है। वाशिष्ठ का यह अभिमत—"सभी आश्रमी गृहस्थ-आश्रम मे स्थित होते है"—यदि इस आशय पर आधारित हो कि सब आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम है तो वह श्रमण-परम्परा में भी अमान्य नहीं है। वाशिष्ठ ने स्वय आगे लिखा है—"जैसे माता के सहारे सब जीव जीते है, वैसे ही गृहस्थ के सहारे सब भिक्षु जीते हैं।'[३] यह तथ्य उत्तराध्ययन मे याचना-परीषह के रूप मे स्वीकृत है

"अरे! अनगार-भिक्षु की यह दैनिक-चर्या कितनी कठिन है कि उसे सब कुछ याचना से मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नही होता।"[४]

किन्तु श्रमण-परम्परा वैदिक परम्परा के इस अभिमत से सहमत नही कि गृहस्थ-आश्रम संन्यास की तुलना में श्रेष्ठ है। इसीलिए कहा है—

१–बौधायन धर्मसूत्र, २।६।३० :
प्रह्लादिर्हवै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदांश्चकार देवैः सह स्पर्धमानस्तान् मनीषी नाद्रियेत।

२–उत्तराध्ययन, ९।४२-४४।

३–वाशिष्ठ धर्मशास्त्र, ८।१६ :
यथा मातरमाश्रित्य, सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य, सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः॥

४–उत्तराध्ययन, २।२८।

"गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है। अतः गृहवास ही श्रेय है—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।"[1]

जैन-धर्म की मूल मान्यता यह है कि अव्रत प्रेय है—बन्धन है और व्रत श्रेय है—मुक्ति है। सुव्रती मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त होता है, भले फिर वह भिक्षु हो या गृहस्थ।[2]

"श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अंगों का आचरण करे। दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध को एक दिन-रात के लिए भी न छोड़े।

"इस प्रकार शिक्षा से समापन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी औदारिक-शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है।

"जो संवृत्त भिक्षु होता है, वह दोनों में से एक होता है—सब दुखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव।"[3]

इन श्लोकों की स्पष्ट ध्वनि है कि सुव्रती गृहस्थ व व्रत-संपन्न भिक्षु की श्रेष्ठ गति होती है। जब तक व्रत का पूर्ण उत्कर्ष नहीं होता, तब तक वह मरने के बाद स्वर्ग में जाता है और जब व्रत का पूर्ण उत्कर्ष हो जाता है, तब मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त होता है।

भिक्षु की श्रेष्ठता जन्मना तो है ही नहीं, किन्तु वेश से भी नहीं है। उसकी श्रेष्ठता का एक मात्र हेतु व्रत या संयम है। इसी दृष्टि से कहा है—

"कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है, किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है।

"चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुंडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं करते।

"भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दुःशील हो तो वह नरक से नहीं छूटता।"[4]

भिक्षु का अर्थ ही व्रती है। अपूर्ण व्रती या व्रत की परिपूर्ण आराधना तक न पहुँचने वाले को स्वर्ग ही प्राप्त होता है, मोक्ष नहीं। मोक्ष उसी को प्राप्त होता है, जो व्रत को चरम आराधना तक पहुँच जाता है। ऐसा गृहस्थ के वेश में भी हो सकता है।[5] वेश भले ही गृहस्थ का हो, आत्मिक-शुद्धि से जो इस स्थिति तक पहुँच जाता है, वह

१–उत्तराध्ययन, २।२९।
२–वही, ५।२२।
३–वही, ५।२३-२५।
४–वही, ५।२०-२२।
५–नंदी, सूत्र २१ :
गिहिलिंगसिद्धा।

वास्तविक अर्थ में भिक्षु ही होता है। इसीलिए "सब दुःखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव"—ये दो विकल्प केवल भिक्षु के लिए ही हैं। गृहस्थ वही होता है, जो महालय या उसके उत्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता। श्रमण-परम्परा में श्रमण होने से पूर्व गृह-वास करना आवश्यक नहीं माना गया। कोई व्यक्ति बाल्य अवस्था में भी 'श्रमण' हो सकता है, यौवन या बुढ़ापे में भी हो सकता है।[1]

भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से कहा—"पुत्रो! पहले हम सब एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतों का पालन करें, फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे।"[2]

तब पुत्र बोले—"पिता! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुंह से बच कर पलायन कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूंगा।"[3]

बौद्ध-संघ में भिक्षु-जीवन की दो अवस्थाएँ मान्य हैं—श्रामणेर अवस्था तथा उपसम्पन्न अवस्था। श्रामणेर अवस्था में केवल दस नियमों का पालन करना पड़ता है। उपसम्पन्न भिक्षु को प्रातिमोक्ष के अन्तर्गत दो सौ सत्ताईस नियमों का पालन करना पड़ता है। बीस वर्ष की आयु के बाद ही कोई उपसम्पन्न हो सकता है।[4]

इस प्रकरण की मीमांसा का सार-भाग यह है—

१. श्रमण-परम्परा में गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा श्रमण-जीवन श्रेष्ठ माना गया।

२. श्रमण होने के नाते तीन अवस्थाएँ योग्य मानी गईं।

३. श्रमण-जीवन से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई।

यज्ञ-प्रतिरोध और वेद का अप्रामाण्य

हमारे सांस्कृतिक अध्ययन की यह सहज उपलब्धि है कि वैदिक-संस्कृति का केन्द्र यज्ञ और श्रमण-संस्कृति का केन्द्र श्रामण्य रहा है। वैदिक धारणा है—यज्ञ की उत्पत्ति का मूल है—विश्व का आधार। पापों का नाश, शत्रुओं का संहार, विपत्तियों का निवारण, राक्षसों का विध्वंस, व्याधियों का परिहार सब यज्ञ से ही सम्पन्न होता है। क्या दीर्घायु, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व सबका साधन यज्ञ ही माना गया है। वास्तव में वैदिकों के जीवन का सम्पूर्ण दर्शन यज्ञ में सुरक्षित है। यज्ञ के इस तत्त्व का स्वरूप

१—स्थानांग, ३।२।१५५।

२—उत्तराध्ययन, १४।२६।

३—वही, १४।२७।

४—सुत्तनिपात, पृ० २५४।

ऋग्वेद में यों व्यक्त हुआ है—यज्ञ इस भुवन की, उत्पन्न होने वाले संसार की नाभि है, उत्पत्ति प्रधान है। देव तथा ऋषि यज्ञ से ही उत्पन्न हुए, यज्ञ से ही ग्राम और अरण्य के पशुओं की सृष्टि हुई, अश्व, गाएँ, अज, भेड़ें, वेद आदि का निर्माण भी यज्ञ के ही कारण हुआ। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।[१]

आर्य-पूर्व-जातियों (जो श्रमण-परम्परा का अनुगमन करती थीं) का प्रथम धर्म था अहिंसा। इसीलिए वे यज्ञ-संस्था से कभी प्रभावित नहीं हुईं। जैन और बौद्ध-साहित्य में यज्ञ के प्रति जो अनादर का भाव मिलता है, वह उनकी चिरकालीन यज्ञ-विरोधी धारणा का परिणाम है। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—"राजर्षे! पहले तुम विपुल यज्ञ करो, फिर श्रमण बन जाना।"[२] इस पर राजर्षि ने कहा—"जो मनुष्य प्रति-मास दस लाख गाएँ देता है, उसके लिए भी संयम श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।"[३]

यज्ञ-संस्था का प्रतिरोध प्रारम्भ से ही होता रहा है। अग्नि-हीन व्यक्तियों का उल्लेख ऋगवेद में मिलता है। उन्हें देव-विरोधी और यज्ञ-विरोधी भी कहा गया है। यति-वर्ग यज्ञ-विरोधी था। इन्द्र ने उसे सालावृकों को समर्पित किया था।[४] इस प्रकार के और भी अनेक वर्ग थे। उन्होंने वैदिक धारा को प्रभावित किया था। लक्ष्मण शास्त्री के अनुसार—"इस अवैदिक और यज्ञ को न मानने वाली प्रवृत्ति ने वैदिक विचार पद्धति को भी प्रभावित किया। बाह्य कर्मकाण्ड के बदले मानसिक कर्म रूप उपासना को प्रधानता देने वाली विचारधारा यजुर्वेद में प्रकट हुई है। उसमें कहा गया है कि जिस तरह अश्वमेध के बल पर पाप और ब्रह्म-हत्या से मुक्त होना संभव है उसी तरह अश्वमेध की चिन्तनात्मक उपासना के बल पर भी इन्हीं दोषों से मुक्त होना संभव है (तैत्तिरीय संहिता ५।३।१२)। इस तरह की शुद्ध मानसिक उपासना का विधान करने वाले अनेकों वैदिक उल्लेख प्राप्त हैं।[५]

यज्ञ-संस्थान का प्रतिरोध श्रमण ही नहीं कर रहे थे किन्तु उनसे प्रभावित आरण्यक और औपनिषदिक ऋषि भी करने लगे थे। प्रतिरोध की थोड़ी रेखाएँ ब्राह्मण-काल में

१—वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० ४०।
२—उत्तराध्ययन, ९।३८।
३—वही, ९।४०।
४—ताण्ड्य महाब्राह्मण, १३।४ :
इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत।
५—वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १९६।

की खिंच चुकी थीं। शतपथ ब्राह्मणकार ने कहा—"जिस स्थान पर कामनाएँ पूर्ण होती हैं, वहाँ पहुँचना विद्या की सहायता से ही संभव है। वहाँ न दक्षिणा पहुँच पाती है और न विद्या-हीन तपस्वी।"[1]

ऋषि कावषेय कहते हैं—"हम वेदों का अध्ययन किसलिए करें और यज्ञ भी किसलिए करें ? क्योंकि वाणी का उपरम होने पर प्राण-वृत्ति का विलय होता है और प्राण का उपरम होने पर वाणी की वृत्ति का उद्भव होता है, प्राण की प्रवृत्ति होने पर वाणी की वृत्ति विलीन हो जाती है।"[2]

उपनिषद्कार ने कहा—"यज्ञ के अट्ठारह (सोलह ऋत्विक्, यजमान और पत्नी) साधन, जो ज्ञान रहित कर्म के आश्रय होते हैं, विनाशी और अस्थिर हैं। जो मूढ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते हैं, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं।"[3] इस विचारधारा के उपरान्त भी यज्ञ-संस्था निर्वीर्य नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के काल में भी उसका प्रवाह चालू था। उत्तराध्ययन के चार अध्ययनों (६,१२,१४,२५) में उसकी चर्चा हुई है। भृगु पुत्रों ने जो कहा, वह लगभग वही है जो ऋषि कावषेय ने कहा था। भृगु ने कहा—"पुत्रो ! पहले वेदों का अध्ययन करो, फिर आरण्यक मुनि हो जाना।"[4] तब वे बोले—"पिता ! वेद पढ लेने पर भी वे त्राण नहीं होते।"[5] इस उत्तर के पीछे जो भावना है, उसका सम्बन्ध कामना और यज्ञ से है। वेद कामना-पूर्ति और यज्ञों के प्रतिपादक हैं, इसीलिए वे त्राण नहीं हैं। इस अत्राणता का विशद वर्णन प्रजापति मनु और बृहस्पति के संवाद में मिलता है। मनु ने कहा—"वेद में जो कर्मों के प्रयोग बताए गए हैं, वे प्रायः सकामभाव से युक्त है। जो इन कामनाओं से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्म-मार्ग में सुख की इच्छा रख कर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।"[6]

उत्तराध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण यज्ञ के बाड़ो में

१–शतपथ ब्राह्मण, १०।५।४।१६।

२–ऐतरेय आरण्यक, ३।२।६, पृ० २६६ :

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहु ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो ह्येव प्रभवः स एवाप्ययः इति।

३–मुण्डकोपनिषद्, १।२।७।

४–उत्तराध्ययन, १४।९।

५–वही, १४।१२।

६–महाभारत, शान्तिपर्व २०१।१२।

भिक्षा के लिए जाते थे और यज्ञ की व्यर्थता और आत्मिक-यज्ञ की सफलता का प्रतिपादन करते थे।[1]

महात्मा बुद्ध ने भी अल्प सामग्री के महान् यज्ञ का प्रतिपादन किया था और वे भिक्षु-संघ के साथ भोजन के लिए यज्ञ-मण्डल में भी गए थे। कूटदंत ब्राह्मण के प्रश्न का उत्तर देते हुये उन्होंने पाँच महाफलदायी यज्ञों का उल्लेख किया था—

(१) दान यज्ञ
(२) त्रिशरण यज्ञ
(३) शिक्षापद यज्ञ
(४) शील यज्ञ
(५) समाधि यज्ञ[2]

सांख्य-दर्शन को अवैदिक-परम्परा या श्रमण-परम्परा की श्रेणि में मानने का यह एक बहुत बडा आधार है कि वह यज्ञ का प्रतिरोधी था। यज्ञ का प्रतिरोधक वैदिक-मार्ग नही हो सकता। अत उपनिषद् की धारा में जो यज्ञ-प्रतिरोध हुआ, उसे अवैदिक-परम्परा के विचारों की परिणति कहना अधिक संगत है।

जाति की अतात्त्विकता

वैदिक लोग जाति को तात्त्विक मानते थे। ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुआ, राजन्य उसकी बाहु से उत्पन्न हुआ, वैश्य उसके ऊरु से उत्पन्न हुआ और शूद्र उसके पैरो से उत्पन्न हुआ।[3] श्रमण-परम्परा जाति को अतात्त्विक मानती थी। ब्राह्मण जन्मना जाति के समर्थक थे। उस स्थिति में श्रमण इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते कि जाति कर्मणा होती है। महात्मा बुद्ध मनुष्य जाति की एकता का प्रतिपादन बहुत प्रभावशाली पद्धति से करते थे। वासेट्ठ और भारद्वाज विवाद का परिसमापन करते हुए उन्होंने कहा—

"मैं क्रमश यथार्थ रूप से प्राणियों के जाति-भेद को बताता हूँ। जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं।

तृण वृक्षो को जानो यद्यपि वे इस बात का दावा नही करते, फिर भी उनमें जातिमय लक्षण हैं, जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं।

१—उत्तराध्ययन, १२।३८-४४; २५।५-१६।
२—दीघनिकाय, १।५, पृ० ५३-५५।
३—ऋग्वेद, मं० १०, अ० ७, सू० ९१, मं० १२।

कीटो, पतंगो और चीटियों तक मे जातिमय लक्षण हैं, जिससे उनमें भिन्न भिन्न जातियाँ होती हैं।

छोटे, बड़े जानवरो को भी जानो उनमे भी जातिमय लक्षण है (जिससे) भिन्न भिन्न जातियाँ होती हैं।

फिर पानी में रहने वाली जलचर मछलियो को भी जानो, उनमे भी जातिमय लक्षण है, (जिनसे) भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं।

आकाश मे पंखो द्वारा उडने वाले पक्षियो को भी जानो, उनमे भी जातिमय लक्षण है (जिससे) भिन्न भिन्न जातियाँ होती हैं। जिस प्रकार इन जातियो में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण है उस प्रकार मनुष्यो मे भिन्न भिन्न जातिमय लक्षण नहीं है।

दूसरी जातियो की तरह न तो मनुष्यो के केशो म न शिर मे न कानो में न आँखों मे न नाक मे न ओठो म न भौहो मे न गले में, न अगो में न पेट मे न पीठ मे न पादो म न अगलियो म न नखो मे न जघो मे न उरुओं में न श्रेणि मे न उर मे न योनि म न मैथुन मे न हाथो म न वर्ण मे और न स्वर मे जातिमय लक्षण है।

(प्राणियो की) भिन्नता शरीरो म है मनुष्य मे वैसा नहीं है। मनुष्यो मे भिन्नता नाम मात्र की है।

वासेट्ठ ! मनुष्यो म जो कोई गो रक्षा म जीविका करता है उसे कृषक जानो न कि ब्राह्मण।

वासेट्ठ ! मनुष्यो मे जो कोई नाना शिल्पो मे जीविका करता है उसे शिल्पी जानो न कि ब्राह्मण।

वासेट्ठ ! मनुष्यो मे जो कोई व्यापार से जीविका करता है, उसे बनिया जानो न कि ब्राह्मण।

वासेट्ठ ! मनुष्यो म जो कोई चोरी से जीविका करता है, उसे चोर जानो न कि ब्राह्मण।

वासेट्ठ ! मनुष्यो मे जो कोई धनुर्विद्या से जीविका करता है, उसे योद्धा जानो न कि ब्राह्मण।

वासेट्ठ ! मनुष्यो मे जो कोई पुरोहिताई से जीविका करता है, उसे पुरोहित जानो न कि ब्राह्मण।

वासेट्ठ ! मनुष्यो में जो कोई ग्राम या राष्ट्र का उपभोग करता है, उसे राजा जानो न कि ब्राह्मण।

ब्राह्मणी माता की योनि मे उत्पन्न होने से ही मैं (किसी को) ब्राह्मण नहीं कहता। जो सम्पत्तिशाली है (वह) धनी कहलाता है, जो अकिंचन है, तृष्णा रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो रस्सी रूपी क्रोध को, प्रग्रह रूपी तृष्णा को, मुंह पर के जाल रूपी मिथ्या धारणाओं को और जुआ रूपी अविद्या को तोड कर बुद्ध हुआ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो कटुवचन, वध और बन्धन को बिना द्वेष के सह लेता है, क्षमाशील—क्षमा ही जिसकी सेना और बल है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

पानी मे लिप्त न होने वाले कमल की तरह और आरे की नोक पर न टिकने वाले सरसों के दाने की तरह जो विषयो में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो गृहस्थ, प्रव्रजित दोनो से अलग है, जो बेघर हो विहरण करता है, जिसकी आवश्यकताएँ थोडी हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो स्थावर और जंगम सब प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर न तो स्वयं उनका वध करता है और न दूसरो से (वध) कराता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो विरोधियो मे अविरोध रहता है, हिंसको मे शान्त रहता है और आसक्तो मे अनासक्त रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

आरे की नोक पर न टिकने वाले सरसो के दाने की तरह जिसके राग, द्वेष, अभिमान आदि छूट गए हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जो अकर्कश, ज्ञानकारी—सत्य बात बोलता है, जिससे किसी को चोट नही पहुँचती, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो संसार मे लम्बी या छोटी, पतली या मोटी, अच्छी या बुरी किसी चीज की चोरी नही करता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जिसे इस लोक या परलोक के विषय में तृष्णा नहो रहती, जो तृष्णा-रहित, आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो आसक्ति-रहित है, ज्ञान के कारण संशय-रहित हो गया है और अमृत (निर्वाण) को प्राप्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जो दोनो—पुण्य और पाप की आसक्तियो से परे है, शोक-रहित, रज-रहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो इस संकटमय, दुर्गम संसार रूपी मोह से परे हो गया है, जो उसे तैर कर पार कर गया है, जो ध्यानी है, जो पाप-रहित है, संशय-रहित है, तृष्णा-रहित हो शान्त हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो विषयों को त्याग बेघर हो प्रव्रजित हुआ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जो तृष्णा को त्याग बेघर हो प्रव्रजित हुआ है, जो तृष्णा-क्षीण है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो रति और अरति को त्याग, शान्त और बन्धन-रहित हो गया है, जो सारे संसार का विजेता और वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जिसने सर्व प्रकार से प्राणियों की मृत्यु और जन्म को जान लिया है, जो अनासक्त है, सुगत है और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जिसकी गति को देवता, गन्धर्व और मनुष्य नहीं जानते, जो वासना-क्षीण और अर्हन्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जिसको भूत, वर्तमान या भविष्य में किसी प्रकार की आसक्ति नही रहती, जो परिग्रह और आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो श्रेष्ठ, उत्तम, वीर, महर्षि, विजेता, स्थिर, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जिसने पूर्व जन्म के विषय मे जान लिया है, जो स्वर्ग और नरक दोनों को देखता है और जो जन्म क्षय को प्राप्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

संसार के नाम-गोत्र कल्पित हैं और व्यवहार मात्र हैं। एक-एक के लिए कल्पित ये नाम-गोत्र व्यवहार से चले आए हैं। मिथ्याधारणा वाले अज्ञो (के मन) में ये (नाम) घर कर गए हैं। (इसीलिए) अज्ञ लोग हमें कहते है कि ब्राह्मण जन्म से होता है।

न (कोई) जन्म से ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण। ब्राह्मण कर्म से होता है और अब्राह्मण भी कर्म से।

कृषक कर्म से होता है, शिल्पी भी कर्म से होता है, वणिक् कर्म से होता है (और) सेवक भी कर्म से।

चोर भी कर्म से होता है, योद्धा भी कर्म से होता है, याजक भी कर्म से होता है (और) राजा भी कर्म से होता है।"[१]

उत्तराध्ययन मे हरिकेशबल और जयघोष के—ये दो प्रसंग है, जो भगवान् महावीर के जातिवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण पर पूरा प्रकाश डालते है। हरिकेशबल जन्मना चाण्डाल जाति के थे और जयघोष जन्मना ब्राह्मण थे। वे दोनो यज्ञ-मण्डप में गए और उन्होने जातिवाद की बहुत स्पष्ट आलोचना की। वे दोनों प्रसग वाराणसी मे ही घटित हुए।

(१) हरिकेशबल को यज्ञ-मण्डप में आते देख जातिमद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणों ने परस्पर इस प्रकार कहा—"बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल और बड़ी नाक वाला, अधनंगा, पांशु-पिशाच (चुड़ैल)-सा, गले में संकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथड़ा) डाले हुए वह कौन आ रहा है ?

१—सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त।

"ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? किस आशा से यहाँ आए हो ? अधनंगे तुम पांशु-पिशाच (चुडैल) से लग रहे हो। जाओ, आँखो से परे चले जाओ। यहाँ क्यो खड़े हो ?"

उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकम्पा करने वाला तिंदुक वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर मे प्रवेश कर इस प्रकार बोला— "आपके यहाँ पर बहुत-सा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। मैं भिक्षाजीवी हूँ, यह आपको ज्ञात होना चाहिए। अच्छा ही है कुछ बचा भोजन इस तपस्वी को मिल जाए।"

(सोमदेव)—"यहाँ जो ब्राह्मणो के लिए भोजन बना है, वह केवल उन्ही के लिए बना है। वह एक-पाक्षिक है—अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान हम तुम्हे नही देंगे, फिर यहाँ क्यो खडे हो ?"

(यक्ष)—"अच्छी उपज की आशा से किसान जैसे स्थल (ऊँची भूमि) मे बीज बोते है, वैसे ही नीची भूमि में बीज बोते है। इसी श्रद्धा से (अपने आपको निम्न भूमि और मुझे स्थल तुल्य मानते हुए भी तुम) मुझे दान दो। पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नही जाएगा।"

(सोमदेव)—"जहाँ बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते है, वे क्षेत्र इस लोक मे हमे ज्ञात हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त है, वे ही पुण्य-क्षेत्र है।"

(यक्ष)—"जिनके क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-हीन और पाप-क्षेत्र है।

"हे ब्राह्मणो ! इस संसार मे केवल तुम वाणी का भार ढो रहे हो। वेदो को पढ कर भी उनका अर्थ नही जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरो मे भिक्षा के लिए जाते है, वे ही पुण्य-क्षेत्र है।"

(सोमदेव)—"ओ ! अध्यापको के प्रतिकूल बोलने वाले साधु ! हमारे समक्ष तू क्या अधिक बोल रहा है ? हे निर्ग्रन्थ ! यह अन्न-पान भले ही सड कर नष्ट हो जाए किन्तु तुझे नही देंगे।"

(यक्ष)—"मैं समितियो से समाहित, गुप्तियो से गुप्त और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नही दोगे, तो इन यज्ञो का आज तुम्हे क्या लाभ होगा ?"

(सोमदेव)—"यहाँ कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे और फल से पीट कर, गल-हत्था देकर इस निर्ग्रन्थ को यहाँ से बाहर निकाले।"

अध्यापको के विचार सुन कर बहुत कुमार उधर दौडे और डण्डो, बेंतो और चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे।

कोशल के राजा की भद्रा नामक सुन्दर पुत्री यज्ञ-मण्डप में मुनि को प्रताड़ित हुए देख क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने लगी। उसने कहा—

"राजाओं और इन्द्रों से पूजित यह वह ऋषि है, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित होकर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नहीं चाहा। 'यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिये जाने पर भी नहीं चाहा।

"यह महान् यशस्वी है। महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) से सम्पन्न है। घोर व्रती है, घोर पराक्रमी है। इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलनीय नहीं है। कहीं यह अपने तेज से तुम्हें भस्मसात् न कर डाले।"

सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के सुभाषित वचनों को सुन कर यक्षों ने ऋषि का वैयावृत्य (परिचर्या) करने के लिए कुमारों को भूमि पर गिरा दिया। वे घोर रूप वाले यक्ष आकाश में स्थिर होकर उन छात्रों को मारने लगे। उनके शरीर को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

"जो इस भिक्षु का अपमान कर रहे हैं, वे नखों से पर्वत को खोद रहे हैं, दाँतों से लोहे को चबा रहे हैं, पैरों से अग्नि का प्रताड़न कर रहे हैं।

"यह महर्षि आशीविष-लब्धि से सम्पन्न है। उग्र तपस्वी है। घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। भिक्षा के समय जो भिक्षु का वध कर रहे हैं, वे पतंग-सेना की भाँति अग्नि में झपापात कर रहे हैं।

"यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिल कर, सिर झुका कर इस मुनि की शरण में आओ। कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है।"

उन छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गए। भुजाएँ फैल गईं। वे निष्क्रिय हो गए। उनकी आँखें खुली की खुली रह गईं। उनके मुँह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुँह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहिर निकल आए। उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और घबराया हुआ अपनी पत्नी-सहित मुनि के पास आ उन्हें प्रसन्न करने लगा—

"भन्ते! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करें।"

"भन्ते! मूढ बालकों ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करें। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।"

मुनि ने कहा—"मेरे मन में प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किन्तु यक्ष मेरा वैयावृत्य कर रहे हैं। इसीलिए ये कुमार प्रताड़ित हुए।"

(सोमदेव)—"अर्थ और धर्म को जानने वाले भूति-प्रज्ञ (मगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नही करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणो की शरण ले रहे हैं।

"महाभाग ! हम आपकी अर्चा करते है। आपका कुछ भी ऐसा नही है, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनों मे युक्त चावल-निष्पन्न भोजन लेकर खाइए।

"मेरे यहाँ यह प्रचुर भोजन पडा है। हमे अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएँ।"

महात्मा हरिकेशबल ने हाँ भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लिया।

देवों ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य-धन की वर्षा की। आकाश से दुदुभि बजाई और 'अहो दान' (आश्चर्यकारी दान)—इस प्रकार का घोष किया।

यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है। जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् (अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न) है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।[1]

(२) निर्ग्रन्थ जयघोष अपने भाई विजयघोष के यज्ञ-मण्डप मे गए। यज्ञ-कर्त्ता ने वहाँ उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—"भिक्षो ! तुम्हे भिक्षा नहीं दूँगा और कहीं याचना करो।

"हे भिक्षो ! यह सबके लिए अभिलषित भोजन उन्ही को देना है, जो वेदो को जानने वाले विप्र हैं, यज्ञ के लिए जो द्विज हैं, जो वेद के ज्योतिष आदि छहो अंगो को जानने वाले हैं, जो धर्मशास्त्रो के पारगामी है, जो अपना और पराया उद्धार करने मे समर्थ हैं।"

वह उत्तम अर्थ की गवेषणा करने वाला महामुनि वहाँ यज्ञ-कर्त्ता के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही।

न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी जीवन-निर्वाह के साधन के लिए किन्तु उनकी विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—

"तू वेद के मुख को नही जानता है, यज्ञ का जो मुख है उसे नही जानता है, नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नही जानता है। जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है, उसे तू नहीं जानता। यदि तू जानता है तो बता"

मुनि के प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद्-सहित हाथ जोड़ कर उस महामुनि से पूछा—"तुम कहो वेदो का मुख क्या है ? यज्ञ का जो

१—उत्तराध्ययन, १२।३५-३७।

मुख है, वह तुम्ही बतलाओ। तुम कहो नक्षत्रो का मुख क्या है ? धर्मो का मुख क्या है, तुम्हीं बताओ।

"जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं (उनके विषय में तुम्हीं कहो)। हे साधु ! यह मुझे सारा सशय हैं, तुम मेरे प्रश्नों का समाधान दो।"

"वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रो का मुख चन्द्रमा है और धर्मो का मुख काश्यप ऋषभदेव है।"

"जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोडे हुए, वंदना नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते हैं उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे।"

"जो यज्ञवादी हैं, वे ब्राह्मण की सम्पदा से अनभिज्ञ है। वे बाहर मे स्वाध्याय और तपस्या से उसी प्रकार ढँके हुए हैं, जिस प्रकार अग्नि राख से ढँकी हुई होती है।

"जिसे कुशल पुरुषो ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि की भाँति सदा लोक में पूजित है, उन्हे हम कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं।

"जो आने पर आसक्त नही होता, जाने के समय शोक नही करता, जो आर्य-वचन में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

"अग्नि मे तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है। उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"जो त्रस और स्थावर जीवो को भली-भाँति जान कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

"जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नही बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"जो सचित्त या अचित्त—कोई भी पदार्थ, थोडा या अधिक, कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

"जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उनसे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"जो लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृहत्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

"जिनके शिक्षा-पद, पशुओं को बलि के लिए यज्ञ के खम्भे में बाँधे जाने के हेतु बनते हैं, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप-कर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुराचार-सम्पन्न उस यज्ञकर्त्ता को त्राण नहीं देते, क्योंकि कर्म बलवान् होते हैं।

"केवल सिर-मूंड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।

"समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना—मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।

"मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

"इन तत्त्वों को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं।"

इस प्रकार संशय दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष की वाणी को भलीभाँति समझा और सन्तुष्ट हो, हाथ जोड़ कर उसने महामुनि जयघोष से इस प्रकार कहा—

"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।

"तुम यज्ञों के यज्ञकर्त्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों के विद्वान हो, तुम धर्मों के पारगामी हो।

"तुम अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हो, इसलिए हे भिक्षु-श्रेष्ठ ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।'

(मुनि)- "मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज ! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर—मुनि-जीवन को स्वीकार कर, जिससे भय के आवर्तों से आकीर्ण इस घोर संसार-सागर में तुझे चक्कर लगाना न पड़े।"[1]

श्रमण-संस्कृति के कर्मणा-जाति के सिद्धान्त ने वैदिक-ऋषियों को भी प्रभावित किया और महाभारत एवं पुराण काल में कर्मणा-जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा। महाभारत में ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं—

"जो सदा अपने सर्व व्यापी रूप से स्थित होने के कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाश में परिपूर्ण-सा हो रहा है तथा जो असंग होने के कारण लोगों से भरे हुए स्थान को भी सूना समझता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं।

१–उत्तराध्ययन, २५।१६-३८।

"जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूट कर मुनि वृत्ति से रहता है, आकाश की भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्त-भाव से रहता है, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते है ।

"जिसका जीवन धर्म के लिए और धर्म भगवान् श्रीहरि के लिए होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालन में ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं ।

"जो कामनाओ से रहित तथा सब प्रकार के आरंभो से रहित है, नमस्कार और स्तुति से दूर रहता तथा सब प्रकार के बंधनो से मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ।"[1]

ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और वैश्य क्षत्रिय हो जाता है ।[2] वज्रसूचिकोपनिषद् एवं भविष्यपुराण में भी जातिवाद की आलोचना मिलती है, किन्तु यह दृष्टिकोण वैदिक-संस्कृति की आत्मा में परिपूर्ण रूप से व्याप्त नहीं हो सका ।

समत्व की भावना व अहिंसा

समत्व श्रमण-परम्परा की एकता का मौलिक हेतु है । श्रमण शब्द बहुत प्रचलित रहा है, इसीलिए इस समताप्रधान संस्कृति को 'श्रमण-संस्कृति' कहा जाता है । हमने भी स्थान-स्थान पर श्रमण शब्द का प्रयोग किया है । किन्तु वास्तविक दृष्टि से इसका नाम 'समण-संस्कृति' है । 'समण' शब्द 'सम' शब्द से व्युत्पन्न है—"सममणई तेण सो समणो"—जो सब जीवो को तुल्य मानता है, वह 'समण' है । 'जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं, उसी प्रकार सब जीवो को दुःख प्रिय नहीं है'—इस समता की दृष्टि से जो किसी भी प्राणी का वध न करता है न करवाता है, वह अपनी समगति के कारण 'समण' कहलाता है—

> जह मम न पियं दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
> न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥[3]

जिसका मन सम होता है, वह समण है । जिसके लिए कोई भी जीव न द्वेषी होता है और न प्रिय, वह अपनी सम मन स्थिति के कारण 'समण' कहलाता है—

> नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।
> एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥[4]

१–महाभारत, शान्तिपर्व, २४५।११-१४, २२-२४ ।
२–ब्रह्मपुराण, २२३।३२ ।
३–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५४ ।
४–वही, गाथा १५५ ।

जो विभिन्न विशेषताओं की दृष्टि से सर्प, पर्वत, अग्नि, समुद्र, आकाश, वृक्ष, भ्रमर, हरिण, भूमि, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है, वह 'समण' है।

समण वह होता है, जो स्वजन वर्ग और अन्य लोगों में तथा मान और अपमान में सम होता है—

तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु ॥
उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
भमरमिगधरणिजलरुहरविपवणसमो जओ समणो ॥[1]

इस समत्व के आधार पर ही यह कहा गया कि सिर मुण्डा लेने मात्र से कोई समण नहीं होता, किन्तु समण समता से होता है।[2]

श्रमण शब्द का अर्थ तपस्वी भी होता है। सूत्रकृतांग के एक ही श्लोक में समण और तपस्वी का एक साथ प्रयोग है।[3] यदि समण का अर्थ तपस्वी ही होता तो समण और तपस्वी इन दोनों का एक साथ प्रयोग आवश्यक नहीं होता।

उसी सूत्र में समण के समभाव की विभिन्न रूपों में व्याख्या हुई है। विषमता का एक रूप मद है। इसीलिए कहा है—

मुनि गोत्र, कुल आदि का मद न करें, दूसरों से घृणा न करें, किन्तु सम रहे।[4]

जो दूसरों का तिरस्कार करता है, वह चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है, इसीलिए मुनि मद न करे, किन्तु सम रहे।[5]

चक्रवर्ती भी दीक्षित होने पर पूर्व-दीक्षित अपने सेवक के सेवक को भी वंदना करने में संकोच न करे, किन्तु समता का आचरण करे।[6]

प्रज्ञा-सम्पन्न मुनि क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त करे और समता-धर्म का निरूपण करे—'पण्णसमत्ते सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी'[7]

इस प्रकार अनेक स्थलों में समण के साथ समता का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५६-१५७।
२—उत्तराध्ययन, २५।२९-३०।
३—सूत्रकृतांग, १।२।१।१६।
४—वही, १।२।२।१।
५—वही, १।२।२।२।
६—वही, १।२।२।३।
७—वही, १।२।२।६।

बौद्ध-साहित्य में समता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किन्तु समण शब्द उससे व्युत्पन्न है, ऐसा कोई स्थल हमें उपलब्ध नहीं हुआ। फिर भी श्रमण शब्द की जो व्याख्या है, उससे उसकी समभावपूर्ण स्थिति का ही बोध होता है। सभिय परिव्राजक के प्रश्न पर भगवान् बुद्ध ने कहा—

समितावि पहाय पुञ्ञपापं, विरजो अत्वा इमं परं च लोकं।
जातिमरणं उपातिवत्तो, समणो तादि पवुच्चते तथत्ता॥[1]

—जो पुण्य और पाप को दूर कर शान्त हो गया है, इस लोक और परलोक को जान कर रज-रहित हो गया है, जो जन्म के परे हो गया है, स्थिर, स्थितात्मा वह 'श्रमण' कहलाता है।

समण का सम्बन्ध शम (उपशम) से भी है। जो छोटे-बड़े पापों को सर्वथा शमन करने वाला है, वह पाप के शमित होने के कारण श्रमण कहा जाता है।[2]

समता के आधार पर ही भिक्षु-संघ में सब वर्णों के मनुष्य दीक्षित होते थे। भगवान् बुद्ध ने श्रमण की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा था—

"वाशिष्ठ ! एक समय था जब क्षत्रिय भी—'मैं श्रमण होऊँगा' (सोच) अपने धर्म को निंदते घर से बेघर हो प्रव्रजित हो जाता था। ब्राह्मण भी०। वैश्य भी०। शूद्र भी०।

"वाशिष्ठ ! इन्हीं चार मण्डलों से श्रमण-मण्डल की उत्पत्ति हुई। उन्हीं प्राणियों का दूसरा का नहीं, धर्म से अधर्म नहीं। धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और पर-जन्म में भी।"[3]

उत्तराध्ययन के प्रमुख पात्रों में चारों वर्णों से दीक्षित मुनि थे। नमि राजर्षि, संजय, मृगापुत्र आदि क्षत्रिय थे। कपिल, जयघोष, विजयघोष, भृगु आदि ब्राह्मण थे। अनाथी, समुद्रपाल आदि वैश्य थे। हरिकेशबल, चित्रसंभूत आदि चाण्डाल थे।

श्रमणों की यह समता अहिंसा पर आधारित थी। इस प्रकार समता और अहिंसा—ये दोनों तत्त्व समण (या श्रमण) संस्कृति के मूल बीज थे।

१–सुत्तनिपात, ३२।११।

२–धम्मपद, धम्मट्ठवग्ग १९ :

यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं, समणो त्ति पवुच्चति॥

३–दीघनिकाय, ३।३, पृ० २४५।

प्रकरण : तीसरा

श्रमण और वैदिक-परम्परा की पृष्ठ-भूमि

पहले दो प्रकरणो मे हम श्रमण और वैदिक-परम्परा के स्वतत्र अस्तित्व, उनके विचार-भेद और श्रमण-परम्परा की एकता के हेतुभूत सूत्रो का अध्ययन कर चुके है। प्रस्तुत प्रकरण मे हम कुछ ऐसे तथ्यो का अध्ययन करेंगे, जो श्रमण और वैदिक-परम्परा को विभक्त तो करते हैं, किन्तु सर्वथा नही। वे श्रमणो की एकसूत्रता के हेतु तो हैं, किन्तु सर्वथा नही। पहले प्रकरण मे निर्दिष्ट सात हेतु श्रमण और वैदिक-परम्परा के विभाजन में तथा श्रमणो की एकसूत्रता में जैसे पूर्णरूपेण व्याप्त है, वैसे इस प्रकरण में बताए जाने वाले हेतु पूर्णत व्याप्त नहीं है। फिर भी उनके द्वारा श्रमण तथा वैदिक-परम्परा की पृष्ठ-भूमि को समझने मे प्रर्याप्त सहायता मिलती है, इसलिए उनके विषय में चर्चा करना आवश्यक है और सच तो यह है कि उनकी विशद चर्चा के बिना हम उत्तराध्ययन के हृदय का स्पर्श भी नही कर पाऐंगे। हमारे सामने आलोच्य विषय है—

१—दान
२—स्नान
३—कर्त्तृवाद
४—आत्मा
   परलोक
५—स्वर्ग और नरक
६—निर्वाण

१—दान

तैत्तिरीयारण्यक[1] का एक प्रसग है कि एक बार प्राजापत्य आरुणी अपने पिता प्रजापति के पास गया और उसने प्रजापति से पूछा कि महर्षि लोग मोक्ष-साधन के विषय मे किस साधन को परम बतलाते है? प्रजापति ने कहा—

(१) सत्य से पवन चलता है, सत्य से सूर्य प्रकाश करता है, सत्य वाणी की प्रतिष्ठा है, सत्य मे सर्व प्रतिष्ठित है, इसलिए कुछ ऋषि सत्य (सत्य वचन) को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

१-तैत्तिरीयारण्यक, १०।६३, पृ० ७६७-७७१।

(२) जो अग्नि आदि देवता है, वे तप से बने हैं। वाशिष्ठ आदि महर्षियो ने भी तप तपा और देवत्व को प्राप्त किया। हम लोग भी तप के द्वारा शत्रुओ को परास्त कर रहे है। तप में सर्व प्रतिष्ठित है, इसलिए कुछ ऋषि तप को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

(३) दान्त पुरुष दम से अपने पापो का विनाश करते है। दम से ब्रह्मचारी स्वर्ग मे गए। दम जीवो के लिए दुर्धर्ष—अपराजेय है। दम मे सर्व प्रतिष्ठित है, इसलिए कुछ ऋषि दम को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

(४) शान्त पुरुष शम के द्वारा शिव (मगल पुरुषार्थ) का आचरण करते है। नारद आदि मुनि शम के द्वारा स्वर्ग में गए। शम जीवो के लिए दुर्धर्ष है। शम मे सर्व प्रतिष्ठित है इसलिए कुछ ऋषि शम को परम-मोक्ष साधन बतलाते है।

(५) दान (गौ, हिरण्य आदि का दान) यज्ञ की दक्षिणा होने के कारण श्रेष्ठ है। लोक मे भी सब आदमी दाता के उपजीवी होते है। धन-दान से योद्धा शत्रुओ को परास्त करते हैं। दान से द्वेष करने वाले भी मित्र बन जाते है। दान मे सर्व प्रतिष्ठित हैं, इसलिए कुछ ऋषि दान को परम मोक्ष-साधन बतलाते हैं।

(६) धर्म (तालाब, प्याऊ आदि बनाने रूप) सर्व प्राणीजात की प्रतिष्ठा (आधार) है। लोक में भी धर्मिष्ठ पुरुष के पास जनता जाती है—धर्म, अधर्म का निर्णय लेती है। धर्म से पाप का विनाश होता है। धर्म मे सर्व प्रतिष्ठित हैं, इसलिए कुछ ऋषि धर्म को परम मोक्ष-साधन बतलाते हैं।

(७) प्रजनन (पुत्रोत्पादन) ही गृहस्थ की प्रतिष्ठा है। लोक मे पुत्र रूपी धागे को विस्तृत बनाने वाला अपना पितृ-ऋण चुका पाता है। पुत्रोत्पादन ही उऋण होने का प्रमुख साधन है। इसलिए कुछ ऋषि प्रजनन को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

(८) अग्नित्रय[१] ही त्रेयी-विद्या (वेद-त्रयी) है। वही देवत्व प्राप्ति का मार्ग है। गार्हपत्य नामक अग्नि ऋग्वेदात्मक है। वह पृथ्वी-लोक स्वरूप और रथन्तर सामरूप है। दक्षिणाग्नि से आहार का पाक होता है। वह यजुर्वेदात्मक, अन्तरिक्ष-लोक रूप और वामदेव्य सामरूप है। आह्वनीय अग्नि सामवेदात्मक स्वर्गलोक रूप और बृहत् सामरूप है, इसलिए कुछ ऋषि अग्नि को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

१—वैदिक कोश, पृ० १२९ :

वैदिक-यज्ञ के प्रमुख तीन अग्नियों में एक गार्हपत्य है। अथर्ववेद (९।६।३०) के अनुसार "योऽतिथीनां स आहवनीयो, यो वेश्मनिसगार्हपत्य यस्मिन् पचति स दक्षिणाग्नि" अर्थात् अतिथियों के लिए प्रयुक्त अग्नि आहवनीय, गृह-यज्ञों में प्रयुक्त गार्हपत्य और पकाने का अग्नि दक्षिणाग्नि है।

(९) अग्निहोत्र सायकाल और प्रात काल मे घरो का मूल्य है। अग्निहोत्र के अभाव मे क्षुधित अग्नि घरो को जला डालती है इसलिए वह घरो का मूल्य है। अग्नि-होत्र अच्छा याज्ञ और अच्छा होना है। वह यज्ञ-क्रतु[1] का प्रारम्भ है। स्वर्गलोक की ज्योति है, इसलिए कुछ ऋषि अग्निहोत्र को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

(१०) यज्ञ देवों को प्रिय है। देवता पूर्वानुष्ठित यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। वे यज्ञ के द्वारा ही असुरो का विनाश कर पाए है। ज्योतिष्टोम-यज्ञ के द्वारा द्वेष करने वाले शत्रु भी मित्र बन जाते है। यज्ञ मे सर्व प्रतिष्ठित हैं, इसलिए कुछ ऋषि यज्ञ को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

(११) मानसिक उपासना ही प्रजापति के पद की प्राप्ति का साधन है। इसीलिए वह चित्त-शुद्धि का कारण है। मानसिक उपासना से युक्त एकाग्र मन से योगी लोग अतीत, अनागत और व्यवहृत वस्तुओ का साक्षात्कार करते है। मानसिक उपासना से युक्त एकाग्र मन वाले विश्वामित्र आदि ऋषियो ने सकल्प-मात्र से प्रजा का सृजन किया था। मानसिक उपासना मे सर्व प्रतिष्ठित है इसलिए कुछ ऋषि मानसिक उपासना को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

(१२) कुछ मनीषी लोग सन्यास को परम मोक्ष-साधन बतलाते है।

यह तिरसठवे अनुवाक् का वर्णन है। बासठवे अनुवाक् मे भी इन बारह पर्वो का निरूपण हुआ है। उनके भाष्य मे आचार्य सायण ने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी है—नैष्ठिक ब्रह्मचारी 'दम' को परम मान उसमे रमण करते है। आरण्यक मुनि वानप्रस्थ 'शम' को परम मान उसमे रमण करते है। वापी, कूप, तडाग आदि के निर्माणात्मक धर्म को राजा, मंत्री आदि परम मानते हैं। कुछ वेदार्थवादी अग्नि को परम मानते है। कुछ वेदार्थवादी अग्निहोत्र को परम मानते है। कुछ वेदार्थवादी यज्ञ को परम मानते है। सगुण ब्रह्मवादी मानसिक उपासना को परम मानते है। सन्यास हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के द्वारा परम रूप मे अभिमत है। भाष्यकार ने आगे लिखा है कि ब्रह्मा पूर्वोक्त मतानुयायी लोगो की तरह

१–तैत्तिरीयारण्यक, १०।६३, सायण भाष्य, पृ० ७७०.
अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रा-मणीति सप्त हविर्यज्ञाः। क्रतुशब्दो यूपवत्सु सोमयागेषु रूढः। अग्निष्टोमोऽत्य-ग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामश्चेति सप्त सोमसंस्थाः क्रतवः। तेषां सर्वेषां यज्ञक्रतूनां प्रारम्भक मग्निहोत्रम्।

जीव नही है। यद्यपि हिरण्यगर्भ देहधारी है, फिर भी वह परमात्मा, ब्रह्म कहलाएगा। क्योकि परमात्मा का शिष्य होने के कारण वह उसी के समान ज्ञानी है।[1]

ये सब साधन वैदिक नही है, किन्तु यह आरण्यक-काल मे प्रचलित साधनो का संग्रह है।

इन बारह साधनो में आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ भाष्यकार के अनुसार निश्चित ही वैदिक है। छट्ठा लौकिक है, पाँचवाँ और सातवाँ लौकिक भी है और वैदिक भी। पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा और ग्यारहवाँ आरण्यक सम्मत भी है और श्रामणिक (श्रमणो का) भी है।[2] इन बारह साधनो मे संन्यास सबसे उत्कृष्ट है।[3] आचार्य सायण ने लिखा है कि पूर्वोक्त सत्य से लेकर मानस-उपासना तक के साधन तप हैं, फिर भी संन्यास की अपेक्षा वे अवर है—निकृष्ट है।[4] यही बात तिरसठवें अनुवाक् मे कही गई है—'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहु'।[5] आचार्य सायण ने लिखा है—"संन्यास परम पुरुषार्थ का अन्तरंग साधन है। इसलिए वह सत्य आदि तपो से अत्युत्कृष्ट है।"[6] प्रजनन (सातवाँ), अग्नि (आठवाँ), अग्निहोत्र (नौवाँ) और यज्ञ (दसवाँ) ये श्रमणो द्वारा सम्मत नही है, इनकी संक्षिप्त चर्चा हम पहले प्रकरण मे कर चुके हैं। संन्यास श्रमणो का सर्वोत्कृष्ट साधन है, यह भी बताया जा चुका है। 'घर मे कुछ न रहे' यह घोष वही हो सकता है, जहाँ संन्यास को सर्वोच्च साधन माना जाए। अब हम शेष साधनो पर विचार करना चाहेगे।

छद्म वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—"राजर्षे! पहले तुम विपुल यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणो को भोजन कराओ, दान दो फिर मुनि हो जाना।"

१–तैत्तिरीयारण्यक, १०।६२, सायण भाष्य, पृ० ७६६ :
स च ब्रह्मा परो हि परमात्मरूपे हि। न तु पूर्वोक्तमतानुसारिण इव जीवः। यद्यप्यसौ हिरण्यगर्भो देहधारी तथापि परो हि परमात्मैव ब्रह्मा हिरण्यगर्भ इति वक्तुं शक्यते, तच्छिष्यत्वेन तत्समानज्ञानत्वात्।

२–देखिये चौथा प्रकरण 'आत्म-विद्या क्षत्रियों की देन' शीर्षक।

३–तैत्तिरीयारण्यक, १०।६२, पृ० ७६६।

४–वही, १०।६२, पृ० ७६६ :
यानि पूर्वोक्तसत्यादीनि मानसान्तानि तान्येतानि तपांसि भवन्त्येव तथापि संन्यासमपेक्ष्यावराणि निकृष्टानि।

५–वही, १०।६३, पृ० ७७४।

६–वही, १०।६३, पृ० ७७४ :
यस्मात् परमपुरुषार्थस्यान्तरंगं साधनं तस्मादेषां सत्यादीनां तपसां मध्ये संन्यास मतिरिक्त मत्युत्कृष्टं साधनं मनीषिण आहुः।

नमि राजर्षि ने इसके उत्तर में कहा—"जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गाएँ देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।"[१]

इन्द्र ने तीन बातें कही और राजर्षि ने उनमे से सिर्फ एक ही बात (दान) का उत्तर दिया। शेष दो बातो का उत्तर उसी मे समाहित कर दिया। उनकी ध्वनि यह है—"जो मनुष्य प्रतिदिन यज्ञ करता है, उसके लिए भी संयम श्रेय है, भले फिर वह कभी यज्ञ न करे। इसी प्रकार जो मनुष्य प्रतिदिन श्रमण-ब्राह्मणो को भोजन कराता है, उसके लिए संयम ही श्रेय है, भले फिर वह श्रमण-ब्राह्मणो को कभी भोजन न कराए। इन तीनों प्रसंगों का फलित यही है कि संयम सर्वोत्कृष्ट है।

यज्ञ सभी श्रमण-संघों के लिए इष्ट नही रहा है। गायो व स्वर्ण आदि का दान भी उनमें परम मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकृत नही रहा है। निर्ग्रन्थ श्रमणो ने तो उस पर तीव्र प्रहार किया था।[२]

"ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे रौरव (नरक) में ले जाते है"[३]—भृगु पुत्रो ने यह जो कहा उसका तात्पर्य ब्राह्मणो की निन्दा करना नही, किन्तु उस सिद्धान्त की तीखी समालोचना करना है जो जन्मना जाति के आधार पर विकसित हुआ था।

जैन-साहित्य मे उक्त दान और धर्म एक दान शब्द के द्वारा ही निरूपित है। सूत्रकृतांग में कहा है[४]—"जो दान की प्रशसा करता है, वह प्राणियो का वध चाहता है और जो उसका निषेध करता है, वह दान को प्राप्त करने वालो की वृत्ति का छेद करता है।" इसलिए मुमुक्षु को 'पुण्य है' और 'नही है'—इन दोनो से बच कर मध्यस्थ भाव का आलम्बन लेना चाहिए। वृत्तिकार ने लिखा है—राजा या अन्य कोई ईश्वर, व्यक्ति कूप, तडाग, दान-शाला आदि कराना चाहे और मुमुक्षु से पूछे—इस कार्य मे मुझे पुण्य होगा या नही ? तब मुमुक्षु मुनि मौन रखे, किन्तु 'पुण्य होगा या नही होगा' ऐसा न कहे। उपयुक्त समझे तो उतना-सा कहे कि यह मेरे अधिकार से परे की बात है।[५]

'राजा या अन्य कोई ईश्वर व्यक्ति कूप, तडाग, दानशाला आदि बनाना चाहे'—

१–उत्तराध्ययन, ९।३८-४०।

२–(क) हरिवंश पुराण, ६०।१३-१४ :

(ख) अमितगति श्रावकाचार, ८।४६,९।५४-५५।

३–उत्तराध्ययन, १४।१२।

४–सूत्रकृतांग, १।११।२०-२१।

५–सूत्रकृतांग, १।११।२०-२१ वृत्ति :

अस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येवं 'ते' मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते। किन्तु पृष्टैः सद्‌भिर्मौनमेव समाश्रयणीयम्। ··एवं विध विषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्ति।

शीलांक सूरि का यह प्रतिपादन, 'वापी, कूप, तडाग आदि निर्माण को राजा, अमात्य आदि प्रभु-वर्ग उत्तम मोक्ष-हेतु मानता है'[1]—आचार्य सायण के इस उल्लेख से बहुत सम्बन्धित है। यह धर्म भी निर्ग्रन्थों को परम मोक्ष-साधन के रूप में मान्य नहीं रहा, इसीलिए भृगु-पुत्रों ने कहा था कि धन और धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है—'धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?'[2]

(१) सत्य, (२) तप, (३) दम, (४) शम और (५) मानस-उपासना— ये पाँचों साधन श्रमण-परम्परा में स्वीकृत है, किन्तु सब श्रमण-संघों में समान रूप से स्वीकृत है, यह नहीं कहा जा सकता। निर्ग्रन्थ-श्रमण सत्य को मोक्ष का साधन मानते है, किन्तु सत्य ही परम मोक्ष-साधन है, ऐसा एकान्तिक-पक्ष उन्हे मान्य नही है।

तप को भी वे मोक्ष का साधन मानते हैं, किन्तु अनशन से उत्कृष्ट तप नहीं है[3] या तप ही परम मोक्ष-साधन है, ऐसा वे नहीं मानते। उनके अभिमत में तप के १२ प्रकार है। अनशन बाह्य-तप है, ध्यान अन्तरंग-तप है। वह अनशन से उत्कृष्ट है।[4]

इसी प्रकार दम, शम और मानस-उपासना भी एकान्तिक रूप से मान्य नहीं हैं, किन्तु वे समुदित रूप से मान्य है। इनका विशद विवेचन 'साधना-पद्धति' (सातवें प्रकरण) में देखें।

२–स्नान

निर्ग्रन्थ-श्रमण स्नान को आत्म-शुद्धि का साधन नहीं मानते। बौद्ध-श्रमणों का अभिमत भी यही रहा है।

उस समय सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान् से यह कहा—

"क्या आप गौतम! स्नान के लिए बाहुका नदी चलेंगे ?"

"ब्राह्मण! बाहुका नदी से क्या (लेना) है ? बाहुका नदी क्या करेगी ?"

"हे गौतम! बाहुका नदी लोकमान्य (=लोक सम्मत) है, बाहुका नदी बहुत जनों द्वारा पवित्र (=पुण्य) मानी जाती है। बहुत से लोग बाहुका नदी में (अपने) किए पापों को बहाते हैं।"

१–तैत्तिरीयारण्यक, १०।६२, सायण भाष्य, पृ० ७६५ :
स्मृतिपुराणप्रतिपाद्यो वापीकूपतडागादि निर्माणरूपोऽत्र धर्मो विवक्षितः। स एवोत्तमो मोक्षहेतुरिति राजामात्यादयः प्रभवो मन्यन्ते।

२–उत्तराध्ययन, १४।१७।

३–तैत्तिरीयारण्यक, १०।६२, पृ० ७६५
तपो नानशनात् परम्।

४–उत्तराध्ययन, ३।३०।

तब भगवान् ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण को गाथाओं में कहा—

"बाहुका, अधिकक्क, गया और सुन्दरिका में, सरस्वती और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में, काले कर्मों वाला मूढ़ चाहे नित्य नहाए, (किन्तु) शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग और क्या बाहुलिका नदी ?

"(वह) पापकर्मी =कृतकिल्विष दुष्ट नर को नहीं शुद्ध कर सकते। शुद्ध (नर) के लिए सदा ही फल्गू है, शुद्ध के लिए सदा ही उपोसथ है। शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही पूरे होते रहते हैं।

"ब्राह्मण ! यहीं नहा, सारे प्राणियों का क्षेम कर। यदि तू झूठ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता, यदि बिना दिया नहीं लेता, (और) श्रद्धावान् मत्सर-रहित है। (तो) गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय (=उदपान) भी तेरे लिए गया है।"[1]

धर्मकीर्ति का प्रसिद्ध श्लोक है—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।

संतापारम्भः पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञानां पंचलिंगानि जाड्ये॥

निर्ग्रन्थ हरिकेशबल ने ब्राह्मणों से कहा—"जल से आत्म-शुद्धि नहीं होती।"[2] तब उनके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उन्होंने हरिकेशबल से पूछा—'आपका नद (जलाशय) कौन सा है ? आपका शान्ति-तीर्थ कौन सा है ? आप कहाँ नहा कर कर्म-रज धोते हैं ? हे यक्ष-पूजित संयते ! हम आपसे जानना चाहते हैं, आप बताइए।"[3] उस समय निर्ग्रन्थ हरिकेशबल ने उन्हें आत्म-शुद्धि के स्नान का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—"अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा नद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, जहाँ नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रजों का त्याग करता हूँ। यह स्नान कुशल-पुरुषों द्वारा दृष्ट है। यह महास्नान है। अत ऋषियों के लिए प्रशस्त है। इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम-अर्थ (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं।"[4]

इस प्रकार बौद्ध और निर्ग्रन्थ स्नान से आत्म-शुचि नहीं मानते। किन्तु कुछ श्रमण स्नान को आत्म-शुद्धि का साधन मानते थे। एकदण्डी और त्रिदण्डी परिव्राजक स्नानशील

१—**मज्झिमनिकाय**, १।१।७ पृ० २६।
२—**उत्तराध्ययन**, १२।३८।
३—**वही**, १२।४५।
४—**वही**, १२।४६-४७।

और शुचिवादी थे।[1] त्रिदण्डी परिव्राजक श्रमण थे—यह निशीथ भाष्य की चूर्णि में उल्लिखित है।[2] सूत्रकृतांग (१।१।३।८) की वृत्ति से भी उनके श्रमण होने की पुष्टि होती है। मूलाचार में भी तापस, परिव्राजक, एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि को 'श्रमण' कहा गया है।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'स्नान आत्म-शुद्धि का साधन नहीं'—इस विषय में सब श्रमण-संघ एक मत नहीं थे।

३–कर्तृवाद

जैन और बौद्ध जगत् को किसी सर्वशक्तिसम्पन्न सत्ता के द्वारा निर्मित नहीं मानते। भगवान् महावीर ने कहा—"जो लोग जगत् को कृत बतलाते हैं, वे तत्त्व को नहीं जानते। यह जगत् अविनाशी है—पहले था, है और होगा।"[4]

बौद्ध-सिद्धान्त में किसी मूल कारण की व्यवस्था नहीं है। बौद्ध नहीं मानते कि ईश्वर, महादेव या वासुदेव, पुरुष, प्रधानादिक किसी एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती, किन्तु हम देखते हैं कि भावों का क्रम संभव है।[5]

कुछ श्रमण जगत् को अण्डकृत मानते थे। उनके अभिमतानुसार जब यह जगत् पदार्थ शून्य था तब ब्रह्मा ने जल में एक अण्डा उत्पन्न किया। वह अण्डा बढ़ते-बढ़ते जब फट गया तब ऊर्ध्वलोक और अधोलोक—ये दो भाग हो गए। उनमें सब प्रजा उत्पन्न हुई। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि की उत्पत्ति हुई—

माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्त मकासी य, अयाणंता मुसं वदे॥[6]

वृत्तिकार के अनुसार त्रिदण्डी आदि श्रमण ऐसा मानते थे।[7]

१–मूलाचार, पंचाचाराधिकार, ६२, वृत्ति :
परिहत्ता—परिव्राजका एकदण्डीत्रिदण्ड्यादयः स्नानशीलाः शुचिवादिनः।
२–निशीथ सूत्र, भाग २, पृ० २,३,३३२।
३–मूलाचार, पंचाचाराधिकार, ६२।
४–सूत्रकृतांग, १।१।३।९।
५–बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २२३।
६–सूत्रकृतांग, १।१।३।८।
७–वही, १।१।३।८, वृत्ति :
श्रमणाः—त्रिदण्डिप्रभृतय एके केचन पौराणिकाः न सर्वे।

४—आत्मा और परलोक

'आत्मा' शब्द ऋग्वेद-काल (१. ११५. १, १०.१०७.७) से ही प्रचलित रहा है। किन्तु इसके अर्थ का क्रमश विकास हुआ है और तब अन्त मे उपनिषदो मे यह ब्रह्म के समकक्ष परम सत्त्व के रूप मे व्याख्यात हुआ है। उदाहरणार्थ बृहदारण्यकोपनिषद् (१।१,१) में इसका अर्थ 'शरीर' है, वही (३।७,१३) पर यह वैयक्तिक आत्मा को उद्दिष्ट करता है फिर परम तत्त्व के अर्थ मे तो यह प्राय आता रहा है।[1]

ए० ए० मैकडोनल ने लिखा है—"ऐसा विश्वास किया जाता है कि अग्नि अथवा 'शवगर्त' (कब्र) केवल मृत शरीर को ही विनष्ट करते हैं, क्योकि मृत व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व को अनश्वर ही माना गया है। यह वैदिक-धारणा उस पुरातन विश्वास पर आधारित है कि आत्मा मे शरीर से अपने को अचेतनावस्था तक मे अलग कर लेने की शक्ति होती है और व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। इसीलिए एक सम्पूर्ण सूक्त (१० ५८) मे प्रत्यक्षत मृतवत पड़े मूर्च्छ व्यक्ति की आत्मा (मनस्) से, बाहर भ्रमण कर रहे स्थानो से पुन शरीर मे लौट आने की स्तुति की गई है। बाद मे विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदो मे कोई सकेत नही मिलता, किन्तु एक ब्राह्मण मे यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नही करते, वे मृत्यु के बाद पुन जन्म लेते है और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते है (शतपथ ब्राह्मण, १०, ४,३)।"[2]

उपनिषदो से पूर्ववर्ती वैदिक-साहित्य मे आत्मा और परलोक के विषय मे बहुत विशद चर्चा नही है। निर्ग्रन्थ आदि श्रमण-संघ आत्मा को त्रिकालवर्ती मानते थे। पुनर्जन्म के विषय में भी उनकी धारणा बहुत स्पष्ट थी।

भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रो से कहा—"पुत्रो! जिस प्रकार अरणी मे अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिलो मे तैल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर मे जीव उत्पन्न होते है और नष्ट हो जाते है। शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नही रहता।"[3]

तब पुत्र बोले—"पिता! आत्मा अमूर्त है, इसलिए यह इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता। यह अमूर्त है, इसलिए नित्य है। यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है—ऐसा कहा है।"[4]

१—वैदिक कोश, पृ० ३६।

२—वैदिक माइथोलॉजी (हिन्दी अनुवाद), पृ० ३१६।

३—उत्तराध्ययन, १४।१८।

४—वही, १४।१९।

कहा है : "बहुत सारे कामासक्त लोग परलोक को नही मानते थे । वे कहते थे— 'परलोक तो हमने देखा नही, यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखो के सामने है । ये काम-भोग हाथ मे आए हुए है । भविष्य मे होने वाले संदिग्ध है । कौन जानता है—परलोक है या नही ? हम लोक-समुदाय के साथ रहेगे ।' ऐसा मान कर बाल-मनुष्य धृष्ट बन जाता है । वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है ।

"फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवो के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिसा करता है । हिसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली खाने वाला, वेश-परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप मे प्रकट करने वाला अज्ञानी मनुष्य मद्य और मास का भोग करता है और यह श्रेय है—ऐसा मानता है ।

"वह शरीर और वाणी मे मत्त होता है, धन और स्त्रियो मे गृद्ध होता है । वह राग और द्वेष—दोनो मे उसी प्रकार कर्म-मल का सचय करता है, जैसे शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर दोनो मे मिट्टी का ।"[1]

ये लोग सम्भवत भौतिकवादी या सुखवादी विचारधारा अथवा संजयवेलट्ठिपुत्त के सदेहवादी दृष्टिकोण मे प्रभावित थे । कुछ श्रमण भी आत्मा और परलोक का अस्तित्व नही मानते थे ।

अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से कहा—"भन्ते ! एक दिन म जहाँ अजितकेशकम्बल था वहाँ ०। एक ओर बैठ कर० यह कहा— हे अजित ! जिस तरह ०। हे अजित ०। उसी तरह क्या श्रमण भाव के पालन करते ०?'

"ऐसा कहने पर भन्ते ! अजितकेशकम्बल ने यह उत्तर दिया—'महाराज ! न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप का अच्छा बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज (=औपपातिक, देव) सत्व हैं और न इस लोक में वैसे ज्ञानी और समर्थ श्रमण या ब्राह्मण हैं जो इस लोक और परलोक को स्वय जान कर या साक्षात् कर (कुछ) कहेगे । मनुष्य चार महाभूतो से मिल कर बना है । मनुष्य जब मरता है तब पृथ्वी, महापृथ्वी में लीन हो जाती है, जल०, तेज०, वायु० और इन्द्रियाँ आकाश में लीन हो जाती हैं । मनुष्य लोग मरे हुए को खाट पर रख कर ले जाते हैं, उसकी निन्दा, प्रशंसा करते हैं । हड्डियाँ कबूतर की तरह उजली हो (बिखर) जाती है और सब कुछ भस्म हो जाता है । मूर्ख लोग जो दान देते हैं, उसका कोई फल नही होता ।

१—उत्तराध्ययन, ५।५-१० ।

आस्तिकवाद (=आत्मा) झूठा है । मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं । मरने के बाद कोई नहीं रहता' ।"[१]

संजयवेलट्ठिपुत्त भी परलोक के विषय में कोई निश्चित मत नहीं रखते थे। उसी बैठक में अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से कहा था—

"भन्ते ! एक दिन मैं जहाँ संजयवेलट्ठिपुत्त० ।—श्रामण्य के पालन करने० ?

"ऐसा कहने पर भन्ते ! संजयवेलट्ठिपुत्त ने उत्तर दिया—'महाराज ! यदि आप पूछें, क्या परलोक है ? और यदि मैं समझूँ कि परलोक है, तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है, परलोक नहीं है० । अयोनिज प्राणी नहीं है, हैं भी और नहीं भी, न है और न नहीं हैं० । अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न है और न नहीं हैं ? ०। तथागत मरने के बाद होते हैं, नहीं होते हैं०? यदि मुझे ऐसा पूछें और मैं ऐसा समझूँ कि मरने के बाद तथागत न रहते हैं और न नहीं रहते हैं, तो मैं ऐसा आपको कहूं। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता०'।"[२]

यह बहुत आश्चर्य की बात है कि महात्मा बुद्ध परलोकवादी होते हुए भी अनात्मवादी थे। बौद्धों के अनुसार आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वह शब्दमात्र है, परमार्थ में अंग-संभार है, उसी प्रकार आत्मा, जीव, सत्त्व, नाम रूपमात्र (स्कन्ध-पंचक) है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नहीं है। बौद्ध अनीश्वरवादी और अनात्मवादी हैं। वे सर्वास्तिवादी, स्वभाववादी तथा बहुधर्मवादी हैं, किन्तु वे कोई शाश्वत पदार्थ नहीं मानते। उनकी मान्यता में द्रव्य सत् है, किन्तु क्षणिक हैं ।[३]

महात्मा बुद्ध ने कहा था—

"भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि मैं तब तक भगवान् (बुद्ध) के उपदेश के अनुसार नहीं चलूँगा, जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता देंगे कि संसार शाश्वत है वा अशाश्वत , संसार सान्त है वा अनन्त , जीव वही है जो शरीर में है वा जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है ; मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं वा मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते—तो भिक्षुओ, यह बातें तो तथागत के द्वारा बे-कही ही रहेंगी और वह मनुष्य यों ही मर जाएगा ।

१–**दीघनिकाय, १।२, पृ० २०-२१ ।**

२–**वही, १।२,** पृ० २२ ।

३–**बौद्ध धर्म दर्शन,** पृ० २२३ ।

"भिक्षुओ, जैसे किसी आदमी के जहर में बुझा हुआ तीर लगा हो। उसके मित्र, रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जावें। लेकिन वह कहे—'मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, वैश्य है या शूद्र है' ; अथवा वह कहे—'मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है, उसका अमुक नाम है, अमुक गोत्र है', अथवा वह कहे—'मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है, वह लम्बा है, छोटा है, या मझले कद का है' ; तो हे भिक्षुओ, उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नहीं, और वह यों ही मर जाएगा।

"भिक्षुओ, 'संसार शाश्वत है'—ऐसा मत रहने पर भी, 'संसार अशाश्वत है'—ऐसा मत रहने पर भी, 'संसार सान्त है'—ऐसा मत रहने पर भी, 'संसार अनन्त है'—ऐसा मत रहने पर भी 'जीव वही है जो शरीर है'—ऐसा मत रहने पर भी, 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है'—ऐसा मत रहने पर भी जन्म, बुढापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो (हर हालत मे) है ही और मैं इसी जन्म में—जीते जी—इन्ही सबके नाश का उपदेश देता हूं।"[1]

भगवान् महावीर आत्मा और परलोक, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के प्रबल समर्थक थे। उनका युग आत्म-विद्या और परलोक-विद्या की जिज्ञासाओ का युग था। उस समय 'आत्मा है या नहीं' ?, 'परलोक है या नहीं' ?, 'जिन या तथागत होगे या नहीं' ?—ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे। कुछ अल्पमति श्रमण इन प्रश्नो के जाल मे उलझ भी जाते थे। इसीलिए भगवान् महावीर ने उस मानसिक उलझन को 'दर्शन परीषह' कहा। उन्होने बताया—'निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है अथवा मैं ठगा गया हूं'—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे। 'जिन हुए थे, जिन है और जिन होगे—ऐसा जो कहते हैं, वे झूठ बोलते हैं'—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।[2]

उत्तराध्ययन मे 'परलोक' शब्द का पाँच बार (५।११, १६।६२; २२।१६, २६।५०, ३४।६०) तथा 'पूर्व-जन्म की स्मृति (=जाति-स्मृति)' का तीन बार (६।१,२; १४।५; १६।७,८) उल्लेख हुआ है। प्रकारान्तर से ये विषय बहुत बार चर्चित हुए हैं।

५—स्वर्ग और नरक

स्वर्ग और नरक की चर्चा वैदिक-साहित्य मे भी रही है। ए० ए० मैकडोनल ने लिखा है—

१—संयुत्तनिकाय, २१।५ ; बुद्ध वचन, पृ० २२-२३।

२—उत्तराध्ययन, २।४४-४५।

"यद्यपि परलोक-जीवन के सर्वाधिक स्पष्ट और प्रमुख सन्दर्भ ऋग्वेद के नवम और दशम मण्डल में मिलते हैं, तथापि कभी-कभी इसका प्रथम में भी उल्लेख है। जो कठिन तपस्या (तपम्) करते हैं, जो युद्ध में अपने जीवन का मोह त्याग देते हैं (१०, १५४[२-५] अथवा इनसे भी अधिक, जो प्रचुर दक्षिणा देते हैं, (वही, ३, १, १२५[५], १०, १०७[२]) उन्हें ही पुरस्कार स्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। अथर्ववेद, इस अन्तिम प्रकार के लोगों को प्राप्त होने वाले पुण्य-फलों के विवरण से भरा है।

"स्वर्ग में पहुँच कर मृत व्यक्ति ऐसा सुखकर जीवन व्यतीत करते हैं (१०, १४[८], १५[१४], १६[२-५]), जिसमें सभी कामनाएँ तृप्त रहती है (९ ११३[९-११]), और जो देवो के बीच (१० १४[१४]) प्रमुखत यम और वरुण, इन दो राजाओ की उपस्थिति मे व्यतीत होता है (१०,१४[७])। यहाँ वह जरावस्था से सर्वथा मुक्त होते हैं (१०, २७[२१])। तेजस्वी शरीर से युक्त होकर वह देवो के प्रियपात्र बन जाते हैं (१०, १४[८], १६[५], ५६[१])। यहाँ वह पिता, माता और पुत्रो को देखते है (अथर्ववेद ६ १२०[३]) और अपनी पत्नियो तथा सन्तान से पुन मिल जाते है (अथर्ववेद १२, ३[१७])। यहाँ का जीवन अपूर्णताओ और शारीरिक कष्टो से सर्वथा मुक्त होता है (१०, १४[८], अथर्ववेद ६, १२०[३]), व्याधियाँ पीछे छूट जाती है और हाथ-पैर लूले या लंगडे नही होते (अथर्ववेद ३, २८[५])। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण मे अक्सर यह कहा गया है कि परलोक में मृत व्यक्ति शरीर तथा अन्य अवयवो की दृष्टि से सम्पूर्ण होता है।

"ऋग्वेद मे मृतको के आनन्दप्रद जीवन को 'मदन्ति' अथवा 'मादयन्ते' जैसे सामान्य आशय के शब्दो से व्यक्त किया गया है (१०, १४[१०], १५[१४], इत्यादि)। स्वर्गलोक के आनन्दप्रद जीवन का सर्वाधिक विस्तृत विवरण ऋग्वेद (९, ११३[७-११]) में मिलता है। वहाँ चिरन्तन प्रकाश और तीव्रगति से प्रवाहित होने वाले ऐसे जल हैं, जिनकी गति निर्बाध होती है (तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १२, २[९]), वहाँ पुष्टिकर भोजन और तृप्ति है, वहाँ आनन्द, सुख आह्लाद, और सभी कामनाओ की सन्तुष्टि है। यहाँ अनिश्चित रूप से वर्णित आनन्द की, बाद में प्रेम के रूप में व्याख्या की गई है (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ४, ६[६], तु०की० शतपथ ब्राह्मण १०, ४, ४[४]) और अथर्ववेद (४.३४[२]) यह व्यक्त करता है कि स्वर्गलोक मे लैंगिक संतुष्टि के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वहाँ पहुँचने वाले भाग्यशालियों को प्राप्त सुख पृथ्वी के श्रेष्ठतम व्यक्तियो की अपेक्षा सौ गुने अधिक हैं (१४, ७, १[३२३])। ऋग्वेद भी यह कहता है कि भाग्यशालियों के स्वर्ग मे वीणा का स्वर और संगीत सुनाई पडता रहता है (१०, १३५[७]), वहाँ के लोगो के लिए सोम, घृत और मधु प्रवाहित होता रहता है (१०, १५४[१])। वहाँ घृत से भरे सरोवर तथा दुग्ध, मधु और मदिरा की नदियाँ बहती हैं (अथर्ववेद ४,

३४, [५-६] ; शतपथ ब्राह्मण ११, ५, ६ [६]) । वहाँ उज्ज्वल, विविध रंगों वाली गायें हैं जो सभी कामनाओ को पूर्ण करती है (कामदुघा —अथर्ववेद ४।३४ [८]) । वहाँ न तो निर्धन है और न धनवान्, न शक्तिशाली हैं न शोषित (अथर्ववेद ३, २६ [३]) ।''[१]

''ऋग्वेद के रचयिताओ के विचार से यदि पुण्यात्मा लोग परलोक में अपना पुरस्कार प्राप्त करते है, तो दुष्टो के लिए भी परलोक मे दण्ड मिलने का न सही, किन्तु कम से कम किसी न किसी प्रकार के आवास की कल्पना कर लेना भी, जैसा कि 'अवेस्ता' में है, स्वाभाविक ही है । जहाँ तक अथर्ववेद और कठ उपनिषद् का सम्बन्ध है, इनमें नरक की कल्पना निश्चित रूप से मिलती है । अथर्ववेद (२,१४ [३], ५, १९ [३]) यम के क्षेत्र (१२-४ [३६]) 'स्वर्ग-लोक' के विपरीत, 'नारक-लोक' नामक राक्षसियो और अभिचारिणियो के आवास के रूप मे एक अधो-गृह (पाताल-लोक) की चर्चा करता है । हत्यारे लोग इसी नरक मे भेजे जाते है (वाजसनेयि संहिता ३०,५) । इसे अथर्ववेद मे अनेक बार 'अधम अन्धकार' (८,२ [२४] इत्यादि) और साथ ही साथ, 'काला अन्धकार' (५,३० [११]) और 'अन्ध अन्धकार' (१८, ३ [३]) कहा गया है । नारकीय यातनाओ का भी एक बार ही अथर्ववेद (५, १९) मे और अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत रूप मे शतपथ ब्राह्मण (११, ६, १) मे वर्णन किया गया है, क्योकि परलोक के दण्ड की धारणा अपने स्पष्ट रूप मे ब्राह्मण-काल और उसके बाद मे ही विकसित हुई है ।''[२]

उत्तराध्ययन मे 'देव' शब्द का प्रयोग इकतीस बार हुआ है ।[३] चार बार 'देवलोक' (देवलोग या देवलोय) का प्रयोग हुआ है ।[४]

उसमे तीसरे अध्ययन मे बताया गया है—'कर्म के हेतु को दूर कर । क्षमा से यश (सयम) का संचय कर । ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है ।

''विविध प्रकार के शीलो की आराधना करके जो देवकल्पो व उसके ऊपर के देवलोको की आयु का भोग करते हैं, वे उत्तरोत्तर महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान् होते है । 'स्वर्ग मे पुनः च्यवन नही होता'—ऐसा मानते हैं । वे दैवी भोगो के लिए अपने आपको अर्पित किए हुए रहते है । इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं तथा सैकडो पूर्व-वर्षो—असंख्य-काल तक वहाँ रहते है ।''[५]

१—वैदिक माइथोलॉजी 'हिन्दी अनुवाद' पृ० ३१९-३२० ।
२—वही, पृ० ३२१-३२२ ।
३—देखिए—दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि, शब्द-सूची, पृ० १९८ ।
४—वही, शब्द-सूची पृ० १९८ ।
५—उत्तराध्ययन, ३।१३-१५ ।

१०

"जो संवृत-भिक्षु होता है, वह दोनो मे से एक होता है—सब दुःखो मे मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव।

"देवताओं के आवास क्रमश उत्तम, मोह-रहित, द्युतिमान् और देवो से आकीर्ण होते हैं। उनमे रहने वाले देव यशस्वी, दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हो—ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते है।"[1]

"देव और नरक-योनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक एक-एक जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।"[2]

छत्तीसवें अध्ययन में देव-जाति के प्रकारो का निरूपण है।[3]

नरक (=नरग या नरय या निरय) का प्रयोग सतरह बार हुआ है।[4] उन्नीसवें अध्ययन मे नारकीय वेदनाओ का विशद वर्णन है।[5] नारकीय जीवो का निरूपण छत्तीसवें अध्ययन मे हुआ है।[6]

कुछ श्रमण स्वर्ग और नरक मे विश्वास नही करते थे। इस प्रसग मे अजितकेश-कम्बल का उच्छेदवाद उल्लेखनीय है।[7] संजयवेलट्ठिपुत्त भी इस विषय मे कोई निश्चित मत नही रखता था।[8]

६—निर्वाण

वैदिक यज्ञ-संस्था में पारलौकिक-जीवन का महत्त्वपूर्ण सस्थान स्वर्ग है। निर्वाण का सिद्धान्त उन्हे मान्य नही था। उपनिषदो मे वह स्थिर हुआ है। श्रमण-परम्परा आरम्भ से ही निर्वाणवादी रही है। श्रीमद्भागवत में भगवान् ऋषभ को मोक्ष-धर्म की अपेक्षा से ही वासुदेव का अवतार कहा गया है।[9]

भगवान् बुद्ध ने वैदिक-परम्परा से अपने उद्देश्य की पृथकता बतलाते हुए कहा—

१—उत्तराध्ययन, ५।२५-२७।
२—वही, १०।१४।
३—वही, ३६।२०४-२४७।
४—देखिए, दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि, शब्द-सूची—पृ० २०४,२१०।
५—उत्तराध्ययन, १९।४७-७३।
६—वही, ३६।१५६-१६९।
७—दीघनिकाय, १।२, पृ० २०-२१।
८—वही, १।२, पृ० २२।
९—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २, खण्ड २, पृ० ७१० :
तमाहुर्वासुदेवांशं, मोक्षधर्मविवक्षया।

"पंचशिख ! हाँ मुझे स्मरण है। मैं ही उस समय महागोविन्द था। मैंने ही उन श्रावकों को ब्रह्मलोक का मार्ग बतलाया था। पंचशिख ! मेरा वह ब्रह्मचर्य न निर्वेद के लिए (=न विराग के लिए), न उपशम (=परम शान्ति) के लिए, न ज्ञान प्राप्ति के लिए न सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए था। वह केवल ब्रह्मलोक-प्राप्ति के लिए था। पंचशिख ! मेरा यह ब्रह्मचर्य एकान्त (बिलकुल) निर्वेद के लिए, विराग० और निर्वाण के लिए है।"[1]

सूत्रकृतांग में भगवान् महावीर को निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ कहा गया है।[2] भगवान् महावीर के काल में अनेक निर्वाणवादी धाराएँ थीं, किन्तु महावीर जिस धारा में थे, वह धारा बहुत प्राचीन और बहुत परिष्कृत थी। इसीलिए उन्हें निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ कहा गया।

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण का स्वरूप 'अस्त होना' या 'बुझ जाना' बतलाया—

"भिक्षुओ ! यह जो रूप का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है। यह जो वेदना का निरोध है, संज्ञा का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है।"[3] "यही शान्ति है, यही श्रेष्ठता है, यह जो सभी संस्कारों का शमन, सभी चित्त-मलों का त्याग, तृष्णा का क्षय, विराग-स्वरूप, निरोध-स्वरूप निर्वाण है।"[4]

किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि निर्वाण के पश्चात् आत्मा की क्या स्थिति होती है ? भगवान् महावीर ने निर्वाण की उत्तरकालीन स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डाला। इसीलिये उन्हें निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ कहा जा सकता है। उत्तराध्ययन में छह बार 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग हुआ है और अनेक बार 'मोक्ष' शब्द भी अन्यान्य अर्थों के साथ निर्वाण के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[5]

मोक्ष का वर्णन छत्तीसवें अध्ययन में है।[6] अनेक अध्ययनों की परिसमाप्ति में

१—दीघनिकाय, २।६, पृ० १७६।
२—सूत्रकृतांग, १।६।२१।
३—संयुत्तनिकाय, २१।३।
४—अंगुत्तरनिकाय, ३।३२।
५—देखिए—दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि, शब्द-सूची, पृ० २११, २६८।
६—उत्तराध्ययन, ३६।४८-६७।

सिद्धगति, निर्वाण या मोक्ष-प्राप्त होने का उल्लेख है।[1] कुछ श्रमण निर्वाण को नही मानते थे।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि (१) दान, (२) स्नान, (३) कर्तृवाद, (४) आत्मा और परलोक, (५) स्वर्ग और नरक तथा (६) निर्वाण—ये सभी विषय श्रमण-परम्परा की एकसूत्रता के व्याप्त लक्षण नही है। इनमे से कुछ विषय श्रमण और वैदिक परम्पराओ मे भी समान हैं।

इसीलिए इन विषयो का श्रमण और वैदिक धारा की विभाजन-रेखा तथा श्रमण-परम्परा की एकसूत्रता की व्याप्ति के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता।

१–उत्तराध्ययन, १।४८ ३।२०, १०।३७, ११।३२, १२।४७; १३।३५; १४।५३, १६।१७ १८।५३, २१।२४, २४।२७, २५।४३, २६।५२, ३०।३७; ३१।२१; ३२।१११ ३५।२१, ३६।२६८।

२–दीघनिकाय, १।२, पृ० २२।

प्रकरण : चौथा

आत्म-विद्या—क्षत्रियों की देन

आत्म-विद्या की परम्परा

ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या अवैदिक शब्द है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। वह विश्व का कर्त्ता और भुवन का पालक था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूत ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने अंगिर को, अंगिर ने भारद्वाज-सत्यवह को, भारद्वाज-सत्यवह ने अपने से कनिष्ठ ऋषि को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार गुरु-शिष्य के क्रम में वह विद्या अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई।[1]

बृहदारण्यक में दो बार ब्रह्म-विद्या की वंश-परम्परा बताई गई है।[2] उसके अनुसार पौतिमाष्य ने गौपवन से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। गुरु-शिष्य का क्रम चलते-चलते अन्त में बताया गया है कि परमेष्ठी ने वह विद्या ब्रह्म से प्राप्त की। ब्रह्म स्वयभू है। शंकराचार्य ने ब्रह्म का अर्थ 'हिरण्यगर्भ' किया है। उससे आगे आचार्य-परम्परा नहीं है, क्योंकि वह स्वयभू है।[3]

मुण्डक और बृहदारण्यक का क्रम एक नहीं है। मुण्डक के अनुसार ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति ब्रह्मा से अथर्वा को होती है और बृहदारण्यक के अनुसार वह ब्रह्म से परमेष्ठी को होती है। ब्रह्म स्वयंभू है। इस विषय में दोनों एक मत हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्म-विद्या के प्रथम प्रवर्तक भगवान् ऋषभ हैं। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन (अर्हत), प्रथम केवली, प्रथम तीर्थङ्कर और प्रथम धर्म-चक्रवर्ती थे।[4] उनके 'प्रथम जिन' होने की बात इतनी विश्रुत हुई कि आगे चल कर 'प्रथम जिन' उनका एक

१—**मुण्डकोपनिषद्**, १।१, १।२।

२—**बृहदारण्यकोपनिषद्**, २।६।१, ४।६।१-२।

३—**वही, भाष्य**, २।३।६, **पृ०** ६१८.

परमेष्ठी विराट्, ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्। ततः परं आचार्यपरम्परा नास्ति।

४—**जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति**, २।३०:

उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

नाम बन गया।[1] श्रीमद्भागवत से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वहाँ बताया गया है कि वासुदेव ने आठवाँ अवतार नाभि और मेरुदेवी के वहाँ धारण किया। वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया।[2] इसीलिए ऋषभ को मोक्ष-धर्म की विवक्षा से 'वासुदेवांश' कहा गया।[3]

ऋषभ के सौ पुत्र थे। वे सब के सब ब्रह्म-विद्या के पारगामी थे।[4] उनके नौ पुत्रों को 'आत्म-विद्या विशारद' भी कहा गया है।[5] उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी था।[6]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र और श्रीमद्भागवत के संदर्भ में हम आत्म-विद्या के प्रथम पुरुष भगवान् ऋषभ को पाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उपनिषद्कारों ने ऋषभ को ही ब्रह्मा कहा हो।

ब्रह्मा का दूसरा नाम हिरण्यगर्भ है। महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग का पुरातन विद्वान् है, कोई दूसरा नहीं।[7] श्रीमद्भागवत में ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।[8]

१–कल्पसूत्र, सू० १९४ :
उसभेणं कोसलिए कासवगुत्ते णं, तस्स णं पंच नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—उसभे इ वा पढमराया इ वा पढमभिक्खाचरे इ वा पढमजिणे इ वा पढमतित्थकरे इ वा।

२–श्रीमद्भागवत, १।३।१३ :
अष्टमे मेरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥

३–वही, ११।२।१६ :
तमाहुर्वासुदेवांशं, मोक्षधर्मविवक्षया।

४–वही, ११।२।१६ :
अवतीर्णं सुतशतं, तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।

५–वही, ११।२।२० :
नवाभवन् महाभागा, मुनयो ह्यर्थशंसिन।
श्रमणा वातरशना, आत्मविद्याविशारदाः॥

६–वही, ५।४।९ :
येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुणः आसीत्।

७–महाभारत, शान्तिपर्व, ३४९।६५ :
हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्यः पुरातनः।

८–श्रीमद्भागवत, ५।४।३ :
भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।

उन्होंने नाना योग-चर्याओं का चरण किया था।[1] हठयोग प्रदीपिका में भगवान् ऋषभ को हठयोग-विद्या के उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया गया है।[2] जैन आचार्य भी उन्हें योग-विद्या के प्रणेता मानते हैं।[3] इस दृष्टि से भगवान् ऋषभ 'आदिनाथ', 'हिरण्यगर्भ' और 'ब्रह्मा'—इन नामों से अभिहित हुए हैं।

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एकमात्र पति है।[4] किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह 'परमात्मा' है या 'देहधारी'? शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—किन्हीं विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वान् कहते हैं कि वह संसारी है।[5] यह संदेह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[6] आत्म-विद्या, सन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ 'ऋषभ' ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ में थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें 'हिरण्यगर्भ' भी कहा गया।[7]

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या—ये दो धाराएँ प्रारम्भ से ही विभक्त रही है। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं।

१—श्रीमद्भागवत, ५।५।२५ :
नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभः।

२—हठयोग प्रदीपिका :
श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

३—ज्ञानार्णव, १।२ :
योगिकल्पतरुं नौमि, देव-देव वृषध्वजम्।

४—ऋग्वेद, १०।१०।१२१।१ :
हिरण्यगर्भः ? समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधारपृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

५—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।४।६, भाष्य, पृ० १८५ :
अत्र विप्रतिपद्यन्ते—पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

६—तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक ६२, सायण भाष्य।

७—महापुराण, १२।९५ :
सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभो हिरण्यगर्भत्व मिव बोधयितुं जगत्॥

ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी है। इन्हे ब्रह्मा द्वारा प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। यह कर्म-परायण पुरुषो के लिए शाश्वत मार्ग प्रकट हुआ।[1]

सन, सनत्, सुजात, सनक, सनदन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं। इन्हें स्वय विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। ये प्रमुख योगवेत्ता, सांख्य-ज्ञान-विशारद, धर्म-शास्त्रो के आचार्य और मोक्ष-धर्म के प्रवर्तक हैं।[2]

सप्ततिशतस्थान मे बतलाया गया है कि जैन, शैव और साख्य--ये तीन धर्म-दर्शन भगवान् ऋषभ के तीर्थ मे प्रवृत्त हुए थे।[3] इससे महाभारत के उक्त तथ्याश का समर्थन होता है।

श्रीमद्भागवत मे लिखा है—भगवान् ऋषभ के कुशावर्त आदि नौ पुत्र नौ द्वीपो के अधिपति बने, कवि आदि नौ पुत्र आत्म-विद्या-विशारद श्रमण बने और भरत को छोडकर

१-महाभारत, शान्तिपर्व, ३४०।६६-७१

मरीचिरङ्गिराश्चात्रि', पुलस्त्य पुलह क्रतु ।
वसिष्ठ इति सप्तैते, मानसा निर्मिता हि ते ॥
एते वेदविदो मुख्या, वेदाचार्याश्च कल्पिता ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव, प्राजापत्ये प्रतिष्ठिता ॥
अयं क्रियावतां पन्था, व्यक्तीभूत सनातन ।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो, लोकसर्गकर प्रभु. ॥

२-वही, शान्तिपर्व, ३४०।७२-७४

सन. सनत्सुजातश्च, सनक ससनन्दन ।
सनत्कुमार. कपिल., सप्तमश्च सनातन ॥
सप्तैते मानसा प्रोक्ता, ऋषयो ब्रह्मण सुताः ।
स्वयमागतविज्ञाना, निवृत्ति धर्ममास्थिता ॥
एते योगविदो मुख्याः, सांख्यज्ञानविशारदाः ।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु, मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥

३-सप्ततिशतस्थान, ३४०-३४१ .

जइणं सइवं संखं, वेअंतियनाहिआण बुद्धाणं ।
वइसेसियाण वि मयं, इमाइं सग दरिसणाइं कम ॥
तिन्नि उसहस्स तित्थे, जायाइं सीअलस्स ते दुन्नि ।
दरिसण मेगं पासस्स, सत्तमं वीरतित्थंमि ॥

शेष ८१ पुत्र महाश्रोत्रिय, यज्ञशील और कर्म-शुद्ध ब्राह्मण बने। उन्होंने कर्म-तन्त्र का प्रणयण किया।[1]

भगवान् ऋषभ ने आत्म-तंत्र का प्रवर्तन किया और उनके ८१ पुत्र कर्म-तन्त्र के प्रवर्तक हुए। ये दोनों धाराएँ लगभग एक साथ ही प्रवृत्त हुईं। यज्ञ का अर्थ यदि आत्म-यज्ञ किया जाए तो थोड़ी भेद-रेखाओं के साथ उक्त विवरण का संवादक प्रमाण जैन-साहित्य में भी मिलता है[2] और यदि यज्ञ का अर्थ वेद-विहित यज्ञ किया जाए तो यह कहना होगा कि भागवतकार ने ऋषभ के पुत्रों को यज्ञशील बना यज्ञ को जैन-परम्परा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है।

आत्म-विद्या भगवान् ऋषभ द्वारा प्रवर्तित हुई। उनके पुत्रों—वातरशन श्रमणों—द्वारा वह परम्परा के रूप में प्रचलित रही। श्रमण और वैदिक-धारा का संगम हुआ तब प्रवृत्तिवादी वैदिक आर्य उससे प्रभावित नहीं हुए किन्तु श्रमण-परम्परा के अनुयायी असुरों की धृति, आत्म-लीनता और अशोक-भाव को देखा तो वे उससे सहसा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। वेदोत्तर युग में आत्म-विद्या और उसके परिपार्श्व में विकसित होने वाले अहिंसा, मोक्ष आदि तत्त्व दोनों धाराओं के संगम-स्थल हो गए।

वैदिक-साहित्य में श्रमण-संस्कृति के और श्रमण-साहित्य में वैदिक-संस्कृति के अनेक संगम-स्थल हैं। यहाँ हम मुख्यतः आत्म-विद्या और उसके परिपार्श्व में अहिंसा की चर्चा करेंगे।

आत्म-विद्या और वेद

महाभारत का एक प्रसंग है। महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से पूछा—"भगवन्! जो इस जगत् का कारण है, जिसके लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ज्ञान का अन्तिम फल बतलाते हैं तथा वेद के मन्त्र-वाक्यों द्वारा जिसका तत्त्व पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आता, उस नित्य वस्तु का आप मेरे लिए यथार्थ वर्णन करें।[3]

"मनुष्य को जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को वह पाना चाहता है और पाने की इच्छा होने पर उसके लिए वह प्रयत्न आरम्भ करता है, परन्तु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तु के विषय में कुछ जानता ही नहीं हूँ, फिर पाने के लिए झूठा प्रयत्न कैसे करूँ? मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेद का तथा छन्द का अर्थात् अथर्ववेद का एवं नक्षत्रों की

१—श्रीमद्भागवत, ५।४।९-१३, ११।२।१९-२१।
२—आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० २३५-२३६।
३—महाभारत, शान्तिपर्व, २०१।४।

गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतों के उपादान कारण को न जान सका। तत्त्वज्ञान होने पर कौन-सा फल प्राप्त होता है ? कर्म करने पर किस फल की उपलब्धि होती है ? देहाभिमानी जीव देह से किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीर में प्रवेश कैसे करता है ? ये सारी बातें भी मुझे बताएँ।"[१]

इसी प्रकार नारद सनत्कुमार से कहता है—"भगवन् ! मुझे उपदेश दें।" तब सनत्कुमार ने कहा—"तुम जो जानते हो वह मुझे बतलाओ, फिर उपदेश दूँगा।" तब नारद ने कहा—"भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद याद है। इतिहास, वेदों के वेद (व्याकरण), श्राद्ध-कल्प, गणित, उत्पात-ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देव विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या और देवजन-विद्या (नृत्य, संगीत आदि) को मैं जानता हूँ।"[२]

सब वेदों को जान लेने पर भी आत्म-विद्या का ज्ञान नहीं होता था, उसका कारण मुण्डकोपनिषद् से स्पष्ट होता है।

शौनक ने अंगिरा के पास विधि-पूर्वक जाकर पूछा—"भगवन् ! किसे जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है ?"

अंगिरा ने कहा—"दो विद्याएँ हैं—एक 'परा' और दूसरी 'अपरा'। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह 'अपरा' है तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है, वह 'परा' है।"[३]

इस 'परा' विद्या को वेदों से पृथक् बतलाने का तात्पर्य यही हो सकता है कि वैदिक ऋषि इसे महत्त्व नहीं देते थे।

श्रमण-परम्परा और क्षत्रिय

श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों की प्रमुखता रही है और वैदिक-परम्परा में ब्राह्मणों की। भगवान् महावीर का देवानन्दा की कोख से त्रिशला क्षत्रियाणी की कोख में संक्रमण किया गया, यह तथ्य श्रमण-परम्परा सम्मत क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता का सूचक है।[४] महात्मा बुद्ध ने कहा था—"वाशिष्ठ ! ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी गाथा कही है—

१—महाभारत, शान्तिपर्व, २०१।७,८,९।
२—छान्दोग्योपनिषद्, ७।१।१,२।
३—मुण्डकोपनिषद्, १।१।३-५।
४—कल्पसूत्र, २०-२५।

'गोत्र लेकर चलने वाले जनो मे क्षत्रिय श्रेष्ठ है । जो विद्या और आचरण से युक्त हैं, वह देव मनुष्यो मे श्रेष्ठ है ।'

'वाशिष्ठ ! यह गाथा ब्रह्मा सनत्कुमार ने ठीक ही कही है, बे-ठीक नही कही । सार्थक कही, अनर्थक नही । इसका मं भी अनुमोदन करता हूं ।"[1]

क्षत्रिय की उत्कृष्टता का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी मिलता है । वह इतिहास की उस भूमिका पर अंकित हुआ जान पडता है जब क्षत्रिय और ब्राह्मण एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो रहे थे ।

वहाँ लिखा है—"आरम्भ मे यह एक ब्रह्म ही था । अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नही हुआ । उसने अतिशयता मे 'क्षत्र'—इस प्रशस्त रूप की रचना की अर्थात् देवताओ मे जो क्षत्रिय, इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशान आदि हैं, उन्हे उत्पन्न किया । अत क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नही है । उसी से राजसूय-यज्ञ मे ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है । वह क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है ।"[2]

आत्म-विद्या के लिए ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की उपासना

क्षत्रियो की श्रेष्ठता उनकी रक्षात्मक शक्ति के कारण नही, किन्तु आत्म विद्या की उपलब्धि के कारण थी । यह आश्चर्यपूर्ण नही, किन्तु बहुत यथार्थ बात है कि ब्राह्मणो को आत्म विद्या क्षत्रियो से प्राप्त हुई है ।

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पचालदेशीय लोगो की सभा मे आया ।

प्रवाहण ने कहा—कुमार ! क्या पिता ने तुम्हे शिक्षा दी है ?

श्वेतकेतु—हाँ भगवन् !

प्रवाहण—क्या तुमे मालूम है कि इस लोक से (जाने पर) प्रजा कहाँ जाती है ?

श्वेतकेतु —नही, भगवन् !

प्रवाहण —क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोक मे कैसे आती है ?

श्वेतकेतु—नही ! भगवन् !

प्रवाहण—देवयान और पितृयान—इन दोनो मार्गो का एक दूसरे से विलग होने का स्थान तुझे मालूम है ?

श्वेतकेतु—नही, भगवन् !

प्रवाहण—तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यो नही है ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! नहीं ।

१–दीघनिकाय, ३।४, पृ० २४५ ।

२–बृहदारण्यक, १।४।११, पृ० २८६ ।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि पाँचवी आहुति के हवन कर दिए जाने पर आप (सौम, घृतादि रस) पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते है ?

श्वेतकेतु—नही, भगवन् ! नही ।

तो फिर तू अपने को 'मुझे शिक्षा दी गई है' ऐसा क्यो बोलता था ? जो इन बातो को नही जानता, वह अपने को शिक्षित कैसे कह सकता है ?

तब वह त्रस्त होकर अपने पिता के स्थान पर आया और उससे बोला—"श्रीमान् ने मुझे शिक्षा दिए बिना ही कह दिया था कि मैने तुम्हे शिक्षा दे दी है । उस क्षत्रिय बन्धु ने मुझ से पाँच प्रश्न पूछे थे, किन्तु मै उनमे से एक का भी विवेचन नही कर सका ।"

उसने कहा—"तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाएँ है, उनमे से मैं एक को भी नही जानता । यदि मैं इन्हे जानता तो तुम्हे क्यो नही बतलाता ?"

तब वह गौतम राजा के स्थान पर आया और उसने अपनी जिज्ञासाएँ राजा के सामने प्रस्तुत की ।

राजा ने उसे चिरकाल तक अपने पास रहने का अनुरोध किया और कहा—"गौतम ! जिस प्रकार तुमने मुझ से कहा है, पूर्व-काल मे तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणो के पास नही गई । इसी से सम्पूर्ण लोको मे क्षत्रियो का ही (शिष्यो के प्रति) अनुशासन होता रहा है ।"[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी राजा प्रवाहण आरुणि से कहता है—"इससे पूर्व यह विद्या (अध्यात्म-विद्या) किसी ब्राह्मण के पास नही रही । वह मैं तुम्हे बताऊंगा ।"[2]

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि के पुत्र का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्करक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और हम क्या है ?

उन्होने निश्चय किया कि अरुण का पुत्र उद्दालक इस समय वैश्वानर आत्मा को जानता है, अत हम उसके पास चले । ऐसा निश्चय कर वे उसके पास आए ।

उसने निश्चय किया कि ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझ से प्रश्न करेंगे, किन्तु मैं इन्हे पूरी तरह से बतला नही सकूँगा । अतः मैं इन्हे दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ ।

१–छान्दोग्योपनिषद्, ५।३।१-७०, पृ० ४७२-४७६ ।

२–बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।८ :

यथेयंविद्येत पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि ।

उसने कहा—"इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानर संज्ञक आत्मा को अच्छी तरह से जानता है। आइए हम उसी के पास चलें।" ऐसा कह कर वे उसके पास चले गए।

उन्होंने केकयकुमार अश्वपति से कहा—"इस समय आप वैश्वानर आत्मा को अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए उसका ज्ञान हमें दें।"

दूसरे दिन केकयकुमार अश्वपति ने उन्हें आत्म-विद्या का उपदेश दिया।[1]

ब्राह्मणों के ब्रह्मत्व पर तीखा व्यंग करते हुए अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा था—"ब्राह्मण क्षत्रिय की शरण में इस आशा से जाएँ कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है। तो भी मैं तुम्हें उसका ज्ञान कराऊँगा ही।"[2]

प्राय सभी मैथिल नरेश आत्म-विद्या को आश्रय देते थे।[3]

एम० विन्टरनिट्ज ने इस विषय पर बहुत विशद विवेचना की है। उन्होंने लिखा है—"भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा, क्योंकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढाँचा देने में दिलोजान से लगे हुए थे जब कि इन दार्शनिकों का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मण यज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते हैं, उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले ले, जो इन्द्र तक की सत्ता में विश्वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियाँ देना जिसे व्यर्थ नजर आए, बुद्धि नहीं मानती। सो अधिक संभव नहीं प्रतीत होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्हीं लोगों का क्षेत्र था जिन्हें वेदों में पुरोहितों का शत्रु अर्थात् अरि, कंजम, 'ब्राह्मणों को दक्षिणा देने से जी चुराने वाला' कहा गया है।

"उपनिषदों में तो और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी, ऐसे कितने ही स्थल आते हैं, जहाँ दर्शन अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वत सिद्ध हो जाती है।

"कौशीतकी ब्राह्मण (२६,५) में प्राचीन भारत की साहित्यिक गतिविधि की निदर्शक एक कथा, राजा प्रतर्दन के सम्बन्ध में आती है कि किस प्रकार वह मानी ब्राह्मणों से यज्ञ-विद्या के विषय में जूझता है। शतपथ की ११ वीं कण्डिका में राजा जनक सभी पुरोहितों का मुँह बंद कर देते हैं, और तो और ब्राह्मणों को जनक के प्रश्न समझ में ही नहीं आते? एक और प्रसंग में श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य सरीखे माने हुए

१–छान्दोग्योपनिषद्, ५।११।१-७।

२–बृहदारण्यकोपनिषद्, २।१।१५।

३–विष्णुपुराण, ४।५।३४:

प्रायेणैते आत्मविद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति।

ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि अग्निहोत्र करने का सच्चा तरीका क्या है, और किसी से इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं बन पाता। यज्ञ की दक्षिणा अर्थात् १०० गाएँ, याज्ञवल्क्य के हाथ लगती है, किन्तु जनक साफ-साफ कहे जाता है कि अग्निहोत्री की भावना अभी स्वयं याज्ञवल्क्य को भी स्पष्ट नहीं हुई और सूत्र के अनन्तर जब महाराज अन्दर चले जाते हैं, तो ब्राह्मणों में कानाफूसी चल पड़ती है 'यह क्षत्रिय होकर हमारी ऐसी की तैसी कर गया, खैर हम भी तो इसे सबक दे सकते हैं—ब्रह्मोद (के विवाद) में इसे नीचा दिखा सकते हैं।' तब याज्ञवल्क्य उन्हें मना करता है—देखो, हम ब्राह्मण हैं और वह सिर्फ एक क्षत्रिय है, हम उसे जीत भी लें तो हमारा उससे कुछ बढ़ नहीं जाता और अगर उसने हमें हरा दिया तो लोग हमारी मखौल उड़ाएँगे—'देखो, एक छोटे से क्षत्रिय ने ही इनका अभिमान चूर्ण कर डाला'। और उनसे (अपने साथियों से) छुट्टी पाकर याज्ञवल्क्य स्वयं जनक के चरणों में हाजिर होता है 'भगवन् मुझे भी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी अपने स्वानुभव का कुछ प्रसाद दीजिए।"[1]

और भी ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिनसे आत्म-विद्या पर क्षत्रियों का प्रभुत्व प्रमाणित होता है।

आत्म-विद्या के पुरस्कर्त्ता

एम० विन्टरनित्ज ने लिखा है—'जहाँ ब्राह्मण यज्ञ, याग आदि की नीरस प्रक्रिया में लिपटे हुए थे, अध्यात्म-विद्या के चरम प्रश्नों पर और लोग स्वतंत्र चिन्तन कर रहे थे। उन्हीं ब्राह्मणेतर मण्डलों में ऐसे वानप्रस्थों तथा श्रमण परिव्राजकों का सम्प्रदाय उठा—जिन्होंने न केवल संसार और सांसारिक सुख-वैभव से अपितु यज्ञादि की नीरसता से भी अपना नाता तोड़ लिया था। आगे चल कर बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण-विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतंत्र चिन्तकों तथाकथित नास्तिकों—की बदौलत सम्भव हो सका, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। प्राचीन यज्ञादि सिद्धान्तों के भग्नशेष में इन स्वतंत्र विचारों की परम्परा रही, यह भी एक (और) ऐतिहासिक तथ्य है। याज्ञिकों में 'जिद' कुछ घर कर आती, और न यह नई दृष्टि कुछ संभव हो सकती।

"इस सबका यह मतलब न समझा जाए कि ब्राह्मणों का उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में कोई भाग था ही नहीं, क्योंकि प्राचीन गुरुकुलों में एक ही आचार्य की छत्र-छाया में ब्राह्मण-पुत्रों, क्षत्रिय-पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का तब प्रबन्ध था और यह सब स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि विभिन्न समस्याओं पर समय-समय पर उन दिनों विचार-विनिमय भी बिना किसी भेदभाव के हुआ करते थे।"[2]

१–प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८३।
२–वही, पृ० १८५।

'बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतंत्र चिन्तकों तथाकथित नास्तिकों की बदौलत ही सम्भव हो सका'—'इस वाक्य की अपेक्षा यह वाक्य अधिक उपयुक्त हो सकता है कि 'बौद्ध जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरों का विकास आत्म-वेत्ता क्षत्रियों की बदौलत ही संभव हो सका।' क्योंकि अध्यात्म-विद्या की परम्परा बहुत प्राचीन रही है, सम्भवतः वेद-रचना से पहले भी रही है। उसके पुरस्कर्त्ता क्षत्रिय थे। ब्राह्मण-पुराण भी इस बात का समर्थन करते है कि भगवान् ऋषभ क्षत्रियों के पूर्वज है।[1] उन्होंने सुदूर क्षितिज मे अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया था।

ब्राह्मणों की उदारता

ब्राह्मणों ने भगवान् ऋषभ और उनकी अध्यात्म-विद्या को जिस प्रकार अपनाया, वह उनकी अपूर्व उदारता का ज्वलन्त उदाहरण है। एम० विन्टरनिट्ज के शब्दों मे हम यह भी न भूल जाएं कि (भारत के इतिहास मे) ब्राह्मणों में ही यह प्रतिभा पाई जाती है कि वे अपनी घिसी-पिटी उपेक्षित विद्या में भी नए -विरोधी भी क्यों न हो—विचारों की सगति बिठा सकते है। आश्रम-व्यवस्था को, इसी विशिष्टता के साथ, चुपचाप उन्होंने अपने (ब्राह्मण) धर्म का अंग बना लिया—वानप्रस्थ और संन्यासी लोग भी उन्हीं की प्राचीन व्यवस्था मे समा गए।[2]

आरण्यकों और उपनिषदों मे विकसित होने वाली अध्यात्म-विद्या को विचार-संगम की संज्ञा देकर हम अतीत के प्रति अन्याय नहीं करते। डा० भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि ऋग्वैदिक काल के बाद जब उपनिषदों का समय आया तब तक क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गए थे जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक-काल मे किए आ रहे थे।[3] पार्जिटर का अभिमत इससे भिन्न है। उन्होंने लिखा है—"राजाओं व ऋषियों की परम्पराएँ भिन्न-भिन्न रहीं। सुदूर अतीत मे दो भिन्न परम्पराएँ थीं—क्षत्रिय-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा। यह मानना विचार

१-(क) वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, ३३।५० :

नाभिस्त्वजनयत पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥

(ख) ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्द्ध, अनुषंगपाद, १४।६० :

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः॥

२-प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८६।

३-संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०।

पूर्ण नही कि विशुद्ध क्षत्रिय-परम्परा पूर्णत विलीन हो गई थी या अत्यधिक भ्रष्ट हो गई या जो वर्तमान मे है, वह मौलिक नही। ब्राह्मण अपने धार्मिक व्याख्याओं को सुरक्षित रख सके व उनका पालन कर सके है तो क्षत्रियों के सम्बन्ध में इससे विपरीत मानना अविचारपूर्ण है। क्षत्रिय-परम्परा में भी ऐसे व्यक्ति थे, जिनका मुख्य कार्य ही परम्परा को सुरक्षित रखना था।

"क्षत्रिय व ब्राह्मण-परम्परा का अन्तर महत्त्वपूर्ण है और स्वाभाविक भी।...यदि क्षत्रिय परम्परा का अस्तित्व नही होता तो वह आश्चर्यजनक स्थिति होती। ब्राह्मण व क्षत्रिय-परम्परा की भिन्नता प्राचीनतम काल से पुराणो के संकलन व पौराणिक ब्राह्मणो का उन पर अधिकार होने तक रही।"[१]

वस्तुत क्षत्रिय-परम्परा ऋग्वेद-काल मे पूर्ववर्ती है। उपनिषद्-काल मे क्षत्रिय ब्राह्मणो का पद छीन लेने को उद्यत नही थे, प्रत्युत ब्राह्मणो को आत्म-विद्या का ज्ञान दे रहे थे। जैसा कि डा० उपाध्याय ने लिखा है—"ब्राह्मणो के यज्ञानुष्ठान आदि के विरुद्ध क्रान्तिकर क्षत्रियो ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणो ने अपने दर्शनो की नीव डाली। इस संघर्ष का काल प्रसार काफी लम्बा रहा जो अन्तत द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणो के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमे एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुष्यमित्र शुंग की परम्परा रही और दूसरी ओर विश्वमित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति, कैकेय, प्रवहण, जैवलिअजातशत्रु, कौशेय, जनक विदह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और बृहद्रथ की।"[२]

आत्म-विद्या और अहिंसा

अहिंसा का आधार आत्म-विद्या है। उसके बिना अहिंसा कोरी नैतिक बन जाती है, उसका आध्यात्मिक मूल्य नही रहता।

अहिंसा और हिंसा कभी ब्राह्मण और क्षत्रिय-परम्परा की विभाजन रेखा थी। अहिंसा प्रिय होने के कारण क्षत्रिय जाति बहुत जनप्रिय हो गई थी जैसा की दिनकर ने लिखा है—"अवतारो मे वामन और परशुराम, ये दो ही है जिनका जन्म ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। बाकी सभी अवतार क्षत्रियो के वंश मे हुए है। वह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञो पर पलने के कारण ब्राह्मण इतने हिंसा-प्रिय हो गये थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा और ब्राह्मणों का पद उन्होने क्षत्रियो को दे दिया। प्रतिक्रिया केवल ब्राह्मण धर्म (यज्ञ) के प्रति ही

१—Ancient Indian Historical Tradition, p. 5,6

२—**संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०।**

नहों, ब्राह्मणों के गढ कुरु पचाल के खिलाफ भी जगी और वैदिक-सभ्यता के बाद वह समय आ गया जब इज्जत कुरु पंचाल की नही, बल्कि मगध और विदेह की होने लगी। कपिलवस्तु मे जन्म लेने के ठीक पूर्व जब तथागत स्वर्ग मे देवयोनि मे विराज रहे थे, तब की कथा है कि देवताओ ने उनसे कहा कि अब आपका अवतार होना चाहिए, अतएव आप सोच लीजिए कि किस देश और किस कुल मे जन्म-ग्रहण कीजिएगा। तथागत ने सोच समझ कर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगध देश और क्षत्रिय-वंश ही हो सकता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर वर्धमान भी पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ मे आए थे। लेकिन इन्द्र ने सोचा कि इतने बड़े महापुरुष का जन्म ब्राह्मण-वंश मे कैसे हो सकता है ? अतएव उसने ब्राह्मणी का गर्भ चुरा कर उसे एक क्षत्राणी की कुक्षी मे डाल दिया। इन कहानियो से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनो यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा-धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नही हो सकता, इसलिए बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न होने की कल्पना लोगो को बहुत अच्छी लगने लगी।"[1]

उक्त अवतरणो व अभिमतो से ये निष्कर्ष हमे सहज उपलब्ध होते हैं—

(१) आत्म-विद्या के आदि-स्रोत तीर्थङ्कर ऋषभ थे।

(२) वे क्षत्रिय थे।

(३) उनकी परम्परा क्षत्रियो मे बराबर समादृत रही।

(४) अहिंसा का विकास भी आत्म-विद्या के आधार पर हुआ।

(५) यज्ञ-संस्था के समर्थक ब्राह्मणो ने वैदिक-काल मे आत्म-विद्या को प्रमुखता नही दी।

(६) आरण्यक व उपनिषद्-काल मे वे आत्म-विद्या की ओर आकृष्ट हुए।

(७) क्षत्रियो के द्वारा उन्हे वह (आत्म-विद्या) प्राप्त हुई।

१—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १०९-११०।

प्रकरण : पाँचवाँ

१-महावीर कालीन मतवाद

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों की जटिलता का युग था। बौद्ध-साहित्य में ६२ धर्म मतवादों का विवरण मिलता है।[1] सामञ्ञफलसुत्त में छह तीर्थङ्करों का उल्लेख है। उनमें पाँचवें तीर्थङ्कर निग्गंठ नातपुत्त अर्थात् भगवान् महावीर हैं। उनके मत का चातुर्याम संवर के रूप मे उल्लेख किया गया है। अजातशत्रु भगवान् बुद्ध मे कहता है—

"भन्ते! एक दिन मैं जहाँ निग्गठ नाथपुत्त थे, वहाँ गया। जाकर निगंठ नाथपुत्त के साथ मैंने संमोदन किया —'क्या भन्ते! श्रामण्य के पालन करने का फल इसी जन्म में प्रत्यक्ष बतलाया जा सकता है।' ऐसा कहने पर भन्ते! निग्गंठ नाथपुत्त ने यह उत्तर दिया—'महाराज! निग्गंठ चार (प्रकार के) संवरों से संवृत्त (=आच्छादित,संयत) रहता है। महाराज! निग्गंठ चार संवरों से कैसे संवृत रहता है? महाराज!

(१) निग्गंठ (=निर्ग्रन्थ) जल के व्यवहार का वारण करता है (जिसमे जल के जीव न मारे जावें),

(२) सभी पापों का वारण करता है,

(३) सभी पापो के वारण करने से धुतपाप (=पाप-रहित) होता है,

(४) सभी पापो के वारण करने मे लगा रहता है। महाराज!

निग्गंठ इस प्रकार चार संवरो से संवृत्त रहता है। महाराज! क्योंकि निग्गंठ इन चार प्रकार के संवरों से सवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा (=अनिच्छुक), यतात्मा (=संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है'

"भन्ते! प्रत्यक्ष श्रामण्य फल के पूछे० निग्गंठ नातपुत्त ने चार संवरो का वर्णन किया। भन्ते! तब मेरे मन मे यह हुआ 'कैसे मुझ जैसा ०।' भन्ते! सो मैंने ०।० उठ कर चल दिया।[2]

यह संवाद वास्तविकता से दूर है। भगवान् महावीर चातुर्याम-संवर के प्रतिपादक नहीं थे। पार्श्वनाथ के चातुर्याम-धर्म को भ्रमवश निर्ग्रन्थ ज्ञात-पुत्र का चातुर्याम-सवर कहा गया है। लगता है कि संगीति में सम्मिलित बौद्ध-भिक्षु भगवान् पार्श्व के चातुर्याम

१—दीघनिकाय, १।१, पृ० ५-१५।

२—वही, १।२, पृ० २१।

धर्म से परिचित थे, किन्तु चार यामो की यथार्थ जानकारी उन्हें नहीं थी। सामञ्‍ञफलसुत्त में उल्लिखित चार याम निर्ग्रन्थ-परम्परा में प्रचलित नहीं रहे है।

भगवान् पार्श्व के चार याम थे—

(१) प्राणातिपात-विरमण।
(२) मृषावाद-विरमण।
(३) अदत्तादान-विरमण।
(४) बहिस्तात्-आदान-विरमण।[1]

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थो के लिए पाँच महाव्रतो का प्रतिपादन किया था। भगवान् पार्श्व के चौथे उत्तराधिकारी कुमार श्रमण केशी एक बार श्रावस्ती मे आए और तिन्दुक-उद्यान मे ठहरे। उन्हीं दिनो भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी भी वहाँ आए और कोष्ठक-उद्यान मे ठहरे। उन दोनो के शिष्य परस्पर मिले। उनके मन में एक तर्क खड़ा हुआ—"यह हमारा धर्म कैसा है? और यह उनका धर्म कैसा है? आचार-धर्म की व्यवस्था यह हमारी कैसी है? और वह उनकी कैसी है? जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पंच शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्द्धमान ने किया है। जबकि हम एक ही उद्देश्य से चले है तो फिर इस भेद का क्या कारण है?"[2]

अपने शिष्यो की वितर्कणा को जान कर उनका सदेह निवारण करने के लिए केशी और गौतम मिले। केशी ने गौतम से पूछा—"जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पंच शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्द्धमान ने किया है। एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हे तो फिर इस भेद का क्या कारण है? मेधाविन्! धर्म के इन दो प्रकारो में तुम्हे संदेह कैसे नही होता?" केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—"धर्म के परम अर्थ की, जिसमें लाखो का विनिश्चय होता है, सीमा प्रज्ञा से होती है। पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु और जड़ होते है। अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्र और जड होते है। बीच के तीर्थङ्करो के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए हैं। पूर्ववर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। चरमवर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार का पालन कठिन है। मध्यवर्ती साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी वे सरलता से करते हैं।"[3]

१-स्थानांग, ४।१।२६६।
२-उत्तराध्ययन, २३।११,१२,१३।
३-वही, २३।२३-२७।

गौतम ने जो उत्तर दिया उसका समर्थन स्थानांग से भी होता है।[1] उत्तरवर्ती-साहित्य में भी यह अर्थ बराबर मान्य रहा है। इसका विसंवादी प्रमाण समग्र जैन-वाङ्मय में कहीं भी नहीं है। इसलिए सामञ्ञफलसुत्त का यह उल्लेख कि श्रामण्य का फल पूछने पर 'भगवान् महावीर ने चातुर्याम-संवर का व्याकरण किया'[2]—काल्पनिक सा लगता है। बुद्ध का प्रकर्ष और शेष तीर्थङ्करों व तीर्थिकों का अपकर्ष दिखाने के लिए बौद्ध-भिक्षुओं ने एक विशिष्ट शैली अपनाई थी। पिटकों में स्थान-स्थान पर वह देखने को मिलती है।[3] इसीलिए उस शैली पर आधारित संवादों की यथार्थता की दृष्टि से बहुत महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

जैन आगमकारों की शैली इससे भिन्न है। पहली बात तो यह है कि उन्होंने अन्य तीर्थिकों के सिद्धान्त का उल्लेख किया, किन्तु उसके प्रवर्तक या प्ररूपक का उल्लेख नहीं किया। इससे उसका मूल ढूँढ़ने में कठिनाई अवश्य होती है, पर उनके अपकर्ष-प्रदर्शन का प्रसंग नहीं आता।

दूसरी बात—भगवान् महावीर का प्रकर्ष और अन्य तीर्थिकों का अपकर्ष दिखलाने वाली शैली आगमकारों ने नहीं अपनाई। तीसरी बात—बौद्ध-भिक्षुओं ने पिटकों को जो साहित्यिक रूप दिया, वह जैन-मायुओं ने आगमों को नहीं दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि पिटकों को साहित्यिक रूप मिला, उससे वे बहुत सरस और मनोरम बन गए। आगम उतने सरस नहीं बन पाए। आगम वीर-निर्वाण की सहस्राब्दी के पश्चात् लिखे गए और पिटक बुद्ध-निर्वाण के पांच सौ वर्ष बाद। फिर भी दोनों का निष्पक्ष अध्ययन करने वाला व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रहता कि पिटकों में जितना मिश्रण और परिवर्तन हुआ है, उतना आगमों में नहीं हुआ।

उत्तराध्ययन में चार वादों का उल्लेख है—(१) क्रियावाद, (२) अक्रियावाद, (३) विनयवाद और (४) अज्ञानवाद।[4]

इन चारों में विभिन्न अभ्युपगम-सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है, इसीलिए

१–स्थानांग, ५।१।३९५।

२–दीघनिकाय (पठमो भागो), सामञ्ञफलसुत्तं, पृ० ५० :
निगण्ठो नातपुत्तो सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो चातुयामसंवरं ब्याकासि।

३–मज्झिमनिकाय, २।१।६ उपालि-सुत्तन्त ; २।१।८ अभयराजकुमार-सुत्तन्त।

४–उत्तराध्ययन, १८।२३।

सूत्रकृतांग में इन्हें 'समवसरण' कहा गया है।[1] सूत्रकृतांग के निर्युक्तिकार ने इन समवसरणों में समाहृत होने वाले मतवादों की संख्या तीन सौ तिरेसठ बताई है।[2]

क्रियावादी मतवाद—	१८०
अक्रियावादी मतवाद	८४
विनयवादी मतवाद—	३२
अज्ञानवादी मतवाद	६७
	३६३

इन सब मतवादों और उनके आचार्यों के नाम प्राप्त नहीं हैं, किन्तु जैनों के प्रकीर्ण-ग्रन्थ[3] और बौद्ध एवं वैदिक-साहित्य के संदर्भ में इनके कुछ नामों का पता लगाया जा सकता है।

२-जैन धर्म और क्षत्रिय

जैन दर्शन क्रियावादी है।[4] इस विचारधारा ने बहुत व्यक्तियों को प्रभावित किया था। उत्तराध्ययन में उन व्यक्तियों की एक लम्बी तालिका है, जो इस क्रियावादी विचारधारा से प्रभावित होकर श्रमण बने थे।

क्षत्रिय राजा	ब्राह्मण
(१) विदेहराज नमि (अ० ९)	(१) भृगु (अ० १४)
(२) इषुकार (अ० १४)	(२) यशा (अ० १४)
(३) कमलावती रानी (अ० १४)	(३) दो भृगु पुत्र (अ० १४)
(४) संजय (अ० १८)	(४) गौतम (अ० २४)
(५) एक क्षत्रिय (अ० १८)	(५) जयघोष (अ० २५)
(६) गर्दभालि (अ० १८)	(६) विजयघोष (अ० २५)
(७) भरत चक्रवर्ती (अ० १८)	(७) गर्ग (अ० २७)

१—सूत्रकृतांग, १।१२।१।

२—वही, निर्युक्ति, गाथा ११६ :

असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीती।
अन्नाणियं सतट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा॥

३—(क) षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १, पुस्तक २, पृ० ४२।

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ८।१, पृ० ६५२।

(ग) देखिए—उत्तराध्ययन, १८।२३ का टिप्पण।

४—उत्तराध्ययन, १८।३३।

(८) सगर चक्रवर्ती (अ०१८)
(९) मघवा चक्रवर्ती (अ०१८)
(१०) सनत्कुमार चक्रवर्ती (अ०१८)
(११) शान्ति चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर (अ०१८)
(१२) कुन्थु तीर्थङ्कर (अ०१८)
(१३) अर तीर्थङ्कर (अ०१८)
(१४) महापद्म चक्रवर्ती (अ०१८)
(१५) हरिषेण चक्रवर्ती (अ०१८)
(१६) जय चक्रवर्ती (अ०१८)
(१७) दशार्णभद्र (अ०१८)
(१८) करकण्डु (अ०१८)
(१९) द्विमुख (अ०१८)
(२०) नग्नजित् (अ०१८)
(२१) उद्रायण (अ०१८)
(२२) काशीराज (अ०१८)
(२३) विजय (अ०१८)
(२४) महाबल (अ०१८)
(२५) मृगापुत्र (अ०१९)
(२६) अरिष्टनेमि (अ०२२)
(२७) राजीमती (अ०२२)
(२८) रथनेमि (अ०२२)
(२९) केशी (अ०२३)

वैश्य
(१) संभूत (अ०१३)
(२) अनाथी (अ०२०)
(३) समुद्रपाल (अ०२१)

चाण्डाल
(१) हरिकेशबल (अ०१२)
(२) चित्र (अ०१३)
(३) संभूत (पूर्वजन्म) (अ०१३)

इस तालिका के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस क्रियावादी (या आत्मवादी) विचारधारा ने क्षत्रियों को अधिक प्रभावित किया था। इतिहास की यह विचित्र घटना है कि जो धारा क्षत्रियों से उद्भूत हुई और सभी जातियो को प्रभावित करती हुई भी उनमें सतत प्रवाहित रही, वही धारा आगे चल कर केवल वैश्य-वर्ग मे सिमट गई।

समग्र आगमो के अध्ययन से हम जान पाते हैं कि निर्ग्रन्थ-संघ में हजारो ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र निर्ग्रन्थ थे। किन्तु उनमें प्रचुरता क्षत्रियों की ही थी। इस प्रसंग में हमें इस विषय पर संक्षिप्त विवेचन करना है कि जैन-धर्म केवल वैश्य-वर्ग मे सीमित क्यो हुआ ?

३-भगवान् महावीर का विहार-क्षेत्र

भगवान् महावीर का विहार-क्षेत्र प्रमुखतः वर्तमान बिहार, बंगाल और उत्तरप्रदेश था। जैन-साहित्य में साढे पच्चीस देशों को आर्य-देश कहा गया है—

आर्य-देश	राजधानी
मगध	राजगृह
अंग	चम्पा
बंग	ताम्रलिप्ति
कलिंग	कांचनपुर
काशी	वाराणसी
कौशल	साकेत
कुरु	गजपुर (हस्तिनापुर)
पांचाल	काम्पिल्य
जंगल (जांगल)	अहिच्छत्र
सौराष्ट्र	द्वारावती
विदेह	मिथिला
वत्स	कौशाम्बी
शांडिल्य	नन्दिपुर
मलय	भद्दिलपुर
मत्स्य	वैराट
अत्स्य (अच्छ)	वरुणा
दशार्ण	मृत्तिकावती
चेदि	शुक्तिमती
सिन्धु-सौवीर	वीतभय
शूरसेन	मथुरा
भंगी	पावा
वर्त्त	मासपुरी
कुणाल	श्रावस्ती
लाढ	कोटिवर्ष
केकय	श्वेतांबिका[1]

१—प्रज्ञापना, पद १।

किन्तु भगवान् महावीर ने साधुओं के विहार के लिए आर्य-क्षेत्र की जो सीमा की, वह उक्त सीमा से छोटी है---

(१) पूर्व दिशा में	अंग और मगध
(२) दक्षिण दिशा में	कौशाम्बी
(३) पश्चिम दिशा में	स्थूणा-कुरुक्षेत्र
(४) उत्तर दिशा में	कुणाल देश[1]

इस विहार-सीमा से यह प्रतीत होता है कि जैनों का प्रभाव-क्षेत्र मुख्यतः यही था। महावीर के जीवन-काल में ही सम्भवतः जैन-धर्म का प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत हो गया था। विहार की यह सीमा तीर्थ-स्थापना के कुछ वर्षों बाद ही की होगी। जीवन के उत्तर-काल में भगवान् महावीर स्वयं अवन्ति (उज्जैन) सिन्धु, सौवीर आदि प्रदेशों में गए थे।

हरिवंशपुराण के अनुसार भगवान् महावीर बाल्हीक (बैक्ट्रिया, बलख), यवन (यूनान), गांधार (आधुनिक अफगानिस्तान का पूर्वी भाग), कम्बोज (पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त) में गए थे।[2] बंगाल की पूर्वीय सीमा (संभवतः बर्मी सरहद) तक भी भगवान् के विहार की संभावना की जाती है।[3]

४-विदेशों में जैन-धर्म

जैन-साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य-देशों में विहार किया था।[4] सूत्रकृतांग के एक श्लोक में अनार्य का अर्थ 'भाषा-भेद' भी फलित होता है।[5] इस अर्थ की छाया में हम कह सकते हैं कि चार तीर्थङ्करों ने उन देशों में भी विहार किया, जिनकी भाषा उनके मुख्य विहार-क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी।

भगवान् ऋषभ ने बहली (बैक्ट्रिया, बलख), अडबइल्ला (अटकप्रदेश), यवन (यूनान), सुवर्णभूमि (सुमात्रा), पण्हव आदि देशों में विहार किया।[6] पण्हव का सम्बन्ध प्राचीन पार्थिया (वर्तमान ईरान का एक भाग) से है या पल्हव से, यह निश्चित नहीं कहा जा

१--बृहत्कल्प, भाग ३, पृ० ९०५।
२--हरिवंशपुराण, सर्ग ३, श्लोक ५।
३--सुवर्णभूमि में कालकाचार्य, पृ० २२।
४--आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा २५६।
५--सूत्रकृतांग, १।१।२।१५।
६--आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ३३६-३३७।

सकता। भगवान् अरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलय देश मे गए थे।[1] जब द्वारका-दहन हुआ था तब अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य-देश में थे।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाड, लाट, द्राविड, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था।[3] दक्षिण में कर्णाटक, कोकण, पल्लव, द्राविड आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश है। इसकी पहिचान शाक्य-देश या शाक्य-द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहाँ भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान् बुद्ध का चाचा स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था।[4] शाक्य-प्रदेश मे भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत संभव है। भारत और शाक्य-प्रदेश का बहुत प्राचीन-काल से सम्बन्ध रहा है।

भगवान् महावीर वज्रभूमि, सुम्हभूमि, दृढभूमि आदि अनेक अनार्य-प्रदेशो में गए थे। वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक भी गए थे।

उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त एव अफगानिस्तान में विपुल संख्या मे जैन-श्रमण विहार करते थे।[5]

जैन-श्रावक समुद्र पार जाते थे। उनकी समुद्र-यात्रा और विदेश-व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन-श्रावक थे, इसका उल्लेख बौद्ध-साहित्य में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई० पू० ४३० में जब अनुराधापुर बसा, तब जैन-श्रावक वहाँ विद्यमान थे। वहाँ अनुराधापुर के राजा पाण्डुकाभय ने ज्योतिय निगंठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरि नामक निगंठ रहते थे। राजा पाण्डुकाभय ने कुम्भण्ड निगंठ के लिए एक देवालय बनवाया था।[6]

जैन-श्रमण भी सुदूर देशो तक विहार करते थे। ई० पू० २५ में पाण्ड्य राजा ने अगस्टस् सीजर के दरबार मे दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गए थे।[7]

१–हरिवंशपुराण, सर्ग ५९, श्लोक ११२।

२–सुखबोधा, पत्र ३९।

३–सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित्र, १५।७६-८५; २३।१७-१९।

४–अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा, भाग २, पृ० ५५९।

५–(क) जनरल ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, जनवरी १८८५।

(ख) एन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑफ इण्डिया, पृ० ६१७।

६–महावंश, परिच्छेद १०, पृ० ५५।

७–इंडियन हिस्टोरीकल क्वाटर्ली, भाग २, पृ० २९३।

जी० एफ० मूर के अनुसार ईसा से पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय-साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। ये साधु वस्त्रों तक का परित्याग किए हुए थे।[१]

इस्लाम-धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे —साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।[२]

यूनानी लेखक मिस्र, एबीसीनिया, इथ्यूपिया में दिगम्बर-मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।[३]

आर्द्र देश का राजकुमार आर्द्र भगवान् महावीर के संघ में प्रव्रजित हुआ था।[४] अरबिस्तान के दक्षिण में 'एडन' बंदर वाले प्रदेश को 'आर्द्र-देश' कहा जाता था।[५] कुछ विद्वान् इटली के एड्रियाटिक समुद्र के किनारे वाले प्रदेश को आर्द्र-देश मानते हैं।[६]

बेबीलोनिया में जैन-धर्म का प्रचार बौद्ध-धर्म का प्रसार होने से पहले ही हो चुका था। इसकी सूचना बावेरु-जातक से मिलती है।[७]

इब्न-अन नजीम के अनुसार अरबों के शासन-काल में यहिया इब्न खालिद बरमकी ने खलीफा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदर के साथ भारत के हिन्दू, बौद्ध और जैन विद्वानों को निमंत्रित किया।[८]

इस प्रकार मध्य एशिया में जैन-धर्म या श्रमण-संस्कृति का काफी प्रभाव रहा था। उससे वहां के धर्म प्रभावित हुए थे। वानक्रेमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है।[९]

१–हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४।
२–वही, पृ० ३७४।
३–एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ३, पृ० ६।
४–सूत्रकृतांग, २।६।
५–प्राचीन भारतवर्ष, प्रथम भाग, पृ० २६५।
६–वही, प्रथम भाग, पृ० २६५।
७–बावेरु जातक, (सं० ३३६), जातक खण्ड ३, पृ० २८९-२९१।
८–हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७५।
९–वही, पृ० ३७४।

श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने लिखा है—"इन साधुओं के त्याग का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेष रूप से पड़ा। इन आदर्शों का पालन करने वालों की, यहूदियों में, एक खास जमात बन गई, जो 'ऐस्सिनी' कहलाती थी। इन लोगों ने यहूदी-धर्म के कर्म-काण्डों का पालन त्याग दिया। ये बस्ती से दूर जंगलों में या पहाड़ों पर कुटी बना कर रहते थे। जैन-मुनियों की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मांस खाने से उन्हें बेहद परहेज था। वे कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धन को छूने तक से इन्कार करते थे। रोगियों और दुर्बलों की सहायता को दिन-चर्या का आवश्यक अङ्ग मानते थे। प्रेम और सेवा को पूजा-पाठ से बढ़ कर मानते थे। पशु-बलि का तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रम से ही जीवन-यापन करते थे। अपरिग्रह के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। समस्त सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति समझते थे। मिस्र में इन्हीं तपस्वियों को 'थेरापुते' कहा जाता था। 'थेरापुते' का अर्थ 'मौनी अपरिग्रही' है।"[1]

कालकाचार्य सुवर्णभूमि (सुमात्रा) में गए थे। उनके प्रशिष्य श्रमण सागर अपने गण-सहित वहाँ पहले ही विद्यमान थे।[2]

कौंचद्वीप[3], सिंहलद्वीप (लंका) और हंसद्वीप में भगवान् सुमतिनाथ की पादुकाएँ थीं। पारकर देश और कासह्रद में भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा थी।[4]

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जैन-धर्म का प्रसार हिन्दुस्तान से बाहर के देशों में भी हुआ था। उत्तरवर्ती श्रमणों की उपेक्षा व अन्यान्य परिस्थितियों के कारण वह स्थायी नहीं रह सका।

१–हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४।
२–(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १२०।
  (ख) वही, बृहद्वृत्ति, पत्र १२७-१२८।
  (ग) वही, चूर्णि, पृ० ८३-८४।
  (घ) वही, वृत्ति (सुखबोधा), पृ० ५०।
  (ङ) बृहत्कल्प, भाष्य, भाग १, पृ० ७३,७४।
  (च) निशीथ चूर्णि, उद्देशक १०।
३–कर्नल विल्फर्ड के अनुसार क्रौंचद्वीप का सम्बन्ध बाल्टिक समुद्र के पार्श्ववर्ती प्रदेश से है (एशियाटिक रिसर्चेज, खण्ड ११, पृ० १४)। स्वर्गीय राजवाड़े के मतानुसार घृत समुद्र के पश्चिम में क्रौंचद्वीप था। जिस प्रदेश में वर्तमान समरकन्द तथा बुखारा शहर बसे हुए हैं, वह प्रदेश वास्तव में 'क्रौंचद्वीप' कहलाता था।
४–विविधतीर्थकल्प, पृ० ८५।

५–जैन-धर्म–हिन्दुस्तान के विविध अंचलों में

विहार

भगवान् महावीर के समय में उनका धर्म प्रजा के अतिरिक्त अनेक राजाओं द्वारा भी स्वीकृत था। वृज्जियों के शक्तिशाली गणतंत्र के प्रमुख राजा चेटक भगवान् महावीर के श्रावक थे। वे पहले से ही जैन थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा को मान्य करते थे।[1] वृज्जी गणतंत्र की राजधानी 'वैशाली' थी। वहाँ जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था।

मगध सम्राट् श्रेणिक प्रारम्भ मे बुद्ध का अनुयायी था।[2] अनाथी मुनि के सम्पर्क में आने के पश्चात् वह निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी हो गया था। इसका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में है। श्रेणिक की रानी चेल्लणा चेटक की पुत्री थी। यह श्रेणिक को निर्ग्रन्थ-धर्म का अनुयायी बनाने का सतत प्रयत्न करती थी और अन्त मे उसका प्रयत्न सफल हो गया। मगध में भी जैन-धर्म प्रभावशाली था। श्रेणिक का पुत्र कूणिक भी जैन था। जैन-आगमो मे महावीर और कूणिक के अनेक प्रसंग हैं।

मगध शासक शिशुनाग-वंश के बाद नन्द वंश का प्रभुत्व बढा। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायचौधरी के अनुसार नन्द-वंश का राज्य बम्बई के सुदूर दक्षिण गोदावरी तक फैला हुआ था।[3] उस समय मगध और कलिंग मे जैन-धर्म का प्रभुत्व था ही, परन्तु अन्यान्य प्रदेशों मे भी उसका प्रभुत्व बढ रहा था।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार "जैन-ग्रन्थो को भी नौ नन्दो का परिचय है (आवश्यक सूत्र, पृ० ६९३—नवमे नन्दे)। उनमे भी नन्द को वेश्या के गर्भ से उत्पन्न 'नापित-पुत्र' कहा है (वही, पृ० ६९०—नापितदास "राजा जातः) परन्तु उदायि और नौ नन्दो के बीच के राजा उन्होंने छोड दिये। संभवत उन्हें नगण्य समझकर नहीं लिया।

"जैन-धर्म के प्रति नन्दो के झुकाव का कारण संभवत उसकी जाति थी। पहले नंद को छोड़कर और नंदो के विरुद्ध जैन-ग्रन्थो मे कुछ नही कहा है। नंद राजाओं के मंत्री

१–उपदेशमाला, गाथा ९२ :
वेसालीए पुरीए सिरिपासजिणेससासणसणाहो।
हेहयकुलसंभूओ चेडगनामा निवो आसि॥

२–दीघनिकायो (पढमो भागो), पृ० १३५ :
समणं खलु भो गोतमं राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सपुत्तो सभारियो सपरिसो सामच्चो पाणेहि सरणं गतो।

३–स्टडीज इन इण्डियन एन्टीक्वीटीज, पृ० २१५।

जैन थे। उनमें पहला कल्पक था जिसे बलात् यह पद संभालना पड़ा। कहा जाता है कि इसी मंत्री की विशेष सहायता पा कर सम्राट् नंद ने तुल्यकालीन क्षत्रिय-वंशों के अन्त करने के लिए अपनी सैनिक विजय की योजना की। उत्तरकालीन नन्दों के मंत्री उसी के वंशज थे (वही, ६९१-३)। नौ नंद का मंत्री शकटाल था। उसके दो पुत्र थे—स्थूलभद्र और श्रीयक। पिता की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मंत्रि-पद दिया गया, पर उसने स्वीकार नहीं किया। वह छठे जिन से दीक्षा लेकर साधु हो गया (वही, ४३५-६ ; ६९३-५), तब वह पद उसके भाई श्रीयक को दिया गया।

"नंदों पर जैनों के प्रभाव की अनुश्रुति को बाद के संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' में भी माना गया है। वहाँ चाणक्य ने एक जैन को ही अपना प्रधान गुप्तचर चुना है। नाटक की सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर भी कुछ अंश में जैन-प्रभाव है।

"खारवेल के हाथीगुफा लेख से कलिंग पर नन्द की प्रभुता ज्ञात होती है। एक वाक्य में उसे 'नन्द राजा' कहा गया है जिसने एक प्रणाली या नहर बनाई थी, जो ३०० वर्ष (या १०३ ?) वर्षों तक काम में न आई। तब अपने राज्य के पाँचवें वर्ष में खारवेल उसे अपने नगर में लाया। दूसरे वाक्य में कहा गया है कि नन्द राजा प्रथम जिनकी मूर्ति (या पादुका), जो कलिंग राजाओं के यहाँ वंश-परम्परा से चली आ रही थी, विजय के चिह्न रूप मगध उठा ले गया।"[1]

नन्द-वंश की समाप्ति हुई और मगध की साम्राज्यश्री मौर्य-वंश के हाथ में आई। उसका पहला सम्राट् चन्द्रगुप्त था। उसने उत्तर-भारत में जैन धर्म का बहुत विस्तार किया। पूर्व और पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए। सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने अंतिम जीवन में मुनि बने और श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण में गए थे। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार और उनके पुत्र अशोकश्री (सम्राट् अशोक) हुए। ऐसा माना जाता है कि वे प्रारम्भ में जैन थे, अपने परम्परागत धर्म के अनुयायी थे और बाद में बौद्ध हो गए।[2]

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि वे अन्त तक जैन ही थे। प्रो० कर्न के अनुसार "अहिंसा के विषय में अशोक के नियम बौद्ध-सिद्धान्तों की अपेक्षा जैन-सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं।"[3]

१–हिन्दू सभ्यता, पृ० २६४-२६५।

२–अर्ली फेथ ऑफ अशोक (थॉमस) पृ० ३१-३२,३४।

३–. Indian Antiquery, Vol. V, page 205

His (Ashoka's) ordinances concerning the sparing of animal life agree much more closely with the idieas of historical Jainas then those of the Buddhists.

अशोक के उत्तराधिकारी उनके पौत्र सम्प्रति थे। कुछ इतिहासज्ञ उनका उत्तराधिकारी उनके पुत्र कुणाल (सम्प्रति के पिता) को ही मानते हैं।[1]

जिनप्रभ सूरि के अनुसार मौर्य-वंश की राज्यावलि का क्रम इस प्रकार है—

(१) चन्द्रगुप्त।
(२) बिन्दुसार।
(३) अशोकश्री।
(४) कुणाल।
(५) सम्प्रति।[2]

किन्तु कुछ जैन लेखकों के अनुसार कुणाल अन्धा हो गया था, इसलिए उसने अपने पुत्र सम्प्रति के लिए ही सम्राट् अशोक से राज्य माँगा था।[3]

सम्राट् सम्प्रति को 'परम आर्हत्' कहा गया है। उन्होंने अनार्य-देशों में श्रमणों का विहार करवाया था।[4] भगवान् महावीर के काल में विहार के लिए जो आर्य-क्षेत्र की सीमा थी, वह सम्प्रति के काल में बहुत विस्तृत हो गई थी।[5] साढ़े पच्चीस देशों को आर्य-क्षेत्र मानने की बात भी सम्भवतः सम्प्रति के बाद ही स्थिर हुई होगी।

सम्राट् सम्प्रति को भरत के तीन खण्डों का अधिपति कहा गया है। जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है—"सम्प्रति को उज्जैन में जैन आचार्य सुहस्ती ने अपने धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद सम्प्रति ने जैन-धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध-धर्म के लिए किया था। चाहे चन्द्रगुप्त के और चाहे सम्प्रति के समय में जैन-धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नए राज्यों में भी जा जमी, इसमें संदेह नहीं। उत्तर-पश्चिम के अनार्य-देशों में भी सम्प्रति के समय जैन-प्रचारक भेजे और वहाँ जैन-साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किए गए। अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्य में आर्य

१—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृ० ६९६।

२—विविधतीर्थकल्प, पृ० ६९।
तत्रैव च चाणिक्य-सचिवो नन्दं समूलमुन्मूल्य मौर्यवंश्यं श्रीचन्द्रगुप्तं न्यधीशद्विशांपतित्वे। तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीःकुणालस्तत्सूनुस्त्रिखण्डभारताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहारः सम्प्रतिमहाराजश्चाभवत्॥

३—विशेषावश्यक भाष्य, पृ० २७६।

४—विविधतीर्थकल्प, पृ० ६९।

५—बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति, भाग ३, पृ० ९०७ :
'ततः परं' बहिर्देशेषु अपि सम्प्रतिनृपतिकालादारभ्य यत्र ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि 'उत्सर्पन्ति' स्फातिमासादयन्ति तत्र विहर्तव्यम्।

संस्कृति एक विश्व-शक्ति बन गई और आर्यावर्त का प्रभाव भारतवर्ष की सीमाओ के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उसके पौत्र ने भी अनेक इमारतें बनवाई। राजपूताना की कई जैन रचनाएँ उसके समय की कही जाती हैं।"[1] कुछ विद्वानो का अभिमत है कि जो शिला-लेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सम्राट् सम्प्रति ने लिखवाए थे।[2] सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् श्री सूर्यनारायण व्यास ने एक बहुत खोजपूर्ण लेख द्वारा यह प्रमाणित किया है कि सम्राट् अशोक के नाम के लेख सम्राट् सम्प्रति के हैं।[3]

सम्राट् अशोक ने शिला-लेख लिखवाए हो और उन्हीं के पौत्र तथा उन्हीं के समान धर्म-प्रचार-प्रेमी सम्राट् सम्प्रति ने शिला-लेख न लिखवाए हो, यह कल्पना नहीं की जा सकती। एक बार फिर सूक्ष्म-दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है कि अशोक के नाम से प्रसिद्ध शिला-लेखो में कितने अशोक के हैं और कितने सम्प्रति के ?

बंगाल

राजनीतिक-दृष्टि से प्राचीन-काल में बंगाल का भाग्य मगध के साथ जुड़ा हुआ था। नन्दो और मौर्यो ने गंगा की उस नीचली घाटी पर अपना स्वत्व बनाए रखा। कुषाणो के समय मे बंगाल उनके शासन से बाहर रहा, परन्तु गुप्तो ने उस पर अपना अधिकार फिर स्थापित किया। गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् बंगाल में छोटे छोटे अनेक राज्य उठ खडे हुए।[4]

मुनि कल्याणविजयजी के अनुसार प्राचीन-काल में बंग शब्द से दक्षिण बंगाल का ही बोध होता था, जिसकी राजधानी 'ताम्रलिप्ति' थी, जो आज कल तामलुक नाम से प्रसिद्ध है। बाद मे धीरे-धीरे बंगाल की सीमा बढी और वह पाँच भागों में भिन्न-भिन्न नामो से पहिचाना जाने लगा—बंग (पूर्वी बंगाल), समतट (दक्षिणी बंगाल), राढ अथवा कर्ण सुवर्ण (पश्चिमी बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल), कामरूप (आसाम)।[5]

भगवान् महावीर वज्रभूमि (वीर भूमि) मे गए थे। उस समय वह अनार्य प्रदेश कहलाता था। उससे पूर्व बंगाल में भगवान् पार्श्व का धर्म ही प्रचलित था। वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार जैन-धर्म के बाद मे हुआ। वैदिक-धर्म का प्रवेश तो वहाँ बहुत बाद मे

१—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृ० ६९६-६९७।
२—जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान, पृ० ६६।
३—नागरी प्रचारिणी।
४—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २६५।
५—श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३८६।

हुआ था। ई० स० ९८६ में राजा आदिसूर ने नैतिक धर्म के प्रचार के लिए पाँच ब्राह्मण निमन्त्रित किए थे।[1]

भगवान् महावीर के मानवें पट्टधर श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु पौण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) के प्रमुख नगर कोट्टपुर के सोमशर्म पुरोहित के पुत्र थे।[2]

उनके शिष्य स्थविर गोदास से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उसकी चार शाखाएँ थीं—

(१) तामलित्तिया।
(२) कोडिवरिसिया।
(३) पुडवद्धणिया (पौंडवद्धणिया)।
(४) दासीखब्बडिया।[3]

तामलित्तिया का सम्बन्ध बंगाल की मुख्य राजधानी ताम्रलिप्ती से है। कोडिवरिसिया का सम्बन्ध राढ की राजधानी कोटिवर्ष से है। पोडवद्धणिया का सम्बन्ध पौड्—उत्तरी बंगाल से है। दासी खब्बडिया का सम्बन्ध खरवट से है। इन चारो बंगाली शाखाओ से बंगाल मे जैन-धर्म के सार्वजनिक प्रसार की सम्यक् जानकारी मिलती है।

शान्तिनिकेतन के उपकुलपति आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'बगाल और जैन-धर्म' शीर्षक लेख मे लिखा है—"भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व प्रदेशो अर्थात् अंग, बंग, कलिग, मगध, काकट (मिथिला) आदि में वैदिक-धर्म का प्रभाव कम तथा तीर्थिक प्रभाव अधिक था। फलत श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रो मे यह प्रदेश निदा के पात्र के रूप में उल्लिखित था। इसी प्रकार उस प्रदेश मे तीर्थ-यात्रा करने से प्रायश्चित्त करना पडता था।

श्रुति और स्मृति के शासन से बाहर पड जाने के कारण इस पूर्वी अंचल में प्रेम, मैत्री और स्वाधीन चिन्ता के लिए बहुत अवकाश प्राप्त हो गया था। इसी देश में महावीर, बुद्ध, आजीवक धर्म गुरु इत्यादि अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया और इसी प्रदेश में जैन, बौद्ध प्रभृति अनेक महान् धर्मों का उदय तथा विकास हुआ। जैन और बौद्ध-धर्म

१–बंगला भाषार इतिहास, पृ० २७.
आसीत् पुरा महाराज, आदिशूरः प्रतापवान्।
आनीतवान् द्विजान् पञ्च, पंचगोत्रसमुद्भवान्॥
२–भद्रबाहु चरित्र, १।२२-४८।
३–पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग, पृ० ३,४।
थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थं णं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारी साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा—तामलित्तिया १, कोडिवरिसिया २, पुंडुवद्धणिया (पोंडवद्धणिया) ३, दासीखब्बडिया ४।

यद्यपि मगध में ही उत्पन्न हुए तथापि इनका प्रचार और विलक्षण प्रसार बंग देश में ही हुआ। इस दृष्टि से बंगाल और मगध एक ही स्थल पर अभिषिक्त माने जा सकते हैं।

"बंगाल में कभी बौद्ध-धर्म की बाढ़ आई थी, किन्तु उससे पूर्व यहाँ जैन-धर्म का ही विशेष प्रसार था। हमारे प्राचीन धर्म के जो निदर्शन हमें मिलते हैं, वे सभी जैन हैं। इसके बाद आया बौद्ध-युग। वैदिक-धर्म के पुनरुत्थान की लहरें भी यहाँ आकर टकराईं, किन्तु इस मतवाद में भी कट्टर कुमारिलभट्ट को स्थान नहीं मिला। इस प्रदेश में वैदिक मत के अन्तर्गत प्रभाकर को ही प्रधानता मिली और प्रभाकर थे स्वाधीन विचारधारा के पोषक तथा समर्थक। जैनो के तीर्थङ्करों के पश्चात् चार श्रुतकेवली आए। इनमें चौथे श्रुतकेवली थे भद्रबाहु।

" 'ये भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के गुरु थे। उनके समय में एक बार बारह वर्ष व्यापी अकाल की सम्भावना दिखाई दी थी। उस समय वे एक बडे संघ के साथ बंगाल को छोड कर दक्षिण चले गए और फिर वहीं रह गए। वहीं उन्होंने देह त्यागी। दक्षिण का यह प्रसिद्ध जैन-महातीर्थ *'श्रवणबेलगोला'* के नाम से प्रसिद्ध है। *दुर्भिक्ष के समय इतने बडे संघ को* लेकर देश में रहने से गृहस्थों पर बहुत बडा भार पडेगा, इसी विचार से भद्रबाहु ने देश-परित्याग किया था।

"भद्रबाहु की जन्मभूमि थी बंगाल। यह कोई मनगढन्त कल्पना नहीं है। हरिसेन कृत बृहत्कथा में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। रत्ननन्दी गुजरात के निवासी थे, उन्होने भी भद्रबाहु के सम्बन्ध मे यही लिखा है। तत्कालीन बंग देश का जो वर्णन रत्न-नन्दी ने किया है, इसकी तुलना नही मिलती।

"इनके अनुसार भद्रबाहु का जन्म-स्थान पुड्रवर्धन के अन्तर्गत कोटवर्ष नाम का ग्राम था। ये दोनों स्थान आज बाँकुडा और दिनाजपुर जिलों में पड़ते हैं। इन सब स्थानों में जैन-मत की कितनी प्रतिष्ठा हुई थी, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वहाँ से राढ और तामलुक तक सारा इलाका जैन-धर्म से प्लावित था। उत्तर बंग, पूर्व बंग, मेदनीपुर, राढ और मानभूम जिले में बहुत सी मूर्तियाँ मिलती हैं। मानभूम के अन्तर्गत पातकूम स्थान में भी जैन-मूर्तियाँ मिली हैं, सुन्दर वन के जङ्गलों में भी धरती के नीचे से कई मूर्तियाँ संगृहीत की गई हैं। बाँकुड़ा जिला की सराक जाति उस समय जैन-श्रावक शब्द के द्वारा परिचित थी। इस प्रकार बंगाल किसी समय जैन-धर्म का एक प्रधान क्षेत्र था। जब बौद्ध-धर्म आया, तब उस युग के अनेकों पण्डितों ने उसे जैन-धर्म की एक शाखा के रूप में ही ग्रहण किया था।

"इन जैन-साधुओं के अनेक संघ और गच्छ हैं। इन्हें हम साधक-सम्प्रदाय या मण्डली कह सकते हैं। बंगाल में इस प्रकार की अनेक मण्डलियाँ थीं। पुण्ड्रवर्धन और कोटिवर्ष

एक-दूसरे के निकट ही है, किन्तु वहाँ भी पुड्वर्धनीय और कोटिवर्षीय नाम की दो स्वतंत्र शाखाएँ प्रचलित थी। ताम्रलिप्ति में ताम्रलिप्ति-शाखा का प्रचार था। खरवट भू-भाग में खरवटिया-शाखा का प्रचार था। इस प्रकार और भी बहुत सी शाखाएँ पल्लवित हुई थी, जिनके आधार पर हम कह सकते है कि बंगाल जैनो की एक प्राचीन भूमि है। यही जैनो के प्रथम शास्त्र-रचयिता भद्रबाहु का उदय हुआ था। यहाँ की धरती के नीचे अनेक जैन-मूर्तियाँ छिपी हुई है और धरती के ऊपर अनेक जैन-धर्मावलम्बी आज भी निवास करते हैं।"[1]

उड़ीसा

ई० पू० दूसरी शताब्दी मे उडीसा मे जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था। सम्राट् खारवेल का उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुफा का शिलालेख इसका स्वयं प्रमाण है। लेख का प्रारम्भ—'नमो अरहंतानं, नमो मव-सिधान'—इस वाक्य से होता है।[2]

उत्तर प्रदेश

भगवान् पार्श्व वाराणसी के थे। काशी और कौशल—ये दोनो राज्य उनके धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित थे। वाराणसी का अलक्ष्य राजा भी भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था। उत्तराध्ययन में प्रव्रजित होने वाले राजाओ की सूची मे काशीराज के प्रव्रजित होने का उल्लेख है, किन्तु उनका नाम यहाँ प्राप्त नही है। स्थानांग में भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित आठ राजाओं के नाम ये हैं—

(१) वीराङ्गक,
(२) वीरयशा,
(३) संजय,
(४) ऐणेयक (प्रदेशी का सामन्त राजा),
(५) सेय (आमलकप्पा का स्वामी),
(६) शिव (हस्तिनापुर का राजा),
(७) उद्रायण (सिन्धु-सौवीर का राजा) और
(८) शंख (काशीवर्धन)।[3]

इनमें शंख को 'काशी का बढाने वाला' कहा है। संभव है उत्तराध्ययन में यही काशीराज के नाम से उल्लिखित हों। विपाक के अनुसार काशीराज अलक भगवान्

१—जैन भारती, १० अप्रैल १९५५, पृ० २६४।
२—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय खण्ड, पृ० २६-२८।
३—स्थानांग, ८।६२१।

महावीर के पास प्रव्रजित हुए थे। संभव है ये सब एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हों। इस प्रकार और भी अनेक राजा भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुए।[1] भगवान् महावीर के बाद मथुरा जैन-धर्म का प्रमुख अंग बन गया था।

मथुरा

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने उज्जैन के बाद दूसरा केन्द्र मथुरा को माना है। उन्होंने लिखा है—"जैनों का दूसरा केन्द्र मथुरा में बन रहा था। यहाँ बहुसंख्यक अभिलेख मिले हैं, और फूलते-फलते जैन-संघ के अस्तित्व का प्रभाव मिलता है। इस संघ में महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिनो की मूर्तियाँ और चैत्यों की स्थापना दान द्वारा की गई थी। उनसे यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा-संघ स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर था और छोटे-छोटे गण, कुल और शाखाओं में बँटा हुआ था। इनमें सबसे पुराना लेख कनिष्क के ६वें वर्ष (लगभग ८७ ई०) का है और इसमें कोटिक गण के आचार्य नागनन्दी की प्रेरणा से जैन उपासिका विकटा द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। स्थविरावली के अनुसार इस गण की स्थापना स्थविर सुस्थित ने की थी जो महावीर के ३१३ वर्ष बाद अर्थात् १५४ ई० पूर्व में गत हुए। इस प्रकार इस लेख से श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता द्वितीय शती ई० पू० तक जाती है। मथुरा के कुछ लेखों में भिक्षुणियों का भी उल्लेख है। इससे भी श्वेताम्बरों का सम्बन्ध सूचित होता है, क्योंकि वे ही स्त्रियों को संघ-प्रवेश का अधिकार देते हैं।"[2]

डॉ० वासुदेव उपाध्याय के अनुसार—"ईसवी सन् के आरम्भ से मथुरा के समीप इस मत का अधिक प्रचार हुआ था। यही कारण है कि कंकाली टीले की खुदाई से अनेक तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। उन पर दानकर्त्ता का नाम भी उल्लिखित है। वहाँ के आयागपट्ट पर भी अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें वर्णन है कि अमोहिनी ने पूजा निमित्त इसे दान में दिया था—

> अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पालघोषेन पोठघोषेन।
> धनघोषेन आर्यवती (आयागपट्ट) प्रतिथापिता॥

"वह लेख 'नमो अरहनो वर्धमानस' जैन-मत से उसका सम्बन्ध घोषित करता है।"[3]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा के एक स्तूप, जो जैन-आचार्यों द्वारा सुदूर अतीत में निर्मित माना जाता था, की प्राचीनता का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है—"तिब्बत के विद्वान् बौद्ध-इतिहास के लेखक तारानाथ ने अशोक-कालीन शिल्प के

१—तीर्थङ्कर महावीर, भाग २, पृ० ६०५-६६४।

२—हिन्दू सभ्यता, पृ० २३५।

३—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १२४।

निर्माताओं को 'यक्ष' कहा है और लिखा है कि मौर्यकालीन शिल्पकला यक्षकला थी। उससे पूर्व युग की कला देव निर्मित समझी जाती थी। अतएव देव निर्मित' शब्द की यह ध्वनि स्वीकार की जा सकती है कि मथुरा का 'देव निर्मित' जैन स्तूप मौर्य-काल से भी पहले लगभग पाँचवी या छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में बना होगा। जैन विद्वान् जिनप्रभ सूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प ग्रन्थ में मथुरा के इस प्राचीन स्तूप के निर्माण और जीर्णोद्धार की परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह माना जाता था कि मथुरा का यह स्तूप आदि में सुवर्णमय था। उसे कुबेरा नाम की देवी ने सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्व की स्मृति में बनवाया था। कालान्तर में तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय में इसका निर्माण ईंटों से किया गया। भगवान् महावीर की सम्बोधि के तेरह सौ वर्ष बाद बप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार कराया। इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि मथुरा के साथ जैन-धर्म का सम्बन्ध सुपार्श्व तीर्थङ्कर के समय में ही हो गया था और जैन लोग उसे अपना तीर्थ मानने लगे थे। पहले यह स्तूप केवल मिट्टी का रहा होगा जैसा कि मौर्य-काल से पहले के बौद्ध-स्तूप भी हुआ करते थे। उसी प्रकार स्तूप का जब पहला जीर्णोद्धार हुआ तब उस पर ईंटों का आच्छादन चढ़ाया गया। जैन-परम्परा के अनुसार यह परिवर्तन महावीर के भी जन्म के पहले तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय हो चुका था। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं जान पड़ती। उसी इष्टिका निर्मित स्तूप का दूसरा जीर्णोद्धार लगभग शुगकाल में दूसरी शती ई० पू० में किया गया।"[1]

इस विवरण से डॉ० वासुदेव उपाध्याय का यह अभिमत कि 'ई० पू० के आरम्भ से मथुरा के समीप इस मत का अधिक प्रसार हुआ था' बहुत मूल्यवान् नहीं रहता।

उत्तर प्रदेश में प्राप्त पुरातत्व और शिलालेखों के आधार से भी जैन-धर्म के व्यापक प्रसार की जानकारी मिलती है।

"ईसवी सन् के आरम्भ से जैन प्रतिमा के आधार-शिला पर (बौद्ध प्रतिमा की तरह) लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। लखनऊ के संग्रहालय में ऐसी अनेक तीर्थङ्कर की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं, जिनके प्रस्तर पर कनिष्क के ७९ या ८४वें वर्ष का लेख उत्कीर्ण है। गुप्त युग में भी इस तरह की प्रतिमाओं का अभाव न था, जिनके आधार शिला पर लेख उत्कीर्ण हैं। ध्यान मुद्रा में बैठी भगवान् महावीर की ऐसी मूर्ति मथुरा से प्राप्त हुई है। गु० सं० ११३ (ई० सं० ४३३) के मथुरा वाले लेख में हरि स्वामिनी द्वारा जैन प्रतिमा के दान का वर्णन मिलता है। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में भद्र नामक व्यक्ति द्वारा आदिकर्तृन की प्रतिमा के साथ एक स्तम्भ का वर्णन कहौम (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) के लेख में है—

श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तॄन्।

१—महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल १९६२, पृ० १७-१८।

पहाड़पुर के लेख (गु० स० १५९) में जैन विहार में तीर्थङ्कर की पूजा निमित्त भूमि-दान का विवरण है, जिसकी आय गंध, धूप, दीप, नैवेद्य के लिए व्यय की जाती थी—

विहारे भगवतां अर्हतां गंधधूपसुमनदीपाद्यर्थम् ।"[1]

ईसा की चौथी शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में 'मथुरा' में जैन-आगमों की द्वितीय वाचना हुई थी।[2]

चम्पा

कौशाम्बी की राजधानी चम्पा भी जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र थी। श्रुतकेवली शय्यंभव ने दशवैकालिक की रचना वहीं की थी।[3]

राजस्थान

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् मरुस्थल (वर्तमान राजस्थान) में जैन-धर्म का प्रभाव बढ़ गया था। पंडित गौरीशंकर ओझा को अजमेर के पास वडली ग्राम में एक बहुत प्राचीन शिलालेख मिला था।[4] वह वीर निर्वाण सम्वत् ८४ (ई० पू० ४४३) में लिखा हुआ था—

वीराय भगवत, चतुरसीति वसे, मामामिके···

आचार्य रत्नप्रभ सूरि वीर निर्वाण की पहली शताब्दी में उपकेश या ओसिया में आए थे। उन्होंने वहाँ ओसिया के सवालाख नागरिकों को जैन-धर्म में दीक्षित किया और उन्हें एक जैन-जाति (ओसवाल) के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह घटना वीर निर्वाण के ७० वर्ष बाद के आसपास की है।[5]

"पूर्व मध्ययुग में राजपूताना के विस्तृत क्षेत्र में भी जैन-मत का पर्याप्त प्रचार था, जिसका परिज्ञान अनेक प्रशस्तियों के अध्ययन से हो जाता है। चहमान लेख में राजा को जैन-धर्म परायण कहा गया है तथा तीर्थङ्कर शांतिनाथ की पूजा निमित्त आठ द्रम (सिक्के) के दान का वर्णन है। नैल्प नामक राजा के पितामह द्वारा जैन मंदिर के निर्माण का भी वर्णन मिलता है—

पितामहेनतस्येदं शमीयाट्यां जिनालये
कारितं शांतिनाथस्य बिम्बं जनमनोहरम् ।

१–प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १२५।

२–नंदी, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ५१।

३–दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ११।

४–जर्नल ऑफ दी बिहार एण्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी, ई० स० १९३०।

५–पट्टावलि समुच्चय, पृ० १८५-१८६।

बिझोली शिलालेख (ए० इ० २६, पृ० ८६) का आरम्भ 'ओ नमो वीतरागाय' से किया गया है, जिसके पश्चात् पार्श्वनाथ की प्रार्थना मिलती है। जालोर के लेख में पार्श्वनाथ के 'ध्वज उत्सव' के लिए दान का वर्णन है—

श्री पार्श्वनाथ देवे तोरणादीनां प्रतिष्ठाकार्ये कृते।
ध्वजारोपण प्रतिष्ठायां कृतायां

(ए० इ० ११, पृ० ५५)

मारवाड के शासक राजदव के अभिलेख मे महावीर मदिर तथा विहार के निवासी जैन साधु के लिए दान देने का विवरण मिलता है—

श्री महावीर चैत्ये साधु तपोधन निष्ठार्थे।

लेखो के आधार पर कहा गया है कि राजपूताना मे महावीर, पार्श्वनाथ तथा शांतिनाथ की पूजा प्रचलित थी। परमार लेख में ऋषभनाथ के पूजा का उल्लेख मिलता है और मन्दिर को अतीव सुन्दर तथा पृथ्वी का भूषण बतलाया है -

श्री वृषभनाथ नाम्न प्रतिष्ठितं भूषणेन बिम्बमिदं
तेनाकारि मनोहरं जिन गृहं भूमे रिदं भूषणम्।[1]

पंजाब और सिन्धु-सौवीर

भगवान् महावीर ने साधुओ के विहार के लिए चारो दिशाओं की सीमा निर्धारित की, उसमें पश्चिमी सीमा 'स्थूणा' (कुरुक्षेत्र) है। इससे जात पडता है कि पंजाब का स्थूणा तक का भाग जैन-धर्म से प्रभावित था। साढे पच्चीस आर्य-देशो की सूची मे भी कुरु का नाम है।

सिन्धु-सौवीर सुदीर्घ-काल से श्रमण-संस्कृति से प्रभावित था। भगवान् महावीर महाराज उद्रायण को दीक्षित करने वहाँ पधारे ही थे।

मध्य प्रदेश

बुन्देलखण्ड मे ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी के लगभग जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। आज भी वहाँ उसके अनेक चिन्ह मिलते हे।[2]

राष्ट्रकूट-नरेश जैन-धर्म के अनुयायी थे। उनका कलचुरि-नरेशों से गहरा सम्बन्ध था। कलचुरि की राजधानी त्रिपुरा और रत्नपुर में आज भी अनेक प्राचीन जैन-मूर्तियाँ और खण्डहर प्राप्त हे।

१-प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १२५।
२—खण्डहरो का वैभव, १६४, २२९।

चन्देल राज्य के प्रधान खजुराहो नगर में लेख तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन-मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं के आधार-शिला पर खुदा लेख यह प्रमाणित करता है कि राजाओं के अतिरिक्त साधारण जनता भी जैन-मत में विश्वास रखती थी।[1] मालवा अनेक शताब्दियों तक जैन-धर्म का प्रमुख प्रचार क्षेत्र था। व्यवहार भाष्य में बताया है कि अन्य तीर्थिकों के साथ वाद-विवाद मालव आदि क्षेत्रों में करना चाहिए।[2] इससे जाना जाता है कि अवन्तीपति चन्द्रप्रद्योत तथा विशेषतः सम्राट् सम्प्रति से लेकर भाष्य-रचनाकाल तक वहाँ जैन-धर्म प्रभावशाली था।

सौराष्ट्र-गुजरात

सौराष्ट्र जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भगवान् अरिष्टनेमि से वहाँ जैन-परम्परा चल रही थी। सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल में वहाँ जैन-धर्म को अधिक बल मिला था। सूत्रकृतांग चूर्णि मे सौराष्ट्रवासी श्रावक का उल्लेख मगधवासी श्रावक की तुलना में किया गया है।[3] जैन-साहित्य मे 'सौराष्ट्र' का प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र' मिलता है।

वल्लभी मे श्वेताम्बर-जैनों की दो आगम-वाचनाएँ हुई थी। ईसा की चौथी शताब्दी में जब आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे मथुरा में आगम-वाचना हो रही थी, उसी समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वह वल्लभी में हो रही थी।

ईसा की पाँचवी शताब्दी (४५४) में फिर वहीं आगम-वाचना के लिए एक परिषद् आयोजित हुई। उसका नेतृत्व देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने किया। उन्होंने आचार्य स्कन्दिल की 'माथुरी-वाचना' को मुख्यता दी और नागार्जुन की 'वल्लभी-वाचना' को वाचनान्तर के रूप में स्वीकृत किया।

गुजरात के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चावड, सोलंकी आदि राजवंशी भी जैन-धर्म के अनुयायी या समर्थक थे।

बम्बई-महाराष्ट्र

सम्राट् सम्प्रति से पूर्व जैनो की दृष्टि में महाराष्ट्र अनार्य-देश की गणना में था। उसके राज्य-काल में जैन-साधु वहाँ विहार करने लगे। उत्तरवर्ती-काल मे वह जैनों का

१–प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १२५,१२६।

२–व्यवहार भाष्य, उद्देशक १०, गाथा २८६ :

खेत्तं मालवमादी, अहवावी साहुभावियं जं तु।
नाऊण तहा विहिणा, वातो य तहिं पतो तव्वो॥

३–सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० १२७ :

सोरट्ठो सावगो मागधो वा।

प्रमुख विहार-क्षेत्र बन गया था। जैन-आगमों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत प्रभावित है। कुछ विद्वानों ने प्राकृत भाषा के एक रूप का 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत' ऐसा नाम रखा है।

ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी में विदर्भ पर चालुक्य राजाओं का शासन था। दसवीं शताब्दी में वहाँ राष्ट्रकूट राजाओं का शासन था। ये दोनों राज-वंश जैन-धर्म के पोषक थे। उनके शासन-काल में वहाँ जैन-धर्म खूब फला-फूला।

नर्मदा-तट

नर्मदा-तट पर जैन-धर्म के अस्तित्व के उल्लेख पुराणों में मिलते हैं। वैदिक-आर्यों से पराजित होकर जैन-धर्म के उपासक असुर लोग नर्मदा के तट पर रहने लगे।[1] कुछ काल बाद वे उत्तर भारत में फैल गए थे। हैहय-वंश की उत्पत्ति नर्मदा-तट पर स्थित माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य से मानी जाती है।[2] भगवान् महावीर का श्रमणोपासक चेटक हैहय-वंश का ही था।[3]

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में जैन-धर्म का प्रभाव भगवान् पार्श्व और महावीर से पहले ही था। जिस समय द्वारका का दहन हुआ था, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे।[4] वह दक्षिणापथ का ही एक राज्य था। उत्तर भारत में जब दुर्भिक्ष हुआ, तब भद्रबाहु दक्षिण में गए। यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं, किन्तु दक्षिण भारत में जैन-धर्म के सम्पर्क का सूचन है। मध्यकाल में भी कदम्ब, पाण्डच, चोल, पल्लव, गंग, राष्ट्रकूट, कदम्ब आदि राज-वंशों ने जैन-धर्म को बहुत प्रसारित किया था।

ईसा की सातवीं शताब्दी के पश्चात् बंगाल और बिहार आदि पूर्वी प्रान्तों में जैन-धर्म का प्रभाव क्षीण हुआ। उसमें भी विदेशी आक्रमण का बहुत बड़ा हाथ है। दुर्भिक्ष के कारण साधुओं का विहार वहाँ कम हुआ, उससे भी जैन-धर्म को क्षति पहुंची।

१–पद्मपुराण, प्रथम सृष्टि खण्ड, अध्याय १२, श्लोक ४१२ :
नर्मदासरितं प्राप्य, स्थिता दानवसत्तमाः।

२–एपिग्राफिका इण्डिका, भाग २, पृ० ८।

३–त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक २२६।

४–(क) हरिवंशपुराण, सर्ग ६४, श्लोक १।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३९।

६-जैन-धर्म का ह्रास-काल

ईसा की दसवीं शताब्दी तक दक्षिण और बम्बई प्रान्त मे जैन-धर्म प्रभावशाली रहा। किन्तु उसके पश्चात् जैन राज-वंशो के शैव हो जाने पर उसका प्रभाव क्षीण होने लगा। इधर सौराष्ट्र मे जैन-धर्म का प्रभाव ईसा की बारहवी, तेरहवी शताब्दी तक रहा। कुमारपाल ने जैन-धर्म को प्रभावशाली बनाने के लिए बहुत प्रयत्न किए। किन्तु कुछ समय बाद वहाँ भी जैन-धर्म का प्रभाव कम हो गया।

शिथियन, तुरुष्क, ग्रीस, तुर्कस्तान, ईरान आदि देशों तथा गजनी के आक्रमण ने वहाँ जैन-धर्म को बहुत क्षति पहुँचाई। वल्लभी का भंग हुआ उस समय जैन-साहित्य प्रचुर मात्रा मे लुप्त हो गया था।[1]

प्रभावक चरित्र से ज्ञात होता है कि वि० संवत् की पहली शताब्दी तक क्षत्रिय राजा जैन-मुनि होते थे। उसके पश्चात् ऐसा उल्लेख नही मिलता। राजस्थान के जैन राज-वश भी शैव या वैष्णव हो गए।

इस प्रकार जो जैन-धर्म हिन्दुस्तान के लगभग सभी प्रान्तों में कालक्रम के तारतम्य में प्रभावशाली और व्यापक बना था, वह ईसा की पन्द्रहवी, सोलहवीं शताब्दी आते-आते बहुत ही सीमित हो गया। इसमे जैन-साधु-संघों के पारस्परिक मतभेदों का भी व्यापक प्रभाव है। साधुओं की रूढिवादिता, समयानुसार परिवर्तन करने की अक्षमता, संघ को संगठित बनाए रखने की तत्परता का अभाव, सामुदायिक चिन्तन का अकौशल और प्रचार-कौशल की अल्पता—ये भी जैन-धर्म के सीमित होने में निमित्त बने। यद्यपि शैवों और वैष्णवों से जैन-धर्म को क्षति पहुँची, फिर भी उससे अधिक क्षति विदेशी आक्रमणो, राज्यो तथा आन्तरिक संघर्षो से पहुँची। शंकराचार्य ने जैन धर्म को बहुत प्रभावहीन बनाया, यह कहा जाता है, उसमे बहुत सचाई नही है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने बौद्ध-धर्म और शंकराचार्य के सम्बन्ध में जो लिखा है, वही जैन-धर्म और शंकराचार्य के सम्बन्ध मे घटित होता है। उन्होने लिखा है—

"भारतीय जीवन के निर्माण मे इतनी देन देकर बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो गया, इससे किसी भी सहृदय व्यक्ति को खेद हुए बिना नही रहेगा। उसके लुप्त होने के क्या कारण थे, इसके बारे मे कई भ्रान्तिमूलक धारणाएँ फैली हैं। कहा जाता है, शंकराचार्य

१—त्रैविद्यगोष्ठी, मुनि सुन्दर सूरि :
विकुस्या तुरुष्कम्लेच्छादि कुनृपतिततिविध्वस्तानेक वल्लभ्यादि ततम्महानगर-स्थानेकलक्षणप्रमाणागमादि सवादशर्शोच्छेदेन कौतुस्कुतस्तावदज्ञानान्धकूपप्रपतत्-प्राणिप्रतिहस्तकप्रायप्रशस्तपुस्तकप्राप्तियोगाः।

ने बौद्ध-धर्म को भारत से निकाल बाहर किया। किन्तु, शंकराचार्य के समय आठवीं सदी में भारत में बौद्ध-धर्म लुप्त नहीं, प्रबल होता देखा जाता है। यह नालन्दा के उत्कर्ष और विक्रमशीला की स्थापना का समय था। आठवीं सदी में ही पालों जैसा शक्तिशाली बौद्ध राज-वंश स्थापित हुआ था। यही समय है, जबकि नालन्दा ने शान्तरक्षित, धर्मोत्तर जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक पैदा किए। तंत्रमत के सार्वजनिक प्रचार के कारण भीतर में निर्बलताएँ भले ही बढ़ रही हों, किन्तु जहाँ तक विहारों और अनुयायियों की संख्या का सम्बन्ध है, शंकराचार्य के चार सदियों बाद बारहवीं सदी के अन्त तक बौद्धों का ह्रास नहीं हुआ था। उत्तरी भारत का शक्तिशाली गहड़वार-वंश केवल ब्राह्मण-धर्म का ही परिपोषक नहीं था, बल्कि वह बौद्धों का भी सहायक था। गहड़वार रानी कुमार देवी ने सारनाथ में 'धर्मचक्र महाविहार' की स्थापना की थी और गोविन्दचन्द्र ने 'जेतवन महाविहार' को कई गाँव दिए थे। अंतिम गहड़वार राजा जयचन्द के भी दीक्षा-गुरु जगन्मिजानन्द (मित्रयोगी) एक महान् बौद्ध सन्त थे, जिन्होंने कि तिब्बत में अपने शिष्य जयचन्द को पत्र लिखा था, जो आज भी 'चन्द्रराज-लेख' के नाम से तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। गहड़वारों के पूर्वी पड़ोसी पाल थे, जो अंतिम क्षण तक बौद्ध रहे। दक्षिण में कोंकण का शिलाहार-वंश भी बौद्ध था। दूसरे राज्यों में भी बौद्ध काफी संख्या में थे। स्वयं शंकराचार्य की जन्मभूमि केरल भी बौद्ध-शिक्षा का बहिष्कार नहीं कर पाई थी, उसने तो बल्कि बौद्धों के 'मंजुश्री मूलकल्प' की रक्षा करते हुए हमारे पास तक पहुँचाया। वस्तुतः बौद्ध-धर्म को भारत से निकालने का श्रेय या अयश किसी शंकराचार्य को नहीं है।

"फिर बौद्ध-धर्म भारत से नष्ट कैसे हुआ? तुर्कों का प्रहार जरूर इसमें एक मुख्य कारण बना। मुसलमानों को भारत से बाहर मध्य-एशिया में जफरशां और वक्षु की उपत्यकाओं, फर्गाना और बाह्लीक की भूमियों में बौद्धों का मुकाबिला करना पड़ा। वैसा संघर्ष उन्हें ईरान और रोम के साथ भी नहीं करना पड़ा था। घुटे चेहरे और रंगे कपड़े वाले बुतपरस्त (बुद्ध-परस्त) भिक्षुओं से वे पहले ही से परिचित थे। उन्होंने भारत में आकर अपने चिरपरिचित बौद्ध शत्रुओं के साथ जरा भी दया नहीं दिखाई। उनके बड़े-बड़े विहार लूट कर जला दिए गए, भिक्षुओं के संघाराम नष्ट कर दिए गए। उनके रहने के लिए स्थान नहीं रह गए। देश की उस विपन्नावस्था में कहीं आशा नहीं रह गई और पड़ोस के बौद्ध देश उनका स्वागत करने के लिए तैयार थे। इस तरह भारतीय बौद्ध-संघ के प्रधान कश्मीरी पण्डित 'शाक्य श्रीमद्' विक्रमशिला विश्वविद्यालय के ध्वस्त होने के बाद भाग कर पूर्वी बंगाल के 'जगत्तला' विहार में पहुँचे। जब वहाँ भी तुर्कों की तलवार गई, तो वे अपने शिष्यों के साथ भाग कर नेपाल गए। उनके आने की खबर

सुन कर भोट (तिब्बत) सामन्त कीर्तिध्वज ने उन्हे अपने यहाँ निमन्त्रित किया। विक्रम-शिला के संघराज कई सालों भोट में रहे और अन्त में ऊपर ही ऊपर अपनी जन्मभूमि कश्मीर में जा कर उन्होने १२२६ ई० में शरीर छोड़ा। 'शाक्य श्रीमद्' की तरह न जाने कितने बौद्ध-भिक्षुओं और धर्माचार्यो ने बाहर के देशों में जाकर शरण ली। बौद्धों के धार्मिक नेता गृहस्थ नही, भिक्षु थे। इसलिए एक जगह छोड कर दूसरी जगह चला जाना उनके लिए आसान था। बाहरी बौद्ध देशो मे जहाँ उनकी बहुत आवभगत थी, वहाँ देश मे उनके रंगे कपडे मृत्यु के वारंट थे। यह कारण था, जिससे कि भारत के बौद्ध-केन्द्र बहुत जल्दी बौद्ध-भिक्षुओ से शून्य हो गए। अपने धार्मिक नेताओं के अभाव में बौद्ध-धर्म बहुत दिनों तक टिक नही सकता था। इस प्रकार और वह भारत में तुर्कों के पैर रखने के एक-डेढ शताब्दियो में ही लुप्त हो गया। बज्रयान के सुरा-सुन्दरी सेवन ने चरित्र-बल को खोखला करके इस काम में और सहायता की।"[1]

७-जैन धर्म और वैश्य

कुछ विद्वान् कहते है कि जैन-धर्म अहिंसा को सर्वाधिक महत्व देता है। युद्ध और रक्षा मे हिंसा होती है, इसलिए यह धर्म क्षत्रियो के अनुकूल नहीं है। कृषि आदि कर्मों मे हिंसा होती है, इसलिए यह किसानो के भी अनुकूल नही है। यह सिर्फ उन व्यापारियो के अनुकूल है, जो शान्तिपूर्वक अपना व्यापार चलाते हुए जीव-हिंसा से बचाव करने का यत्न किया करते है। मैक्स वेबर ने उक्त विषय पर कुछ विस्तार से लिखा है—

"जैन-धर्म एक विशिष्ट व्यापारिक-सम्प्रदाय है, जो पश्चिम के यहूदियो से भी ज्यादा एकांतिक रूप से व्यापार में लगा हुआ है। इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से एक धर्म का व्यापारिक उद्देश्य के साथ सम्बन्ध देखते हैं, जो हिन्दू-धर्म के लिए बिल्कुल विदेशीय है।

"···अहिंसा के सिद्धान्त ने जैनियो को जीव-हिंसा वाले तमाम उद्योगो से अलग रखा। अत उन व्यापारो से जिनमें अग्नि का प्रयोग होता है, तेज या तीक्ष्णधार वाले यंत्रों का उपयोग (पत्थर या काठ के कारखाने आदि में) होता है, भवनादि निर्माण-व्यवसाय तथा अधिकांश उद्योग-धन्धों से जैनियों को अलग रखा। खेती-बारी का काम तो बिल्कुल ही बाद पड़ गया, क्योंकि विशेषत खेत जोतने में कीड़े-मकोड़े आदि की सदा हिंसा होती है।

"यह उल्लेखनीय है कि (जैनधर्म में) अधिक धन संचित करने की मनाही नहीं है बल्कि धन का अत्यधिक मोह या सम्पत्ति के पीछे पागल हो जाने की मनाही है। यह

१—(क) बौद्ध संस्कृति, पृ० ३३-३४।
(ख) बुद्धचर्या, पृ० १२-१३।

सिद्धान्त पश्चिम के एशेटिक प्रोटेस्टेन्टीज्म के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। प्रोटेस्टेन्टीज्म ने सम्पत्ति और लाभ को बुरा नही बताया किन्तु उसमें लवलीन होने को आपत्ति-जनक बताया है। और भी बातें समान हे। जैन-मत मे अतिशयोक्ति या झूठ वर्ज्य है। जैन लोग व्यापार मे बिल्कुल सच्चाई रखने पर विश्वास करते हे। माया रूपी कार्यों की एकदम मनाही है। झूठ, चोरी या भ्रष्ट तरीको से कमाए हुए धन को वर्जित मानते हैं।

"जैन विशेषत श्वेताम्बर सभी जैनो के व्यापारी बनने का मुख्य हेतु धार्मिक सिद्धान्त ही है। केवल व्यापार ही एक ऐसा व्यवसाय है, जिसमे अहिंसा का पालन किया जा सकता है। उनके व्यवसाय का विशेष तरीका भी धार्मिक नियमो से निश्चित होता था। जिसमें विशेष करके यात्रा के प्रति गहरी अरुचि रहती थी और यात्रा को कठिन बनाने के अनेक नियमो ने उन्हें स्थानीय व्यापार के लिए प्रोत्साहित किया, फिर जैसा कि यहूदियों के साथ हुआ, वे साहूकारी (बैंकिंग) और व्याज के धन्धों मे सीमित रह गए।

"उनकी पूंजी लेन-देन में ही सीमित रही और वे औद्योगिक सस्थानो के निर्माण मे असफल रहे। इसका मूल कारण भी जैन-मत का सैद्धान्तिक पक्ष ही रहा जिससे की जैन लोग उद्योग मे पादन्यास कर ही नहीं सके।

"जैन-सम्प्रदाय की उत्पत्ति भारतीय नगर के विकास के साथ-साथ प्राय समसामयिक है। इसीलिए शहरी-जीवन विरोधी बंगाल जैनत्व को बहुत कम ग्रहण कर सका। लेकिन यह नही मानना चाहिए कि यह सम्प्रदाय धनवानो से उत्पन्न है। यह क्षत्रियो की विचार कल्पना से तथा गृहस्थो की सन्यास भावना से प्रस्फुटित हुआ है। इसके सिद्धान्त विशेषकर श्रावको (गृहस्थो के लिए निश्चित विधान) तथा दूसरे धार्मिक नियमो ने ऐसे दैनिक-जीवन का गठन किया, जिसका पालन व्यापारियों के लिए ही संभव था।"[1]

मैक्स वेबर की ये मान्यताएँ काल्पनिक तथ्यो पर आधारित हैं। वास्तविक तथ्य ये है—

(१) जैन श्रावक के लिए आक्रमणकारी होने का निषेध है। वह प्रत्याक्रमण की हिंसा से अपने को मुक्त नही रख पाता। भगवान् महावीर के समय जिन क्षत्रियों या क्षत्रिय राजाओ ने अनाक्रमण का व्रत लिया था, उन्होने भी अमुक-अमुक स्थितियों मे लडने की छूट रखी थी।

जैन सम्राटों, राजाओं, सेनापतियो, दण्डनायकों और सैनिको ने देश की सुरक्षा के लिए अनेक लडाइयाँ लडी थीं। गुजरात और राजस्थान में जैन-सेनानायको की बहुत

१—दी रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ० १९३-२०२।

लम्बी परम्परा रही है। इसी संदर्भ में उस निष्कर्ष को मान्य नहीं किया जा सकता कि अहिंसा प्रधान होने के कारण जैन-धर्म क्षत्रिय-वर्ग के अनुकूल नहीं है।

(२) भगवान् महावीर के श्रावकों में आनन्द गृहपति का स्थान पहला है। वह बहुत बड़ा कृषिकार था। उसके पास चार व्रज थे। प्रत्येक व्रज में दस-दस हजार गाएँ थीं। आज भी कच्छ आदि प्रदेशों में हजारों जैन खेतीहर है। एक शताब्दी पूर्व राजस्थान में भी हजारों जैन-परिवार खेती किया करते थे। इस संदर्भ में वह निष्कर्ष भी मान्य नहीं होता कि अहिंसा प्रधान होने के कारण जैन-धर्म किसानों के अनुकूल नहीं है।

(३) व्यापार में प्रत्यक्ष जीव-वध नहीं होता, इसलिए वह अहिंसा प्रधान जैन-धर्म के अधिक अनुकूल है, यह भी विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है। जैन आचार्यों ने असि, मषी, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य—इन छहों कर्मों को एक कोटि का माना है। तलवार, धनुष आदि शस्त्र-विद्या में निपुण असि-कर्मार्य हैं। मुनीमी का कार्य करने वाला मषि-कर्मार्य है। धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार आदि शिल्प-कर्मार्य है। चन्दन, घी, धान्य आदि का व्यापार करने वाला वणिक्कर्मार्य है। ये छहों अविरत होने से सावद्यकर्मार्य है।[1]

जो लोग अव्रती होते हैं, जिनके संकल्पी-हिंसा का त्याग नहीं होता, वे भले रक्षा का काम करें, खेती करें या वाणिज्य करें, सावद्य काम करने वाले ही होते हैं। जो श्रावक होते है, उनके व्रत भी होता हैं, इसलिए वे चाहे व्यापार करें, खेती करें या रक्षा का काम करें, अल्पसावद्य काम करने वाले होते हे।[2] जैन-श्रावक बनने का अर्थ कृषि, रक्षा आदि से दूर हटना नहीं, किन्तु संकल्पी-हिंसा और अनर्थ-हिंसा का त्याग करना है। जैन-आचार्यों ने केवल प्रत्यक्ष जीव-वध को ही दोषपूर्ण नहीं माना, किन्तु मानसिक हिंसा को भी दोषपूर्ण माना है। इसी आधार पर आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में व्याज के धन्धे को महाहिंसा की कोटि में उपस्थित किया था।

(४) श्रावकों के लिए ऐसे दैनिक-जीवन का गठन नहीं किया गया, जिससे वह वैश्य-वर्ग के सिवाय अन्य वर्गों के अनुकूल न हो।

(५) बंगाल में जैन-धर्म के अस्तित्व की चर्चा पहले की जा चुकी है। उसके आधार पर कहा जा सकता है—'शहरी जीवन विरोधी बंगाल जैनत्व को बहुत कम ग्रहण कर सका'—यह तथ्य भी सारपूर्ण नहीं है।

१—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६ :
षडप्येते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्याः।

२—वही, ३।३६ :
अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च विरत्यविरतिपरिणतत्वात्।

मैक्स वेबर जिन निष्कर्ष पर पहुँचे, उन्हे हम जैन-धर्म की सैद्धान्तिक भूमिका के स्तर से सम्बन्धित नहीं मान सकते। किन्तु तत्कालिक जैन-श्रावकों के जीवन-व्यवहार से सर्वथा सम्बन्धित नही थे, ऐसा भी नही कहा जा सकता। संभव है कि भूमिका भेद का गहरा विचार किए बिना साधुओं द्वारा भी श्रावको के जटिल दैनिक-जीवन का क्रम निश्चित किया गया हो।

इस लम्बे विवेचन के बाद हम पुन उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन-धर्म के ह्रास और उसके वैश्य-वर्ग में सीमित होने के हेतु मुख्य रूप में वे ही हैं, जो हमने पहले प्रस्तुत किए थे। सूत्र रूप मे उनकी पुनरावृत्ति कुछ तथ्यो को और सम्मिलित कर इस प्रकार की जा सकती है—

(१) उन्नति और अवनति का ऐतिहासिक क्रम।
(२) दीर्घकालीन समृद्धि से आने वाली शिथिलता।
(३) जैन-संघ का अनेक गच्छो व सम्प्रदायो मे विभक्त हो जाना।
(४) परस्पर एक दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न।
(५) अपने प्रभाव क्षेत्रो में दूसरो को न आने देना या जो आगत हो, उन्हे वहाँ से निकाल देना।
(६) साधुओं का रूढिवादी होना।
(७) देश-काल के अनुसार परिवर्तन न करना, नए आकर्षण उत्पन्न न करना।
(८) दैनिक-जीवन मे क्रियाकाण्डो की जटिलता पैदा कर देना।
(९) सघ-शक्ति का सही मूल्यांकन न होना।
(१०) सामुदायिक चिन्तन और प्रचार कौशल की अल्पता।
(११) विदेशी आक्रमण।
(१२) अन्यान्य प्रतिस्पर्धी धर्मो के प्रहार।
(१३) जातिवाद का स्वीकरण।

इन स्थितियो ने जैन-धर्म को सीमित बनाया। कुछ जैन-आचार्यों ने दूरदर्शितापूर्ण प्रयत्न किए और ओसवाल, पोरवाल, खण्डेलवाल आदि कई जैन जातियों का निर्माण किया। उससे जैन-धर्म मुख्यत वैश्य-वर्ग में सीमित हो गया, किन्तु वह बौद्ध-धर्म की भाँति भारत से उच्छिन्न नहीं हुआ।

आचार्य भद्रबाहु ने अपने विशाल ज्ञान तथा वर्तमान की स्थितियों का भविष्य मे प्रतिबिम्ब देख कर ही यह कहा था—"धर्म मुख्यतः वैश्य-वर्ग के हाथ मे होगा।" चन्द्रगुप्त के सातवें स्वप्न—'अकुरडी पर कमल उगा हुआ है'—का अर्थ उन्होंने

किया था—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों में जो धर्म फैला हुआ है, वह सिमट कर अधिकांशतया वैश्यों के हाथ मे चला जाएगा।"[1]

आठवें स्वप्न में उन्होंने देखा—"जुगनू प्रकाश कर रहा है।" आचार्य भद्रबाहु ने इसका फल बताया—"श्रमण-गण आर्य-मार्ग को छोड़, केवल क्रिया का घटाटोप दिखा वैश्य-वर्ग में उद्योत करेगा। फलत: निर्ग्रन्थों का पूजा-सत्कार कम हो जाएगा और बहुत लोग मिथ्यात्व रत हो जाएँगे।"[2]

सम्राट् का नौवाँ स्वप्न था—"सरोवर सूख गया, केवल दक्षिण-दिशा मे थोड़ा जल भरा है और वह भी पूर्ण स्वच्छ नहीं।" आचार्य भद्रबाहु ने इसका फल बताया—"जिस भूमि में तीर्थङ्करों के पाँच कल्याण (च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण) हुए थे, वहाँ धर्म की हानि होगी और दक्षिण-पश्चिम में थोड़ा-थोड़ा धर्म रहेगा और वह भी अनेक मतवादों और पारस्परिक संघर्षों से परिपूर्ण।"[3] भद्रबाहु की इस भविष्यवाणी मे उस घटना-क्रम का अकन है, जब जैन-धर्म एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रान्त हो रहा था। जैन-श्रमण मतभेदों को प्रधानता दे रहे थे, जैन-श्रावक प्रत्यक्ष जीव-वध की तुलना में मानसिक हिंसा को कम आंक रहे थे और जैन-शासन एक जाति के रूप में संगठित हो रहा था।

*

१—व्यवहार चूलिका :

उसमे उक्करडियाए कमलं उग्गय दिट्ठं, तस्स फलं तेणं माहण खत्तिय वइस्स सुद्दं चउण्हं वण्णाणं मज्झे वइस्स हत्थे धम्मं भविस्सइ।

२—वही :

अट्ठमे खज्जुओ उज्जोयं करेइ। तेणं समणा आरियधम्मं मोत्तूण खज्जुया इव किरियाए फडाडोवं दंसिऊण वइस्स वण्णे उज्जोयं करिस्संति। तेण समणाणं णिग्गंथाणं पूयासक्कारे थोवे भविस्सई, बहुजणा मिच्छत्तरागिणो भविस्संति।

३—वही :

नवमे सुक्कं सरोवरं दाहिणदिसाए थोवं जलभरियं गडुलियं दिट्ठं, तस्स फलं तेणं जत्थ जत्थ भूमिए पंच जिणकल्लाणं तत्थ देसे धम्महाणी भविस्सइ दाहिणपच्छिमए किंपि किंपि धम्मं बहुमइडोहलियं भविस्सइ।

प्रकरण : छठा

१-महावीर तीर्थङ्कर थे पर जैन-धर्म के प्रवर्तक नहीं

भगवान् महावीर तीर्थङ्कर थे, फिर भी किसी नए धर्म के प्रवर्तक नहीं थे। उनके पीछे एक परम्परा थी और वे उसके उन्नायक थे।

महात्मा बुद्ध स्वतन्त्र-धर्म के प्रवर्तक थे या किसी पूर्व परम्परा के उन्नायक ? इस प्रश्न के उत्तर में बौद्ध-साहित्य कोई निश्चित उत्तर नहीं देता। उपक आजीवक के यह पूछने पर कि तेरा शास्ता (गुरु) कौन है ? और तू किस धर्म को मानता है ? महात्मा बुद्ध ने कहा—"मैं सबको पराजित करने वाला, सबको जानने वाला हूँ। सभी धर्मों में निर्लेप हूँ। सर्व-त्यागी हूँ, तृष्णा के क्षय से मुक्त हूं, मैं अपने ही जान कर उपदेश करूँगा। मेरा आचार्य नहीं है, मेरे सदृश (कोई) विद्यमान नहीं। देवताओं सहित (सारे) लोक में मेरे समान पुरुष नहीं। मैं संसार में अर्हत् हूँ, अपूर्व उपदेशक हूं। मैं एक सम्यक् सम्बुद्ध, शान्ति तथा निर्वाण को प्राप्त हूं। धर्म का चक्का घुमाने के लिए काशियों के नगर को जा रहा हूं। (वहाँ) अन्ध हुए लोक में अमृत दुन्दुभि बजाऊँगा। मेरे ही ऐसे आदमी जिन होते हैं, जिनके कि चित्तमल (आस्रव) नष्ट हो गए हैं। मैंने बुराइयों को जीत लिया है, इसलिए हे उपक ! मैं जिन हूं।"[१]

एक दूसरे प्रसंग में कहा गया है—भगवान् ने इन्द्रकील पर खड़े होकर सोचा 'पहले बुद्धों ने कुल नगर में भिक्षाचार कैसे किया ? क्या बीच-बीच में घर छोड़ कर या एक ओर से ?' फिर एक बुद्ध को भी बीच-बीच में घर छोड़ कर भिक्षाचार करते नहीं देख, 'मेरा भी यही (बुद्धों का) वंश है, इसलिए यही कुल धर्म ग्रहण करना चाहिए। इससे आने वाले समय में मेरे श्रावक (शिष्य) मेरा ही अनुसरण करते (हुए) भिक्षाचार व्रत पूरा करेंगे,' ऐसा (सोच) छोर के घर से···भिक्षाचार आरम्भ किया।[२]

राजा शुद्धोदन के द्वारा आपत्ति करने पर बुद्ध ने कहा—"महाराज ! हमारे वंश का यही आचार है।"[३]

पहले प्रसंग से प्राप्त होता है कि बुद्ध स्वतन्त्र-धर्म के प्रवर्तक थे, उनका किसी परम्परा

१—(क) विनयपिटक, पृ० ७९।
(ख) बुद्धचर्या, पृ० २०-२१।
२—बुद्धचर्या, पृ० ५३।
३—वही, पृ० ५३।

से सम्बन्ध नहीं था। दूसरे प्रसंग से प्राप्त होता है कि वे बुद्धों की परम्परा से जुड़े हुए थे।

भगवान् महावीर के सम्बन्ध में यह अनिश्चितता नहीं है। जैन-साहित्य की यह निश्चित घोषणा है कि भगवान् महावीर स्वतन्त्र-धर्म के प्रवर्तक नहीं, किन्तु पूर्व-परम्परा के उन्नायक थे। वे अहिंसक-परम्परा के एक तीर्थङ्कर थे। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो अर्हत् हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं, जो आगे होंगे, उन सबका यही निरूपण है कि सब जीवों की हिंसा मत करो।"[1]

भगवान् महावीर के मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष—दोनों भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। भगवान् महावीर स्वयं-बुद्ध थे, इसीलिए उन्हें भगवान् पार्श्व का शिष्य नहीं कहा जा सकता। जैसे भगवान् पार्श्व ने धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया था, वैसे ही भगवान् महावीर भी धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक थे। कुमारश्रमण केशी ने गौतम से पूछा था—"लोगों को अन्ध बनाने वाले तिमिर में बहुत लोग रह रहे हैं। इस समूचे लोक में उन प्राणियों के लिए प्रकाश कौन करेगा।"[2]

गौतम ने कहा—'समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक निर्मल भानु उगा है। वह समूचे लोक मे प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।"

"भानु किसे कहा गया है"—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम बोले—"जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, वह अर्हत् रूपी भास्कर समूचे लोक के प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।"[3]

भगवान् पार्श्व के निर्वाण के पश्चात् यज्ञ-संस्था बहुत प्रबल हो गई थी। इधर श्रमण परम्परा के अनुयायी और आत्म-विद्या के संरक्षक राजे भी वैदिकधारा से प्रभावित हो रहे थे, जिसका वर्णन हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। वैदिकों की प्रवृत्तिवादी विचारणा से श्रमणों में आचार सम्बन्धी शिथिलता घर कर रही थी। हिंसा और अब्रह्मचर्य जीवन की सहज प्रवृत्ति के रूप में अभिव्यक्ति पा रहे थे। वह स्थिति श्रमणों को घोर अन्धकार-मय लग रही थी। उस स्थिति में श्रमणों की विचारधारा को शक्तिशाली बनाने के लिए तीर्थङ्कर की आवश्यकता थी। भगवान् महावीर से ठीक पहले हमें तीर्थङ्कर के रूप में केवल एक पार्श्व का ही अस्तित्व मिलता है, किन्तु भगवान् महावीर के काल में हम छह तीर्थङ्करों का अस्तित्व पाते हैं। कुछ जैन विद्वान् यह कहते हैं कि एक तीर्थङ्कर जैसी धर्म-व्यवस्था करते हैं, वैसी ही दूसरे तीर्थङ्कर करते हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बहुत

१—बुद्धचर्या, पृ० ५३।
२—आचारांग, १।४।१।
३—उत्तराध्ययन, २३।७५-७८।

मूल्य नहीं है। एक तीर्थङ्कर ने जो कहा, उसका निरूपण दूसरा तीर्थङ्कर करे तो वस्तुत वह तीर्थङ्कर ही नहीं होता। जिसका मार्ग पूर्व तीर्थङ्कर से भिन्न होता है, यानि सर्वथा सदृश नहीं होता, उसी को 'तीर्थङ्कर' कहा जाता है। हमारी यह स्थापना निराधार नहीं है। इसकी यथार्थता प्रमाणित करने के लिए हमें तीर्थङ्करों के शासन-भेद का अध्ययन प्रस्तुत करना होगा।

२-पार्श्व और महावीर का शासन-भेद

भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के शासन-भेद का विचार हम निम्न तथ्यों के आधार पर करेंगे—

१. भगवान् पार्श्व की धर्म-सामाचारी	**भगवान् महावीर की धर्म-सामाचारी**
(१) चातुर्याम	(१) पाँच महाव्रत
(२) सामायिक चारित्र	(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र
(३) रात्रि भोजन न करना उत्तर गण	(३) रात्रि भोजन न करना मूल गण
(४) सचेल	(४) अचेल
२ प्रतिक्रमण	**प्रतिक्रमण**
(५) दोष होने पर प्रतिक्रमण	(५) नियमतः दो बार प्रतिक्रमण
३. औद्देशिक	**औद्देशिक**
(६) एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा ग्रहण	(६) एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा वर्जन
४. राजपिण्ड	**राजपिण्ड**
(७) राजपिण्ड का ग्रहण	(७) राजपिण्ड का वर्जन
५. मासकल्प	**मासकल्प**
(८) मासकल्प का नियम न होने पर जीवन-भर एक गाँव मे रहने का विधान। कीचड और जीव-जन्तु न हो उस स्थिति में वर्षा-काल में भी विहार का विधान।	(८) मासकल्प का नियम एक स्थान में एक मास से अधिक न रहनेका विधान।

पर्युषण कल्प	पर्युषण कल्प
(९) पर्युषण कल्प का अनियम।	(९) पर्युषण कल्प का नियम। जघन्यतः भाद्रव-शुक्ला पंचमी से कार्तिक-शुक्ला पंचमी तक और उत्कृष्टत आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक एक स्थान में रहने का नियम।
(१०) ०	(१०) परिहारविशुद्ध चारित्र

(१) चातुर्याम और पंच महाव्रत

प्राग्-ऐतिहासिक काल में भगवान् ऋषभ ने पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया था, ऐसा माना जाता है। ऐतिहासिक काल में भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम-धर्म का उपदेश दिया था। उनके चार याम ये थे—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य और (४) बहिस्तात् आदान-विरमण (बाह्य-वस्तु के ग्रहण का त्याग)।[1] भगवान् महावीर ने पाँच महाव्रतो का उपदेश दिया। उनके पाँच महाव्रत ये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।[2] सहज ही प्रश्न होता है कि भगवान् महावीर ने महाव्रतो का विकास क्यो किया ? भगवान् पार्श्व की परम्परा के आचार्य कुमारश्रमण केशी और भगवान् महावीर के गणधर गौतम जब श्रावस्ती में आए, तब उनके शिष्यो को यह संदेह उत्पन्न हुआ कि हम एक ही प्रयोजन से चल रहे हैं, फिर यह अन्तर क्यों ? पार्श्व ने चातुर्याम-धर्म का निरूपण किया और महावीर ने पाँच महाव्रत-धर्म का, यह क्यो ?[3]

कुमारश्रमण केशी ने गौतम से यह प्रश्न पूछा तब उन्होंने केशी से कहा —"पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु-जड होते हैं। अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्र-जड होते हैं। बीच के तीर्थङ्करो के साधु ऋजु-प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए है।

"पूर्ववर्ती साधुओ के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। चरमवर्ती साधुओ के लिए मुनि के आचार का पालन कठिन है। मध्यवर्ती साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी वे सरलता से करते हैं।"[4]

इस समाधान में एक विशिष्ट ध्वनि है। उससे इस बात का संकेत मिलता है कि जब भगवान् पार्श्वनाथ के प्रशिष्य अब्रह्मचर्य का समर्थन करने लगे, उसका पालन कठिन

१–स्थानांग, ४।२६६।

२–उत्तराध्ययन, २१।१२।

३–वही, २३।१२-१३।

४–वही, २३।२६-२७।

हो गया तब उस स्थिति को देख कर भगवान् महावीर को ब्रह्मचर्य को स्वतंत्र महाव्रत के रूप में स्थान देना पड़ा।

भगवान् पार्श्व ने मैथुन को परिग्रह के अन्तर्गत माना था।[1] किन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् और भगवान् महावीर के तीर्थङ्कर होने से थोड़े पूर्व कुछ साधु इस तर्क का सहारा ले अब्रह्मचर्य का समर्थन करने लगे कि भगवान् पार्श्व ने उसका निषेध नहीं किया है। भगवान् महावीर ने इस कुतर्क के निवारण के लिए स्पष्टतः ब्रह्मचर्य महाव्रत की व्यवस्था की और महाव्रत पाँच हो गए।

सूत्रकृतांग में अब्रह्मचर्य का समर्थन करने वाले को 'पार्श्वस्थ' कहा है।[3] वृत्तिकार ने उन्हें 'स्वयूथिक' भी बतलाया है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर के पहले से ही कुछ स्वयूथिक-निर्ग्रन्थ अर्थात् पार्श्व-परम्परा के श्रमण स्वच्छन्द होकर अब्रह्मचर्य का समर्थन कर रहे थे। उनका तर्क था कि "जैसे वर्ण या फोड़े को दबा कर पीव को निकाल देने से शान्ति मिलती है, वैसे ही समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ समागम करने से शान्ति मिलती है। इसमें दोष कैसे हो सकता है ?

"जैसे भेड़ बिना हिलाए शान्त भाव से पानी पी लेती है, वैसे ही समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ शान्त-भाव से किसी को पीड़ा पहुँचाए बिना समागम किया जाए, उसमें दोष कैसे हो सकता है ?

"जैसे कपिंजल' नाम को चिड़िया आकाश में रह कर बिना हिलाए डुलाए जल पी लेती है, वैसे ही समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ अनासक्त-भाव से समागम किया जाए तो उसमें दोष कैसे हो सकता है।"[4]

भगवान् महावीर ने इन कुतर्कों को ध्यान में रखा और वक्र-जड़ मुनि किस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं, इस ओर ध्यान दिया तो उन्हें ब्रह्मचर्य को स्वतंत्र महाव्रत का रूप देने की आवश्यकता हुई। इसीलिए स्तुतिकार ने कहा है—

१—स्थानांग, ४।२६६ वृत्ति :
मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यते।

२—सूत्रकृतांग, १।३।४।६,१३।

३—(क) सूत्रकृतांग, १।३।४।६ वृत्ति
स्वयूथ्या वा।
(ख) वही, १।३।४।१२ वृत्ति :
स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः।

४—सूत्रकृतांग, १।३।४।१०,११,१२।

"से वारिया इत्थि सराइभत्तं" (सूत्रकृतांग, १।६।२८)

अर्थात् भगवान् ने स्त्री और रात्रि भोजन का निवारण किया। यह स्तुति-वाक्य इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य की विशेष व्याख्या, व्यवस्था या योजना की थी।

अब्रह्मचर्य को फोड़े की पीब निकालने आदि के समान बताया जाता था, उसके लिए भगवान् ने कहा—"कोई मनुष्य तलवार से किसी का सिर काट शान्ति का अनुभव करे तो क्या वह दोषी नहीं है ?

"कोई मनुष्य चुपचाप शान्त-भाव से जहर की घूंट पीकर बैठ जाए तो क्या वह विष व्याप्त नहीं होता ?

"कोई मनुष्य किसी धनी के खजाने से अनासक्त-भाव से बहुमूल्य रत्नों को चुराए, तो क्या वह दोषी नहीं होता ?"[1]

दूसरे का सिर काटने वाला, जहर की घूट पीने वाला और दूसरों के रत्न चुराने वाला वस्तुत: शान्त या अनासक्त नहीं होता, वैसे ही अब्रह्मचर्य का सेवन करने वाला शान्त या अनासक्त नहीं हो सकता।

जो पार्श्वस्थ श्रमण अनासक्ति का नाम ले अब्रह्मचर्य का समर्थन करते है, वे काम-भोगों में अत्यन्त आसक्त हैं।[2]

अब्रह्मचर्य को स्वाभाविक मानने की ओर श्रमणों का मानसिक झुकाव होता जा रहा था, उस समय उन्हें ब्रह्मचर्य की विशेष व्यवस्था देने की आवश्यकता थी। इस अनुकूल परीषह से श्रमणों को बचाना आवश्यक था। उस स्थिति में भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को बहुत महत्त्व दिया और उसकी सुरक्षा के लिए विशेष व्यवस्था दी (देखिए—उत्तराध्ययन, सोलहवाँ और बत्तीसवाँ अध्ययन)।

(२) सामायिक और छेदोपस्थापनीय

भगवान् पार्श्व के समय सामायिक-चारित्र था और भगवान् महावीर ने छेदोप-स्थापनीय-चारित्र का प्रवर्तन किया। वास्तविक दृष्टि से चारित्र एक सामायिक ही है।[3] चारित्र का अर्थ है 'समता की आराधना'। विषमतापूर्ण प्रवृत्तियाँ त्यक्त होती हैं तब सामायिक-चारित्र प्राप्त होता है। यह निर्विशेषण या निर्विभाग है। भगवान् पार्श्व ने चारित्र के विभाग नहीं किए, उसे विस्तार से नहीं समझाया। सम्भव है उन्हें इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। भगवान् महावीर के सामने एक विशेष प्रयोजन उपस्थित

१—सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ५३-५५।

२—सूत्रकृतांग, १।३।४।१३।

३—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२६७।

था, इसलिए उन्होंने सामायिक को छेदोपस्थापनीय का रूप दिया। इस चारित्र को स्वीकार करने वाले को व्यक्ति या विभागशः महाव्रतों का स्वीकार कराया जाता है। छेद का अर्थ 'विभाग' है। भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्व के निर्विभाग सामायिक-चारित्र को विभागात्मक सामायिक-चारित्र बना दिया और वही छेदोपस्थापनीय के नाम से प्रचलित हुआ। भगवान् ने चारित्र के तेरह मुख्य विभाग किए थे। पूज्यपाद ने भगवान् महावीर को पूर्व तीर्थंकरों द्वारा अनुपदिष्ट तेरह प्रकार के चारित्र-उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया है—

> तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,
> पंचेर्यादि समाश्रयाः समितयः पंच व्रतानीत्यपि।
> चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै,
> राचारं परमेष्ठिनो जिनपते र्वीरान् नमामो वयम्॥[1]

यह विचित्र संयोग की बात है कि आचार्य भिक्षु ने भी तेरापथ की व्याख्या इन्हीं तेरह (पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति) व्रतों के आधार पर की थी।[2] भगवती से ज्ञात होता है कि जो चातुर्याम-धर्म का पालन करते थे, उन मुनियों के चारित्र को 'सामायिक' कहा जाता था और जो मुनि सामायिक-चारित्र की प्राचीन परम्परा को छोड़ कर पंचयाम-धर्म में प्रव्रजित हुए उनके चारित्र को 'छेदोपस्थापनीय' कहा गया।[3]

भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्व की परम्परा का सम्मान करने अथवा अपने निरूपण के साथ उसका सामंजस्य बिठाने के लिए दोनों व्यवस्थाएँ कीं—प्रारम्भ में अल्पकालीन निर्विभाग (सामायिक) चारित्र को मान्यता दी,[4] दीर्घकाल के लिए विभागात्मक (छेदोपस्थापनीय) चारित्र की व्यवस्था की।[5]

१—चारित्रभक्ति, ७।

२—भिक्षुजशरसायन, ७।७ :

> पंच महाव्रत पालता, शुद्धि सुमति सुहावै हो।
> तीन गुप्त तीखी तरै, मल आतम भावै हो।
> चित्त सूं तेरा ही चाहवै हो।

३—भगवती, २५।७।७८६, गाथा १,२

> सामाइयंमि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं।
> तिविहेणं फासयंतो, सामाइय संजमो स खलु॥
> छेत्तूण उ परियागं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
> धम्मंमि पंच जामे, छेदोवट्ठावणो स खलु॥

४—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२६८।

५—वही, गाथा १२७४।

(३) रात्रि-भोजन-विरमण

भगवान् पार्श्व के शासन में रात्रि-भोजन न करना व्रत नहीं था। भगवान् महावीर ने उसे व्रत की सूचि में सम्मलित कर लिया। यहाँ सूत्रकृतांग (१।६।२८) का वह पद फिर स्मरणीय है—'से वारिया इत्थि सराइभत्त'। हरिभद्र सूरि ने इसकी चर्चा करते हुए बताया है कि भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने अपने ऋजु-जड़ और वक्र-जड शिष्यों की अपेक्षा से रात्रि भोजन न करने को व्रत का रूप दिया और उसे मूल गुणों की सूचि में रखा। मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरों ने उसे मूलगुण नहीं माना इसलिए उन्होंने उसे व्रत का रूप नहीं दिया।[1]

सोमतिलक सूरि का भी यही अभिमत है।[2]

हरिभद्र सूरि से पहले ही यह मान्यता प्रचलित थी। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है कि 'रात को भोजन न करना' अहिंसा महाव्रत का सरक्षक होने के कारण समिति की भाँति उत्तर गुण है। किन्तु मुनि के लिए वह अहिंसा महाव्रत की तरह पालनीय है। इस दृष्टि से वह मूलगुण की कोटि में रखने योग्य है।[3] श्रावक के लिए वह मूलगुण नहीं है।[4] जो गुण साधना के आधारभूत होते हैं, उन्हे 'मौलिक' या 'मूलगुण' कहा जाता है। उनके उपकारी या सहयोगी गुणो को 'उत्तरगुण' कहा जाता है। जिनभद्रगणी ने मूलगुण की संख्या ५ और ६ दोनो प्रकार से मानी है- -

(१) अहिंसा (४) ब्रह्मचर्य
(२) सत्य (५) अपरिग्रह[5]

१–दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १५० :
एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयो. ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं, मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु पुन ऋजुप्रज्ञ-पुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति।

२–सप्ततिशतस्थान, गाथा २८७ :
मूलगुणेसु उ दुण्हं, सेसाणुत्तरगुणेसु निसिभुत्तं।

३–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२४७ वृत्ति :
उत्तरगुणत्वे सत्यपि तत् साधो र्मूलगुणो भण्यते। मूलगुणपालनात् प्राणाति-पाताविविरमणवत् अन्तरङ्गत्वाच्च।

४–वही, गाथा १२४५-१२५०।

५–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२४४ :
सम्मत्त समेयाइं, महव्वयाणुव्वयाइं मूलगुणा।

(३) अचौर्य (६) रात्रि-भोजन-विरमण[1]

आचार्य वट्टकेर ने मूलगुण २८ माने हैं—

पाँच महाव्रत	अस्नान
पाँच समितियाँ	भूमिशयन
पाँच इन्द्रिय-विजय	दन्तघर्षन का वर्जन
षड् आवश्यक	स्थिति भोजन
केश लोच	एक-भक्त ।[2]
अचेलकता	

मूलगुणों की संख्या सब तीर्थङ्करों के शासन में समान नहीं रही, इसका समर्थन भगवान् महावीर के एक निम्न प्रवचन से होता है—

"आर्यो !· मैंने पाँच महाव्रतात्मक, सप्रतिक्रमण और अचेल धर्म का निरूपण किया है। आर्यो !...मैंने नग्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, दन्तप्रक्षालन-वर्जन, छत्र-वर्जन, पादुका-वर्जन, भूमि-शय्या, केश-लोच आदि का निरूपण किया है।"[3]

भगवान् महावीर के जो विशेष विधान हैं, उनका लम्बा विवरण स्थानांग, ६।६६३ में है।

(४) सचेल और अचेल

गौतम और केशी के शिष्यों के मन में एक वितर्क उठा था—

"महामुनि वर्द्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह अचलक है और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह वर्ण आदि से विशिष्ट तथा मूल्यवान् वस्त्र वाली है। जब कि हम एक ही उद्देश्य से चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ?" केशी ने गौतम के सामने वह जिज्ञासा प्रस्तुत की और पूछा—"मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारों में तुम्हें संदेह कैसे नहीं होता ?"

केशी के ऐसा कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा —"विज्ञान द्वारा यथोचित जान कर ही धर्म के साधनों—उपकरणों की अनुमति दी गई है। लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ,' ऐसा ध्यान आते रहना वेष-धारण के इस लोक में ये प्रयोजन

१—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १८२९
मूलगुणा छव्वयाइं तु।
२—मूलाचार, ११२-११३।
३—स्थानांग, ९।६९३।

हैं। यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि में उसके साधन, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।[1]

भगवान् पार्श्व के शिष्य बहुमूल्य और रंगीन-वस्त्र रखते थे। भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को अल्पमूल्य और श्वेत वस्त्र रखने की अनुमति दी।

डॉ० हर्मन जेकोबी का यह मत है कि भगवान् महावीर ने अचेलकता या नग्नत्व का आचार आजीवक आचार्य गोशालक से ग्रहण किया।[2] किन्तु यह संदिग्ध है। भगवान् महावीर के काल में और उनसे पूर्व भी नग्न साधुओं के अनेक सम्प्रदाय थे। भगवान् महावीर ने अचेलकता को किसी से प्रभावित होकर अपनाया या अपनी स्वतंत्र बुद्धि से ? इस प्रश्न के समाधान का कोई निश्चित स्रोत प्राप्त नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि महावीर दीक्षित हुए तब सचेल थे, बाद में अचेल हो गए। भगवान् ने अपने शिष्यों के लिए भी अचेल आचार की व्यवस्था की, किन्तु उनकी अचेल व्यवस्था दूसरे-दूसरे नग्न साधुओं की भाँति एकान्तिक आग्रहपूर्ण नहीं थी। गौतम ने केशी से जो कहा, उससे यह स्वयं सिद्ध है।

जो निग्रन्थ निर्वस्त्र रहने में समर्थ थे, उनके लिए पूर्णतः अचेल (निर्वस्त्र) रहने की व्यवस्था थी और जो निर्ग्रन्थ वैसा करने में समर्थ नहीं थे, उनके लिए सीमित अर्थ में अचेल (अल्पमूल्य और श्वेत वस्त्रधारी) रहने की व्यवस्था थी।

भगवान् पार्श्व के शिष्य भगवान् महावीर के तीर्थ में इसीलिए खप सके कि भगवान् महावीर ने अपने तीर्थ में सचेल और अचेल—इन दोनों व्यवस्थाओं को मान्यता दी थी। इस सचेल और अचेल के प्रश्न पर ही निर्ग्रन्थ-संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो शाखाओं में विभक्त हुआ था। श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार जिन-कल्पी साधु वस्त्र नहीं रखते थे और स्थविर-कल्पी साधु वस्त्र रखते थे। दिगम्बर साहित्य के अनुसार सब साधु वस्त्र नहीं रखते थे। इस विषय पर पार्श्ववर्ती परम्पराओं का भी विलोडन करना अपेक्षित है।

पूरणकश्यप ने समस्त जीवों का वर्गीकरण कर छह अभिजातियाँ निश्चित की थी[3]। उसमें तीसरी—लोहित्याभिजाति—में एक शाटक रखने वाले निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[4]

---

१ उत्तराध्ययन, २३।२९-३३।

२—दी सेक्रेड बुक ऑफ दी ईस्ट, भाग ४५, पृ० ३२ :

...It is probable tbat he borrowed them from the Akélakas or Āgīvıkas, the followers of Gosāla...

३—अंगुत्तरनिकाय, ६।६३, छलभिजाति सुत्त, भाग ३, पृ० ८६।

४—वही, ६।६।३ :

तत्रिदं भन्ते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पञ्ञत्ता, निगण्ठा एक साटका।

आचारांग में भी एक शाटक रखने का उल्लेख है।[१] अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थों के नग्न रूप को लक्षित करके ही उन्हें 'अह्रीक' कहा गया है।[२] आचारांग में निर्ग्रन्थों के लिए अचेल रहने का भी विधान है।[३] विष्णुपुराण में जैन-साधुओं के निर्वस्त्र और सवस्त्र—दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है।[४]

इन सभी उल्लेखों से यह जान पड़ता है कि भगवान् महावीर के शिष्य सचेल और अचेल—इन दोनों अवस्थाओं में रहते थे। फिर भी अचेल अवस्था को अधिक महत्त्व दिया गया, इसीलिए केशी के शिष्यों के मन में उसके प्रति एक वितर्क उत्पन्न हुआ था। प्रारम्भ में अचेल शब्द का अर्थ निर्वस्त्र ही रहा होगा और दिगम्बर, श्वेताम्बर संघर्ष-काल में उसका अर्थ 'अल्प वस्त्र वाला' या 'मलिन वस्त्र वाला' हुआ होगा अथवा एक वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों के लिए भी अचेल का प्रयोग हुआ होगा। दिगम्बर-परम्परा ने निर्वस्त्र रहने का एकान्तिक आग्रह किया और श्वेताम्बर-परम्परा ने निर्वस्त्र रहने की स्थिति के विच्छेद की घोषणा की। इस प्रकार सचेल और अचेल का प्रश्न, भगवान् महावीर ने जिसको समाहित किया था, आगे चल कर विवादास्पद बन गया। यह विवाद अधिक उग्र तब बना, जब आजीवक श्रमण दिगम्बरों में विलीन हो रहे थे। तामिल काव्य 'मणिमेखले' में जैन-श्रमणों को निर्ग्रन्थ और आजीवक—इन दो भागों में विभक्त किया गया है। भगवान् महावीर के काल में आजीवक एक स्वतंत्र सम्प्रदाय था। अशोक और दशरथ के 'बराबर' तथा 'नागार्जुनी गुहा-लेखों' से उसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। उनके श्रमणों को गुहाएँ दान में दी गई थी।[५] सम्भवत ई० म० के आरम्भ से आजीवक मत का उल्लेख प्रशस्तियों में नहीं मिलता। डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने संभावना की है कि आजीवक ब्राह्मण मत में विलीन हो गए।[६] किन्तु मणिमेखले

१—आचारांग, १।८।४।५२ :
अदुवा एग साडे।

२—अंगुत्तरनिकाय, १०।८।८, भाग ४, पृ० २१८ :
अहिरिका भिक्खवे निगण्ठा।

३—आचारांग, १।८।४।५३ :
अदुवा अचेले।

४—विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय १८, श्लोक १० :
दिग्वाससामय धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम्।

५—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, खण्ड २, पृ० २२।

६—वही, खण्ड १, पृ० १२६।

से यही प्रमाणित होता है कि आजीवक-श्रमण दिगम्बर श्रमणो मे विलीन हो गए।[१]

आजीवक नग्नत्व के प्रबल समर्थक थे। उनके विलय होने के पश्चात् सम्भव है कि दिगम्बर-परम्परा मे भी अचेलता का आग्रह हो गया। यदि आग्रह न हो तो सचेल और अचेल—इन दोनो अवस्थाओं का सुन्दर सामञ्जस्य बिठाया जा सकता है, जैसा कि भगवान् महावीर ने बिठाया था।

(५) प्रतिक्रमण

भगवान् पार्श्व के शिष्यो के लिए दोनों सन्ध्याओ मे प्रतिक्रमण करना अनिवार्य नही था। जब कोई दोषाचरण हो जाता, तब वे उसका प्रतिक्रमण कर लेते। भगवान् महावीर ने अपने शिष्यो के लिए दोनो सन्ध्याओ में प्रतिक्रमण करना अनिवार्य कर दिया, भले फिर कोई दोषाचरण हुआ हो या न हुआ हो।[२]

(६) अवस्थित और अनवस्थित कल्प

भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के शासन-भेद का इतिहास दस कल्पों में मिलता है। उनमे से चातुर्याम धर्म, अचेलता, प्रतिक्रमण पर हम एक दृष्टि डाल चुके हैं। भगवान् पार्श्व के शिष्यों के लिए—१ शय्यातर-पिण्ड (उपाश्रय दाता के घर का आहार) न लेना, २-चातुर्याम-धर्म का पालन करना, ३-पुरुष को ज्येष्ठ मानना, ४-दीक्षा पर्याय मे बडे साधुओं को वदना करना—ये चार कल्प अवस्थित थे। १-अचेलता, २-औद्देशिक, ३-प्रतिक्रमण, ४-राजपिण्ड, ५-मासकल्प, ६-पर्युषण कल्प—ये छहो कल्प अनवस्थित थे—ऐच्छिक थे। भगवान् महावीर के शिष्यो के लिए ये सभी कल्प अवस्थित थे, अनिवार्य थे।[३] परिहार विशुद्ध चारित्र भी भगवान् महावीर की देन थी। इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र की भांति 'अवस्थित कल्पी' कहा गया है।[४]

*

१-बुद्धिस्ट स्टडीज, पृ० १५।

२-(क) आवश्यक निर्युक्ति, १२४४।

(ख) मूलाचार ७।१२५-१२६।

३-भगवती, २५।७।७८७.

सामाइय संजमे णं भंते! किं ठियकप्पे होज्जा अट्ठियकप्पे होज्जा? गोयमा ठियकप्पे वा होज्जा अट्ठियकप्पे वा होज्जा, छेदोवट्ठावणियसंजए पुच्छा, गोयमा! ठियकप्पे होज्जा नो अट्ठियकप्पे होज्जा।

४-भगवती, २५।७।७८७।

प्रकरण : सातवाँ

१-साधना-पद्धति

साध्य की सम्पूर्ति के लिए साधना-पद्धति अपेक्षित होती है। प्रत्येक दर्शन ने अपने साध्य की सिद्धि के लिए उसका विकास किया है। उनमें से जैन-दर्शन भी एक है।

सांख्य-दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतंजलि के योग-दर्शन में मिलता है। वह ई० पू० दूसरी शताब्दी की रचना है। पाणिनि के भाष्यकार, चरक के प्रति-संस्कर्त्ता और योग-दर्शन के कर्त्ता महर्षि पतञ्जलि एक ही व्यक्ति हैं। अतः उनका अस्तित्वकाल पाणिनी के बाद का है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई० पू० ३२२ से १८५ तक माना जाता है। मौर्य-वंश का अंतिम राजा बृहद्रथ था। वह ई० पू० १८५ में अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया था। महर्षि पतजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्व काल ई० पू० दूसरी शताब्दी है। बौद्ध-दर्शन का साधना मार्ग 'अभिधम्मकोष' (ई० सन् पाँचवी शताब्दी) और 'विसुद्धिमग्ग' (ई० सन् पाँचवी शताब्दी) में उपलब्ध है। उत्तराध्ययन उक्त तीनों ग्रन्थों से पूर्ववर्ती है। योग सूत्रकार पतञ्जलि और महाभाष्यकार पतञ्जलि एक व्यक्ति नहीं थे, यह नगेन्द्रनाथ वसु का अभिमत है।[1] उनके अनुसार महाभाष्यकार के बहुत पहले कात्यायन ने अपने वार्तिक (६।१।६४) में पतञ्जलि का स्पष्ट नामोल्लेख किया है। अतः यह निश्चित है कि योग सूत्रकार पतञ्जलि कात्यायन के पूर्ववर्ती है। कुछ विद्वान् योग सूत्रकार पतञ्जलि को पाणिनि से पूर्ववर्ती मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। पाणिनि ने कहीं पर भी पतञ्जलि, पातंजल दर्शन प्रतिपाद्य किसी पारिभाषिक शब्द का उल्लेख नहीं किया।

पतञ्जलि ने अपने योग-दर्शन में ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जो वैदिक-साहित्य के पारिभाषिक शब्दों से भिन्न हैं और श्रमणों के पारिभाषिक शब्दों से अभिन्न हैं। इससे यह फलित होता है कि पतञ्जलि की दृष्टि में श्रमणों की साधना-पद्धति प्रतिबिम्बित थी।

साध्य

जैन-दर्शन के अनुसार मनुष्य का साध्य है—मोक्ष या आत्मोपलब्धि। आत्मा का स्वरूप है—ज्ञान, सम्यक्त्व और वीतरागता। सम्यक्त्व विकृत, ज्ञान आवृत्त और वीतरागता

१—विश्वकोष, भाग १३, पृ० २५४।

अप्रकटित होती है, तब तक हर व्यक्ति के लिए अपनी आत्मा साध्य होती है और जब सम्यक्त्व मल रहित, ज्ञान अनावृत्त और वीतरागता प्रकट होती है, तब वह स्वयं सिद्ध हो जाती हे ।

साध्य की सिद्धि के लिए जिन हेतुओ का आलम्बन लिया जाता है, उन्ह साधन और उनके अभ्यास क्रम को 'साधना' कहा जाता है ।

साधन

मोक्ष के साधन चार है—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र और (४) तप ।[१] ज्ञान से सत्य जाना जाता है और दर्शन (सम्यक्त्व) से सत्य के प्रति श्रद्धा होती है, इसलिए ये दोनो सत्य की प्राप्ति के साधन हैं । चारित्र से आने वाले कर्मों का निरोध होता है और तप से पूर्व सचित कर्म क्षीण होते है, इसलिए ये दोनो सत्य की उपलब्धि के साधन हैं । ये चारो समुदित रूप से मोक्ष या आत्मोपलब्धि के साधन हैं ।[२]

साधना

मोक्ष के साधन चार है, इसलिए उसकी साधना के भी मुख्य प्रकार चार है—(१) ज्ञान की साधना, (२) दर्शन की साधना, (३) चारित्र की साधना और (४) तप की साधना ।

(१) ज्ञान की साधना के पाँच अग है—

(१) वाचना—	पढाना ।
(२) प्रतिपृच्छा—	प्रश्न पूछना ।
(३) परिवर्तना—	पुनरावृत्ति करना ।
(४) अनुप्रेक्षा—	चिन्तन करना ।
(५) धर्म कथा—	धर्म-चर्चा करना ।

ज्ञान की आराधना करने से अज्ञान क्षीण होता हे ।[३] ज्ञान-सम्पन्न जीव ससार मे विनष्ट नहीं होता । जिस प्रकार धागा पिरोई सूई गिरने पर भी गुम नही होती, उसी प्रकार ज्ञान-युक्त जोवन संसार में विलुप्त नहीं होता ।[४] इस प्रकार भगवान् महावीर ने ज्ञान का उतना ही समर्थन किया, जितना कि चारित्र का । इसलिए जैन-दर्शन को हम केवल ज्ञान-योग का समर्थक नही कह सकते ।

१–उत्तराध्ययन, २८।३ ।
२–वही, २८।३५ ।
३–वही, २९।१८-२४ ।
४–वही, २९।५९ ।

(२) दर्शन की साधना के ८ अंग हैं—

(१) निःशंकित।
(२) निष्कांक्षित।
(३) निर्विचिकित्सा।
(४) अमूढ़-दृष्टि।
(५) उपबृंहण।
(६) स्थिरीकरण।
(७) वात्सल्य।
(८) प्रभावना।

दर्शन जैन-संघ के संगठन का मूल आधार रहा है। पहला आधार है—आस्था या अभय। एकसूत्रता का मूल बीज आस्था है। स्वसम्मत लक्ष्य के प्रति आस्थावान् हुए बिना कोई भी प्रगति नहीं कर सकता। लक्ष्य के साथ तादात्म्य हो, यह संगठन की पहली अपेक्षा है। अभय भी ऐसी ही अनिवार्य अपेक्षा है। मन मे भय हो तो लक्ष्य को पकडा ही नही जा सकता और पूर्व गृहीत हो तो उस पर टिका नही जा सकता।

भगवान् महावीर की दृष्टि में सब दोषो का मूल है हिंसा और हिंसा का मूल है भय। कोई व्यक्ति अभय होकर ही अपने लक्ष्य की ओर स्वतन्त्र गति से चल सकता है।

संगठन का दूसरा आधार है—लक्ष्य के प्रति दृढ अनुराग या वैचारिक स्थिरता। जगत् में अनेक सगठन और उनके भिन्न-भिन्न लक्ष्य होते हैं। स्व-सम्मत लक्ष्य के प्रति दृढ अनुराग न हो तो मन कभी किसी को पकडना चाहता है और कभी किसी को। विचारो में एक अंधड सा चलता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति और संगठन दोनों ही स्वस्थ नही बन सकते।

तीसरा आधार है—स्वीकृत साधनो की सफलता मे विश्वास। हर संगठन का अपना साध्य होता है और अपने साधन होते है। किसी भी साधन से तब तक साध्य नहीं सधता, जब तक साधक को उसकी सफलता मे विश्वास न हो। इस साधन से अमुक साधन की सिद्धि निश्चित होगी—ऐसा माने बिना संगठन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

संगठन का चौथा आधार-स्तम्भ है—अमूढ़-दृष्टि। दूसरे विचारों के प्रति हमारी सद्भावना हो, यह सही है पर यह सही नही कि अपनी नीति से विरोधी विचारों के प्रति हमारी सहमति हो। यदि ऐसा हो तो हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध नहीं रह सकता और हमारे संगठन और कार्य-प्रणाली का कोई स्वतंत्र रूप भी नहीं रह सकता। संगठन के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि उसका अनुयायी विनम्र हो पर 'सब समान हैं' इस अविवेक का समर्थक न हो।

पाँचवाँ आधार है—उपबृंहण। संगठन की आत्मा है—गुण या विशेषता। गुण और अवगुण—ये दोनों मनुष्य के सहचारी हैं। गुण की वृद्धि और अवगुण का शोधन करना संगठन के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। पर इसमें बहुत सतर्कता बरती जानी चाहिए। अवगुण का प्रतिकार होना चाहिए पर उसे प्रसारित कर संगठन के सामने जटिलता पैदा नहीं करनी चाहिए। गुण का विकास करना चाहिए पर उसके प्रति ईर्ष्या या उन्माद न हो, ऐसी सजगता रहनी चाहिए। इसी सूत्र के आधार पर यह विचार विकसित हुआ था कि जो एक साधु की पूजा करता है, वह सब साधुओं की पूजा करता है यानि साधुता की पूजा करता है। जो एक साधु की अवहेलना करता है, वह सब साधुओं की अवहेलना करता है यानि साधुता की अवहेलना करता है।

संगठन का छठा आधार है—स्थिरीकरण। अनेक लोगों का एक लक्ष्य के प्रति आकृष्ट होना भी कठिन है और उससे भी कठिन है, उस पर टिके रहना। आन्तरिक और बाहरी ऐसे दबाव होते हैं कि आदमी दब जाता है। शारीरिक और मानसिक ऐसी परिस्थितियाँ होती है कि आदमी पराजित हो जाता है। तब वह लक्ष्य को छोड कर दूर भागना चाहता है। उस समय उसे लक्ष्य में फिर से स्थिर करना संगठन के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

स्थिरीकरण के हेतु अनेक हो सकते हैं। उनमें सबसे बडा हेतु है वात्सल्य और यही सातवाँ आधार है। सेवा और संविभाग इसी सूत्र पर विकसित हुए हैं। भगवान् ने कहा—"असंविभागी को मोक्ष नही मिलता। जो संविभाग को नहीं जानता, वह अपने आपको अनगिन बंधनों में जकड लेता है, फिर मुक्ति की कल्पना कहाँ ?" इसी सूत्र के आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यों ने भगवान् के मुँह से कहलाया कि जो रोगी साधु की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है और एकात्मता की भाषा मे गाया गया—"भिन्न-भिन्न देश में उत्पन्न हुए, भिन्न-भिन्न आहार से शरीर बढा किन्तु जैसे ही वे जिन-शासन में आए, वैसे ही सब भाई हो गए।" यह भाईचारा और सेवाभाव ही संगठन की सुदृढ आधार-शिला है।

आठवाँ आधार है प्रभावना। वही संगठन टिक सकता है जो प्रभावशाली होता है। लक्ष्य पूर्ति के साधनों को प्रभावशाली बनाए रखे बिना उनकी ओर किसी का झुकाव ही नहीं होता। दूसरों के मन को भावित करने की क्षमता रखने वाले ही संगठन को प्रभावशाली बना सकते हैं। विद्या, कला, कौशल, वक्तृत्व आदि शक्तियों का विकास और पराक्रम सहज ही जन-मानस को प्रभावित कर देता है। संगठन के लिए ऐसे पारगामी व्यक्ति भी सदा अपेक्षित होते हैं।

संगठन के लिए जो आठ आधार भगवान् ने बताए, उनमें से पहले चार वैयक्तिक हैं। कोई भी व्यक्ति उनसे अपनी आत्मा की सहायता करता है और साथ-साथ संघ

को भी लाभान्वित करता है। अन्तिम चार से व्यक्ति दूसरों की सहायता कर संघ को शक्तिशाली बनाता है।

दर्शन-विहीन व्यक्ति के ज्ञान नहीं होता ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता, चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता।[१]

दर्शन सम्पन्न व्यक्ति भव परम्परा का अंत पा लेता है।[२] इस प्रकार हम देखते है कि भगवान् महावीर ने दर्शन को उतना ही महत्त्व दिया, जितना ज्ञान और चारित्र को। इसीलिए हम जैन-दर्शन को केवल श्रद्धा (या भक्ति) योग का समर्थक नहीं कह सकते।

(३) चारित्र की साधना के पाँच अंग है--

(१) सामायिक।

(२) छेदोपस्थापन।

(३) परिहारविशुद्धीय।

(४) सूक्ष्मसंपराय।

(५) यथाख्यात।[३]

चारित्र सम्पन्न व्यक्ति स्थिर बनता है।[४] भगवान् महावीर ने चारित्र को ज्ञान और दर्शन का सार कहा है। जैन-दर्शन केवल चारित्र कर्म योग का समर्थक नहीं है।

(४) तप की साधना के बारह अंग है —

(१) अनशन।[६]

(२) ऊनोदरी।

(३) भिक्षाचरी।[७]

(४) रस-परित्याग।

(५) काय-क्लेश।

(६) संलीनता (विविक्त-शयनासन)

(७) प्रायश्चित्त।

१—उत्तराध्ययन, २८।३०।

२—वही, २९।६०।

३—वही, २८।३२-३३।

४—वही, २९।६१।

५—उत्तराध्ययन ३०।८ ३०।

६—उत्तराध्ययन के टिप्पण, ३०।१२,१३ का टिप्पण।

७—उत्तराध्ययन के टिप्पण, ३०।२५ का टिप्पण।

(८) विनय।
(९) वैयावृत्त्य।
(१०) स्वाध्याय।
(११) ध्यान।
(१२) व्युत्सर्ग।

जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है। इसीलिए वह कोरे तपो-योग का समर्थक नहीं है। वह श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप में सामञ्जस्य स्थापित करता है और केवल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र या तप को मान्यता देने वाले उसकी दृष्टि मे अपूर्ण हैं।

२-योग

जैन योग की अनेक शाखाएँ हैं—दर्शन-योग, ज्ञान-योग, चारित्र-योग, तपो-योग, स्वाध्याय-योग, ध्यान-योग, भावना-योग, स्थान-योग, गमन-योग और आतापना-योग।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपो-योग की चर्चा साधना के प्रकरण में की जा चुकी है। स्वाध्याय-योग ज्ञान-योग का ही एक प्रकार है। स्वाध्याय और ध्यान-योग का समावेश तपो-योग में भी होता है। इस प्रकरण मे हम भावना, स्थान, गमन और आतापना—इन योगो की चर्चा करेंगे।

भावना-योग

साधना के प्रारम्भ में प्राचीन जीवन का विघटन और नए जीवन का निर्माण करना होता है। इस प्रक्रिया में भावना का बहुत बडा उपयोग है। जिन चेष्टाओ व संकल्पो द्वारा मानसिक विचारो को भावित या वासित किया जाता है, उन्हें 'भावना' कहा जाता है।[1] महर्षि पतञ्जलि ने भावना और जप में अभेद माना है।[2]

भावना के अनेक प्रकार हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, भक्ति आदि जिन-जिन चेष्टाओं व अभ्यासों से मानस को भावित किया जाता है, वे सब भावनाएँ हैं अर्थात् भावनाएँ असंख्य हैं।[3] फिर भी उनके कई वर्गीकरण मिलते हैं। पाँच महाव्रत की पच्चीस

१–पासणाहचरियं, पृ० ४६० :
  भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ।
२–पातञ्जल योग, सूत्र १।२८ :
  तज्जपस्तदर्थभावनम्।
३–पासणाहचरियं, पृ० ४६०।

भावनाएँ हैं ।[१] धर्म और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ हैं ।[२] वे मिलित रूप में आठ भावनाएँ हैं। ये दोनों आगमकालीन वर्गीकरण हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में बारह भावनाओं का एक वर्गीकरण[३] और दूसरा वर्गीकरण चार भावनाओं का प्राप्त होता है ।[४]

इन दोनों वर्गीकरणों की सोलह भावनाएँ प्रकीर्ण रूप में आगमों में मिलती हैं, किन्तु इनका वर्गीकृत रूप उत्तरकाल में ही हुआ।

महाव्रतों की भावनाएँ उनकी स्थिरता के लिए हैं ।[५] प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं ।[६]

अहिंसा-महाव्रत

(१) ईर्यासमिति ।
(२) मन-परिज्ञा ।
(३) वचन-परिज्ञा ।
(४) आदान-निक्षेप समिति ।
(५) आलोकित-पान-भोजन ।

सत्य-महाव्रत

(१) अनुवीचि-भाषण ।
(२) क्रोध-प्रत्याख्यान ।
(३) लोभ-प्रत्याख्यान ।
(४) अभय (भय-प्रत्याख्यान) ।
(५) हास्य-प्रत्याख्यान ।

अचौर्य-महाव्रत

(१) अनुवीचि-मितावग्रह-याचन ।
(२) अनुज्ञापित पान-भोजन ।
(३) अवग्रह का अवधारण ।
(४) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन ।
(५) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन ।

१–उत्तराध्ययन, ३१।१७ ।
२–स्थानांग, ४।१।२४७ ।
३–तत्त्वार्थ, ९।७ ।
४–वही, ७।६ ।
५–तत्त्वार्थ, ७।३ :
तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।
६–आचारांग, २।३।१५।४०२ ।

अपरिग्रह-महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव ।

(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव ।

(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में समभाव ।

(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे समभाव ।

(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव ।

धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ है --

(१) एकत्व,
(२) अनित्य,
(३) अशरण और
(४) संसार ।[1]

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

(१) अनन्तवर्तिता—भव-परम्परा अनन्त है,

(२) विपरिणाम— वस्तु विविध रूपो में परिणत होती रहती है,

(३) अशुभ— संसार अशुभ है और

(४) अपाय— जितने आश्रव हैं, बन्धन के हेतु है, वे सब मूल दोष है ।[2]

इनमे से धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बारह भावनाओं के वर्ग मे संगृहीत हैं । बारह भावनाएँ इस प्रकार हैं --

(१) अनित्य
(२) अशरण
(३) संसार
(४) एकत्व
(५) अन्यत्व
(६) अशुद्धि
(७) आश्रव
(८) संवर
(९) निर्जरा
(१०) लोक
(११) बोधि-दुर्लभ
(१२) धर्म

चार भावनाएँ—

(१) मैत्री

(२) प्रमोद

(३) कारुण्य

(४) माध्यस्थ्य

इन भावनाओं के अभ्यास से मोह-निवृत्ति होती है और सत्य की उपलब्धि होती

१-स्थानांग, ४।१।२४७ ।

२-वही, ४।१।२४७ ।

है। भगवान् महावीर ने कहा—"जिसकी आत्मा भावना-योग से शुद्ध है, वह जल में नौका के समान है, वह तट को प्राप्त कर सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।"[१]

आगमो में इनका प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

अनित्य-भावना

धीर पुरुष को मुहूर्त्त-भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अवस्था बीती जा रही है। यौवन चला आ रहा है।[२]

अशरण-भावना

सगे-सम्बन्धी तुम्हारे लिए त्राण नही हैं और तुम भी उनके लिए त्राण नही हो।[३]

ससार-भावना

इस जन्म-मरण के चक्कर मे एक पलक-भर भी सुख नही है।[४]

एकत्व-भावना

आदमी अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। उसकी सज्ञा, विज्ञान और वेदना भी व्यक्तिगत होती है।[५]

अन्यत्व-भावना

काम-भोग मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हू। पदार्थ मुझसे भिन्न है और मै उनसे भिन्न हूँ।[६]

अशौच-भावना

यह शरीर अपवित्र है, अनेक रोगो का आलय है।[७]

१–सूत्रकृताङ्ग, १।१५।५ :
भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावाव आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥

२–(क) आचारांग, १।२।१।
(ख) उत्तराध्ययन, १३।३१।

३–(क) उत्तराध्ययन, ६।३।
(ख) आचारांग, १।२।१।

४–उत्तराध्ययन, १९।७४।

५–वही, १८।१४-१५।

६–सूत्रकृतांग, २।१।१३।

७–उत्तराध्ययन, १०।२७।

आश्रव-भावना

आश्रव—कर्म-बन्धन के हेतु ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं और मध्य मे भी हैं ।[१]

संवर और निर्जरा भावना

नाले बन्द कर देने व अन्दर के जल को उलीच-उलीच कर बाहर निकाल देने पर जैसे महातालाब सूख जाता है, वैसे ही आश्रव-द्वारो को बन्द कर देने और पूर्व संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा निर्जीण करने पर आत्मा पुद्गल-मुक्त हो जाती है ।[२]

लोक-भावना

जो लोकदर्शी है, वह लोक के अधोभाग को भी जानता है, ऊर्ध्व-भाग को भी जानता है और तिर्यग्-भाग को भी जानता है ।[३]

बोधि-दुर्लभ-भावना

जागो ! क्यो नही जाग रहे हो ? बोधि बहुत दुर्लभ है ।[४]

धर्म-भावना

धर्म-जीवन का पाथेय है । यात्री के पास पाथेय होता है, तो उसकी यात्रा सुख से सम्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार जिसके पास धर्म का पाथेय होता है, उसकी जीवन यात्राएँ सुख से सम्पन्न होती है ।[५]

मैत्री-भावना

सब जीव मेरे मित्र है ।[६]

प्रमोद-भावना

तुम्हारा आर्जव आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मार्दव । उत्तम है तुम्हारी क्षमा और उत्तम है तुम्हारी मुक्ति ।[७]

कारुण्य-भावना

बन्धन से मुक्त करने का प्रयत्न और चिन्तन ।[८]

१–आचारांग, १।५।६।१७० ।
२–उत्तराध्ययन, ३०।५-६ ।
३–आचारांग, १।२।५ ।
४–सूत्रकृताङ्ग, १।२।१।१ ।
५–उत्तराध्ययन, १९।१८-२१ ।
६–वही, ६।२ ।
७–वही, ९।५७ ।
८–वही, १३।१९ ।

माध्यस्थ्य-भावना

समझाने-बुझाने पर भी सामने वाला व्यक्ति दोष का त्याग न करे, उस स्थिति में उत्तेजित न होना, किन्तु योग्यता की विचित्रता का चिन्तन करना।[1] भावना-योग के द्वारा वाञ्छनीय संस्कारों का निर्माण कर अवाञ्छनीय संस्कारों का उन्मूलन किया जा सकता है।

भावना-योग से विशुद्ध ध्यान का क्रम, जो विच्छिन्न होता है, वह पुन सध जाता है।[2]

स्थान-योग

पतञ्जलि के अष्टाङ्ग-योग मे तीसरा अङ्ग आसन है। जैन योग में आसन के अर्थ में 'स्थान' शब्द का प्रयोग मिलता है। आसन का अर्थ है 'बैठना'। स्थान का अर्थ है 'गति की निवृत्ति'। स्थिरता आसन का महत्त्वपूर्ण स्वरूप है। वह खडे रह कर, बैठ कर, और लेट कर—तीनो प्रकार से की जा सकती है। इस दृष्टि से आसन की अपेक्षा 'स्थान' शब्द अधिक व्यापक है।

स्थान-योग के तीन प्रकार है—

(१) ऊर्ध्व-स्थान,
(२) निषीदन-स्थान और
(३) शयन-स्थान।[3]

ऊर्ध्व-स्थान-योग

खड़े रह कर किए जाने वाले स्थानो को 'ऊर्ध्व-स्थान-योग' कहा जाता है। आचार्य शिवकोटि के अनुसार ऊर्ध्व-स्थान के सात प्रकार हैं[4]—

१–उत्तराध्ययन, १३।२३।

२–योगशास्त्र, ४।१२२।

आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामति ।
त्रुटितामपि संधत्ते, विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥

३–ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५२।

उड्ढनिसीयतुयट्टण ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं ।

४–मूलाराधना, ३।२२३

साधारणं सविचारं सणिरुद्धं तहेव बोसट्ठं ।
समपाद मेगपादं, गिद्धोलीण च ठाणाणि ॥

(१) साधारण— प्रमार्जित खम्भे आदि के सहारे निश्चल होकर खड़े रहना ।[1]

(२) सविचार— जहाँ स्थित हो, वहाँ से दूसरे स्थान में जाकर एक प्रहर, एक दिन आदि निश्चित-काल तक निश्चल होकर खड़े रहना ।[2]

(३) सन्निरुद्ध— जहाँ स्थित हो, वहीं निश्चल होकर खड़े रहना ।[3]

(४) व्युत्सर्ग— कायोत्सर्ग करना ।[4]

(५) समपाद— पैरों को समश्रेणि में स्थापित कर (सटा कर) खड़े रहना ।[5]

(६) एक पाद— एक पैर पर खड़े रहना ।[6]

(७) गृद्धोड्डीन— उड़ते हुए गीध के पंखों की भाँति बाहों को फैला कर खड़े रहना ।[7]

निषीदन-स्थान-योग

बैठ कर किए जाने वाले स्थानों को 'निषीदन-स्थान-योग' कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं। स्थानांग[8] में पाँच प्रकार की निषद्याएँ बतलाई गई हैं—

१–मूलाराधना, ३।२२३, विजयोदया, वृत्ति :
साधारणं—प्रमृष्टस्तंभादिक मुपाश्रित्य स्थानम् ।

२–वही, ३।२२३, विजयोदया, वृत्ति :
सविचारं—ससंक्रमं पूर्वस्थानात् स्थानान्तरे गत्वा प्रहरदिवसादि परिच्छेदेना-वस्थान मित्यर्थः ।

३–वही, ३।२२३, विजयोदया, वृत्ति :
सणिरुद्धं निश्चलमवस्थानम् ।

४–वही, ३।२२३, विजयोदया, वृत्ति :
वोसट्ठं—कायोत्सर्गम् ।

५–वही, ३।२२३, विजयोदया वृत्ति :
समपादो—समौ पादौ कृत्वा स्थानम् ।

६–वही, ३।२२३, विजयोदया, वृत्ति :
एकपादं—एकेन पादेन अवस्थानम् ।

७–वही, ३।२२३, विजयोदया, वृत्ति :
गिद्धोलीणं—गृद्धस्योर्ध्वगमन मिव बाहू प्रसार्यावस्थानम् ।

८–स्थानांग, ५।४०० :
पंच निसिज्जाओ पं० तं०—उक्कुडुती, गोदोहिता समपादपुता पलितंका, अद्धपलितंका ।

(१) उत्कटुका— उकडू आसन—पुतों को ऊँचा रख कर पैरों के बल पर बैठना।[1]

(२) गोदोहिका— गाय को दुहते समय बैठने का आसन।[2] एड़ियों को उठा कर पंजे के बल पर बैठना।[3]

(३) समपादपुता— पैरों और पुतों को सटा कर भूमि पर बैठना।[4]

(४) पर्यङ्का— पैरों को मोड़ पिंडलियों के ऊपर जाँघों को रख कर बैठना और एक हस्ततल पर दूसरा हस्ततल जमा नाभि के पास रखना।

(५) अर्द्ध-पर्यङ्का— एक पैर को मोड़, पिंडली के ऊपर जाँघ को रखना और दूसरे पैर के पंजों को भूमि पर टिका कर घुटने को ऊपर की ओर रखना।

बृहत्कल्प भाष्य में निषद्या के पाँच प्रकार कुछ परिवर्तन के साथ उपलब्ध होते हैं[5]—

(१) समपाद पुता।

(२) गोनिषद्यिका— गाय की तरह बैठना।[6]

(३) हस्तिशुण्डिका – पुतों के बल पर बैठ कर एक पैर को ऊँचा रखना।[7]

(४) पर्यङ्का।

(५) अर्द्ध-पर्यङ्का।

१–(क) स्थानांग, ५।४०० वृत्ति
आसनालग्नपुतः पादाभ्यामवस्थित उत्कुटुक स्तस्य या सा उत्कुटुका।
(ख) मूलाराधना, ३।२२४. वृत्ति।

२–स्थानांग, ५।४०० वृत्ति·
गोर्दोहनं गोदोहिका तद्वद्या याऽसौ गोदोहिका।

३–मूलाराधना, ३।२२४. वृत्ति·
गोदोहगा-गोर्दोहे आसन मिव पार्ष्णिद्वय मुत्क्षिप्याग्रपादाभ्यामासनम्।

४–स्थानांग, ५।४००, वृत्ति:
समौ—समतया भूलग्नौ पादौ च पुतौ च यस्यां सा समपादपुता।

५–बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५३, वृत्ति:
निषद्या नाम उपवेशनविशेषा, सा. पञ्चविधा, तद्यथा—समपादपुता गोनिषद्यिका हस्तिशुण्डिका पर्यङ्काऽर्धपर्यङ्का चेति।

६–वही, गाथा ५९५३, वृत्ति:
यस्यां तु गोरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका।

७–वही, गाथा ५९५३, वृत्ति
यत्र पुताभ्यामुपविश्यकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका।

इनमें उत्कटिका और गोदोहिका नहीं हैं। उनके स्थान पर हस्तिशुण्डिका और गोनिषद्यका हैं। यह परिवर्तन परम्परा-भेद का सूचक है।

स्थानांग, औपपातिक, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध आदि आगमों में वीरासन, दण्डायत, आम्रकुब्जिका तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में वज्रासन, सुखासन, पद्मासन, भद्रासन, शवासन, समपद, मकरमुख, हस्तिशुण्डि, गोनिषद्या, कुक्कुटासन आदि आसन भी उपलब्ध होते हैं।[1]

(१) वीरासन— कुर्सी पर बैठने से शरीर की जो स्थिति होती है, उस स्थिति में कुर्सी के बिना स्थित रहना।

(२) दण्डायत— दण्ड की भाँति लम्बा हो कर पैर पसार कर बैठना।

(३) आम्रकुब्जिका— आम्र-फल की भाँति टेढ़ा होकर बैठना।[2]

(४) वज्रासन— बाएँ पैर को दाईं जाँघ पर और दाएँ पैर को बाईं जाँघ पर रख कर हाथों को वज्राकार रूप में पीछे ले जाकर पैरों के अँगूठे पकड़ना।[3] यह बद्धपद्मासन जैसी स्थिति है।

१–(क) मूलाराधना, ३।२२४-२२५ :

समपलियंकणिसेज्जा, गोदोहिया य उक्कुडिया।
मगरमुह हत्थिसुंडी, गोणणिसेज्जद्धपलियंका॥
वीरासणं च दंडा य, ... ।

(ख) ज्ञानार्णव, २८।१०.

पर्यङ्क मर्द्धपर्यङ्क, वज्रवीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च, कायोत्सर्गश्च सम्मतः॥

(ग) योगशास्त्र, ४।१२४.

पर्यङ्कवीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च।
उत्कटिका गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम्॥

(घ) अमितगति श्रावकाचार, ८।४५-४८।

(ङ) मूलाराधना, अमितगति, ३।२२३-२२४ :

समस्फिगं समस्फिक्कं, कृत्यं कुक्कुटकासनम्।
बहुधेत्यासनं साधोः कायक्लेश विधायिनः॥
कोदण्डलगडाबण्ड, शवशय्यापुरस्सरम्।
कर्तव्या बहुधा शय्या, शरीरक्लेशकारिणा॥

२–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५८४ वृत्ति :

आम्रकुब्जो वा आम्रफलवद् वक्राकारेणावस्थितः।

३–योगशास्त्र, ४।१२७।

(५) सुखासन—बाएँ पैर को उसके नीचे और दाएँ पैर को जंघा के ऊपर रख कर बैठना।[1]

(६) पद्मासन— दाएँ पैर को बाईं जंघा पर और बाएँ पैर को दाईं जंघा पर रख कर बैठना।

(७) भद्रासन— वृषण के आगे दोनों पाद-तलों को संपुट कर (सीवनी के बाएँ भाग में बाएँ पैर की एड़ी रख) दोनों हाथों को कूर्म मुद्रा के आकार में स्थापित कर बैठना।[2]

(८) गवासन— गाय की तरह बैठना। गोनिषद्या और गवासन एक ही प्रतीत होता है। घेरण्ड संहिता में जो गो-मुखासन का उल्लेख है, वह इससे भिन्न है। अमितगति के अनुसार साध्वियाँ इसी आसन मे बैठ कर साधुओं को वंदन किया करती थी।[3]

(९) समपद— जंघा और कटि-भाग को समरेखा में रख कर बैठना।[4]

(१०) मकरमुख—दोनों पैरों को मगर-मुँह की आकृति में अवस्थित कर बैठना।[5] घेरण्ड संहिता में मकरासन का उल्लेख है। वह औंधे मुख सोकर छाती को भूमि पर टिका दोनों हाथों को फैला उनसे सिर को पकड़ कर किया जाता है।

१–यशस्तिलक, ३९।

२–योगशास्त्र, ४।१३० :

सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे, तलपादौ तथोपरि।
पाणिकच्छपिकां कुर्यात्, यत्र भद्रासनं तु तत्॥

३ अमितगति श्रावकाचार, ८।४८ :

गवासनं जिनैरुक्तमार्याणां यतिवंदने।

४–मूलाराधना, ३।२२४, विजयोदया वृत्ति :

समपदं—स्फिक्पिंडसमकरणेनासनम्।

५–वही, ३।२२४, विजयोदया, वृत्ति :

मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानम्।

(११) हस्तिशुण्डि—एक पैर को संकुचित कर दूसरे पैर को उस पर फैला कर, हाथी की सूँड के आकार में स्थापित कर बैठना।[1]

(१२) गोनिषद्या— दोनों जंघाओं को सिकोड कर गाय की तरह बैठना।

(१३) कुक्कुटासन—पद्मासन कर दोनो हाथ को दोनो ओर जाँघ और पिंडलियों के बीच डाल दोनो पंजों के बल उत्थित-पद्मासन की मुद्रा में होना।

शयन-स्थान-योग

सो कर किए जाने वाले स्थानों को 'शयन-स्थान-योग' कहा जाता है। बृहत्कल्प मे उसके चार प्रकार मिलते हैं। मृतक शयन (=शवासन) और ऊर्ध्व शयन—ये दो प्रकार उत्तरवर्ती ग्रन्थों में मिलते है।[2] वे इस प्रकार हैं—

(१) लगण्ड शयन—वक्र-काष्ठ की भाँति एड़ियों और सिर को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना।[3]

(२) उत्तानशयन—सीधा लेटना। शवासन मे हाथ-पाँव अलग रहते हैं, परन्तु इसमे दोनो पाँव मिले रह कर दोनो हाथ बगल मे रहते हैं।

(३) अधोमुख शयन—औंधा लेटना।

(४) एक पार्श्व शयन—दाईं और बाईं करवट लेटना। एक पैर को संकुचित कर दूसरे पैर को उसके ऊपर से ले जाकर फैलाना और दोनों हाथो को लम्बा कर सिर की ओर फैलाना।

१-(क) मूलाराधना, ३।२२४, विजयोदया वृत्ति :

हस्तिसुंडी—हस्ति हस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनम्।

(ख) मूलाराधना दर्पण :

हस्तिसुंडी—हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पाद संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्यासनम्।

२-मूलाराधना, ३।२२५ :

·········उब्भमाई य लगंडसायी य।
उत्ताणोमच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य॥

३-बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५४, वृत्ति :

लगण्डं किल—दुःसंस्थितं काष्ठम्, तद्वत् कुब्जतया मस्तकपार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालगनेनेत्यर्थः, या तथाविधाभिग्रहविशेषेण शेते सा लगण्डशायिनी।

(५) मृतक शयन—शवासन ।[1]

(६) ऊर्ध्व शयन— ऊँचा होकर सोना ।

(७) धनुरासन— पेट के बल सीधा लेट, दोनों पैरो को ऊपर की ओर उठा, दोनों हाथों से उन्हे पकड लेना ।

पतञ्जलि ने आसन की व्याख्या की है, किन्तु उसके प्रकारो का उल्लेख नहीं किया है । भाष्यकार व्यास ने १३ आसनो का उल्लेख किया है—

(१) पद्मासन,	(६) सोपाश्रय,	(११) समसंस्थान,
(२) भद्रासन,	(७) पर्यङ्क,	(१२) स्थिरसुख और
(३) वीरासन,	(८) क्रौंचनिषदन,	(१३) यथासुख ।[2]
(४) स्वस्तिकासन,	(९) हस्तिनिषदन,	
(५) दण्डासन,	(१०) उष्ट्रनिषदन	

आसनों के अर्थ-भेद

कुछ आसनो के अर्थ समान हैं तो कुछ एक आसनो के अर्थ समान नही है । पर्यङ्क, अर्ध-पर्यङ्क, वीरासन, उत्कटिका, हस्तिशुण्डिका, दण्डायत—इन आसनो के अर्थ विभिन्न प्रकार से उपलब्ध होते हैं । अभयदेव सूरि (वि० सं० की ११वीं शताब्दी) ने पर्यङ्क और अर्द्ध-पर्यङ्क आसन का अर्थ क्रमश 'पद्मासन' और 'अर्द्ध-पद्मासन' किया है ।[3]

आचार्य हेमचन्द्र (वि० स० की १२ वी शताब्दी) ने पद्मासन को पर्यङ्कासन से भिन्न माना है ।[4]

आचार्य हेमचन्द्र और अमितगति के अनुसार पर्यङ्कासन का अर्थ है—पैरो को मोड, पिडलियो के ऊपर जाँघो को रख कर बैठना और एक हस्ततल पर दूसरा हस्ततल जमा

१–मूलाराधना दर्पण, ३।२२५ :
मडयसाई—मृतकस्येव निश्चेष्ट शयनम् ।

२–पातञ्जल योगसूत्र, २।४६, भाष्य ।

३–स्थानांग, ५।४००, वृत्ति :
पर्यङ्का—जिनप्रतिमानामिव या पद्मासनमिति रूढा, तथा अर्द्धपर्यङ्का—ऊरावेकपादनिवेशनलक्षणेति ।

४–योगशास्त्र, ४।१२५, १२९ ।

नाभि के पास रखना।[1] यह मुद्रा वज्रासन जैसी है। शङ्कराचार्य ने पर्यङ्कासन की अवस्थिति इससे भिन्न मानी है। उनके अनुसार घुटनों को मोड़, हाथों को फैला कर सोना 'पर्यङ्कासन' है।[2] यह मुद्रा सुप्तवज्रासन जैसी है। सुप्तवज्रासन को पर्यङ्कासन माना जाए तो वज्रासन को अर्ध-पर्यङ्कासन माना जा सकता है। किन्तु जैन-आचार्यों का मत इससे भिन्न है। वे वज्रासन की मुद्रा को पर्यङ्कासन और अर्ध-वज्रासन (एक घुटने को ऊपर रख कर बैठने की मुद्रा) को अर्ध-पर्यङ्कासन मानते हैं।[3]

वीरासन

शङ्कराचार्य के अनुसार किसी एक पैर को सिकोड़ घुटने को ऊपर की ओर रख कर और दूसरे पैर के घुटने को भूमि में सटा कर बैठना वीरासन है।[4] बृहत्कल्प भाष्य के अनुसार कुर्सी पर बैठने से शरीर की जो स्थिति होती है, उस स्थिति में कुर्सी के बिना स्थित रहना वीरासन है।[5]

१–(क) योगशास्त्र, ४।१२५ :

स्याज्जंघयोरधोभागे, पादोपरि कृते सति।
पर्यङ्को नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तर-पाणिकः॥

(ख) अमितगति श्रावकाचार, ८।४६

बुधैरुपर्यधोभागे, जंघयोरुभयोरपि।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं, पर्यङ्कासनमासनम्॥

२–पातञ्जल योगसूत्र, २।४७, भाष्यविवरण :

आजानुप्रसारितबाहुशयनं पर्यङ्कासनम्।

३–बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५३, वृत्ति :

अर्धपर्यङ्का यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति।

४–पातञ्जल योगसूत्र, २।४७, भाष्यविवरण :

कुंचितान्यतरपादमवनिविन्यस्तापरजानुकं वीरासनम्।

५–बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५४, वृत्ति :

'वीरासणं तु सीहासणे व जह मुक्कजण्णुक णिविट्ठो।' वृत्ति—वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टो भून्यस्तपाद आस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासन इव निविष्टो मुक्तजानुक इव निरालम्बनेऽपि यद् आस्ते। दुष्करं चैतद्, अतएव वीरस्य—साहसिकस्यासनं वीरासनमित्युच्यते।

अपराजित सूरि (वि० सं० की १२ वीं शताब्दी) ने वीरासन का अर्थ 'दोनों जंघाओं में अन्तर डाल कर उन्हें फैला कर बैठना' किया है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने बृहत्कल्प भाष्य के अर्थ को मतान्तर के रूप में स्वीकृत किया है।[2] उनका अपना मत यह है—बाएँ पैर को दाईं जंघा पर और दाएँ पैर को बाईं जंघा पर रख कर बैठना वीरासन है।[3] उनके अनुसार इस मुद्रा को कुछ योगाचार्य पद्मासन भी मानते हैं।[4] पं० आशाधरजी (वि० सं० १३ वी शताब्दी) का अर्थ आचार्य हेमचन्द्र का समर्थन करता है।[5] आचार्य अमितगति का मत यही है।[6]

पद्मासन

आगमोक्त आसनो मे पद्मासन का उल्लेख नहीं है। पहले बताया जा चुका है कि अभयदेव सूरि पर्यङ्कासन का अर्थ पद्मासन करते हैं। आगम-काल में पद्मासन के लिए 'पर्यङ्कासन' शब्द प्रचलित रहा हो तो जैन-परम्परा मे पद्मासन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है। इसका उल्लेख ज्ञानार्णव[7], अमितगति श्रावकाचार, योग-शास्त्र आदि ग्रन्थों में मिलता है।

अमितगति के अनुसार एक जँघा के साथ दूसरी जँघा का समभाग मे जो आश्लेष

१–मूलाराधना, ३।२२५, विजयोदया वृत्ति :
　वीरासणं—जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनम्।

२–योगशास्त्र, ४।१२८ :
　सिंहासनाधिरूढस्यासनापनयने सति।
　तथैवावस्थितिर्या तामन्ये वीरासनं विदुः॥

३–वही, ४।१२६ :
　वामोऽङ्घ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं, वामोरूपरि दक्षिणः।
　क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम्॥

४–वही, ४।१२६ वृत्ति :
　पद्मासनमित्येके।

५–मूलाराधना दर्पण, ३।२२५ :
　वीरासणं—ऊरुद्वयोपरि पादद्वयविन्यासः।

६–अमितगति श्रावकाचार, ८।४७ :
　ऊर्वोरुपरि निक्षेपे, पादयोर्विहिते सति।
　वीरासनं चिरं कर्तुं, शक्यं धीरैर्न कातरैः॥

७–ज्ञानार्णव, २८।१०।

होता है, वह पद्मासन है।[1] आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जंघा के मध्य भाग में दूसरी जंघा का श्लेष करना पद्मासन है।[2]

सोमदेव सूरि के अनुसार जिसमे दोनों पैर दोनों घुटनों से नीचे दोनों पिण्डलियों पर रख कर बैठा जाता है, उसे पद्मासन कहते हैं।[3]

शङ्कराचार्य ने पद्मासन का अर्थ किया है—'बाएँ पैर को दाईं जंघा पर और दाएँ पैर को बाईं जंघा पर रख कर बैठना।[4]

गोरक्ष संहिता के अनुसार बाएँ ऊरु पर दायाँ पैर और दाएँ ऊरु पर बायाँ पैर रख कर दोनों हाथों को पीछे ले जा, दाएँ हाथ से दाएँ पैर का और बाएँ हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा पकड कर बैठना पद्मासन है।[5] यह बद्ध-पद्मासन का लक्षण है। मुक्त पद्मासन मे दोनो हाथो को पीछे ले जाकर अंगूठे नही पकड़े जाते।

सोमदेव सूरि ने पद्मासन, वीरासन और सुखासन मे जो अन्तर किया है, वह बहुत उपयुक्त लगता है। पद्मासन का अर्थ पहले बताया जा चुका है। जिसमें दोनो पैर दोनों घुटनो के ऊपर के हिस्से पर रख कर बैठा जाता है अर्थात् दाईं ऊरु के ऊपर बायाँ पैर

१-अमितगति, श्रावकाचार, ८।४५ :
जंघाया जघया श्लेषे, समभागे प्रकीर्तितम्।
पद्मासनं सुखाधायि, सुसाध्यं सकलैर्जनैः॥

२-योगशास्त्र, ४।१२९ :
जंघाया मध्यभागे तु, संश्लेषो यत्र जंघया।
पद्मासन मिति प्रोक्तं, तदासनविचक्षणैः॥

३-उपासकाध्ययन, ३९।७३२ :
संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनम्॥

४-पातञ्जल योगसूत्र, २।४६, विवरण :
तत्र पद्मासनं नाम—सव्यं पादमुपसंहृत्य दक्षिणोपरि निदधीत तथैव दक्षिणं, सव्यस्योपरिष्टात्।

५-गोरक्ष संहिता :
वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा-
प्यन्योरूपरि तस्य बन्धनविधौ धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अंगुष्ठं हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥

और बाईं ऊरु के ऊपर दायाँ पैर रखा जाता है, उसे 'वीरासन' कहते हैं। जिसमें पैरों की गाँठ बराबर रहती है, उसे 'सुखासन' कहते हैं।[1]

दण्डायत

बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है 'दण्ड की भाँति लम्बा होकर पैर पसार कर बैठना।'[2] आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य शङ्कर के अभिमत में यह बैठ कर किया जाने वाला आसन है। उनके अनुसार यह आसन बैठ कर, पैरों को फैला कर टखनों, अँगूठों और घुटनों को सटा कर किया जाता है।[3]

किन्तु अपराजित सूरि ने उसे 'शयनयोग' माना है। उनके अनुसार वह दण्ड की भाँति शरीर को लम्बा कर, सीधा सोकर किया जाता है।[4]

वर्तमान में करणीय आसन

जैन-परम्परा में कठोर-आसन और सुखासन—दोनों प्रकार के आसन प्रचलित थे, किन्तु विक्रम की सहस्राब्दी के अन्तिम चरण में कुछ आचार्यों की यह धारणा बन गई कि वर्तमानकाल में शारीरिक शक्ति की दुर्बलता के कारण कायोत्सर्ग और पर्यङ्क—ये दो आसन ही प्रशस्त है।[5]

आसन तीन प्रयोजनों से किए जाते थे—(१) इन्द्रिय-निग्रह के लिए, (२) विशिष्ट विशुद्धि के लिए और (३) ध्यान के लिए। विशिष्ट विशुद्धि के लिए तथा किंचित् मात्रा में इन्द्रिय-निग्रह के लिए किए जाने वाले आसन उग्र होते इसलिए उन्हें काय क्लेश तप की

१–उपासकाध्ययन, ३९।७३२।

२–बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५८, वृत्ति
दण्डस्येवायतं—पादप्रसारणेन दीर्घं यद् आसन तद् दण्डासनम्।

३–(क) योगशास्त्र, ४।१३१
शिलष्टांगुली शिलष्टगुल्फौ भूशिलष्टोरू प्रसारयेत्।
यत्रोपविश्य पादौ तद्दण्डासनमुदीरितम्॥

(ख) पातञ्जल योगसूत्र, २।४६, भाष्य-विवरण :
समगुल्फौ समांगुष्ठौ प्रसारयन् समजानू पादौ दण्डवद्येनोपविशेत तत् दण्डासनम्।

४–मूलाराधना, ३।२२५, विजयोदया वृत्ति.
दण्डवदायतं शरीरं कृत्वा शयनम्।

५–ज्ञानार्णव, २८।१२।
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः, प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्, कालदोषेण सम्प्रति॥

कोटि में रखा गया। ध्यान के लिए कठोर आसन का विधान नहीं है। जिस आसन से मन स्थिर हो, वही आसन विहित है।[1]

जिनसेन ने ध्यान की दृष्टि से शरीर की विषम स्थिति को अनुपयुक्त बतलाया। उन्होंने लिखा—"विषम आसनों से शरीर का निग्रह होता है, उससे मानसिक पीडा और विमनस्कता। विमनस्कता की स्थिति मे ध्यान नही हो सकता। अतः ध्यान-काल में सुखासन ही इष्ट है। कायोत्सर्ग और पर्यङ्क—ये दो आसन सुखासन हैं, शेष सब विषम आसन हैं। इन दोनों मे भी मुख्यत पर्यङ्क ही सुखासन है।"[2]

जिनसेन ने ध्यान के लिए सुखासन की उपयुक्तता स्वीकृत की, किन्तु कठोर आसनो को सर्वथा अनुपयुक्त नही माना। कायिक दु खो की तितिक्षा, सुखासक्ति की हानि और धर्म-प्रभावना के लिए उन्होने काय-क्लेश का समर्थन किया।[3]

शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने ध्यान के लिए किसी आसन का विधान नहीं किया। उसे ध्यान करने वाले की इच्छा पर ही छोड दिया। अमितगति ने पद्मासन, पर्यङ्कासन,

---

१–(क) ज्ञानार्णव, २८।११ .

येन येन सुखासीना, विदध्यु र्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धु रासनम्॥

(ख) योगशास्त्र, ४।१३४ :

जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मन.।
तत् तदेव विधातव्यमासन ध्यानमासनम्॥

२–महापुराण २१।७०-७२ .

विसंस्थुलासनस्थस्य, ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः।
तन्निग्रहान्मनःपीडा, ततश्च विमनस्कता॥
वैमनस्ये च किं ध्यायेत्, तस्मादिष्टं सुखासनम्।
कायोत्सर्गश्च पर्यंक, स्ततोऽन्यद् विषमासनम्॥
तदवस्थाद्वयस्यैव, प्राधान्यं ध्यायतो यतेः।
प्रायस्तत्रापि पल्यंकम्, आमनन्ति सुखासनम्॥

३–वही, २०।९१ :

कायासुखतितिक्षार्थं, सुखासक्तेश्च हानये।
धर्मप्रभावनार्थञ्च, कायक्लेशमुपेयुषे॥

वीरासन, उत्कटुकासन और गवासन —सामान्यत: इतने ही आसन मुमुक्षु के लिए उपयोगी बतलाए।[१]

ध्यान के लिए सुखासन होना चाहिए, इस विषय में सभी आचार्य एकमत है, किन्तु कठोर आसनों के विषय मे एकमत नहीं हैं। 'कालदोषेण सम्प्रति'—इस विचारधारा ने जैसे साधना के अन्य अनेक क्षेत्रो को प्रभावित किया, वैसे ही आसन भी उससे प्रभावित हुए और उनको करने की पद्धति जैन-परम्परा मे विलुप्त-सी हो गई।

गमन-योग

यह स्थान-योग का प्रतिपक्षी है। शक्ति-संचय और आलस्य-विजय के द्वारा इस याग का प्रतिपादन हुआ है। इसके ६ प्रकार हैं—

(१) अनुसूर्यगमन—	तेज धूप मे पूर्व से पश्चिम की ओर जाना।
(२) प्रतिसूर्यगमन—	पश्चिम से पूर्व की ओर जाना।
(३) ऊर्ध्वगमन—	पश्चिम से पूर्व की ओर जाना।
(४) तिर्यक्सूर्यगमन—	सूर्य तिरछा हो, उस समय जाना।
(५) अन्यग्रामगमन—	जहाँ अवस्थित हो, वहाँ से दूसरे गाँव मे भिक्षार्थ जाना।
(६) प्रत्यागमन—	दूसरे गाँव मे जाकर वापस आना।[२]

आतापना-योग

आतापना का अर्थ है 'सूर्य का ताप सहना'। यह सूर्य की रश्मियो या गर्मी को शरीर में संचित कर गुप्त शक्तियो को जगाने की प्रक्रिया है, इसलिए यह योग है।

१–अमितगति श्रावकाचार, ८।४९ :

विनयासक्तचित्तानां, कृतिकर्मविधायिनाम्।
न कार्यव्यतिरेकेण, परमासनमिष्यते ॥

२–मूलाराधना, ३।२२४ :

अणुसूरी पडिसूरी य, उड्ढसूरी य तिरियसूरी य।
उब्भागेण य गमणं, पडिआगमणं च गंतूणं ॥

आतापना-योग तीन प्रकार का है—

(१) उत्कृष्ट— गर्म शिला आदि पर लेट कर ताप सहना।
(२) मध्यम— बैठ कर ताप सहना।
(३) जघन्य— खड़े रह कर ताप सहना।[1]

उत्कृष्ट आतापना के तीन प्रकार हैं—

(१) उत्कृष्ट-उत्कृष्ट— छाती के बल लेट कर ताप सहना।
(२) उत्कृष्ट-मध्यम— दाएँ या बाएँ पार्श्व से लेट कर ताप सहना।
(३) उत्कृष्ट-जघन्य— पीठ के बल लेट कर ताप सहना।[2]

मध्यम आतापना के तीन प्रकार है—

(१) मध्यम-उत्कृष्ट— पर्यङ्कासन मे बैठ कर ताप सहना।
(२) मध्यम-मध्यम- अर्ध-पर्यङ्कासन में बैठ कर ताप सहना।
(३) मध्यम-जघन्य— उकड़ू आसन मे बैठ कर ताप सहना।[3]

जघन्य आतापना के तीन प्रकार है[4]—

(१) जघन्य-उत्कृष्ट— हस्तिशुण्डिका।[5] एक पैर को पसार कर ताप सहना।

१–बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९४५ :
आयावणा य तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा य।
उक्कोसा उ निवण्णा, निसण्ण मज्झाट्ठिय जहण्णा॥

२–वही, गाथा ५९४६ :
तिविहा होइ निवण्णा, ओमत्थिय पास तइयमुत्ताणा।
उक्कोसुक्कोसा उक्कोसमज्झिमा उक्कोसगजहण्णा॥

३-वही, गाथा ५९४७,४८ :
मज्झुक्कोसा दुहओ वि मज्झिमा मज्झिमा जहण्णा य।
अहमुक्कोसाऽहममज्झिमा य अहमाहमाचरिमा॥
पलियंक अद्धकुडुग मो य तिविहा उ मज्झिमा होइ।
तइया उ हत्थिसुंडेगपाद समपादिगा चेव॥

४–वही, गाथा ५९४७-४८।

५–वही, गाथा ५९४८, वृत्ति :
पुताभ्यामुपविष्टस्यैकपादोत्पाटनरूपा।
बृहत्कल्प भाष्य, वृत्ति ५९५३ में हस्तिशुण्डिका को निषद्या का एक प्रकार माना है और जघन्य आतापना में खड़ा रहने का विधान है। वस्तुतः इस आसन में बैठने और खड़ा रहने का मिश्रण है।

(२) जघन्य-मध्यम—एक पादिका ।[1] एक पैर के बल पर खड़े रह कर ताप सहना ।

(३) जघन्य-जघन्य—समपादिका ।[2] दोनों पैरों को समश्रेणि में रख, खड़े-खड़े ताप सहना ।

तपोयोग

तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर । दोनो के छह-छह प्रकार है । बाह्य-तप के छह प्रकार ये हैं—

(१) अनशन,
(२) अवमौदर्य,
(३) भिक्षाचरी (वृत्ति संक्षेप),
(४) रस-परित्याग,
(५) काय-क्लेश और
(६) प्रतिसंलीनता (विविक्त-शय्या) ।

(१) *अनशन*

अनशन के दो प्रकार है—

(१) इत्वरिक— अल्पकालिक और
(२) यावत्कथित— मरणकालभावी ।

मुनि के लिए आहार करना और न करना दोनो सहेतुक हैं ।[3] जब तक अपना शरीर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में सहायक रहे, उसके द्वारा नए-नए विकास उपलब्ध हों, तब तक वह शरीर का पोषण करे । जब यह लगे कि इस शरीर के द्वारा कोई विशेष उपलब्धि नही हो रही है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नया उन्मेष नही आ रहा है, तब शरीर की उपेक्षा कर दे—आहार का परित्याग कर दे ।[4] यह सिद्धान्त

१–बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९४८ ; वृत्ति :
उत्थितःयैकपादेनावस्थानम् ।

२–वही, गाथा ५९४८, वृत्ति :
समतलाभ्यां पादाभ्यां स्थित्वा यद् ऊर्ध्वावस्थितैरातापयते ॥

३–उत्तराध्ययन, २६।३१-३४ ।

४–वही, ४।७ ।
लाभान्तरे जीविय वूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ।

आमरणभावी अनशन के लिए है। अल्पकालिक अनशन का सिद्धान्त यह है कि इन्द्रिय-विजय या चित्त-शुद्धि के लिए जब जैसी आवश्यकता हो, वैसा अनशन करे। इसकी सामान्य मर्यादा यह है कि इन्द्रिय और योग की हानि न हो तथा मन अमंगल चिन्तन न करे, तब तक तपस्या की जाए।[1] वह आत्म-शुद्धि के लिए है। उससे संकल्प-विकल्प या आर्त्तध्यान की वृद्धि नहीं होनी चाहिए।

(२) अवमौदर्य

यह बाह्य-तप का दूसरा प्रकार है। इसका अर्थ है 'जिस व्यक्ति की जितनी आहार मात्रा है, उससे कम खाना।' इसके पाँच प्रकार किए गए हैं—

(१) द्रव्य की दृष्टि से अवमौदर्य।
(२) क्षेत्र की दृष्टि से अवमौदर्य।
(३) काल की दृष्टि से अवमौदर्य।
(४) भाव की दृष्टि से अवमौदर्य।
(५) पर्यव की दृष्टि से अवमौदर्य।

औपपातिक में इसका विभाजन इस प्रकार है—

(१) द्रव्यत अवमौदर्य।
(२) भावत अवमौदर्य।

द्रव्यत· अवमौदर्य के दो प्रकार है—

(१) उपकरण अवमौदर्य और
(२) भक्त-पान अवमौदर्य।

भक्त-पान अवमौदर्य के अनेक प्रकार हैं—

(१) आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी होता है।
(२) बारह ग्रास खाने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य होता है।
(३) सोलह ग्रास खाने वाला अर्द्ध अवमौदर्य होता है।
(४) चौबीस ग्रास खाने वाला पौन अवमौदर्य होता है।
(५) इकतीस ग्रास खाने वाला किंचित् ऊन अवमौदर्य होता है।[2]

यह कल्पना भोजन की पूर्ण मात्रा के आधार पर की गई है। पुरुष के आहार की

१—मरणसमाधि प्रकीर्णक, १३४ :

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण जोगा न हायंति॥

२—औपपातिक, सूत्र १९

पूर्ण मात्रा बत्तीस ग्रास और स्त्री के आहार की पूर्ण मात्रा अट्ठाइस ग्रास है।[1] ग्रास का परिमाण मुर्गी के अण्डे[2] अथवा हजार चावल जितना[3] बतलाया गया है।

इसका तात्पर्य यह है कि जितनी भूख हो उसमे एक कवल तक कम खाना भी अवमौदर्य है।

निद्रा-विजय, समाधि, स्वाध्याय, परम संयम और इन्द्रिय-विजय—ये अवमौदर्य के फल हैं।[4]

क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भी अवमौदर्य है।[5]

(३) भिक्षाचरी (वृत्ति-संक्षेप)

यह बाह्य-तप का तीसरा प्रकार है। इसका दूसरा नाम 'वृत्ति-संक्षेप[6] या 'वृत्ति-परिसंख्यान' है।[7] इसका अर्थ है 'विविध प्रकार के अभिग्रहो के द्वारा भिक्षा वृत्ति को संक्षिप्त करना।'[8]

(४) रस-परित्याग

उत्तराध्ययन मे रस-परित्याग का अर्थ है—

(१) दूध, दही, घी आदि का त्याग।

(२) प्रणीत—स्निग्ध पान-भोजन का त्याग।[9]

१–मूलाराधना, ३।२११।

२–**औपपातिक, सूत्र** १९।

३–**मूलाराधना, दर्पण**, पृ० ४२७ :

ग्रासोऽपि सहस्रतंदुलमितः।

४–**मूलाराधना, अमितगति २११।**

५–औपपातिक, सूत्र १९।

६–समवायांग, समवाय ६।

७–मूलाराधना, ३।२१७।

८–देखिए—उत्तराध्ययन, ३०।२५ का टिप्पण।

९–उत्तराध्ययन ३०।२६।

औपपातिक में इसका विस्तार मिलता है। वहाँ इसके निम्नलिखित प्रकार मिलते हैं—

(१) निर्विकृति— विकृति का त्याग।
(२) प्रणीत रस-परित्याग— स्निग्ध व गरिष्ठ आहार का त्याग।
(३) आचामाम्ल— आम्ल-रस मिश्रित भात आदि का आहार।
(४) आयामसिक्थ भोजन— ओसामण में मिश्रित अन्न का आहार।
(५) अरस आहार— हींग आदि से संस्कृत आहार।
(६) विरस आहार— पुराने धान्य का आहार।
(७) अन्त्य आहार— वल्ल आदि तुच्छ धान्य का आहार।
(८) प्रान्त्य आहार— ठण्डा आहार।
(९) रूक्ष आहार।[1]

इस तप का प्रयोजन है स्वाद विजय। इसीलिए रस-परित्याग करने वाला विकृति, सरस व स्वादु भोजन नहीं खाता।

विकृतियाँ नो हैं—

(१) दूध,
(२) दही,
(३) नवनीत,
(४) घृत,
(५) तेल,
(६) गुड,
(७) मधु,
(८) मद्य और
(९) माँस।[2]

इनमें मधु, मद्य, माँस और नवनीत—ये चार महा विकृतियाँ हैं।[3]

जिन वस्तुओं से जीभ और मन विकृत होते हैं—स्वाद-लोलुप या विषय-लोलुप बनते हैं, उन्हें 'विकृति' कहा जाता है। पण्डित आशाधरजी ने इसके चार प्रकार बतलाए हैं—

(१) गो-रस विकृति— दूध, दही, घृत, मक्खन आदि।
(२) इक्षु-रस विकृति— गुड, चीनी आदि।
(३) फल-रस विकृति— अँगूर, आम आदि फलों के रस।
(४) धान्य-रस विकृति— तेल, मांड आदि।[4]

१–औपपातिक, सूत्र १९।
२–स्थानांग, ९।६७४।
३–(क) स्थानांग, ४।१।२७४।
(ख) मूलाराधना, ३।२१३।
४–सागारधर्मामृत, टीका ५।३५।

स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति कहा जाता है।[1] इसलिए रस-परित्याग करने वाला शाक, व्यञ्जन, नमक आदि का भी वर्जन करता है। मूलाराधना के अनुसार दूध, दही, घृत, तेल और गुड़—इनमें से किसी एक का अथवा इन सबका परित्याग करना रस-परित्याग है तथा उवगाहिम विकृति (मिठाई) पूड़े, पत्र-शाक, दाल, नमक आदि का त्याग भी रस-परित्याग है।[2]

रस-परित्याग करने वाले मुनि के लिए निम्न प्रकार के भोजन का विधान है--

(१) अरस आहार—	स्वाद-रहित भोजन।
(२) अन्य वेला कृत--	ठण्डा भोजन।
(३) शुद्धौदन—	शाक आदि से रहित कोरा भात।
(४) रूखा भोजन—	घृत-रहित भोजन।
(५) आचामाम्ल—	अम्ल-रस-सहित भोजन।
(६) आयामौदन—	जिसमें थोड़ा जल और अधिक अन्न भाग हो, ऐसा आहार अथवा ओसामण-सहित भात।
(७) विकटौदन—	बहुत पका हुआ भात अथवा गर्म जल मिला हुआ भात।[3]

जो रस-परित्याग करता है, उसके तीन बातें फलित होती है —

(१) सन्तोष की भावना,

(२) ब्रह्मचर्य की आराधना और

(३) वैराग्य।[4]

(५) काय-क्लेश

काय-क्लेश बाह्य-तप का पाँचवाँ प्रकार है। उत्तराध्ययन ३०।१ - में काय-क्लेश

१–सागारधर्मामृत, टीका ५।३५।

२–मूलाराधना, ३।२१५।

३–वही, ३।२१६।

४–मूलाराधना अमितगति २१७ :
संतोषो भावितः सम्यग्, ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं, कुर्वाणेन रसोज्झनम्॥

का अर्थ 'वीरासन आदि कठोर आसन करना' किया गया है। स्थानांग में काय-क्लेश के सात प्रकार निर्दिष्ट हैं—

(१) स्थान कायोत्सर्ग,
(२) ऊकडू आसन,
(३) प्रतिमा आसन,
(४) वीरासन,
(५) निषद्या,
(६) दण्डायत आसन और
(७) लगण्डशयनासन।[1]

औपपातिक में काय-क्लेश के अनेक प्रकार बतलाए गए है—

(१) स्थान कायोत्सर्ग,
(२) ऊकडू आसन,
(३) प्रतिमा आसन,
(४) वीरासन,
(५) निषद्या,
(६) आतापना,
(७) वस्त्र-त्याग,
(८) अकण्डूयन—खाज न करना,
(९) अनिष्ठीवन—थूकने का त्याग और
(१०) सर्वगात्र-परिकर्म-विभूषा का वर्जन।[2]

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एक-स्थान, उपवास, बेला आदि के द्वारा शरीर को कृश करना 'काय-क्लेश' है।[3] यह व्याख्या उक्त व्याख्याओं से भिन्न है। वैसे तो उपवास आदि करने में काया को क्लेश होता है, किन्तु भोजन से सम्बन्धित अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप और रस परित्याग—इन चारों बाह्य-तपों से काय-क्लेश का लक्षण भिन्न होना चाहिए, इस दृष्टि से काय-क्लेश की व्याख्या उपवास-प्रधान न होकर अनासक्ति-प्रधान होनी चाहिए। शरीर के प्रति निर्ममत्व-भाव रखना तथा उसे प्राप्त करने के लिए आसन आदि साधना तथा उसकी साज-सज्जा व संवारने से उदासीन रहना—यह काय-क्लेश का मूलस्पर्शी अर्थ होना चाहिए।

१-स्थानांग, ७।५५४।
२-औपपातिक, सूत्र १९।
३-वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ३५१ :
आयंबिलणिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइ खवणेहिं।
जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो॥

द्वितीय अध्ययन में जो परीषह बतलाए गए हैं, उनसे यह भिन्न है। काय-क्लेश स्वयं इच्छानुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट होता है।[1]

श्रुतसागर गणि के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में धूप में, शीत ऋतु में खुले स्थान में और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे सोना, नाना प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन करना 'काय-क्लेश' है।[2]

(६) प्रतिसंलीनता

उत्तराध्ययन ३०।८ में बाह्य-तप का छठा प्रकार 'संलीनता' बतलाया गया है और ३०।२८ में उसका नाम 'विविक्त-शयनासन' है। भगवती (२५।७।८०२) में छठा प्रकार 'प्रतिसंलीनता' है। तत्त्वार्थ सूत्र (९।१९) मे 'विविक्त-शयनासन' बाह्य-तप का छठा प्रकार है। इस प्रकार कुछ ग्रन्थो में 'संलीनता' या 'प्रतिसंलीनता' और कुछ ग्रन्थो में 'विविक्त-शय्यासन' या 'विविक्त-शय्या' का प्रयोग मिलता है। किन्तु औपपातिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल शब्द 'प्रतिसंलीनता' है। 'विविक्त-शयनासन' उसी का एक अवान्तर भेद है। प्रतिसंलीनता चार प्रकार की होती है—

(१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, (३) योग प्रतिसंलीनता और
(२) कषाय प्रतिसंलीनता, (४) विविक्त-शयनासन-सेवन।[3]

प्रस्तुत अध्ययन में संलीनता की परिभाषा केवल विविक्त-शयनासन के रूप मे की गई, यह आश्चर्य का विषय है। हो सकता है सूत्रकार इसी को महत्त्व देना चाहते हों।

तत्त्वार्थ सूत्र आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी इसी का अनुसरण हुआ है।[4] विविक्त-शयनासन का अर्थ मूल-पाठ मे स्पष्ट है।

मूलाराधना के अनुसार जहाँ शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के द्वारा चित्त विक्षेप नही होता, स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नही होता, वह विविक्त-शय्या है। जहाँ स्त्री, पुरुष और नपुसक न हों, वह विविक्त-शय्या है। भले फिर उसके द्वार खुले हो या बंद,

---

१–तत्त्वार्थ, ९।१६, श्रुतसागरीय वृत्ति
यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः कायक्लेशः ति परीषहकाय-क्लेशयोर्विशेषः।

२–वही, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति।

३–औपपातिक, सूत्र १९ :
से किं तं पडिसलीणया ? पडिसंलीणया चउविहा पण्णत्ता, तंजहा—इंदियपडि-संलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसंलीणया विवित्तसयणासणसेवणया।

४–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।१९ :
अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।

उसका प्राङ्गण सम हो या विषम, वह गाँव के बाह्य-भाग में हो या मध्य-भाग में, शीत हो या ऊष्ण।

विविक्त-शय्या के छह प्रकार ये हैं—(१) शून्य-गृह, (२) गिरि-गुफा, (३) वृक्ष-मूल, (४) आगन्तुक-आगार (=विश्राम-गृह), (५) देव-कुल, अकृत्रिम शिला-गृह और (६) कूट-गृह।

विविक्त शय्या में रहने से निम्न दोषों से सहज ही बचाव हो जाता है—(१) कलह, (२) बोल (शब्द बहुलता), (३) झंझा (संक्लेश), (४) व्यामोह, (५) सांकर्य (असंयमियों के साथ मिश्रण), (६) ममत्व तथा (७) ध्यान और स्वाध्याय का व्याघात।[१]

बाह्य-तप के प्रयोजन

(१) अनशन के प्रयोजन—
- (क) संयम-प्राप्ति।
- (ख) राग-नाश।
- (ग) कर्म-मल विशोधन।
- (घ) सद्ध्यान की प्राप्ति।
- (ङ) शास्त्राभ्यास।

(२) अवमौदर्य के प्रयोजन—
- (क) संयम में सावधानता।
- (ख) वात, पित्त, श्लेष्म आदि दोषों का उपशमन।
- (ग) ज्ञान, ध्यान आदि की सिद्धि।

(३) वृत्तिसंक्षेप के प्रयोजन—
- (क) भोजन सम्बन्धी आशा पर अंकुश।
- (ख) भोजन सम्बन्धी संकल्प-विकल्प और चिन्ता का नियंत्रण।

(४) रस-परित्याग के प्रयोजन—
- (क) इन्द्रिय-निग्रह।
- (ख) निद्रा-विजय।
- (ग) स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि।

(५) विविक्त-शय्या के प्रयोजन—
- (क) बाधाओं से मुक्ति।
- (ख) ब्रह्मचर्य सिद्धि।
- (ग) स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि।

१—मूलाराधना, ३।२२८,२२९,२३१,२३२।

(६) काय-क्लेश के प्रयोजन—

(क) शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता का स्थिर अभ्यास ।

(ख) शारीरिक सुख की श्रद्धा से मुक्ति ।

(ग) जैन-धर्म की प्रभावना ।[1]

बाह्य-तप के परिणाम : बाह्य-तप से निम्न बातें फलित होती हैं—

(१) सुख की भावना स्वयं परित्यक्त हो जाती है ।

(२) शरीर कृश हो जाता है ।

(३) आत्मा संवेग में स्थापित होती है ।

(४) इन्द्रिय-दमन होता है ।

(५) समाधि-योग का स्पर्श होता है ।

(६) वीर्य-शक्ति का उपयोग होता है ।

(७) जीवन की तृष्णा विच्छिन्न होती है ।

(८) सक्लेश-रहित दुःख-भावना—कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास होता है ।

(९) देह, रस और सुख का प्रतिबन्ध नहीं रहता ।

(१०) कषाय का निग्रह होता है ।

(११) विषय भोगों के प्रति अनादर— उदासीन भाव उत्पन्न होता है ।

(१२) समाधि-मरण का स्थिर अभ्यास होता है ।

(१३) आत्म-दमन होता है—आहार आदि का अनुराग क्षीण होता है ।

(१४) आहार-निराशता—आहार की अभिलाषा के त्याग का अभ्यास होता है ।

(१५) अगृद्धि बढ़ती है ।

(१६) लाभ और अलाभ में सम रहने का अभ्यास सधता है ।

(१७) ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है ।

(१८) निद्रा-विजय होती है ।

(१९) ध्यान की दृढ़ता प्राप्त होती है ।

(२०) विमुक्ति - विशिष्ट त्याग का विकास होता है ।

(२१) दर्प का नाश होता है ।

(२२) स्वाध्याय-योग की निर्विघ्नता प्राप्त होती है ।

(२३) सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति बनती है ।

(२४) आत्मा, कुल, गण, शासन— सबकी प्रभावना होती है ।

(२५) आलस्य त्यक्त होता है ।

१—तत्त्वार्थ, ९।२०, श्रुतसागरीय वृत्ति ।

(२६) कर्म-मल का विशोधन होता है।
(२७) दूसरों को संवेग उत्पन्न होता है।
(२८) मिथ्या-दृष्टियों में भी सौम्य-भाव उत्पन्न होता है।
(२९) मुक्ति-मार्ग का प्रकाशन होता है।
(३०) तीर्थङ्कर की आज्ञा की आराधना होती है।
(३१) देह-लाघव प्राप्त होता है।
(३२) शरीर-स्नेह का शोषण होता है।
(३३) राग आदि का उपशम होता है।
(३४) आहार की परिमितता होने से नीरोगता बढती है।
(३५) संतोष बढता है।[1]

आभ्यन्तर-तप

आभ्यन्तर-तप के छह प्रकार निम्नलिखित हैं —

(१) प्रायश्चित्त,
(२) विनय,
(३) वैयावृत्त्य,
(४) स्वाध्याय,
(५) ध्यान और
(६) व्युत्सर्ग।

(१) *प्रायश्चित्त*

प्रायश्चित्त आभ्यन्तर-तप का पहला प्रकार है। उसके दस प्रकार हैं —

(१) आलोचना योग्य— गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।
(२) प्रतिक्रमण योग्य— किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या मे दुष्कृतम्'—मेरे सब पाप निष्फल हों—ऐसा कहना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य में पाप-कर्मों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।
(३) तदुभय योग्य— पाप से निवृत्त होने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों करना।
(४) विवेक— आए हुए अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग करना।
(५) व्युत्सर्ग— चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।

१–मूलाराधना, ३।२३७-२४४।

(६) तप— उपवास, बेला आदि करना।
(७) छेद— पाप-निवृत्ति के लिए संयम काल को छेद कर कम कर देना।
(८) मूल— पुन व्रतों में आरोपित करना—नई दीक्षा देना।
(९) अनवस्थापना— तपस्या-पूर्वक नई दीक्षा देना।
(१०) पारांचिक— भर्त्सना एवं अवहेलना पूर्वक नई दीक्षा देना।[1]

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२२) में प्रायश्चित्त के ९ ही प्रकार बतलाए गए हैं, 'पारांचिक' का उल्लेख नहीं है।

(२) विनय

विनय आभ्यन्तर-तप का दूसरा प्रकार है। स्थानांग (७।५८५), भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सू० २०) में विनय के ७ भेद बतलाए गए हैं—

(१) ज्ञान-विनय— ज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान आदि करना।
(२) दर्शन-विनय— गुरु की शुश्रूषा करना, आशातना न करना।
(३) चारित्र-विनय— चारित्र का यथार्थ प्ररूपण और अनुष्ठान करना।
(४) मनोविनय— अकुशल मन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(५) वचनयोग— अकुशल वचन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(६) काय-विनय— अकुशल काय का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(७) लोकोपचार-विनय— लोक-व्यवहार के अनुसार विनय करना।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२३) में विनय के प्रकार चार ही बतलाए गए हैं—(१) ज्ञान-विनय, (२) दर्शन-विनय, (३) चारित्र-विनय और (४) उपचार-विनय।

(३) वैयावृत्य (सेवा)

वैयावृत्य आभ्यन्तर-तप का तीसरा प्रकार है। उसके दस प्रकार है—

(१) आचार्य का वैयावृत्य।
(२) उपाध्याय का वैयावृत्य।
(३) स्थविर का वैयावृत्य।
(४) तपस्वी का वैयावृत्य।
(५) ग्लान का वैयावृत्य।

१—(क) स्थानांग, १०।७३३।
(ख) भगवती, २५।७।८०१।
(ग) औपपातिक, सूत्र २०।

(६) शैक्ष का वैयावृत्य ।

(७) कुल का वैयावृत्य ।

(८) गण का वैयावृत्य ।

(९) संघ का वैयावृत्य ।

(१०) साधर्मिक (समान धर्म वाले साधु-साध्वी) का वैयावृत्य ।

यह वर्गीकरण स्थानांग (१०।७१२) के आधार पर है। भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सूत्र २०) के वर्गीकरण का क्रम कुछ भिन्न है—

(१) आचार्य का वैयावृत्य	(६) स्थविर का वैयावृत्य
(२) उपाध्याय का वैयावृत्य	(७) साधर्मिक का वैयावृत्य
(३) शैक्ष का वैयावृत्य	(८) कुल का वैयावृत्य
(४) ग्लान का वैयावृत्य	(९) गण का वैयावृत्य
(५) तपस्वी का वैयावृत्य	(१०) संघ का वैयावृत्य

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२४) में ये कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं—

(१) आचार्य का वैयावृत्य

(२) उपाध्याय का वैयावृत्य

(३) तपस्वी का वैयावृत्य

(४) शैक्ष का वैयावृत्य

(५) ग्लान का वैयावृत्य

(६) गण (श्रुत स्थविरों की परम्परा का संस्थान[1]) का वैयावृत्य ।

(७) कुल का वैयावृत्य (एक आचार्य का साधु-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है ; एक जातीय अनेक गच्छों को कुल कहा जाता है) ।[2]

(८) संघ (साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका[3]) का वैयावृत्य ।

१–तत्त्वार्थ, ९।२४ भाष्यानुसारि टीका :

गणः—स्थविरसंततिसंस्थितिः । स्थविरग्रहणेन श्रुतस्थविरपरिग्रह, न वयसा पर्यायेण वा, तेषां संततिः—परम्परा तस्याः संस्थानं—वर्तनं अद्यापि भवनं संस्थितिः ।

२–वही, ९।२४ भाष्यानुसारि टीका :

कुलमाचार्यसततिसंस्थितिः एकाचार्यप्रणेयसाधुसमूहो गच्छः, बहूनां गच्छानां एकजातीयानां समूहः कुलम् ।

३–वही, ९।२४ भाष्यानुसारि टीका :

संघश्चतुर्विधः—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाः ।

(९) साधु का वैयावृत्त्य
(१०) समनोज्ञ का वैयावृत्त्य (समान सामाचारी वाले तथा एक मण्डली में भोजन करने वाले साधु 'समनोज्ञ' कहलाते हैं।[1])

इस वर्गीकरण मे स्थविर और साधर्मिक—ये दो प्रकार नही है। उनके स्थान पर साधु और समनोज्ञ—ये दो प्रकार है। गण और कुल की भाँति संघ का अर्थ भी साधु-परक ही होना चाहिए। ये दसो प्रकार केवल साधु-समूह के विविध पदों या रूपों से सम्बद्ध हैं।

वैयावृत्त्य (सेवा) का फल तीर्थङ्कर-पद की प्राप्ति बतलाया गया है।[2] व्यावहारिक सेवा ही तीर्थ को संगठित कर सकती है। इस दृष्टि से भी इसका बहुत महत्त्व है।

(४) स्वाध्याय

स्वाध्याय आभ्यन्तर-तप का चौथा प्रकार है। उसके पाँच भेद है—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा।[3]

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२५) मे इनका क्रम और एक नाम भी भिन्न है—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय और (५) धर्मोपदेश।

इनमे परिवर्तना के स्थान में आम्नाय है। आम्नाय का अर्थ है 'शुद्ध उच्चारण पूर्वक बार-बार पाठ करना।'[4]

परिवर्तना या आम्नाय को अनुप्रेक्षा से पहले रखना अधिक उचित लगता है।

आचार्य शिष्यों को पढाते है—यह 'वाचना' है। पढने समय या पढने के बाद शिष्य के मन में जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती है, उन्हे वह आचार्य के सामने प्रस्तुत करता है—यह 'प्रच्छना' है। आचार्य से प्राप्त श्रुत को याद रखने के लिए वह बार-बार उसका पाठ करता है—यह 'परिवर्तना' है। परिचित श्रुत का मर्म समझने के लिए वह उसका पर्यालोचन करता है—यह 'अनुप्रेक्षा' है। पठित, परिचित और पर्यालोचित श्रुत का वह उपदेश करना है—यह 'धर्मकथा' है। इस क्रम में परिवर्तना का स्थान अनुप्रेक्षा से पहले प्राप्त होता है।

१–तत्त्वार्थ, ९।२४ भाष्यानुसारि टीका :
द्वादशविधसम्भोगभाज समनोज्ञानदर्शनचारित्राणि मनोज्ञानि सह मनोज्ञैः समनोज्ञाः।

२–उत्तराध्ययन, २९।४३।

३–देखिए—उत्तराध्ययन के टिप्पण, २९।१८ का टिप्पण।

४–तत्त्वार्थ, ९।२५, श्रुतसागरीय वृत्ति :
अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्ध घोषणं पुन पुनः परिवर्तनं स आम्नाय कथ्यते।

सिद्धसेन गणि के अनुसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है 'ग्रन्थ और अर्थ का मानसिक अभ्यास करना'। इसमें वर्णों का उच्चारण नहीं होता और आम्नाय में वर्णों का उच्चारण होता है, यही इन दोनों में अन्तर है।[1] अनुप्रेक्षा के उक्त अर्थ के अनुसार उसे आम्नाय से पूर्व रखना भी अनुचित नहीं है।

आम्नाय, घोषविशुद्ध, परिवर्तन, गुणन और रूपादान—ये आम्नाय या परिवर्तना के पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोगवर्णन, धर्मोपदेश—ये धर्मोपदेश या धर्मकथा के पर्यायवाची शब्द हैं।[3]

(५) ध्यान

साधना-पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि महत्त्व रहा है। वह हमारी चेतना की ही एक अवस्था है। उसका अनुसन्धान और अभ्यास सुदूर अतीत में हो चुका था। कोई भी आध्यात्मिक धारा उसके बिना अपने साध्य तक नहीं पहुँच सकती थी। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ध्यान के महत्त्व से परिचित थे।[4] किन्तु छान्दोग्य में उसका विकसित रूप प्राप्त नहीं है। बुद्ध ने ध्यान को बहुत महत्त्व दिया था। महावीर की परम्परा में भी उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। योगदर्शन में भी उसका महत्त्व स्वीकृत है। उत्तरवर्ती उपनिषदों मे भी उसे बहुत मान्यता मिली है। भारतीय साधना की समग्र धाराओं ने उसे सतत प्रवाहित रखा।

चित्त और ध्यान

मन की दो अवस्थाएँ है—(१) चल आर (२) स्थिर। चल अवस्था को 'चित्त' और

१–तत्त्वार्थ, ९।२५ भाष्यानुसारि टीका :

सन्देहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। न तु बहिर्वर्णोच्चारणमनुश्रावणीयम्। आम्नायोऽपि परिवर्तनं उदात्तादिपरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यासविशेष।

२–वही, ९।२५ भाष्यानुसारि टीका :

आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं रूपादानमित्यर्थः।

३–वही, ९।२५ भाष्यानुसारि टीका :

अर्थोपदेशो व्याख्यानं अनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

४–छान्दोग्य उपनिषद्, ७।६।१-२ :

स्थिर अवस्था को 'ध्यान' कहा जाता है।[१] वस्तुत चित्त और ध्यान एक ही मन (अध्यवसान) के दो रूप हैं। मन जब गुप्त, एकाग्र या निरुद्ध होता है, तब उसकी संज्ञा ध्यान हो जाती है। भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता—ये सब चित्त की अवस्थाएँ हैं।[२]

भावना— ध्यान के अभ्यास की क्रिया।
अनुप्रेक्षा— ध्यान के बाद होने वाली मानसिक चेष्टा।
चिंता— सामान्य मानसिक चिन्तन।

इनमें एकाग्रता का वह रूप प्राप्त नहीं होता, जिसे ध्यान कहा जा सके।

ध्यान शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन होता है, किन्तु प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं किन्तु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना है।[३]

तत्त्वार्थ सूत्र मे एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा गया है।[४] इससे यह ज्ञात होता है कि जैन-परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं माना गया था। वह मन, वाणी और शरीर—इन तीनों से सम्बन्धित था। इस अभिमत के आधार पर उसकी पूर्ण परिभाषा इस प्रकार बनती है—शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति तथा उनकी निरेजन दशा—निष्प्रकम्प दशा ध्यान है।[५] पतञ्जलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन के साथ माना है। उनके अनुसार जिसमे धारणा की गई हो, उस देश में ध्येय-विषयक ज्ञान की एकतानता (अर्थात् सदृश प्रवाह) जो अन्य ज्ञानो से अपरामृष्ट हो, को ध्यान कहा जाता है। सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय विषयक पहली वृत्ति हो, उसी विषय की दूसरी और उसी विषय की तीसरी हो—ध्येय मे अन्य ज्ञान बीच मे न हो।[६] पतञ्जलि ने एकाग्रता और निरोध—ये दोनो केवल

१–ध्यानशतक २
जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
२–वही, २ :
तं होज्ज भावणा वा अणुप्पेहा वा अहव चिंता।
३–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४६३ :
अतो मुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।
४–तत्त्वार्थ, सूत्र ९।२७ :
उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।
५–आवश्यक, निर्युक्ति १४६७-१४७७।
६–पातंजल योगदर्शन ३।२ :
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

चित्त के ही माने है।[1] गरुडपुराण में भी ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा गया है।[2]

बौद्धधारा मे भी ध्यान मानसिक ही माना गया है।[3] ध्यान केवल मानसिक ही नही, किन्तु वाचिक और कायिक भी है। यह अभिमत जैन आचार्यों का अपना मौलिक है।

पतञ्जलि ने ध्यान और समाधि—ये दो अग पृथक् मान्य किए, इसलिए उनके योग-दर्शन मे ध्यान का रूप बहुत विकसित नही हुआ। जैन आचार्यों ने ध्यान को इतने व्यापक अर्थ मे स्वीकार किया कि उन्हे उससे पृथक् समाधि को मानने की आवश्यकता ही नही हुई। पतञ्जलि की भाषा में जो सम्प्रज्ञात समाधि है, वही जैन योग की भाषा मे शुक्लध्यान का पूर्व चरण है।[4] पतञ्जलि जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, वह जैन-योग में शुक्ल-ध्यान का उत्तर चरण है।[5] ध्यान से समाधि को पृथक् मानने की परम्परा जैन साधना पद्धति के उत्तर काल मे स्थिर हुई, ऐसा प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि जैनों की ध्यान विषयक मान्यता पतञ्जलि से प्रभावित नहीं है।

केवलज्ञानी के केवल निरोधात्मक ध्यान ही होता है, किन्तु जो केवलज्ञानी नहीं है उनके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक दोनों ध्यान होते हैं। ध्यान का सम्बन्ध शरीर, वाणी और मन—तीनो से माना जाता रहा, फिर भी उसकी परिभाषा—चित्त की एकाग्रता ध्यान है—इस प्रकार की जाती रही है। भद्रबाहु के सामने यह प्रश्न उपस्थित था—यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता है, तो इसकी संगति जैन-परम्परा सम्मत उस प्राचीन अर्थ—शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति या निरेजन दशा ध्यान है—के साथ कैसे होगी ?[6]

आचार्य भद्रबाहु ने इसका समाधान इस प्रकार किया—शरीर मे वात, पित्त और कफ—ये तीन धातु होते हैं। उनमें से जो प्रचुर होता है, उसी का व्यपदेश किया जाता

१-पातंजल योगदर्शन, १।१८।

२-गरुडपुराण, अ० ४८

ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यानं स्यात्।

३-विशुद्धिमार्ग, पृ० १४१-१५१।

४-पातंजल योगदर्शन, यशोविजयजी, १।१८ :

तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये सम्प्रज्ञातः समाधिर्वृत्त्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्।

५-वही, यशोविजयजी, १।१८।

६-आवश्यक नियुक्ति, गाथा १४६७।

है—जैसे वायु कुपित है। जहाँ 'वायु कुपित है'—ऐसा निर्देश किया जाता है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ पित्त और श्लेष्मा नहीं हैं। इसी प्रकार मन की एकाग्रता ध्यान है—यह परिभाषा भी प्रधानता की दृष्टि से है।[१] जैसे मन की एकाग्रता व निरोध मानसिक ध्यान कहलाता है, वैसे ही 'मेरा शरीर अकम्पित हो'—यह संकल्प कर जो स्थिर-काय बनता है, वह कायिक ध्यान है।[२] इसी प्रकार संकल्प पूर्वक अकथनीय भाषा का वर्जन किया जाता है, वह वाचिक ध्यान है।[३] जहाँ मन एकाग्र व अपने लक्ष्य के प्रति व्यापृत होता है तथा शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य के प्रति व्यापृत होते हैं, वहाँ मानसिक, कायिक और वाचिक—ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[४] जहाँ कायिक या वाचिक ध्यान होता है, वहाँ मानसिक ध्यान भी होता है, किन्तु वहाँ उसकी प्रधानता नहीं होती, इसलिए वह मानसिक ही कहलाता है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि मन सहित वाणी और काया का व्यापार होता है, उसका नाम भाव-क्रिया है और जो भाव-क्रिया है, वह ध्यान है।[५] वाचिक या कायिक ध्यान के साथ मन सलग्न होता है, फिर भी उनका विषय एक होता है, इसलिए उसे अनेकाग्र नहीं कहा जा सकता। वह व्यक्ति जो मन से ध्यान करता है, वही वाणी से बोलता है और उसी मे उसकी काया सलग्न होती है। यह उनकी अखण्डता या एकाग्रता है।

ध्यान में शरीर, वाणी और मन का निरोध ही नहीं होता, प्रवृत्ति भी होती है। सहज ही प्रश्न होता है कि स्वाध्याय में मन की एकाग्रता होती है और ध्यान मे भी। उस स्थिति में स्वाध्याय और ध्यान ये दो क्यों? स्वाध्याय मे मन की एकाग्रता होती है किन्तु वह घनीभूत नहीं होती इसलिए उसे ध्यान की कोटि मे नहीं रखा जा सकता। ध्यान चित्त की घनीभूत अवस्था है।

स्वल्प निद्रा और प्रगाढ़ निद्रा में शुभ या अशुभ ध्यान नहीं होता इसी प्रकार नवोत्पन्न शिशु तथा जिनका चित्त मूर्च्छित, अव्यक्त, मदिरापान से उन्मत्त, विष आदि से प्रभावित है, उनके भी ध्यान नहीं होता। ध्यान का अर्थ शून्यता या अभाव नहीं है। अपने आलम्बन में गाढ रूप से संलग्न होने के कारण जो निष्प्रकम्प हो जाता है, वही चित्त ध्यान कहलाता है। मृदु, अव्यक्त और अनवस्थित चित्त को ध्यान नहीं कहा जा

१-आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४६८,१४६९।

२-वही, गाथा १४७४।

३-वही, गाथा १४७६,१४७७।

४-वही, गाथा १४७८।

५-वही, गाथा १४८६।

सकता।[1] ध्यान चेतना की वह अवस्था है, जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है अथवा बाह्य-शून्यता होने पर भी आत्मा के प्रति जागरूकता अबाधित रहती है। इसीलिए कहा गया है "जो व्यवहार के प्रति सुषुप्त है, वह आत्मा के प्रति जागरूक है।"

उक्त विवरण से फलित होता है कि चिन्तन-शून्यता ध्यान नहीं और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं है, जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है, भाव-क्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है, वह भी ध्यान है।

इन परिभाषाओं के आधार पर जाना जा सकता है कि जैन आचार्य जड़तामय शून्यता व चेतना की मूर्च्छा को ध्यान कहना इष्ट नहीं मानते थे।

ध्यान के प्रकार

एकाग्र चिन्तन को ध्यान कहा जाता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसके चार प्रकार होते हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल।

(१) आर्त्त-ध्यान—चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्त-ध्यान कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) कोई पुरुष अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग का चिन्तन करता है—यह पहला प्रकार है।

(ख) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह दूसरा प्रकार है।

(ग) कोई पुरुष आतंक—सद्योघाती रोग के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग का चिन्तन करता है—यह तीसरा प्रकार है।

(घ) कोई पुरुष प्रीतिकर काम-भोग के संयोग से संयुक्त है, वह उसके वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह चौथा प्रकार है।

आर्त्त-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) आक्रन्द करना,

(ख) शोक करना,

(ग) आँसू बहाना और

(घ) विलाप करना।

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४८१-१४८३।

(२) रौद्र-ध्यान—चेतना की क्रूरतामय एकाग्र परिणति को 'रौद्र-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) हिंसानुबन्धी— जिसमें हिंसा का अनुबन्ध—हिंसा मे सतत प्रवर्तन हो।

(ख) मृषानुबन्धी— जिसमे मृषा का अनुबन्ध—मृषा में सतत प्रवर्तन हो।

(ग) स्तेनानुबन्धी— जिसमे चोरी का अनुबन्ध—चोरी मे सतत प्रवर्तन हो।

(घ) संरक्षणानुबन्धी— जिसमे विषय के साधनो के संरक्षण का अनुबन्ध—विषय के साधनो मे सतत प्रवर्तन हो।

रौद्र-ध्यान के चार लक्षण है—

(क) अनुपरत दोष— प्राय हिंसा आदि से उपरत न होना।

(ख) बहुदोष— हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियो मे सलग्न रहना।

(ग) अज्ञानदोष— अज्ञानवश हिंसा आदि मे प्रवृत्त होना।

(घ) आमरणान्तदोष— मरणान्त तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

ये दोनो ध्यान पापाश्रव के हेतु है, इसीलिए इन्हे 'अप्रशस्त' ध्यान कहा जाता है। इन दोनो को एकाग्रता की दृष्टि से ध्यान की कोटि मे रखा गया है, किन्तु साधना की दृष्टि से आर्त्त और रौद्र परिणतिमय एकाग्रता विघ्न ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही है—(१) धर्म्य और (२) शुक्ल। इनसे आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हे 'प्रशस्त ध्यान' कहा जाता है।

(३) धर्म्य-ध्यान—वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा मे परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्म्य-ध्यान' कहा जाता है। इसके चार प्रकार है—

(१) आज्ञा-विचय— प्रवचन के निर्णय मे सलग्न चित्त।

(२) अपाय-विचय— दोषो के निर्णय मे संलग्न चित्त।

(३) विपाक-विचय— कर्म फलो के निर्णय में संलग्न चित्त।

(४) संस्थान-विचय— विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय मे संलग्न चित्त।

धर्म्य ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) आज्ञा-रुचि— प्रवचन मे श्रद्धा होना।

(ख) निसर्ग-रुचि— सहज ही सत्य में श्रद्धा होना।

(ग) सूत्र-रुचि— सूत्र पढ़ने के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न होना।

(घ) अवगाढ-रुचि— विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

धर्म्य ध्यान के चार आलम्बन हैं—

(क) वाचना—पढाना।

(ख) प्रतिप्रच्छना—शंका-निवारण के लिए प्रश्न करना।

(ग) परिवर्तना—पुनरावर्तन करना।

(घ) अनुप्रेक्षा—अर्थ का चिन्तन करना।

धर्म्य ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ है—

(क) एकत्व-अनुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना।

(ख) अनित्य-अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना।

(ग) अशरण-अनुप्रेक्षा—अशरण दशा का चिन्तन करना।

(घ) संसार-अनुप्रेक्षा—संसार-परिभ्रमण का चिन्तन करना।

(४) शुक्ल ध्यान—चेतना की सहज (उपाधि रहित) परिणति को 'शुक्ल-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार है—

(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी।

(ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी।

(ग) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति।

(घ) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति।

ध्यान के विषय में द्रव्य और उसके पर्याय है। ध्यान दो प्रकार का होता है—सालम्बन और निरालम्बन। ध्यान में सामग्री का परिवर्तन भी होता है और नहीं भी होता। वह दो दृष्टियो से होता है—भेद-दृष्टि मे और अभेद-दृष्टि से। जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायो का अनेक दृष्टियों—नयो से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ मे और अर्थ से शब्द मे एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की इस स्थिति को 'पृथक्त्व-'वितर्क-सविचारी' कहा जाता है।

जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहाँ शब्द, अर्थ एवं मन-वचन-काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचारी' कहा जाता है।

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नही होता—श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म-क्रिय' कहा जाता है। इसका पतन नही होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है।

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय' कहा जाता है। इसका निवर्तन नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) अव्यथ— क्षोभ का अभाव।
(ख) असम्मोह— सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ता का अभाव।
(ग) विवेक— शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान।
(घ) व्युत्सर्ग— शरीर और उपाधि में अनासक्त भाव।

शुक्ल-ध्यान के चार आलम्बन हैं—

(क) क्षान्ति— क्षमा।
(ख) मुक्ति— निर्लोभता।
(ग) मार्दव— मृदुता।
(घ) आर्जव— सरलता।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

(क) अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा— संसार परम्परा का चिन्तन करना।
(ख) विपरिणाम अनुप्रेक्षा— वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन।
(ग) अशुभ अनुप्रेक्षा— पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना।
(घ) अपाय अनुप्रेक्षा— दोषों का चिन्तन करना।

आगम के उत्तरवर्ती साहित्य में ध्यान चतुष्टय का दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है। उसके अनुसार ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत।

तंत्र-शास्त्र में भी पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत—ये चारों प्राप्त होते हैं।[१] दोनों के अर्थ-भेद को छोड़कर देखा जाए तो लगता है कि जैन-साहित्य का यह वर्गीकरण तंत्र-शास्त्र से प्रभावित है।

ध्यान के विभाग ध्येय के आधार पर किए गए हैं।[२] धर्म्य-ध्यान के जैसे चार ध्येय

१–नवचक्रेश्वरतंत्र :

पिण्डं पदं तथा रूपं, रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति, स गुरुः परिकीर्तितः।
पिण्डं कुण्डलिनी-शक्तिः, पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं, रूपातीतं निरञ्जनम्॥

२–योगशास्त्र १०।७।

आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य चिन्तनात्।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधम्॥

बतलाए, वैसे और भी हो सकते हैं। इसी संभावना के आधार पर पिण्डस्थ, पदस्थ आदि भेदों का विकास हुआ। वस्तुतः ये धर्म्य-ध्यान के ही प्रकार हैं।

नय-दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का होता है—सालम्बन और निरालम्बन।[1]

सालम्बन ध्यान भेदात्मक होता है। उसमें ध्यान और ध्येय भिन्न-भिन्न रहते हैं। इसे ध्यान मानने का आधार व्यवहार-नय है।

पिण्डस्थ ध्यान मे भी शरीर के अवयव—सिर, भ्रू, तालु, ललाट, मुँह, नेत्र, कान, नासाग्र, हृदय और नाभि आदि आलम्बन होते हैं। इसमें धारणाओं का आलम्बन भी लिया जाता है।[2] आचार्य शुभचन्द्र ने इसके लिए पाँच धारणाओं का उल्लेख किया है—[3]

(१) पार्थिवी— योगी यह कल्पना करे कि एक समुद्र है—शान्त और गंभीर। उसके मध्य में हजार पंखुडी वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य मे एक सिंहासन है। उस पर वह बैठा है और यह विश्वास करता है कि कषाय क्षीण हो रहे हैं, यह 'पार्थिवी' धारणा है।

(२) आग्नेयी— सिंहासन पर बैठा हुआ योगी यह कल्पना करे कि नाभि में सोलह दल वाला कमल है। उसकी कर्णिका मे एक महामंत्र 'अर्हम्' है और उसके प्रत्येक दल पर एक-एक स्वर है। 'अर्हम्' के रकार से धूमशिखा निकल रही है। स्फुलिंग उछल रहे हैं। अग्नि की ज्वाला भभक रही है। उससे हृदय-स्थित अष्टदल कमल, जो आठ कर्मों का सूचक है, जल रहा है। वह भस्मीभूत हो गया है। अग्नि शान्त हो गई है, यह 'आग्नेयी' धारणा है।

(३) मारुती— फिर यह कल्पना करे कि वेगवान् वायु चल रहा है, उसके द्वारा जले हुए कमल की राख उड रही है, यह 'मारुती' धारणा है।

(४) वारुणी— फिर यह कल्पना करे कि तेज वर्षा हो रही है, बची हुई राख उसके जल में प्रवाहित हो रही है, यह 'वारुणी' धारणा है।

(५) तत्त्वरूपवती— फिर कल्पना करे कि यह आत्मा 'अर्हत्' के समान है, शुद्ध है, अतिशय सम्पन्न है, यह 'तत्त्वरूपवती' धारणा है। हेमचन्द्र ने इसका 'तत्त्वभू' नाम भी रखा है।

पदस्थ ध्यान में मंत्र-पदों का आलम्बन लिया जाता है। ज्ञानार्णव (३८।१-१६) और योगशास्त्र (८।१-८०) में मंत्र-पदों की विस्तार से चर्चा की है।

१—तत्त्वानुशासन, ९६।
२—वैराग्यमणिमाला, ३४।
३—ज्ञानार्णव, ३७।४-३०।

रूपस्थ ध्यान में 'अर्हत्' के रूप (प्रतिमा) का आलम्बन लिया जाता है। वीतराग का चिन्तन करने वाला वीतराग हो जाता है और रोगी का चिन्तन करने वाला रोगी।[1] इसीलिए रूपस्थ ध्यान का आलम्बन वीतराग का रूप होता है।

पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ—इन तीनों ध्यानों में आत्मा से भिन्न वस्तुओं—पौद्गलिक द्रव्यों का आलम्बन लिया जाता है, इसलिए ये तीनों सालम्बन ध्यान के प्रकार हैं। रूपातीत ध्यान का आलम्बन अमूर्त—आत्मा का चिदानन्दमय स्वरूप होता है। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता होती है। इस एकीकरण को 'समरसी-भाव' कहा जाता है। यह निरालम्बन ध्यान है। इसे ध्यान मानने का आधार निश्चय-नय है।

प्रारम्भ में सालम्बन ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इसमें एक स्थूल आलम्बन होता है, अत इससे ध्यान के अभ्यास में सुविधा मिलती है। जब इसका अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जो व्यक्ति सालम्बन ध्यान का अभ्यास किए बिना सीधा निरालम्बन ध्यान करना चाहता है, वह वैचारिक आकुलता से घिर जाता है। इसीलिए आचार्यों ने चेताया कि पहले सालम्बन ध्यान का अभ्यास करो। वह सध जाए तब उसे छोड दो, निरालम्बन ध्यान के अभ्यास में लग जाओ।[2] ध्यान के अभ्यास का यह क्रम प्राय सर्वसम्मत रहा है—स्थूल से सूक्ष्म, सविकल्प से निर्विकल्प और सालम्बन से निरालम्बन होना चाहिए।

ध्यान की मर्यादाएँ

ध्यान करने की कुछ मर्यादाएँ हैं। उन्हें समझ लेने पर ही ध्यान करना सुलभ होता है। सभी ध्यान-शास्त्रों में न्यूनाधिक रूप से उनकी चर्चा प्राप्त है। जैन-आचार्यों ने भी उनके विषय में अपना अभिमत प्रदर्शित किया है।

ध्यानशतक में ध्यान से सम्बन्धित बारह विषयों पर विचार किया गया है। वे ये हैं—

(१) भावना, (२) प्रदेश, (३) काल, (४) आसन, (५) आलम्बन, (६) क्रम, (७) ध्येय, (८) ध्याता, (९) अनुप्रेक्षा, (१०) लेश्या, (११) लिङ्ग और (१२) फल।[3] पहले हम इन विषयों के माध्यम से धर्म्य-ध्यान पर विचार करेंगे।

(१) भावना— ध्यान की योग्यता उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है, जो पहले भावना का अभ्यास कर चुकता है। इस प्रसंग में चार भावनाएँ उल्लेखनीय हैं—

१—योगशास्त्र, ९।१३।

२—ज्ञानसार, ३७ ; योगशास्त्र, १०।५।

३—ध्यानशतक, २८,२९।

(१) ज्ञान-भावना— ज्ञान का अभ्यास ; ज्ञान में मन की लीनता,
(२) दर्शन-भावना— मानसिक मूढ़ता के निरसन का अभ्यास,
(३) चारित्र-भावना— समता का अभ्यास और
(४) वैराग्य-भावना— जगत् के स्वभाव का यथार्थ दर्शन, आसक्ति, भय और आकांक्षा से मुक्त रहने का अभ्यास।[1]

इन भावनाओं के अभ्यास से ध्यान के योग्य मानसिक-स्थिरता प्राप्त होती है। आचार्य जिनसेन ने ज्ञान-भावना के पाँच प्रकार बतलाए हैं—वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना और धर्म-देशना। दर्शन-भावना के सात प्रकार बतलाए हैं—संवेग, प्रशम, स्थैर्य, अमूढ़ता, अगर्वता, आस्तिक्य और अनुकम्पा। चारित्र-भावना के नौ प्रकार बतलाए हैं—पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ और कष्ट-सहिष्णुता। वैराग्य-भावना के तीन प्रकार बतलाए हैं—विषयों के प्रति अनासक्ति, कायतत्त्व का अनुचिन्तन और जगत् के स्वभाव का विवेचन।[2]

(२) प्रदेश— ध्यान के लिए एकान्त प्रदेश अपेक्षित है। जो जनाकीर्ण स्थान मे रहता है, उसके सामने इन्द्रियो के विषय प्रस्तुत होते रहते है। उनके सम्पर्क से कदाचित् मन व्याकुल हो जाता है। इसलिए एकान्तवास मुनि के लिए सामान्य मार्ग है, किन्तु जैन-आचार्यों ने हर सत्य को अनेकान्त-दृष्टि से देखा, इसलिए उनका यह आग्रह कभी नही रहा कि मुनि को एकान्तवासी ही होना चाहिए।[3] भगवान् महावीर ने कहा—"साधना गाँव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। साधना का भाव न हो तो वह गाँव मे भी नहीं हो सकती और अरण्य मे भी नही हो सकती।"[4] धीर व्यक्ति जनाकीर्ण और विजन दोनो स्थानों मे समचित्त रह सकता है।[5] अत ध्यान के लिए प्रदेश की कोई एकान्तिक मर्यादा नहीं दी जा सकती। अनेकान्त-दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रदेश के सम्बन्ध में सामान्य मर्यादा यह है कि ध्यान का स्थान शून्य-गृह, गुफा आदि विजन प्रदेश होना चाहिए। जहाँ मन, वाणी और शरीर को समाधान मिले और जहाँ जीव-जन्तुओं का कोई उपद्रव न हो, वह स्थान ध्यान के लिए उपयुक्त है।[6]

१—ध्यानशतक, ३०।
२—महापुराण २१।९६-९९।
३—महापुराण, पर्व २१।७०-८०।
४—आचारांग १।८।१।१४ :
गामे वा अदुवा रण्णे, णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह।
५—ध्यानशतक, ३६।
६—वही, ३७।

(३) काल— ध्यान के लिए काल की भी कोई एकान्तिक मर्यादा नहीं है। वह सार्वकालिक है—जब भावना हो तभी किया जा सकता है।[१] ध्यानशतक के अनुसार जब मन को समाधान प्राप्त हो, वही समय ध्यान के लिए उपयुक्त है। उसके लिए दिन-रात आदि किसी समय का नियम नही किया जा सकता।[२]

(४) आसन— ध्यान के लिए शरीर की अवस्थिति का भी कोई नियम नही है। जिस अवस्थिति में ध्यान सुलभ हो, उसी मे वह करना चाहिए। इस अभिमत के अनुसार ध्यान खडे, बैठे और सोते—तीनो अवस्थाओ मे किया जा सकता है।[३]

'भू-भाग'—ध्यान किसी ऊँचे आसन या शय्या आदि पर बैठ कर नही करना चाहिए। उसके लिए 'भूतल' और 'शिलापट्ट'—ये दो उपयुक्त माने गए हैं।[४] काष्ठपट्ट भी उसके लिए उपयुक्त है।

ध्यान के लिए अभिहित आसनो की चर्चा हम 'स्थान-योग' के प्रसंग में कर चुके हैं। समग्रदृष्टि से ध्यान के लिए निम्न अपेक्षाएँ हैं—

(१) बाधा रहित स्थान,
(२) प्रसन्न काल,
(३) सुखासन,
(४) सम, सरल और तनाव रहित शरीर,
(५) दोनो होठ 'अधर' मिले हुए,
(६) नीचे और ऊपर के दाँतों में थोडा अन्तर,
(७) दृष्टि नासा के अग्र भाग पर टिकी हुई,
(८) प्रसन्न मुख,
(९) मुँह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर और
(१०) मंद श्वास-निश्वास।[५]

१-महापुराण, २१।८१

न चाहोरात्र सन्ध्यादि-लक्षणः कालपर्ययः।
नियतोऽस्यास्ति विध्यासोः, तद्ध्यानं सार्वकालिकम्॥

२-ध्यानशतक, ३८।

३-ध्यानशतक, ३९, महापुराण, २१।७५।

४-तत्त्वानुशासन, ९२।

५-(क) महापुराण, २१।६०-६४ :
(ख) योगशास्त्र, ४।१३५,१३६।
(ग) पासनाहचरिय, २०६।

(५) आलम्बन— ऊपर की चढ़ाई में जैसे रस्सी आदि के सहारे की आवश्यकता होती है, वैसे ही ध्यान के लिए भी कुछ आलम्बन आवश्यक होते हैं।[1] इनका उल्लेख 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक में किया जा चुका है।

(६) क्रम — पहले स्थान (स्थिर रहने) का अभ्यास होना चाहिए। इसके पश्चात् मौन का अभ्यास करना चाहिए। शरीर और वाणी दोनों की गुप्ति होने पर ध्यान (मन की गुप्ति) सहज हो जाता है। अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान-साधना के अनेक क्रम हो सकते हैं।

(७) ध्येय— ध्यान अनेक हो सकते हैं, उनकी निश्चित संख्या नहीं की जा सकती। ध्येय विषयक चर्चा 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक में की जा चुकी है।

(८) ध्याता— ध्यान के लिए कुछ विशेष गुणों की अपेक्षाएँ है। वे जिसे प्राप्त हों, वही व्यक्ति उसका अधिकारी है। ध्यानशतक में उन विशेष गुणों का उल्लेख इस प्रकार है—

(१) अप्रमाद— मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रमाद है। इनसे जो मुक्त होता है,

(२) निर्मोह— जिसका मोह उपशान्त या क्षीण होता है और

(३) ज्ञान-सम्पन्न— जो ज्ञान-सम्पदा से युक्त होता है, वही व्यक्ति धर्म्य-ध्यान का अधिकारी है।[2]

सामान्य धारणा यही रही है कि ध्यान का अधिकारी मुनि हो सकता है।[3] रामसेन[4] और शुभचन्द्र[5] का भी यही मत है। इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ के धर्म्य-ध्यान होता ही नहीं, किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि उसके उत्तम कोटि का ध्यान नहीं होता।

धर्म्य-ध्यान की तीन कोटियाँ हो सकती है—उत्तम, मध्यम और अवर। उत्तम कोटि का ध्यान अप्रमत्त व्यक्तियों का ही होता है। मध्यम और अवर कोटि का ध्यान शेष व्यक्तियों के हो सकता है। उनके लिए यही सीमा मान्य है कि इन्द्रिय और मन पर उनका निग्रह होना चाहिए।[6]

१–ध्यानशतक, ४३।
२–वही, ६३।
३–वही, ६३।
४–तत्त्वानुशासन, ४१-४५ :
५–ज्ञानार्णव, ४।१७।
६–तत्त्वानुशासन, ३८ :
गुप्तेन्द्रियमना ध्याता।

रायसेन ने अधिकारी की दृष्टि से धर्म्य-ध्यान को दो भागों में विभक्त किया है—मुख्य और उपचार। मुख्य धर्म्य-ध्यान का अधिकारी अप्रमत्त ही होता है। दूसरे लोग औपचारिक धर्म्य-ध्यान के अधिकारी होते हैं।[१] ध्यान की सामग्री (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) के आधार पर भी ध्याता और ध्यान के तीन-तीन प्रकार निश्चित किए गए हैं—

उत्कृष्ट सामग्री	उत्कृष्ट ध्याता	उत्कृष्ट ध्यान
मध्यम सामग्री	मध्यम ध्याता	मध्यम ध्यान
जघन्य सामग्री	जघन्य ध्याता	जघन्य ध्यान[२]

धर्म्य-ध्यान का अधिकारी अल्पज्ञानी व्यक्ति हो सकता है, किन्तु वह नहीं हो सकता, जिसका मन अस्थिर हो।[३] ध्यान और ज्ञान का निकट से कोई सम्बन्ध नही है। ज्ञान व्यग्र होता है—अनेक आलम्बनो मे विचरण करता है और ध्यान एकाग्र होता है—एक आलम्बन पर स्थिर होता है। वस्तुत 'ध्यान' ज्ञान से भिन्न नही है, उसी की एक विशेष अवस्था है। अपरिस्पन्दमान अग्निशिखा की भाँति जो ज्ञान स्थिर होता है, वही 'ध्यान' कहलाता है।[४]

जिसका संहनन वज्र की तरह सुदृढ होता है और जो विशिष्ट श्रुत (पूर्व-ज्ञान) का ज्ञाता होता है, वही व्यक्ति शुक्ल-ध्यान का अधिकारी है।[५]

जैन-आचार्यों का यह अभिमत रहा है कि वर्तमान मे शुक्ल-ध्यान के उपयुक्त सामग्री—वज्र-संहनन और ध्यानोपयोगी विशिष्ट-ज्ञान प्राप्त नही है। उन्होने ऐदंयुगीन लोगों को धर्म्य-ध्यान का ही अधिकारी माना है।[६]

(६) अनुप्रेक्षा— आत्मोपलब्धि के दो साधन हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा गया है कि स्वाध्याय करो, उससे थकान का अनुभव हो तब ध्यान करो। ध्यान से थकान का अनुभव हो, तब फिर स्वाध्याय करो। इस क्रम से स्वाध्याय और ध्यान के अभ्यास से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।[७]

अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक अग है। ध्यान की सिद्धि के लिए अनुप्रेक्षाओं का

१–तत्त्वानुशासन, ४७ :
२–(क) वही, ४८,४९।
(ख) ज्ञानार्णव, २८।२९।
३–महापुराण, २१।१०२।
४–सर्वार्थसिद्धि, ९।२७ ; तत्त्वानुशासन, ४९।
५–ध्यानशतक, ६४।
६–तत्त्वानुशासन, ३६।
७–वही, ८१।

अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है। उनके अभ्यास से जिसका मन सुसंस्कृत होता है, वह विषम स्थिति उत्पन्न होने पर भी अविचल रह सकता है, प्रिय और अप्रिय दोनों स्थितियों को समभाव से सह सकता है। धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं। इनका उल्लेख हम 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक में कर चुके हैं।

(१०) लेश्या— विचारों में तरतमता होती है। वे अच्छे हों या बुरे एक समान नहीं होते। इस तरतमता को लेश्या के द्वारा समझाया गया है। यह निश्चित है कि धर्म्य-ध्यान के समय विचार-प्रवाह शुद्ध होता है। शुद्ध विचार-प्रवाह के तीन प्रकार हैं—तेजस् लेश्या (=पीत लेश्या), पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या।

तेजस् लेश्या से पद्म लेश्या विशुद्ध होती है और पद्म लेश्या से शुक्ल लेश्या विशुद्ध होती है। एक-एक लेश्या के परिणाम भी मंद, मध्यम और तीव्र होते हैं। उत्तराध्ययन में मानसिक विशुद्धि का क्रम समझाते हुए बताया गया है—

"जो मनुष्य नम्रता से बर्ताव करता है, जो चपल होता है, जो माया से रहित है, जो अकुतूहली है, जो विनय करने मे निपुण है, जो दान्त है, जो समाधि-युक्त है, जो उपधान (श्रुत अध्ययन करते समय तप) करने वाला है, जो धर्म मे प्रेम रखता है, जो धर्म में दृढ है, जो पापभीरु है, जो मुक्ति का गवेषक है—जो इन सभी प्रवृत्तियो से युक्त है, वह तेजोलेश्या में परिणत होता है।

"जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्त-चित्त है, जो अपनी आत्मा का दमन करता है, जो समाधि-युक्त है, जो उपधान करने वाला है, जो अत्यल्प भाषी है, जो उपशान्त है, जो जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह पद्म लेश्या मे परिणत होता है।

"जो मनुष्य आर्त्त और रौद्र—इन दोनो ध्यानो को छोडकर धर्म और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, जो प्रशान्त-चित्त है, जो अपनी आत्मा का दमन करता है, जो समितियो से समित है, जो गुप्तियों से गुप्त है, जो उपशान्त है, जो जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह सराग हो या वीतराग, शुक्ल लेश्या मे परिणत होता है।"[१]

(११) लिङ्ग— सुदूर प्रदेश में अग्नि होती है, उसे आँखों से नहीं देखा जा सकता, किन्तु धूँवा देखकर उसे जाना जा सकता है। इसीलिए धूँवा उसका लिङ्ग है। ध्यान व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्ति है, उसे नहीं देखा जा सकता, किन्तु उस व्यक्ति की सत्य विषयक आस्था देखकर उसे माना जा सकता है, इसीलिए सत्य की आस्था उसका लिङ्ग

१—उत्तराध्ययन, ३४।२७-३२।

है—हेतु है।[1] आगमों में इसके चार लिङ्ग (लक्षण) बतलाए गए हैं। 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक देखिए।

(१२) फल— धर्म्य-ध्यान का प्रथम फल आत्म-ज्ञान है। जो सत्य अनेक तर्कों के द्वारा नहीं जाना जाता, वह ध्यान के द्वारा सहज ही ज्ञात हो जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—"कर्म क्षीण होने पर मोक्ष होता है, कर्म आत्म-ज्ञान से क्षीण होते हैं और आत्म-ज्ञान ध्यान से होता है। यह ध्यान का प्रत्यक्ष फल है।"[2] पारलौकिक या परोक्ष फल के विषय में सन्देह हो सकता है, इसीलिए हमारे आचार्यों ने ध्यान के ऐहिक या प्रत्यक्ष फलों का भी विवरण प्रस्तुत किया है। ध्यान-सिद्ध व्यक्ति कषाय से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःखों—ईर्ष्या, विषाद, शोक, हर्ष आदि से पीडित नहीं होता। वह सर्दी-गर्मी आदि से उत्पन्न शारीरिक कष्टो से भी पीडित नही होता।[3]

यह तथ्य वर्तमान शोधो से भी प्रमाणित हो चुका है कि बाह्य परिस्थितियों से ध्यानस्थ व्यक्ति बहुत कम प्रभावित होता है। अन्तरिक्ष यात्रियो के लिए अत्यधिक सर्दी और गर्मी से अप्रभावित रहना आवश्यक है। इस दृष्टि स योग की प्रक्रिया को अन्तरिक्ष यात्रा के लिए उपयोगी समझा गया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए रूसियों और अमरीकियों ने भारत में आकर योगाभ्यास की अनेक प्रक्रियाओ का ज्ञान प्राप्त किया।

शुक्ल-ध्यान

शुक्ल-ध्यान के लिए उपयुक्त सामग्री अभी प्राप्त नहीं है, अत आधुनिक लोगों के लिए उसका अभ्यास भी संभव नही है। फिर भी उसका विवेचन आवश्यक है। उसकी परम्परा का विच्छेद नहीं होना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र की यह मान्यता है।[4] इस मान्यता में सचाई भी है। अविच्छिन्न परम्परा से यदा-कदा कोई व्यक्ति थोडी बहुत मात्रा में लाभान्वित हो सकता है। अब हम भावना आदि बारह विषयों के माध्यम से शुक्ल-ध्यान का विवेचन करेंगे। भावना, प्रदेश, काल और आसन ये चार विषय धर्म्य और शुक्ल दोनो के समान है।[5] आलम्बन-आदि दोनो के भिन्न-भिन्न हैं।

१–ध्यानशतक ६७।

२–योगशास्त्र ४।११३ :

मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मत तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥

३–ध्यानशतक १०३,१०४।

४–योगशास्त्र ११।३,४।

५–ध्यानशतक, ६८, वृत्ति।

आलम्बन—शुक्ल-ध्यान के आलम्बनों की चर्चा 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक में की जा चुकी है।

क्रम—शुक्ल-ध्यान करने वाला क्रमशः महद् आलम्बन की ओर बढ़ता है। प्रारम्भ में मन का आलम्बन समूचा संसार होता है। क्रमिक अभ्यास होते-होते वह एक परमाणु पर स्थिर हो जाता है। केवली दशा आते-आते मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।[1]

आलम्बन के संक्षेपीकरण का जो क्रम है, उसे कुछ उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है। जैसे समूचे शरीर में फैला हुआ जहर डंक के स्थान में उपसंहृत किया जाता है और फिर उसे बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार विश्व के सभी विषयों में फैला हुआ मन एक परमाणु में निरुद्ध किया जाता है और फिर उससे हटाकर आत्मस्थ किया जाता है।

जैसे ईंधन समाप्त होने पर अग्नि पहले क्षीण होती है, फिर बुझ जाती है, उसी प्रकार विषयो के समाप्त होने पर मन पहले क्षीण होता है, फिर बुझ जाता है—शान्त हो जाता है।

जैसे लोहे के गर्म बर्तन में डाला हुआ जल क्रमशः हीन होता जाता है, उसी प्रकार शुक्ल ध्यानी का मन अप्रमाद से क्षीण होता जाता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार योगी का चित्त सूक्ष्म मे निविशमान होता है, तब परमाणु स्थित हो जाता है और जब स्थूल में निविशमान होता है, तब परम महत् उसका विषय बन जाता है।[2] इसमें परमाणु पर स्थित होने की बात है पर यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने के क्रम की चर्चा नहीं है।

ध्येय—शुक्ल-ध्यान का ध्येय पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और एकत्व-वितर्क-अविचार—इन दो रूपों मे विभक्त है। पहला भेदात्मक रूप है और दूसरा अभेदात्मक। इनका विशेष अर्थ 'ध्यान के प्रकार' में देखें।

ध्याता—ध्याता के लक्षण धर्म्य-ध्यान के ध्याता के समान ही है।

अनुप्रेक्षा—देखिए 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक।

लेश्या—शुक्ल ध्यान के प्रथम दो चरणो में लेश्या शुक्ल होती है, तीसरे चरण मे वह परम शुक्ल होती है और चौथा चरण लेश्यातीत होता है।[3]

१—ध्यानशतक, ७०।

२—पातंजल योगसूत्र, १।४०।

३—ध्यायन शतक, ८९।

लिङ्ग—शुक्ल ध्यान के चार लिङ्ग (लक्षण) हैं। देखिए 'ध्यान के प्रकार' शीर्षक में।

फल—धर्म्य-यान का जो फल बतलाया गया है, वह उत्कृष्ट स्थिति में पहुँच शुक्ल-ध्यान का फल बन जाता है। इसका अंतिम फल मोक्ष है। ध्यान के व्यावहारिक फल के विषय में कुछ मतभेद मिलता है।

ध्यान शतक के अनुसार ध्यान से मन, वाणी और शरीर को कष्ट होता है, वे दुर्बल होते हैं और उनका विदारण होता है।[1] इस अभिमत से जान पडता है कि ध्यान से शरीर दुर्बल होता है। दूसरा अभिमत इससे भिन्न है। उसके अनुसार ध्यान से ज्ञान, विभूति, आयु, आरोग्य, सन्तुष्टि, पुष्टि और शारीरिक धैर्य—ये सब प्राप्त होते हैं।[2] एकान्त दृष्टि से देखने पर ये दोनों तथ्य विपरीत जान पडते हैं, पर इन दोनों के साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षा जुडी हुई है। जिस ध्यान में श्रोती भावना या चिन्तन की अत्यन्त गहराई होती है, उससे शारीरिक कृशता हो सकती है। जिस ध्यान में आत्म-संवेदन के सिवाय शेष चिन्तन का अभाव होता है, उससे शारीरिक पुष्टि हो सकती है।

ध्यान और प्राणायाम

जैन आचार्य ध्यान के लिए प्राणायाम को आवश्यक नही मानते। उनका अभिमत है कि तीव्र प्राणायाम से मन व्याकुल होता है। मानसिक व्याकुलता से समाधि का भंग होता है। जहाँ समाधि का भंग होता है, वहाँ ध्यान नही हो सकता।[3] समाधि के लिए श्वास को मंद करना आवश्यक है। श्वास और मन का गहरा सम्बन्ध है। जहाँ मन है, वहाँ श्वास है और जहाँ श्वास है, वहाँ मन है। ये दोनों क्षीर नीर की भाँति परस्पर घुले-मिले हैं।[4] मन की गति मंद होने से श्वास की और श्वास की गति मंद होने से मन की गति अपने आप मंद हो जाती है।

ध्यान और समत्व

समता और विषमता का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव है। शरीर सम अवस्थित होता है, तब सारा स्नायु-संस्थान ठीक काम करता है। और वह विषम रूप में स्थित होता है, तब स्नायु-संस्थान की क्रिया अव्यवस्थित हो जाती है।

१–ध्यानशतक, ९९।
२–तत्त्वानुशासन, १९८।
३–महापुराण, २१।६५,६६
४–योगशास्त्र, ५।२ :
मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः।
अत स्तुल्यक्रियावेतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत्॥

शरीर की समता का मन पर असर होता है और मन की समता का चेतना पर असर होता है। चेतना की अस्थिरता मानसिक विषमता की स्थिति में ही होती है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि स्थितियों से मन जितना विषम होता है, उतनी ही चंचलता होती है। उन स्थितियों के प्रति मन का कोई लगाव नहीं होता, तब वह सम होता है। उस स्थिति में चेतना सहज ही स्थिर होती है। यही अवस्था ध्यान है। इसीलिए आचार्य शुभचन्द्र ने समभाव को ध्यान माना है।[1] आचार्य हेमचन्द्र का अभिमत है कि जो व्यक्ति समता की साधना किए बिना ध्यान करता है, वह कोरी विडम्बना करता है।[2]

ध्यान और शारीरिक संहनन

जैन-परम्परा मे कुछ लोग यह मानने लगे थे कि वर्तमान समय में ध्यान नहीं हो सकता। क्योंकि आज शरीर का संहनन उतना दृढ नहीं है जितना पहले था। ध्यान के अधिकारी वे ही हो सकते हैं, जिनका शारीरिक संहनन उत्तम हो। तत्त्वार्थ सूत्र में भी यही बताया गया है कि ध्यान उसी के होता है, जिसका शारीरिक-संहनन उत्तम होता है।[3]

यह चर्चा विक्रम की प्रथम शताब्दी के आसपास ही प्रारम्भ हो चुकी थी। उसी के प्रति आचार्य कुन्दकुन्द ने अपना अभिमत प्रकट किया था—"इस दुस्सम-काल मे भी आत्म-स्वभाव में स्थित ज्ञानी के धर्म्य-ध्यान हो सकता है। जो इसे नहीं मानता, वह अज्ञानी है।"[4] आचार्य देवसेन ने भी इस अभिमत से सहमति प्रकट की थी।[5] यह चर्चा विक्रम की १० वीं शताब्दी में भी चल रही थी। रामसेन ने भी इस प्रसंग पर लिखा है—"जो लोग वर्तमान में ध्यान होना नहीं मानते वे अर्हत्-मत से अनभिज्ञ हैं। उनके अनुसार शुक्ल ध्यान के योग्य शारीरिक संहनन अभी प्राप्त नहीं है, किन्तु धर्म्य-ध्यान के योग्य सहनन आज भी प्राप्त हैं।"[6]

जैन-परम्परा में ध्यान करने की प्रवृत्ति का ह्रास हुआ, उसका एक कारण यह

१—ज्ञानार्णव, २७।४।

२—योगशास्त्र, ४।११२।

समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
बिना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते॥

३—तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२७।

४—मोक्खपाहुड, ७३-७६।

५—तत्त्वसार, १४।

६—तत्त्वानुशासन, ८२-८४।

मनोवृत्ति भी रही होगी कि वर्तमान समय में हम ध्यान के अधिकारी नहीं हैं। कुछ आचार्यों ने इस मनोवृत्ति का विरोध भी किया, किन्तु फिर भी समय ने उन्हीं का साथ दिया, जो ध्यान नहीं होने के पक्ष में थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ध्यान के लिए शारीरिक-संहनन की दृढता बहुत अपेक्षित है और वह इसलिए अपेक्षित है कि मन की स्थिरता शरीर की स्थिरता पर निर्भर है।

ध्यान का कालमान

चेतना की परिणति तीन प्रकार की होती है—

(१) हीयमान।

(२) वर्धमान।

(३) अवस्थित।

हीयमान और वर्धमान—ये दोनों परिणतियाँ अनवस्थित हैं। जो अनवस्थित हैं, वे ध्यान नहीं हैं। अवस्थित परणति ध्यान है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भन्ते! अवस्थित परिणति कितने समय तक हो सकती है?" भगवान् ने कहा—"गौतम! जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत अन्तर्मुहूर्त तक।"[1] इसी संवाद के आधार पर ध्यान का कालमान निश्चित किया गया। एक वस्तु के प्रति चित्त का अवस्थित परिणाम अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) तक हो सकता है।[2] उसके बाद चिन्ता, भावना या अनुप्रेक्षा होने लग जाती है। उक्त काल-मर्यादा एक वस्तु में होने वाली चित्त की एकाग्रता की है। वस्तु का परिवर्तन होता रहे, तो ध्यान का प्रवाह लम्बे समय तक भी हो सकता है। उसके लिए अन्तर्मुहूर्त का नियम नहीं है।[3]

ध्यान सिद्धि के हेतु

ध्यान सिद्धि के लिए चार बातें अपेक्षित हैं—(१) गुरु का उपदेश, (२) श्रद्धा, (३) निरन्तर अभ्यास और (४) स्थिर मन।[4]

पतंजलि ने अभ्यास की दृढता के तीन हेतु बतलाए हैं—(१) दीर्घकाल, (२) निरन्तर और (३) सत्कार।[5] अनेक ग्रन्थों में योग या ध्यान की सिद्धि के हेतुओं की विचारणा की गई है।

१—भगवती, २५।६।७७०।
२—तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२७।
३—ध्यानशतक, ४।
४—तत्त्वानुशासन, २१८।
५—पातंजल योगसूत्र, १।१४।

सोमदेव सूरी ने वैराग्य, ज्ञानसम्पदा, असंगता, चित्त की स्थिरता, भूख-प्यास आदि की ऊर्मियों को सहना—ये पाँच योग के हेतु बतलाए हैं।[1] ऐसे और भी अनेक हेतु हो सकते हैं पर इसी शीर्षक की प्रथम पंक्ति में निर्दिष्ट चार बातें अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं।

ध्यान का महत्त्व

मोक्ष का पथ है—संवर और निर्जरा। उनका पथ है—तप। ध्यान तप का प्रधान अंग है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ध्यान मोक्ष का प्रधान मार्ग है। वस्त्र, लोह और गीलीभूमि के मल, कलंक और पंक की शुद्धि के लिए जो स्थान जल, अग्नि और सूर्य का है, वही स्थान कर्म-मल की शुद्धि के लिए ध्यान का है।[2] जैसे ईन्धन की राशि को अग्नि जला डालती है और प्रतिकूल पवन से आहत होकर बादल विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ध्यान से कर्मों का दहन और विलयन होता है।[3] ऋषिभाषित में बतलाया गया है कि ध्यान-हीन धर्म सिर-हीन शरीर के समान है।[4] जैन-परम्परा में प्राचीन काल से ही ध्यान का इतना महत्व रहा, फिर भी पता नहीं ध्यान की परम्परा क्यों विच्छिन्न हुई? और बाह्य तप के सामने ध्यान क्यों निस्तेज हुआ? ध्यान की परम्परा विच्छिन्न होने के कारण ही दूसरे लोगों में यह भ्रम बढ़ा कि जैन-धर्म का साधना-मार्ग बहुत कठोर है। यदि ध्यान की परम्परा अविच्छिन्न रही होती तो यह भ्रम नहीं होता।

(६) व्युत्सर्ग

विसर्जन साधना का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। आत्मा अपने आपमें परिपूर्ण है। उसे अपने लिए बाहर से कुछ भी अपेक्षित नहीं है। उसकी अपूर्णता का कारण है—बाह्य का उपादान। उसे रोक दिया जाए व विसर्जित कर दिया जाए तो वह अपने सहज रूप में उदित हो जाती है। वही उसकी पूर्णता है।

विसर्जनीय वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—(१) बाह्य आलम्बन और (२) आन्तरिक वृत्तियाँ। जैन परिभाषा में बाह्य आलम्बन के विसर्जन को 'द्रव्य-व्युत्सर्ग' और आन्तरिक वृत्तियों के विसर्जन को 'भाव-व्युत्सर्ग' कहा गया है।[5]

१—यशस्तिलक, ८।४०।
२—ध्यानशतक, ९७,९८।
३—वही, १०१,१०२।
४—इसिभासियाइं, २२।१४।
५—(क) भगवती, २५।७।८०२।
(ख) औपपातिक, २०।

बाह्य आलम्बन की दृष्टि से चार वस्तुएँ विसर्जनीय मानी गई हैं—(१) शरीर, (२) गण, (३) उपधि और (४) भक्त-पान।

(१) शरीर-व्युत्सर्ग— शारीरिक चंचलता का विसर्जन।
(२) गण-व्युत्सर्ग— विशिष्ट साधना के लिए गण का विसर्जन।
(३) उपधि-व्युत्सर्ग— वस्त्र आदि उपकरणों का विसर्जन।
(४) भक्त-पान-व्युत्सर्ग— भोजन और जल का विसर्जन।

आन्तरिक वृत्तियों की दृष्टि से विसर्जनीय वस्तुएं तीन है—(१) कषाय, (२) संसार और (३) कर्म।

(१) कषाय-व्युत्सर्ग— क्रोध आदि का विसर्जन।
(२) संसार-व्युत्सर्ग— संसार के मूल हेतु राग-द्वेष का विसर्जन।
(३) कर्म-व्युत्सर्ग— कर्म पुद्‌गलों का विसर्जन।

उत्तराध्ययन में केवल शरीर-व्युत्सर्ग की परिभाषा की गई है।[1] इसका दूसरा नाम 'कायोत्सर्ग' है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग का अर्थ है 'काया का उत्सर्ग'। प्रश्न होता है आयु पूर्ण होने से पहले काया का उत्सर्ग कैसे हो सकता है? यह सही है, जब तक आयु शेष रहती है, तब तक काया का उत्सर्ग—त्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु यह काया अशुचि है, अनित्य है, दोषपूर्ण है, असार है, दुःख हेतु है, इसमें ममत्व रखना दुःख का मूल है—इस बोध से भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। जिसे भेद-ज्ञान प्राप्त होता है, वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नहीं है, मैं इसका नहीं हूं। मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है। इस प्रकार का संकल्प करने से शरीर के प्रति आदर घट जाता है। इस स्थिति का नाम कायोत्सर्ग है। एक घर में रहने पर भी पति द्वारा अनादृत पत्नी परित्यक्ता कहलाती है। जिस वस्तु के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय में अनादर भावना होती है, वह उसके लिए परित्यक्त होती है। जब काया में ममत्व नहीं रहता, आदर-भाव नहीं रहता, तब काया परित्यक्त हो जाती है।[2]

कायोत्सर्ग की यह परिभाषा पूर्ण नहीं है। यदि काया के प्रति होने वाले ममत्व का विसर्जन ही कायोत्सर्ग हो तो चलते-फिरते व्यक्ति के भी कायोत्सर्ग हो सकता है, पर निश्चलता के बिना वह नहीं होता। हरिभद्र सूरि ने प्रवृत्ति में संलग्न काया के परित्याग

१—उत्तराध्ययन, ३०।३६।
२—मूलाराधना, ११८८ विजयोदया वृत्ति।

को कायोत्सर्ग कहा है।[1] यह भी पूर्ण परिभाषा नहीं है। दोनों के योग से पूर्ण परिभाषा बनती है। कायोत्सर्ग अर्थात् कायिक ममत्व और चंचलता का विसर्जन।

कायोत्सर्ग का उद्देश्य

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है—आत्मा का काया से वियोजन। काया के साथ आत्मा का जो संयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति। जो इनका विसंयोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है, वह स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा 'स्व' का व्युत्सर्ग करता है।

स्थान— काया की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—काय-गुप्ति
मौन— वाणी की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—वाग्-गुप्ति
ध्यान— मन की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—मनो-गुप्ति।

कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है। शेष प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है।[2]

कायोत्सर्ग की विधि और प्रकार

शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा के आधार पर कायोत्सर्ग के नौ प्रकार किए गए हैं—

शारीरिक अवस्थिति		मानसिक चिन्तनधारा
(१) उत्सृत-उत्सृत	खड़ा	धर्म-शुक्ल ध्यान
(२) उत्सृत	खड़ा	न धर्म-शुक्ल और न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तन-शून्य दशा
(३) उत्सृत-निषण्ण	खड़ा	आर्त्त-रौद्र ध्यान
(४) निषण्ण-उत्सृत	बैठा	धर्म-शुक्ल ध्यान
(५) निषण्ण	बैठा	न धर्म-शुक्ल और न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तन-शून्य दशा
(६) निषण्ण-निषण्ण	बैठा	आर्त्त-रौद्र ध्यान
(७) निषण्ण-उत्सृत	सोया हुआ	धर्म-शुक्ल ध्यान

१—आवश्यक, गाथा ७७९, हारिभद्रीय वृत्ति :
करोमि कायोत्सर्गम्—व्यापारवतः कायस्यपरित्यागमिति भावना।

२—योगशास्त्र, ३, पत्र २५० :
कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण अन्यत्र उच्छ्वसिताविभ्यः क्रियान्तराध्यासमधिकृत्ययउत्सर्गस्त्यागो 'नमो अरहंताणं' इति वचनात् प्राक् स कायोत्सर्गः।

(८) निपन्न	सोया हुआ	न धर्म-शुक्ल और न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तन-शून्य दशा
(९) निपन्न-निपन्न	सोया हुआ	आर्त्त रौद्र ध्यान।[1]

अमितगति ने कायोत्सर्ग के चार ही प्रकार माने हैं—(१) उत्थित-उत्थित, (२) उत्थित-उपविष्ट, (३) उपविष्ट-उत्थित और (४) उपविष्ट-उपविष्ट।[2]

(१) जो शरीर से खड़ा है और धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन है, वह शरीर से भी उन्नत है और ध्यान से भी उन्नत है, इसलिए उसका कायोत्सर्ग 'उत्थित-उत्थित' कहलाता है।

(२) जो शरीर से खडा है और आर्त्त-रौद्र ध्यान में लीन है, वह शरीर से उन्नत किन्तु ध्यान से अवनत है, इसलिए उसका कायोत्सर्ग 'उत्थित-उपविष्ट' कहलाता है।

(३) जो शरीर से बैठा है और धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन है, वह शरीर से अवनत है किन्तु ध्यान से उन्नत है, इसलिए उसका कायोत्सर्ग 'उपविष्ट-उत्थित' कहलाता है।

(४) जो शरीर से बैठा है और आर्त्त-रौद्र ध्यान में लीन है, वह शरीर और ध्यान दोनो से अवनत है; इसलिए उसका कायोत्सर्ग 'उपविष्ट-उपविष्ट कहलाता है।

कायोत्सर्ग खड़े, बैठे और सोते—तीनों अवस्थाओ में किया जा सकता है।[3] फिर भी खडी मुद्रा में उसका प्रयोग अधिक हुआ है। अपराजित सूरि ने लिखा है कि कायो-त्सर्ग करने वाला व्यक्ति शरीर से निस्पृह होकर खम्भे की भाँति सीधा खडा हो जाए। दोनो बाहो को घुटनों की ओर फैला दे। प्रशस्त-ध्यान में निमग्न हो जाए। शरीर को न अकडा कर खड़ा हो और न झुका कर ही। समागत कष्टो और परीषहो को सहन करे। कायोत्सर्ग का स्थान भी एकान्त और जीव-जन्तु रहित होना चाहिए।[4]

कायोत्सर्ग के उक्त प्रकार शरीर-मुद्रा और चिन्तन-प्रवाह के आधार पर किए गए हैं, किन्तु प्रयोजन की दृष्टि से उसके दो ही प्रकार होते हैं—चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग।[5]

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४५९, १४६०।

२—अमितगति, श्रावकाचार, ८।५७-६१।

३—योगशास्त्र, ३ पत्र २५०।

४—मूलाराधना, २।११६, विजयोदया पृ० २७८,२७९ :

तत्र शरीरनिस्पृहः, स्थाणुरिवोर्ध्वकायः, प्रलम्बितभुजः, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽ-नुन्नमितानतकाय, परीषहानुपसर्गाश्च सहमानः, तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभि-लाषी विविक्ते देशे।

५—आवश्यक, निर्युक्ति, गाथा १४५२ :

सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ॥

कायोत्सर्ग का कालमान

चेष्टा कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधृत है। विभिन्न प्रयोजनों से वह आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पाँच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिभव कायोत्सर्ग का काल जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष का कायोत्सर्ग किया था।[1]

दोष-शुद्धि के लिए किए जाने वाले कायोत्सर्ग के पाँच विकल्प होते हैं—(१) दैवसिक कायोत्सर्ग, (२) रात्रिक कायोत्सर्ग, (३) पाक्षिक कायोत्सर्ग, (४) चातुर्मासिक कायोत्सर्ग और (५) सांवत्सरिक कायोत्सर्ग।

छह आवश्यक हैं, उनमें कायोत्सर्ग पाँचवाँ है। कायोत्सर्ग-काल में चतुर्विंशस्तव (चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति) का ध्यान किया जाता है। उसके सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं। एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है।[2] इस प्रकार एक चतुर्विंशस्तव का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है। प्रवचनसारोद्धार और विजयोदया के अनुसार इनका ध्येय-परिमाण और कालमान इस प्रकार है—

प्रवचनसारोद्धार[3]

	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	२	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	४	१२½	५०	५०

१–(क) योगशास्त्र, ३ पत्र २५० :

तत्र चेष्टाकायोत्सर्गोऽष्ट-पंचविंशति-सप्तविंशति त्रिशति-पंचशती-अष्टोत्तर सहस्रोच्छ्वासान् यावद् भवति। अभिभवकायोत्सर्गस्तु मुहूर्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलिरिव भवति।

(ख) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया वृत्ति :

अन्तर्मुहूर्त्तः कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः वर्षमुत्कृष्टः।

२–योगशास्त्र, ३।

३–प्रवचनसारोद्धार, ३।१८३-१८५ :

चत्तारि दो दुवालस, वीस चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य॥
पणवीस अद्धतेरस, सलोग पन्नत्तरी य बोद्धव्वा।
सयमेगं पणवीसं, बे बावण्णा य वरिसंमि॥
सायं सयं गोसद्धं, तिन्नेव सया हवंते पक्खम्मि।
पंच य चाउम्मासे, वरिसे अट्ठोत्तरसहस्सा॥

	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
(५) सांवत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

विजयोदया[1]

	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	४	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	२	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	१६	१००	४००	४००
(५) सांवत्सरिक	२०	१२५	५००	५००

इस प्रकार नेमिचन्द्र और अपराजित दोनों आचार्यों की उच्छ्वास संख्या भिन्न रही है। अमितगति श्रावकाचार के अनुसार दैवसिक कायोत्सर्ग में १०८ तथा रात्रिक कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वासों का ध्यान किया जाता है और अन्य कायोत्सर्गों में २७ उच्छ्वासों का। २७ उच्छ्वासों में नमस्कार मंत्र की नौ आवृत्तियाँ की जाती हैं अर्थात् तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार मंत्र पर ध्यान किया जाता है। संभव है प्रथम दो-दो वाक्य एक-एक उच्छ्वास में और पाँचवाँ वाक्य एक उच्छ्वास में।[2]

१–मूलाराधना, ३।११६ विजयोदया वृत्ति :

सायाह्ने उच्छ्वासशतकं, प्रत्यूषसि पंचाशत, पक्षे त्रिशतानि,
चतुर्षु मासेषु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानाम् ॥

२–अमितगति श्रावकाचार, ८।६८-६९ :

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः, कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, संसारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पंचनमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥

अमितगति ने एक दिन-रात के कायोत्सर्गों की कुल संख्या अट्ठाईस मानी है।[1] वह इस प्रकार है—

(१) स्वाध्याय-काल में	१२
(२) वंदना-काल में	६
(३) प्रतिक्रमण-काल में	८
(४) योग-भक्ति-काल में	२
	२८

पाँच महाव्रतों सम्बन्धी अतिक्रमणों के लिए १०८ उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करने की विधि रही है। कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या में संदेह हो जाए अथवा मन विचलित हो जाए तो आठ उच्छ्वासों का अतिरिक्त कायोत्सर्ग करने की विधि रही है।[2] ऊपर के विवरण से सहज ही निष्पन्न होता है कि प्राचीन काल में कायोत्सर्ग मुनि की दिनचर्या का प्रमुख अंग था। उत्तराध्ययन के सामाचारी प्रकरण में भी अनेक बार कायोत्सर्ग करने का उल्लेख है।[3] दशवैकालिक चूलिका में मुनि को बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला कहा गया है।[4]

कायोत्सर्ग का फल

कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त के रूप में भी किया जाता है, अतः उसका एक फल है—दोष-विशुद्धि।

अपने द्वारा किए हुए दोष का हृदय पर भार होता है। कायोत्सर्ग करने से वह हल्का

१—अमितगति श्रावकाचार, ८।६६-६७ :
अष्टविंशतिसंख्यानाः, कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगताः सर्वे, षडावश्यककारिणाम्॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्, वंदनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ॥

२—मूलाराधना, २।११६ विजयोदया वृत्ति :
प्रत्यूषसि प्राणिवधादिषु पंचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रकालः कायोत्सर्गः। कायोत्सर्गे कृते यदि शंक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यम्।

३—उत्तराध्ययन, २६।३८-५१।

४—दशवैकालिक, चूलिका २।७ :
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी।

हो जाता है, हृदय प्रफुल्ल हो जाता है। अत उसका दूसरा फल है—हृदय का हल्कापन।

हृदय हल्का होने से ध्यान प्रशस्त हो जाता है, यह उसका तीसरा फल है।[1]

कायोत्सर्ग से शारीरिक और मानसिक तनाव तथा भार भी नष्ट होते हैं। इन सारी दृष्टियों को ध्यान में रख कर उसे सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला कहा गया है।[2]

भद्रबाहु स्वामी ने कायोत्सर्ग के पाँच फल बतलाए हैं—

(१) देहजाड्य शुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जडता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि नष्ट होते हैं, अत उनसे उत्पन्न होने वाली जडता भी नष्ट हो जाती है।

(२) मतिजाड्य शुद्धि—कायोत्सर्ग मे मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जडता क्षीण होती है।

(३) सुख-दुःख तितिक्षा—कायोत्सर्ग से सुख और दुःख को सहन करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

(४) अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओ का स्थिरता पूर्वक अभ्यास कर सकता है।

(५) ध्यान—कायोत्सर्ग मे शुभ-ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है।[3]

कायोत्सर्ग के दोष

कायोत्सर्ग से सभी लाभ प्राप्त किया जा सकता है, जब उसकी साधना निर्दोष पद्धति से की जाए। प्रवचनसारोद्धार मे उसके १९[4], योगशास्त्र में २१[5] और विजयोदया मे १६[6] दोष बतलाए गए हैं।

आभ्यन्तर-तप के परिणाम

भाव-शुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य मुक्ति, धार्मिक दृढ़ता आदि प्रायश्चित के परिणाम हैं।[7]

१–उत्तराध्ययन, २९।१२।

२–वही, २६।३८,४१,४६,४९।

३–आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४६२ .

देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्ख य अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं, एयग्गो काउसग्गम्मि॥

४–प्रवचनसारोद्धार, गाथा २४७-२६२।

५–योगशास्त्र, ३।

६–मूलाराधना, २।११६, विजयोदया वृत्ति।

७–तत्त्वार्थ, ९।२२ श्रुतसागरीय वृत्ति।

ज्ञान, लाभ, आचार-विशुद्धि, सम्यक् आराधना आदि विनय के परिणाम हैं।[1]

चित्त-समाधि का लाभ, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि विनय के परिणाम हैं।[2]

प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्ट संवेग का उदय, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचार-विशुद्धि, सदेह-नाश, मिथ्यावादियों के भय का अभाव आदि स्वाध्याय के परिणाम हैं।[3]

कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित न होना, सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना ध्यान के परिणाम हैं।[4]

निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम है।[5]

३—बाह्य-जगत् और हम

प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—(१) शरीर, (२) वाणी और (३) मन। इन्हीं के द्वारा हम बाह्य-जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित किए हुए हैं। इन्द्रियों के द्वारा भी हम बाह्य-जगत् से सम्पृक्त हैं। बाह्य-जगत् का भी वास्तविक अस्तित्व है और हमारा अस्तित्व भी वास्तविक है। साधना की प्रक्रिया में किसी के अस्तित्व को चुनौती नहीं दी जाती, किन्तु अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न की जाती है। उसकी प्रक्रिया को 'गुप्ति' कहा जाता है। उसके द्वारा बाह्य-जगत् के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, ज्ञानात्मक सम्बन्ध विच्छिन्न होता ही नहीं और उसे करने की आवश्यकता भी नहीं है।

गुप्तियाँ तीन हैं—(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति।

(१) मन-गुप्ति— राग-द्वेष की निवृत्ति या मन का संवरण।

(२) वचन-गुप्ति—असत्य वचन आदि की निवृत्ति या मौन।

(३) काय-गुप्ति—हिंसा आदि की निवृत्ति या कायिक-क्रिया का संवरण।

गुप्ति के द्वारा बाह्य-जगत् के साथ हमारा जो रागात्मक सम्बन्ध है, उसका निवर्तन होता है और बाह्य जगत् के साथ हमारा जो प्रवृत्त्यात्मक सम्बन्ध है, उसका भी निवर्तन

१-तत्त्वार्थ, ९।२३ श्रुतसागरीय वृत्ति।

२—वही, ९।२४ श्रुतसागरीय वृत्ति।

३—वही, ९।२५ श्रुतसागरीय वृत्ति।

४-ध्यानशतक, १०५-१०६।

५—तत्त्वार्थ, ९।२६ श्रुतसागरीय वृत्ति।

होता है। एक व्यक्ति रागात्मक चिन्तन नहीं करता, यह भी मन-गुप्ति है और शुभ चिन्तन करता है, वहाँ भी मन-गुप्ति है। एक व्यक्ति रागात्मक वचन नहीं बोलता, यह भी वचन-गुप्ति है और शुभ वचन नहीं बोलता है, वहाँ भी वचन-गुप्ति है। एक व्यक्ति रागात्मक गमनागमन नहीं करता, यह भी काय-गुप्ति है, और शुभ गमनागमन करता है, वहाँ भी काय-गुप्ति है।[1] आत्मा और बाह्य-जगत् का सम्बन्ध विजातीय तत्त्व (पौद्गलिक द्रव्य) के माध्यम से बना हुआ है। उसके दो अंग हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। इनका सम्बन्ध-निरोध गुप्तियों से होता है। मन-गुप्ति से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।[2] एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।[3] वचन-गुप्ति से निर्विचार दशा प्राप्त होती है। वाक् दो प्रकार का होता है—(१) अन्तर्जल्पाकार और (२) बहिर्जल्पाकार। मानसिक विचारों की अभिव्यक्ति बहिर्जल्पाकार वाक् से होती है और मानसिक चिन्तन अन्तर्जल्पाकार वाक् के आलम्बन से होता है। अतएव जब तक वचन-गुप्ति नहीं होती अर्थात् अन्तर्जल्पाकार वाक् का निरोध नहीं होता, तब तक निर्विचार दशा—मानसिक चिन्तन से मुक्त दशा या ध्यान की स्थिति प्राप्त नहीं होती।[4] काय-गुप्ति से संवर या पापाश्रवों का निरोध होता है।[5] वैदिक और बौद्ध दर्शन में मन को बन्ध और मोक्ष का हेतु माना गया। जैन-दर्शन उस सिद्धान्त से सर्वथा असहमति प्रकट नहीं करता तो सर्वथा सहमति भी नहीं देता। मन की चचलता और स्थिरता का शरीर की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति से निकट का सम्बन्ध है। शरीर को स्थिर किए बिना श्वास को स्थिर नहीं किया जा सकता और श्वास को स्थिर किए बिना मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। विजातीय तत्त्व का ग्रहण भी शरीर के ही द्वारा होता है, इसलिए बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया में मन को शान्ति और शरीर का भी बहुत महत्त्वपूर्ण योग है।

शब्द पुद्गल द्रव्य का कार्य है। स्पर्श, रस, गंध और रूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं। दृश्य-जगत् समूचा पौद्गलिक है। वह मनोज्ञ भी है और अमनोज्ञ भी है। मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, तब आत्मा पुद्गलाभिमुख बन जाती है और पुद्गलाभिमुख आत्मा ही पुद्गलों से बद्ध होती है।

श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मनोज्ञ शब्दों के प्रति राग द्वेष उत्पन्न नहीं होता। चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन्द्रिय का निग्रह करने से मनोज्ञ रूप, गध, रस और स्पर्श

१–मूलाराधना, ११८७।८८, विजयोदया वृत्ति।
२–उत्तराध्ययन, २९।५३।
३–वही, २९।२५।
४–वही, २९।५४।
५–वही, २९।५५।

के प्रति राग तथा अमनोज्ञ रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति द्वेष उत्पन्न नहीं होता। आत्मा पुद्गल विमुख बन जाती है और पुद्गल विमुख आत्मा ही पुद्गलों से विमुक्त होती है। बाह्य-जगत् से हमारा जो पौद्गलिक सम्बन्ध है, वही हमारा बन्धन है और पौद्गलिक सम्बन्ध का जो विच्छेद है, वही हमारी मुक्ति।[1]

४–सामाचारी

जैन तीर्थङ्कर धर्म को व्यक्तिगत मानते थे, फिर भी उन्होंने उसकी आराधना को सामूहिक बनाया। वीतराग हर कोई व्यक्ति हो सकता था, जो कषाय-मुक्ति की साधना करता, किन्तु तीर्थङ्कर हर कोई नहीं हो सकता था। वह वही हो सकता, जो तीर्थ की स्थापना करता यानि जनता के लिए साधना का समान धरातल प्रस्तुत करता और साधना के लिए उसे संगठित करता। भगवान् महावीर केवल अर्हत् या वीतराग ही नहीं थे, किन्तु तीर्थङ्कर भी थे। उनका तीर्थ बहुत शक्तिशाली और सुसंगठित था। वे अनुशासन, व्यवस्था और विनय को बहुत महत्त्व देते थे। उनके तीर्थ में हजारों साधु-साध्वियाँ थीं। उनकी व्यवस्था के लिए उनका शासन ग्यारह (या नौ) गणों में विभक्त था। प्रत्येक गण एक गणधर के अधीन होता था। महावीर के ग्यारह गणधर थे।

वर्तमान में हमें जो साहित्य, साधनाक्रम और सामाचारी प्राप्त हैं, उसका अधिकांश भाग पाँचवें गणधर सुधर्मा के गण का है। उत्तराध्ययन आदि सूत्रों से जाना जाता है कि महावीर ने गण की व्यवस्था के लिए दस प्रकार की सामाचारी का विधान किया—

(१) आवश्यकी—गमन के प्रारम्भ में मुनि को आवश्यकी का उच्चारण करना चाहिए। यह इस बात का सूचक है कि उसका गमनागमन प्रयोजन शून्य नहीं होना चाहिए।

(२) निषेधिकी— ठहरने के समय मुनि को निषेधिकी का उच्चारण करना चाहिए। यह इस बात का सूचक है कि प्रयोजन पूरा होने पर मुनि को स्थित हो जाना चाहिए।

(३) आपृच्छना— मुनि अपने लिए कोई प्रवृत्ति करे उससे पूर्व आचार्य की स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए।

(४) प्रतिपृच्छना— मुनि दूसरे मुनियों के लिए कोई प्रवृत्ति करे उससे पूर्व उसे आचार्य की स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए। एक बार एक प्रवृत्ति के लिए स्वीकृति प्राप्त की, फिर वही काम करना हो तो उसके लिए दुबारा स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए।

१–उत्तराध्ययन, २९।६२-६६।

(५) छन्दना— मुनि को जो भिक्षा प्राप्त हो, उसके लिए उसे दूसरे साधुओं को निमंत्रित करना चाहिए।

(६) इच्छाकार—एक मुनि को दूसरे मुनि से कोई काम कराना आवश्यक हो तो उसे इच्छाकार का प्रयोग करना चाहिए—कृपया इच्छानुसार मेरा यह कार्य करें—इस प्रकार विनम्र अनुरोध करना चाहिए। सामान्यत मुनि के लिए आदेश की भाषा विहित नही है। पूर्व दीक्षित साधु को बाद मे दीक्षित साधु से कोई काम कराना हो तो उसके लिए भी इच्छाकार का प्रयोग आवश्यक है।

(७) मिथ्याकार—किसी प्रकार का प्रमाद हो जाने पर उसकी विशुद्धि के लिए 'मिथ्याकार' का प्रयोग करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि प्रमाद को ढाँकने के लिए मुनि के मन में कोई आग्रह नही होना चाहिए, किन्तु सहज सरल भाव से अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त होना चाहिए।

(८) तथाकार— आचार्य या कोई गुरुजन जो निर्देश दे, उसे 'तथाकार' का उच्चारण कर स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करने वाला अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करता है।

(९) अभ्युत्थान—मुनि को आचार्य आदि के आने पर खड़ा होना आदि औपचारिक विनय का पालन करना चाहिए।

(१०) उपसम्पदा— अपनेगण में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विशेष प्रशिक्षण देने वाला कोई न हो, उस स्थिति में अपने आचार्य की अनुमति प्राप्त कर मुनि किसी दूसरे गण के बहुश्रुत आचार्य की सन्निधि प्राप्त कर सकता है। अकारण ही गण परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[1]

५—चर्या

चर्या देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है। प्राचीन-काल में साधुओं की चर्या के मुख्य अंग आठ थे—

(१) स्वाध्याय,
(२) ध्यान,
(३) प्रतिलेखन,
(४) सेवा,
(५) आहार,
(६) उत्सर्ग,
(७) निद्रा और
(८) विहार।

1—उत्तराध्ययन, १७।१०।

जैन श्रमण समय की प्रामाणिकता का बहुत ध्यान रखते हैं। 'काले कालं समायरे'[1] —सब काम ठीक समय पर करो, यह उनका मुख्य सूत्र था। कालक्रम के अनुसार उनकी दिनचर्या की रूपरेखा इस प्रकार थी—दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में आहार और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय।[2] रात के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में नींद और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय।[3] प्रतिलेखन प्रथम और चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में किया जाता था।[4] विहार और उत्सर्ग भी सामान्यतः तीसरे प्रहर में किए जाते थे। आवश्यकतावश ये कार्य अन्य समय में भी किए जाते थे। सेवा के लिए कोई निश्चित समय नहीं था। जब आवश्यकता होती, तभी वह की जाती। यह निश्चित है कि सेवा को प्राथमिकता दी जाती थी। शिष्य दिन के प्रारम्भ में ही आचार्य से प्रश्न करता—"भन्ते! आप मुझे सेवा में नियुक्त करना चाहते हैं या स्वाध्याय में ?" आचार्य के सामने सेवाकार्य की आवश्यकता होती तो वे उसे सेवा में नियुक्त कर देते।[5]

यह आश्चर्य की बात है कि इस चर्या में धर्मोपदेश का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(१) धर्मोपदेश करना हर मुनि का काम नहीं था, इसलिए मुनि की सामान्य चर्या में उसका उल्लेख नहीं किया गया और (२) धर्मोपदेश स्वाध्याय का ही एक अंग है, इसलिए उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया। सेवा की अपेक्षा कदाचित् होती है। आहार, नींद और उत्सर्ग—ये शरीर की अपेक्षाएँ हैं। विहार भी निरन्तर चर्या नहीं है। ध्यान साधना की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण काम है, अतः उसके लिए दो प्रहर का समय निश्चित किया गया। स्वाध्याय के लिए चार प्रहर का समय निश्चित किया, उसका अर्थ यह नहीं है कि जैन श्रमण ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय को अधिक महत्त्व देते थे, किन्तु उसके पीछे एक विशेष दृष्टि थी। उस समय सारा श्रुत कण्ठस्थ था। लिखने की परम्परा नहीं थी। श्रुत-ज्ञान की परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए स्वाध्याय में समय लगाना अपेक्षित था।

१—उत्तराध्ययन, १।३१।
२—वही, २६।१२।
३—वही, २६।१८।
४—वही, २६।८,२१।
५—वही, २६।९-१०।

६–आवश्यक कर्म

मुनि के लिए प्रतिदिन अवश्य करणीय कर्म हैं—

(१) सामायिक (२) चतुर्विंशस्तव
(३) वंदना (४) प्रतिक्रमण
(५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान

(१) समता का विकास जीवन की पहली आवश्यकता है। आत्मा की परिणति विषम होती है, तब असत् प्रवृत्तियाँ होती हैं। जब आत्मा की प्रवृत्ति सम होती है, तब असत् प्रवृत्तियाँ अपने आप निरुद्ध हो जाती हैं।[१] इस सम परिणति का नाम ही सामायिक है।

(२) प्रमोद भावना का विकास भी बहुत आवश्यक है। जैन-परम्परा में भक्ति का महत्व रहा है, किन्तु उसका सम्बन्ध सर्व शक्ति-सम्पन्न सत्ता से नहीं है। वह किसी शक्ति को प्रसन्न करने व उससे कुछ पाने के लिए नहीं की जाती, किन्तु उसका प्रयोजन वीतराग के प्रति होता है। कालचक्र के वर्तमान खण्ड मे चौबीस तीर्थङ्कर हुए। वे सब स्वयं वीतराग और वीतराग-धर्म के प्रवर्तक थे। इसलिए उनकी स्तुति आवश्यक में सम्मिलित की गई। सामायिक होने पर ही भक्ति आदि आवश्यक कर्म सफल होते हैं, इसीलिए इनका सामायिक के बाद महत्त्व दिया गया।

(३) उद्धत वृत्ति का निवारण भी आवश्यक कर्म है। वंदना करने से उद्धत-भाव नष्ट होता है और अनुकूलता का भाव विकसित होता है।

(४) व्रतो में छेद हो जाएँ, उन्हें भरना भी आवश्यक कर्म है। मन चञ्चल है। वह त्यक्त कार्य के प्रति भी आसक्त हो जाता है। उससे व्रत टूट जाते हैं और आश्रव का द्वार खुल जाता है। मन को पुनः स्थिर बना व्रतों का सन्धान करने से आश्रव के द्वार बन्द हो जाते हैं।

(५) काया का बार-बार उत्सर्ग करना शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—तीनों दृष्टियों से आवश्यक है।

(६) आत्मा अपने आपमें परिपूर्ण है। हेय-हेतुओं का प्रत्याख्यान नहीं होता, तभी वह अपूर्ण होती है। उनका प्रत्याख्यान होते-होते क्रमशः उसकी पूर्णता का उदय हो जाता है। इसीलिए प्रत्याख्यान भी आवश्यक कर्म है।

१—उत्तराध्ययन, २९।८।

उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यान के कुछ विशेष उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। उनके नाम और परिणाम इस प्रकार हैं—

नाम	परिणाम
(१) सभोग प्रत्याख्यान	रस विजय
(२) उपधि प्रत्याख्यान	वस्त्र विजय
(३) आहार प्रत्याख्यान	क्षुधा विजय
(४) कषाय प्रत्याख्यान	सुख-दुःख में सम रहने की शक्ति का विकास
(५) योग प्रत्याख्यान	आत्म-साक्षात्कार
(६) शरीर प्रत्याख्यान	पूर्णता की उपलब्धि
(७) सहाय प्रत्याख्यान	स्वतंत्रता का विकास
(८) भक्त प्रत्याख्यान	संसार का अल्पीकरण
(९) सद्भाव प्रत्याख्यान	वीतरागता[1]

ये प्रत्याख्यान दैनिक आवश्यक कर्म नहीं है, किन्तु विशेष साधना के अंग है।

*

१—उत्तराध्ययन, २९।३३-४१।

प्रकरण : आठवाँ

१–धर्म की धारणा के हेतु

संसार के मूल बिन्दु दो हैं—(१) जन्म और (२) मृत्यु। ये दोनो प्रत्यक्ष हैं। किन्तु इनके हेतु हमारे प्रत्यक्ष नही हैं। इसीलिए उनकी एषणा के लिए हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। धर्म की विचारणा का आदि-बिन्दु यही है।

जैसे अण्डा बगुली से उत्पन्न होता है और बगुली अण्डे से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है। राग और द्वेष—ये दोनों कर्म-बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह जन्म और मृत्यु का मूल हेतु है और यह जन्म-मरण की परम्परा ही दुःख है।[1]

दुःखवादी दृष्टिकोण

धर्म की धारणा के अनेक हेतु है। उनमें एक मुख्य हेतु रहा है—दुःखवाद। अनात्म-वाद के चौराहे पर खडे होकर जिन्होने देखा, उन्होने कहा—संसार सुखमय है। जिन्होंने अध्यात्म की खिडकी से झाँका, उन्होने कहा—संसार दुःखमय है। जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, और क्या, यह समूचा संसार ही दुःख है।[2] यह अभिमत केवल भगवान् महावीर व उनके पूर्ववर्त्ती तीर्थङ्करो का ही नहीं रहा, महावीर के समकालीन अन्य धर्माचार्यों का अभिमत भी यही था। महात्मा बुद्ध ने इन्ही स्वरों मे कहा था—"पैदा होना दुःख है, बूढा होना दुःख है व्याधि दुःख है, मरना दुःख है।"[3]

महावीर और बुद्ध—ये दोनो श्रमण-परम्परा के प्रधान शास्ता थे। उन्होने जो कहा, वह महर्षि कपिल के साख्य-दर्शन[4] और पतञ्जलि[5] के योगसूत्र मे भी प्राप्त है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि उपनिषद्-परम्परा सुखवादी है और श्रमण-परम्परा दुःखवादी। यदि यह सही है तो सांख्य और योगदर्शन सहज ही श्रमण-परम्परा की परिधि में आ जाते हैं।

१–उत्तराध्ययन, ३२।६-७।

२–वही, १९।१५।

३–महावग्ग, १।६।१५।

४–सांख्य दर्शन, १।१ .

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः।

५–पातंजल योगसूत्र, २।१४-१५ :

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

प्रस्तुत विषय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो यह फलित होता है कि कोई भी मोक्षवादी-परम्परा सुखवादी नही हो सकती। जो संसार को सुखमय मानता है, उसके मन में दुःख-मुक्ति की आकॉक्षा कैसे उत्पन्न होगी ? दुःख-मुक्ति वही चाहेगा, जो संसार को दुःखमय मानता है। इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि दुःखवाद और मुक्तिवाद एक ही विचारधारा के दो छोर हैं।

उपनिषदो मे सुख और आनन्द की धारणा ब्रह्म के साथ जुडी हुई है, संसार के साथ नही। नारद ने पूछा—"भगवन्! मैं सुख को जानना चाहता हूँ।" तब सनत्कुमार ने कहा—'जो भूमा है, वह सुख है, अल्प मे सुख नही है।" नारद ने फिर पूछा—"भगवन्! भूमा क्या है ?" सनत्कुमार ने कहा—"जहाँ दूसरा नही देखता, दूसरा नही सुनता, दूसरा नही जानता, वह भूमा है। जहाँ दूसरा देखता है, दूसरा सुनता है और दूसरा जानता है, वह अल्प है।"[1]

तैत्तिरीय मे ब्रह्म और आनन्द की एकात्मकता बतलाई गई है।[2] जरा, मृत्यु, जन्म, रोग और शोक—ये जहाँ नहो है, वही मोक्ष है और वही आनन्दमय आस्पद है।[3] यह धारणा श्रमण-परम्परा से भिन्न नही है। श्रमणो ने मोक्ष को सुखमय माना है। इस अभिमत के अभाव मे उनका दृष्टिकोण एकान्ततः निराशावादी हो जाता। कुमारश्रमण केशी ने गौतम से पूछा—"गौतम! शारीरिक और मानसिक दुःखो से पीडित होते हुए प्राणियो के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान किसे मानते हो ?" गौतम ने उत्तर दिया—"मुने! लोक के शिखर मे एक वैसा शाश्वत स्थान है, जहाँ पहुँच पाना बहुत कठिन है और जहाँ नही है जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना।"

"स्थान किसे कहा गया है"—केशी ने गौतम से कहा। केशी के ऐसा कहने पर गौतम बोले—"जो निर्वाण है, जो अबाध है, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते है, भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि

१–छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२३।१,७।२४।१।

२–तैत्तिरीय, ३।६।१ :
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

३–(क) छान्दोग्य उपनिषद्, ४८।८।१ :
न जरा न मृत्यु र्न शोकः।

(ख) श्वेताश्वतर, २।१२ :
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।

जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते है, जो लोक के शिखर मे शाश्वत रूप से अवस्थित हैं, जहाँ पहुँच पाना कठिन है, उसे मे 'स्थान' कहता हूँ।"[१]

इसी भावना के संदर्भ में मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से कहा था—"मैंने चार अन्त वाले और भय के आकर जन्म-मरण रूपी जंगल मे भयंकर जन्म-मरणों को सहा है।

"मनुष्य जीवन असार है, व्याधि और रोगों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है।

"मैंने सभी जन्मो में दु:खमय वेदना का अनुभव किया है। वहाँ एक निमेष का अन्तर पडे उतनी भी सुखमय वेदना नहीं है।"[२]

उसका मन संसार में इसीलिए नहीं रम रहा था कि उसकी दृष्टि में यहाँ क्षण-भर के लिए भी सुख का दर्शन नहीं हो रहा था। बन्धन-मुक्ति की अवस्था में उसे सुख का अविरल स्रोत प्रवाहित होता दीख रहा था।

महामुनि कपिल ने चोरो के सामने एक प्रश्न उपस्थित किया था—इस दु:खमय संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ।[३] यह प्रश्न निराशा की ओर संकेत नही करता, किन्तु इसका इगित एकान्त सुख की ओर है। भगवान् ने कहा था—पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है।[४] धर्म का आलम्बन उन्हीं व्यक्तियों ने लिया, जो दु:खों का पार पाना चाहते थे।[५] उक्त विश्लेषण से यह फलित होता है कि सर्व-दु:ख-मुक्ति धर्म करने का प्रमुख उद्देश्य रहा है।[६]

परलोकवादी दृष्टिकोण

धर्म की धारणा का मुख्य हेतु रहा है—परलोकवादी दृष्टिकोण। परलोकवाद आत्मा की अमरता का सिद्धान्त है। अनात्मवादी आत्मा को अमर नही मानते। अत: उनकी धारणा में इहलोक और परलोक—यह विभाग वास्तविक नहो है। उनके अभिमत में वर्तमान जीवन अतीत और अनागत की शृङ्खला से मुक्त है। आत्मवादी धारणा इससे भिन्न है। उसके अनुसार आत्मा शाश्वत है। मृत्यु के पश्चात् उसका अस्तित्व समाप्त

१—उत्तराध्ययन, २३।८०-८४।
२—वही, १९।४६,१४,७४।
३—वही, ८।१।
४—वही, ३२।२।
५—वही, १४।५१-५२।
६—वही, ३२।११०-१११।

नहीं होता, केवल उसका रूपान्तरण होता है। वर्तमान जीवन अतीत और अनागत शृङ्खला की एक कड़ी मात्र है। अत इहलोक जितना सत्य है, उतना ही सत्य है परलोक।

भावी जीवन वर्तमान जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। इस धारणा से प्रेरित हो यह कहा गया—

"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ में सम्बल नहीं लेता, वह भूख और प्यास से पीडित होकर चलता हुआ दुखी होता है।

"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म किए बिना पर-भव में जाता है, वह व्याधि और रोग से पीडित होकर जीवन-यापन करता हुआ दुखी होता है।

"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है, किन्तु सम्बल के साथ। वह भूख-प्यास से रहित होकर चलता हुआ सुखी होता है।

"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर पर-भव में जाता है, वह अल्प-कर्म वाला और वेदना-रहित होकर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है।"[1]

आचार्य गर्दभालि ने राजा संजय से कहा था—"राजन्! तू जहाँ मोह कर रहा है, वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चञ्चल है। तू परलोक के हित को क्यो नही समझ रहा है?"[2]

धर्म केवल परलोक के लिए ही नही, इहलोक के लिए भी है। किन्तु इहलोक की पवित्रता से परलोक पवित्र बनता है, अत. परिणाम की दृष्टि से कहा जाता है कि धर्म से परलोक सुधरता है। इहलोक और परलोक के कल्याण में परस्पर व्याप्ति है। परलोक का कल्याण इहलोक का कल्याण होने पर ही निर्भर है। सचाई तो यह है कि धर्म से आत्मा शुद्ध होती है, उससे इहलोक और परलोक सुधरते हैं, यह व्यवहार की भाषा है। कुछ धार्मिक लोग ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियो के लिए धर्म का विधान करते थे, उसका भगवान् महावीर ने विरोध किया और यह स्थापना की कि धर्म केवल आत्म-शुद्धि के लिए किया जाए।[3]

१-उत्तराध्ययन, १९।१८-२१।

२-वही, १८।१३।

३-दशवैकालिक, ९।४ सूत्र ६।

महर्षि कणाद के अभिमत में धर्म से अभ्युदय और नि:श्रेयस् दोनों सधते हैं।[1] जैन आचार्य भी इस मान्यता का समय-समय पर समर्थन करते रहे हैं—

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां।
रम्यं रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्॥
नीरोगत्वं गुणपरिचय: सज्जनत्वं सुबुद्धि:।
किन्तु ब्रूम: फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य॥[2]

किन्तु वास्तविक दृष्टि से धर्म अभ्युदय का प्रत्यक्ष हेतु नहीं है। वह प्रत्यक्ष हेतु नि:श्रेयस् का ही है। अभ्युदय उसका प्रासंगिक परिणाम है।[3]

धर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय के लिए नहीं है। उसका मुख्य परिणाम है—आत्मा की पवित्रता। पवित्रता की दृष्टि से धर्म ऐहिक भी है और पारलौकिक भी।[4] पूर्व-चर्चित विषय को निष्कर्ष की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि पौद्गलिक अभ्युदय की दृष्टि से धर्म इहलौकिक भी नहीं है और पारलौकिक भी नहीं है। आत्मोदय की दृष्टि से वह इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी।

धर्म के परिणाम की चर्चा के प्रसंग में परलोक शब्द भविष्य के अर्थ में रूढ हो गया है। धर्म से वर्तमान शुद्ध होता है और वह शुद्धि भविष्य को प्रभावित करती है। अधर्म से वर्तमान अशुद्ध बनता है और वह अशुद्धि भविष्य को प्रभावित करती है। जब अरिष्टनेमि को पता चला कि मेरे लिए निरीह पशुओं का वध किया जा रहा है, तब उन्होंने कहा—"यह कार्य मेरे परलोक में कल्याण-कर नहीं होगा।"[5] इस प्रकरण में परलोक शब्द भविष्य के अर्थ में रूढ है।

१-वैशेषिक दर्शन, अध्याय १, आह्निक १, सूत्र २
यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:।

२-शान्तसुधारस, १०।७।

३-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २२०-२२१:
रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं, शुभोपयोगोऽयमपराध:॥
एकस्मिन् समवायाद्, अत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमित:॥

४-उत्तराध्ययन, ८।२०, १७।२१।

५-वही, २२।१९
जइ मज्झ कारणा एए, हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥

मृत्यु के बाद होने वाला जीवन अज्ञात होता है। उसके प्रति सहज ही विशेष आकर्षण रहता है। यद्यपि धर्म से ऐहिक जीवन विशुद्ध बनता है, फिर भी उसके पार-लौकिक फल का निरूपण करने की सामान्य पद्धति रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशेष आकर्षण भी रहा है। इसी आकर्षण की भाषा में मृगापुत्र ने कहा था—"जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव में जाता है, वह सुखी होता है।"[1]

कुछ विद्वान् धर्म को समाज-धारणा की संस्था के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] उनका अभिमत है कि परलोकवादी दृष्टिकोण धर्म की श्रद्धा-प्रधान मीमांसा है। उसकी बुद्धिवादी मीमांसा करने पर यही फलित होता है कि वह समाज-धारण के लिए स्थापित किया गया था। महाभारत मे भी एक ऐसा उल्लेख मिलता है—"धर्म का विधान लोक-यात्रा परिचालन के लिए किया गया।"[3] यह त्रिवर्गवादी चिन्तनधारा है। चतुर्वर्गवादी इससे सहमत नहीं हैं। काम, अर्थ और धर्म को मानने वालो के सामने मोक्ष प्रयोज्य नही होता। अत: उसकी उपलब्धि के लिए धर्म को प्रयोजन के रूप में मानना उनके लिए अपेक्षित नहीं होता। चतुर्-वर्गवादी अन्तिम प्रयोज्य मोक्ष मानते हैं। अत: वे धर्म को समाज-धारणा का हेतु न मान कर मोक्ष की उपलब्धि का हेतु मानते हैं। भगवान् महावीर इसी धारा के समर्थक थे।[4]

त्रिवर्ग और चतुर्वर्ग

त्रिवर्ग अथवा पुरुषार्थ का स्पष्ट निर्देश वैदिक वाङ्मय में नही पाया जाता। सबसे प्राचीन उल्लेख आपस्तम्ब-धर्म-सूत्रों मे मिलता है। पहले मोक्ष नाम के चतुर्थ पुरुषार्थ की स्वतंत्र गणना नहीं की जाती थी। त्रिवर्ग की परिभाषा ही पहले रूढ हुई।[5]

वस्तुत: त्रिवर्ग की मान्यता वैदिक नही है। वह लौकिक है। स्थानांग मे इहलौकिक व्यवसाय के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—(१) लौकिक, (२) वैदिक और (३) सामयिक।[6]

१–उत्तराध्ययन, १९।२१।
२–हिन्दू धर्म समीक्षा, पृ० ४४
३–महाभारत, शान्तिपर्व २८९।४।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
४–उत्तराध्ययन, ३।१२।
५–वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १०२।
६–स्थानांग, ३।३।१८५।

लौकिक व्यवसाय के तीन प्रकार हैं—

(१) अर्थ,
(२) धर्म और
(३) काम।

वैदिक व्यवसाय के तीन प्रकार हैं—

(१) ऋग्वेद,
(२) यजुर्वेद और
(३) सामवेद।

सामयिक व्यवसाय के तीन प्रकार हैं—

(१) ज्ञान,
(२) दर्शन और
(३) चारित्र।

त्रिवर्ग के लिए यहाँ त्रिविध व्यवसाय का प्रयोग किया गया है। धर्म को लौकिक व्यवसाय माना गया है। इससे स्पष्ट है कि त्रिवर्ग के साथ जो धर्म है, वह मोक्ष-धर्म नहीं किन्तु परम्परागत आचार-धर्म या सामाजिक विधि-विधान है। इस आशय का समर्थन महाभारत के एक पद्यांश से भी होता है—"लोकयात्रार्थमेवेह, धर्मस्य नियम कृत:।" (महाभारत, शान्तिपर्व, २५९।४)

कुछ विद्वान् महाभारत के उक्त पद्यांश के आधार पर यह स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि धर्म समाज धारणा का तत्त्व है। किन्तु यह सही नहीं है। उक्त पद्यांश का हृदय स्थानांग के लौकिक व्यवसाय के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। महाभारत में धर्म को लोकयात्रार्थ कहा गया है और स्थानांग में लौकिक। यह धर्म समाज-धारणा के लिए है—यह मानने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। विचार-भेद वहीं है, जहाँ मोक्ष-धर्म को समाज-धारणा का तत्त्व कहा जाता है तथा उसी उद्देश्य से मोक्ष धर्म की उत्पत्ति बतलाई जाती है।

लगता तो यह है कि त्रिवर्ग में जो धर्म है, वह चतुर्विध पुरुषार्थ की मान्यता के पश्चात् मोक्ष-धर्म के अर्थ में समझा जाने लगा है। धर्म से अर्थ और काम प्राप्त होते हैं—यहाँ धर्म का अर्थ परम्परागत आचार, व्यवस्था व विधि-विधान ही होना चाहिए। निर्वाणवाद के उत्कर्षकाल में जब त्रिवर्ग के साथ मोक्ष जुड़ा, चतुर्विध पुरुषार्थ की स्थापना हुई, तब धर्म का अर्थ व्यापक हो गया। वह सामाजिक विधि-विधान व मोक्ष-धर्म—ये दोनों अर्थ देने लगा।

मनुस्मृति में त्रिवर्ग के विषय में अनेक धारणाएँ बतलाई गई हैं। कुछ आचार्य मानते

थे कि धर्म और अर्थ श्रेय है। कुछ मानते थे कि काम और अर्थ श्रेय है। एक मत था धर्म ही श्रेय है। कुछ अर्थ को ही श्रेय मानते थे। मनु ने त्रिवर्ग को श्रेय माना।[1] यह अभिमत समाज शास्त्र की दृष्टि से परिपूर्ण है। कौटिल्य ने अर्थ को प्रधान माना। धर्म और काम का मूल उनकी दृष्टि में अर्थ ही था।[2] इससे भी धर्म का अर्थ लौकिक आचार ही प्रतीत होता है। महाभारत के अनुसार सन्तानार्थी व्यक्तियों का प्रवृत्ति-धर्म मुमुक्षु लोगों के लिए नहीं है।[3] इसका फलित स्पष्ट है—सन्तानोत्पत्ति का धर्म मोक्ष-धर्म नहीं है। अर्थ से धर्म और काम सिद्ध होते है और धर्म धन से प्रवृत्त होता है[4]—यह मान्यता भी धर्म के उस अर्थ पर आधारित है, जिसका सम्बन्ध मोक्ष से नहीं है।

जैन-दर्शन प्रारम्भ से ही निर्वाणवादी रहा है। अतः आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से वहाँ धर्म और मोक्ष—ये दो ही पुरुषार्थ मान्य रहे हैं। गृहस्थ सामाजिक मर्यादा से मुक्त नहीं हो सकते, अतः उनके लिए सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से अर्थ और काम—ये दोनों पुरुषार्थ मान्य रहे हैं। किन्तु उनकी व्यवस्था तात्कालिक समाज-शास्त्रों द्वारा की गई।

जैन आचार्यों ने लौकिक मान्यता प्राप्त त्रिवर्ग को लौकिक-शास्त्र का ही विषय बतलाया। उन्होंने उसकी व्यवस्था नहीं दी। उन्होंने केवल आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा की और एक मोक्ष-दर्शन के लिए यही अधिकृत बात हो सकती है। एक समाज-शास्त्री के लिए मोक्ष की चर्चा प्रासंगिक हो सकती है, अधिकृत नहीं। इसी प्रकार एक मोक्ष शास्त्री के लिए सामाजिक तत्त्व—अर्थ और काम की चर्चा प्रासंगिक हो सकती है, अधिकृत नहीं।

१–मनुस्मृति, २।२२४ :
धर्मार्थावुच्यते श्रेयः, कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयः त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥

२–कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।७।३ :
अर्थ एव प्रधानः इति कौटल्यः—अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।

३–महाभारत, अनुशासन पर्व ११५।४७ :
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः, प्रजार्थिभिरुदाहृतः।
यथोक्तं राजशार्दूल! न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम्॥

४–महाभारत, शान्तिपर्व ८।१७ :
अर्थाद्धर्मश्च कामश्च, स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य, विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति॥
महाभारत, शान्तिपर्व ८।१२ :
यं स्थिमं धर्ममित्याहुर्धनात्येव प्रवर्तते।

अर्थ और काम—ये दोनों समाज-धारणा के मूल अंग हैं। अत: उनको आध्यात्मिक शृङ्खला की कड़ी के रूप में मान्यता नहीं दी गई। वे समाज के लिए उपयोगी नहीं हैं, ऐसा नहीं माना गया। उन्हीं व्यक्तियों ने उन्हें हेय बतलाया, जो अध्यात्म की भूमिका पर आरूढ़ हुए। समग्र उत्तराध्ययन या समग्र अध्यात्म-शास्त्र में काम और अर्थ की भर्त्सना इसी दृष्टि से की गई। भगवान् ने कहा—

"जो काम से निवृत्त नहीं होता, उसका आत्मार्थ नष्ट हो जाता है। जो काम से निवृत्त होता है, उसका आत्मार्थ सध जाता है।"[1]

"जैसे किम्पाक-फल खाने पर उसका परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भुक्त-भोगों का परिणाम सुन्दर नहीं होता।"[2]

भृगु-पुत्रों ने अपने माता-पिता से कहा—"यह सही है कि काम-भोग क्षणिक और अल्प सुख देते हैं, किन्तु परिणाम काल में वे चिरकाल तक बहुत दु:ख देते हैं और संसार मुक्ति के विरोधी है। इसलिए हम उन्हें अनर्थों की खान मान कर छोड़ रहे हैं।"[3]

काम और धर्म का यह विरोध आध्यात्मिक जगत् में ही मान्य हो सकता है। इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—

"हे पार्थिव! आश्चर्य है कि तुम इस अभ्युदय-काल में सहज प्राप्त भोगों को त्याग रहे हो और अप्राप्त काम-भोगों की इच्छा कर रहे हो—इस प्रकार तुम अपने संकल्प से ही प्रताड़ित हो रहे हो।"[4]

यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

"काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोग की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।"[5]

इस संवाद से यह स्पष्ट है कि धर्म काम की उपलब्धि के लिए नहीं, किन्तु उसका अर्थ है काम-वासनाओं का त्याग।

काम की भाँति अर्थ भी धर्म से सम्बन्धित नहीं है। भगवान् ने कहा—"धन से कोई व्यक्ति इहलोक या परलोक में त्राण नहीं पा सकता।"[6] भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से

१–उत्तराध्ययन, ७।२५,२६।
२–वही, १९।१७।
३–वही, १४।१३।
४–वही, ९।५१।
५–वही, ९।५३।
६–वही, ४।५।

कहा—"जिसके लिए लोग तप किया करते हैं वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के विषय—तुम्हें यहीं प्राप्त हैं, फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो ?"

पुत्र बोले—"पिता ! जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है, वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रिय-विषय का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं। हम गुण-समूह सम्पन्न श्रमण होंगे, प्रतिबन्ध-मुक्त होकर गाँवों और नगरों में विहार करने वाले और भिक्षा लेकर जीवन चलाने वाले होंगे।'[1]

इस संदर्भ से यह भी फलित होता है कि अर्थ के लिए धर्म नहीं करना चाहिए। वस्तुतः वह काम और अर्थ की प्राप्ति के लिए नहीं है और उनसे संश्लिष्ट भी नहीं है। जहाँ काम और अर्थ से धर्म का संश्लेष किया जाता है, वहाँ वह घातक बन जाता है। अनाथी मुनि ने सम्राट् श्रेणिक से यही कहा था—"पिया हुआ काल-कूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और नियंत्रण में नहीं लाया हुआ वेताल जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही यह विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।"[2]

यदि धर्म (मोक्ष धर्म) समाज-धारणा के लिए होता तो उसका दृष्टिकोण सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग—काम और अर्थ के प्रति इतना विरोधी नहीं होता। और वह है, इससे यह स्वयं प्रमाणित होता है कि मोक्ष धर्म समाज धारणा के लिए नहीं है।

परिणामवादी दृष्टिकोण

धर्म की धारणा का तीसरा हेतु रहा है—'परिणामवादी दृष्टिकोण'। प्रत्येक प्रवृत्ति का निश्चित परिणाम होता है और प्रत्येक क्रिया की निश्चित प्रतिक्रिया होती है। कृत का परिणाम वर्तमान जीवन में भी भुगतना होता है और अगले जीवन में भी। क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते हैं—कृत का परिणाम अवश्य भुगतते है।[3] उससे बचने का एक मात्र उपाय धर्म है।[4]

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

धर्म की धारणा का चौथा हेतु रहा है—'व्यक्तिवादी दृष्टिकोण'। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक जीवन जीता है। फिर भी उसकी आत्मा कभी सामाजिक नहीं बनती। इसी आशय से चित्र ने ब्रह्मदत्त से कहा था—

१–उत्तराध्ययन, १४।१६,१७।

२–वही, २०।४४।

३–(क) उत्तराध्ययन, ७।२० :

कम्मसच्चा हु पाणिणो।

(ख) वही, ४।३; १३।१०।

४–दशवैकालिक, चूलिका १, सूत्र १८ :

कडाणं कम्माणं⋯वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

"उसी के कारण तू महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्यफलयुक्त राजा बना है। इसीलिए तू अशाश्वत भोगों को छोड कर चारित्र की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।

"राजन् ! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर शुभ अनुष्ठान नही करता, वह मृत्यु के मुँह मे जाने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म की आराधना न होने के कारण परलोक में भी पश्चात्ताप करता है।

"जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्त काल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अंशधर नही होते— अपने जीवन का भाग देकर बचा नही पाते।

"ज्ञाति, मित्र वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बँटा सकते, वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योकि कर्म कर्त्ता के पीछे चलता है।

"यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड कर केवल अपने किए कर्मों को साथ लेकर परभव में जाता है।

"उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता मे जला कर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते हैं।"[1]

क्रूर-कर्मों का परिणाम भी व्यक्ति अकेला भुगतता है। इसी की पुष्टि मे कहा गया—

"संसारी प्राणी अपने बन्धु-जनों के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-जन बन्धुता नहीं दिखाते—उसका भाग नही बँटाते।"[2]

जो सत्य की एषणा करता है, उसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है—"जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छेदा जाता हूँ तब माता-पिता, पुत्र, बन्धु, भाई, पत्नी और पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने मे समर्थ नहीं होते।"[3]

समाज व्यक्ति के लिए त्राण होता है किन्तु वह व्यक्ति से अभिन्न नही होता इसलिए वह उसे अन्त तक त्राण नहीं दे सकता। धर्म व्यक्ति से अभिन्न होता है, इसलिए वह उसकी अन्तिम त्राण-शक्ति है। इसी संदर्भ मे कमलावती ने महाराज इषुकार से कहा था—

१—उत्तराध्ययन, १३।२०-२५।
२—उत्तराध्ययन, ४।४।
३—वही, ६।३।

"यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो वह भी तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।

"राजन् ! इन मनोरम काम-भोगों को छोड़ कर जब कभी मरना होगा। हे नरदेव ! एक धर्म ही त्राण है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु त्राण नहीं दे सकती।"[1]

अनाथी को किसी भी सामाजिक साधन से त्राण नहीं मिला, तब उन्होंने संकल्प किया—

"इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार ही मुक्त हो जाऊँ तो क्षमावान, दान्त और आरम्भ का त्याग कर अनगार-वृत्ति को स्वीकार कर लूँ।"[2]

इस संकल्प में वे अपने से अभिन्न हो गए। उनकी वेदना रात-रात में समाप्त हो गई।[3]

एकत्व और अत्राणात्मक दृष्टिकोण

धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—एकत्व, अनित्य, अशरण और संसार—के चिन्तन से व्यक्ति का धर्म की ओर झुकाव होता है। एकत्व और अत्राणात्मक (या अशरणात्मक) दृष्टिकोण का निरूपण इसी शीर्षक में आ चुका है। उन्हें पृथक् किया जाए तो वे धर्म की धारणा के दो स्वतंत्र हेतु—पाँचवाँ और छठा—बन जाते हैं।

अनित्यवादी दृष्टिकोण

धर्म की धारणा का सातवाँ हेतु रहा है—'अनित्यवादी दृष्टिकोण'। जिन्हें यह अनुभव हुआ कि जीवन नश्वर है, उन्होंने अनश्वर की प्राप्ति के लिए धर्म का सहारा लिया। भगवान् महावीर ने इसी भावना के क्षणों में गौतम से कहा था—

"रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

"कुश की नोंक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है, वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

"तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सब प्रकार का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

"पित्तरोग, फोड़ा, फुंसी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र-घाती रोग शरीर का

१—वही, १४।३९,४०।

२—वही, २०।३२।

३—उत्तराध्ययन, २०।३३।

स्पर्श करते हैं, जिनसे यह शरीर शक्ति-हीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।"[1]

गर्दभालि मुनि ने राजा संजय से कहा— "जबकि तू पराधीन है, इसलिए सब कुछ छोड़ कर तुझे चले जाना है, तब अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है?"[2]

मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से कहा— "यह शरीर अनित्य है, अशुचि से उत्पन्न है, आत्मा का यह अशाश्वत आवास है तथा दुःख और क्लेशों का भाजन है।

"इस अशाश्वत शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल रहा है। इसे पहले या पीछे जब कभी छोड़ना है। यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है।

"मनुष्य जीवन असार है, व्याधि और रोगों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है, इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है।"[3]

इस प्रकार अनित्यवादी दृष्टिकोण धर्म की आराधना के लिए महान् प्रेरणा-स्रोत रहा है।

यह कल्पना भी युक्ति से परे नहीं है कि भगवान् बुद्ध ने अनित्यता का उपदेश जनता को धर्माभिमुख करने के लिए दिया था। आगे चल कर दर्शन-काल में वही 'क्षणभंगुर वाद' नामक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में परिणत हो गया।

अनित्यवादी दृष्टिकोण आत्मवादियों के लिए धर्म प्रेरक रहा तो परलोक में विश्वास नहीं करने वाले अनात्मवादी इससे भोग की प्रेरणा पाते रहे हैं।[4]

संसार भावना

धर्म की धारणा का आठवां हेतु रहा है—'संसार भावना'। भृगु-पुत्रों ने अपने पिता से कहा—"यह लोक पीड़ित हो रहा है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आ रही है। इस स्थिति में हमें सुख नहीं मिल रहा है।"

"पुत्रो! यह लोक किससे पीड़ित है? किससे घिरा हुआ है? अमोघा किसे कहा जाता है? मैं जानने के लिए चिन्तित हूं।"

कुमार बोले—"पिता! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है।"[5]

१—उत्तराध्ययन, १०।१,२,२६,२७।
२—वही, १८।१२।
३—वही, १९।१२-१४।
४—वही, ५।५,६।
५—उत्तराध्ययन, १४।२१-२३।

मृगापुत्र ने भी संसार को इसी दृष्टि से देखा था—"जैसे घर में आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह मूल्यवान् वस्तुओं को उससे निकालता है और मूल्य-हीन वस्तुओं को वहीं छोड़ देता है, उसी प्रकार यह लोक जरा और मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने आपको निकाल लूँगा।"[1]

यह संसार-चक्र अविरल गति से अनन्त काल तक चलता रहता है।[2] आत्मवादी इस परिभ्रमण को अपनी स्वतंत्रता के प्रतिकूल मानता है। उसका अन्त पाने के लिए वह धर्म की शरण में आता है। कुमारश्रमण केशी ने इसी आशय से प्रश्न किया था—

"मुने! महान् जल-प्रवाह के वेग से बहते हुए जीवों के लिए तुम शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हो?"

गौतम बोले—"जल के मध्य में एक लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है। वहाँ महान् जल-प्रवाह की गति नहीं है।"

"द्वीप किसे कहा गया है"—केशी ने गौतम से कहा। गौतम बोले—"जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।"[3]

२—धर्म-श्रद्धा

धर्म की धारणा के आठ हेतुओं का उल्लेख किया जा चुका है। उनके अनुप्रेक्षण से धर्म के प्रति श्रद्धा होती है। जिसे धर्म के प्रति श्रद्धा होती है, वह पौद्गलिक सुखों से विरक्त हो जाता है। विरक्ति की दो भूमिकाएँ हैं—(१) अगार-धर्म और (२) अनगार-धर्म। प्रारम्भ में सभी लोग गृहस्थ होते हैं। अनगार जन्मना नहीं होता। धर्म की श्रद्धा और वैराग्य का उत्कर्ष होने पर गृहस्थ ही गृहवास को छोड़ कर अनगार बनता है।[4]

भोग और विराग—ये जीवन के दो छोर हैं। जिनमें राग होता है, वे भोग चाहते हैं। जिनका मन विरक्त हो जाता है, वे भोग का त्याग कर देते हैं। ये दोनों भावनाएँ हर युग-मानस को व्याप्त करती रही हैं। ब्रह्मदत्त ने चित्र से कहा था—"हे भिक्षु! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारी-जनों को परिवृत्त करता हुआ इन भोगों को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

१—उत्तराध्ययन, १९।२२,२३।
२—वही, १०।५-१५।
३—वही, २३।६५-६८।
४—वही, २९।३।

धर्म में स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाले चित्र मुनि ने पूर्वभव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले काम-गुणों में आसक्त राजा से यह वाक्य कहा—"सब गीत विलाप हैं। सब नृत्य विडम्बना हैं। सब आभरण भार हैं और सब काम-भोग दुःखकर हैं।"[१]

मृगापुत्र को भी माता-पिता ने यही समझाने का यत्न किया था—"पुत्र! तू मनुष्य सम्बन्धी पाँच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। फिर भुक्त-भोगी होकर मुनि-धर्म का आचरण कर।"[२]

सम्राट् श्रेणिक ने अनाथी मुनि को देख कर विस्मय के साथ कहा—"आर्य! तरुण हो, इस भोग-काल में ही प्रव्रजित हो गए। चलो, मैं तुम्हारा नाथ बनता हूँ। तुम भोग भोगो, यह मनुष्य-जीवन कितना दुर्लभ है।"[३]

उक्त प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि अनुरक्त-मानस ने विरक्त को सदा भोग-लिप्त करने का प्रयत्न किया है और विरक्त-मानस ने सदा भोग से अलिप्त रहने का प्रयत्न किया है।

यह भोग की अलिप्ति ही अनगार बनने का मुख्य कारण रही है।[४]

३—बाह्य-संगों का त्याग क्यों ?

अनगार-जीवन में भोगासक्ति और उसके निमित्तों का भी वर्जन किया जाता है। कुछ लोग ऐसे जीवन को बहुत आवश्यक नहीं मानते थे, किन्तु श्रमण-परम्परा में इसे बहुत महत्त्व दिया गया। जयघोष ने विजयघोष से कहा—"मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं। तू निष्क्रमण कर, जिससे इस संसार-सागर में पड़ रहे आवर्त्तों से बच जाए।"[५]

कुछ लोग सोचते हैं कि धर्म की आराधना के लिए आगार और अनगार की भेद-रेखा खींचना आवश्यक नहीं। जो ऐसा सोचते हैं उनका मानना है कि विकार से बचने की आवश्यकता है, विषयों—निमित्तों से बचने की आवश्यकता नहीं। एक सीमा तक यह सही भी है। भगवान् ने कहा—"काम-भोग न समता उत्पन्न करते हैं और न विकार। इन्द्रिय और मन के विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द और संकल्प रागी

१—उत्तराध्ययन, १३।१४-१६।
२—वही, १९।४३।
३—वही, २०।८-११।
४—वही, १९।९।
५—वही, २५।३८।

व्यक्ति के लिए ही दुःख के हेतु बनते हैं, वीतराग के लिए वे किंचित् भी दुःख के हेतु नहीं होते।"[१]

विषय अचेतन हैं। वे अपने आप में मनोज्ञ-अमनोज्ञ कुछ भी नहीं हैं। उनमें जिसका प्रिय-भाव होता है, उसके लिए वे मनोज्ञ और जिसका उनमें अप्रिय भाव होता है, उसके लिए वे अमनोज्ञ होते हैं। किन्तु जो उनके प्रति विरक्त होता है, उसके लिए वे मनोज्ञ, अमनोज्ञ कुछ भी नहीं होते।[२]

इस प्रसंग का फलित यह है कि बाह्य-विषय हमारे लिए न दोष-पूर्ण हैं और न निर्दोष। चेतना की शुद्धि हो तो वे उसके लिए निर्दोष हैं और चेतना अशुद्ध हो तो वे भी उसके लिए सदोष बन जाते हैं।[३] दोष का मूल चेतना की परिणति है, बाह्य-विषय नहीं।

उक्त अभिमत यथार्थ है। उसके आधार पर हम चेतना को अलिप्त रखने की आवश्यकता है, बाह्य-विषयों से बचने की कोई मुख्य बात नहीं। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि चेतना अन्तर्जागरण की परिपक्व दशा में ही अलिप्त रह सकती है।

निमित्त उपादान होने पर ही कार्य कर सकता है, अन्यथा नहीं। विकार का उपादान है—राग। वह अव्यक्त रहता है, किन्तु निमित्त मिलने पर व्यक्त हो जाता है। इसलिए जब तक राग क्षीण नहीं होता, तब तक निमित्तों—बाह्य-विषयों से बचाव करना आवश्यक होता है। बचाव की मात्रा सब व्यक्तियों के लिए समान भले न हों, पर उसका अपवाद हर कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। इसीलिए ये मर्यादाएँ स्थापित की गई—

"मित आहार करो।"[४]

"रसों का प्रचुर मात्रा में सेवन मत करो।"

"रसों का प्रकाम (अधिक मात्रा में) सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्रायः मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं, उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

"जैसे पवन के झोकों के साथ प्रचुर इंधन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त

१–उत्तराध्ययन, ३२।१००,१०१।

२–वही, ३२।१०६।

३–मूलाराधना, १९९७, अमितगति :

अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः, शुद्धिः संपद्यते बहिः।
बाह्यं हि कुरुते दोषं, सर्वमन्तरदोषतः॥

४–उत्तराध्ययन ३२।४।

नहीं होता, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी (ठूस-ठूस कर खाने वाले) की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती। इसलिए प्रकाम भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।"[1]

'एकान्त में रहो।"[2]

"स्त्री संसर्ग से बचो।"

"जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहो का रहना अच्छा नही होता, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नही होता।

"तपस्वी श्रमण स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर आलाप, और चितवन को चित्त में रमाकर उन्हे देखने का संकल्प न करे।

"जो सदा ब्रह्मचर्य मे रत हैं उनके लिए स्त्रियो का न देखना, न चाहना और न चिन्तन करना और न वर्णन करना हितकर है, और वह धर्म-ध्यान के लिए उपयुक्त है।

"यह ठीक है कि तीन गुप्तियो से गुप्त मुनियो को विभूषित देवियाँ भी विचलित नही कर सकतीं, फिर भी भगवान् ने एकान्त हित की दृष्टि से उनके लिए विविक्तवास को प्रशस्त कहा है।

"मोक्ष चाहने वाला संसार-भीरु एव धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में और कोई ऐसा दुस्तर नही है, जैसी दुस्तर अज्ञानियो के मन को हरने वाली स्त्रियाँ हैं।

"जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुतर (सुख से पार करने योग्य) हो जाती हैं, जैसे महासागर का पार पा जाने वाले के लिए गगा जैसी बडी नदी।"[3]

"ब्रह्मचर्य के दस नियमो का पालन करो।"[4]

इस प्रकार और भी अनेक नियम हैं जो निमित्तो से बचने के लिए बनाए गए थे। समग्र दृष्टि से देखा जाए तो अनगार दीक्षा और क्या है ? वह निमित्तो से बचने की प्रक्रिया ही तो है।

इस प्रकार अगार और अनगार जीवन का श्रेणी विभाग बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। अगार-जीवन में साधना के विघ्नभूत निमित्तों से बचने में जो कठिनाई होती है, उसका पार पा जाना ही अनगार-जीवन है। पहली भूमिका मे बाह्य विषयों का त्याग उसकी सुरक्षा के लिए किया जाता है और अग्रिम भूमिकाओं में वह सहज स्वभाव हो जाता है। कृत त्याग मे स्खलनाएँ हो सकती हैं किन्तु सहज स्वभाव में कोई स्खलना नहीं होती।

१–उत्तराध्ययन, ३२।१०,११।
२–वही, ३२।४।
३–वही, ३२।१३-१८।
४–१६वाँ अध्ययन।

हम इस बातको सदा याद रखें कि हमारा पहला चरण ही अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता।

४—श्रामण्य और काय-क्लेश

कुछ लोगों का अभिमत है कि बाह्य निमित्तो के बचाव की प्रक्रिया में श्रमण-जीवन जटिल बन गया। सहज सुविधाएं नष्ट हो गई, उनका स्थान काय-क्लेश ने ले लिया। क्या यह सच है कि श्रमण-जीवन बहुत ही कठोर है ? हमारे अभिमत मे ऐसा नही है। भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर—दोनों ने अज्ञानपूर्ण काय-क्लेश का प्रतिवाद किया। अज्ञानी करोड़ो वर्षों के काय-क्लेश से जिस कर्म का क्षीण करता है, उसे ज्ञानी एक क्षण मे कर डालता है। यह सही है कि मुनि-जीवन में काय-क्लेश का सर्वथा अस्वीकार नही है। फिर भी जितना महत्व सवर, गुप्ति, ध्यान आदि का है, उतना काय-क्लेश का नहीं है। कई आचार्यो ने समय-समय पर काय-क्लेश को कुछ अतिरिक्त महत्त्व दिया है, किन्तु जैन वाङ्मय की समग्र चिन्तनधारा मे वह प्राप्त नही होता।

आचारांग सूत्र मे कहा गया है—"काया को कसो, उसे जीर्ण करो", किन्तु वह एकान्त वचन नहीं है। आगम सूत्रा में कुछ मुनियों के कठोर तप का उल्लेख है। उसे पढ कर सहज ही यह धारणा बन जाती ह कि मुनि-जीवन कठोर तपस्या का जीवन है। कुछ विद्वानो का अभिमत है कि जैन-साधना प्रारम्भ में कठोर ही थी, फिर बौद्धों की मध्यम प्रतिपदा से प्रभावित हो कुछ मृदु बन गई। बौद्ध धर्म के उत्कर्ष काल में जैन-परम्परा उससे प्रभावित नही हुई, यह ता नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसे भी अमान्य नही किया जा सकता कि जैन-साधना में मृदुता और कठोरता का सामञ्जस्य आरम्भ से ही रहा है।

साधना के मुख्य अंग दो हैं—(१) संवर और (२) तपस्या।

(१) संवर के पाँच प्रकार हैं—(१) सम्यक्त्व, (२) व्रत, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय और (५) अयोग। इनकी साधना मृदु है—कायक्लेश-रहित है।

(२) तपस्या के बारह प्रकार हैं—

(१) अनशन,
(२) ऊनोदरी,
(३) भिक्षाचरी,
(४) रस-परित्याग,
(५) काय-क्लेश,
(६) प्रतिसंलीनता,
(७) प्रायश्चित्त,
(८) विनय,
(९) वैयावृत्य,
(१०) स्वाध्याय,
(११) ध्यान और
(१२) व्युत्सर्ग।

इनमे अनशन—लम्बे उपवासो तथा काय-क्लेशों को छोडकर अन्य किसी भी प्रकार को कठोर साधना नही कहा जा सकता। ये दोनो, तपस्या के प्रथम छह प्रकार जो बहिरंग है, के अंग हैं। इनकी तुलना में अन्तरंग तपस्या—अंतिम छह प्रकारो का अधिक महत्त्व है।

दूसरी बात यह है कि काय-क्लेश व दीर्घकालीन उपवासों का मुनि के लिए अनिवार्य विधान नही है। यह अपनी रुचि का प्रश्न है। जिन मुनियो की रुचि इनकी ओर अधिक होती है, वे इन्हे स्वीकार करते हैं और जिनकी रुचि ध्यान आदि की ओर होती है, वे उन्हें स्वीकार करते हैं। सब व्यक्तियों की रुचि को एक ओर मोडा नही जा सकता।

महाव्रत और काय-क्लेश

मृगापुत्र के माता-पिता ने कहा—"पुत्र! मुनि-जीवन का पालन बडी कठोर साधना है।"[1] यहाँ कठोर साधना का अभिप्राय काय-क्लेश से नही है। अहिंसा का पालन कठोर है—शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रखना सरल काम नहीं है। सत्य का पालन भी कठोर है—सदा जागरूक रहना सरल काम नही है। इसी प्रकार अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रि-भोजन-विरति का पालन भी कठोर है। इस कठोरता का मूल आत्म-संयम है किन्तु कायक्लेश नहीं। ये व्रत यावज्जीवन के लिए थे इसलिए भी इन्हे कठोर कहा गया। यहाँ यह जान लेना प्रासंगिक होगा कि जैन मुनि की दीक्षा यावज्जीवन के लिए होती है,[2] वह बौद्ध-दीक्षा की भाँति अल्पकालिक नही होती।

महाव्रतो की साधना काया को कष्ट देने के लिए नही है। उनके द्वारा मुख्य रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक संयम सिद्ध होता है। उसकी सिद्धि मे क्वचित् काय-क्लेश प्राप्त हो सकता है पर वह संयम-सिद्धि का मुख्य साधन नही है।

परीषह और काय-क्लेश

मुनि के लिए बाईस प्रकार के परीषहों—कष्टों को सहने का विधान किया गया गया है, किन्तु वह काया को कष्ट देने की दृष्टि से नही है। अहिंसा आदि महाव्रतों की पालना करने मे जो कष्ट उत्पन्न होते है, उन्हे काया को क्लेश देना नहो किन्तु स्वीकृत धर्म में अडिग रहना है। मध्यम प्रतिपदा मे विश्वास रखने वाले इस प्रकार के कष्टो से अपने को नहो बचाते थे। ऐसे कष्टो को शान्तिपूर्वक सहन करने की प्रेरणा दी जाती

१—उत्तराध्ययन १९।२४।

२—वही, १९।३५ :

जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महाभरो।

थी। अंगुत्तर-निकाय में बताया गया है—"भिक्षुओ! यह सीखो कि हम सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, दंश-मशक, वात-आतप, सर्प सम्बन्धी कष्टों, शारीरिक वेदनाओं को सहन करने में समर्थ होंगे।"[1]

धुतांग साधना मे भी अनेक कष्टों को सहा जाता था।[2] बुद्ध ने भिक्षुओ से कहा था—"भिक्षुओ! जिसने कायानुस्मृति का अभ्यास किया है, उसे बढ़ाया है, उस भिक्षु को दस लाभ होने चाहिए। कौन से दस ?

"वह अरति-रति-सह (उदासी के सामने डटा रहने वाला) होता है। उसे उदासी पराम्त नहीं कर सकती। वह उत्पन्न उदासी को परास्त कर विहरता है।

"वह भय-भैरव-सह होता है। उसे भय-भैरव परास्त नहीं कर सकता। वह उत्पन्न भय-भैरव को परास्त कर विहरता है।

"शीत, उष्ण, भूख-प्यास, डक मारने वाले जीव, मच्छर, हवा-धूप, रेंगने वाले जीवों के आघात, दुरुक्त, दुरागत वचनो तथा दुःखदायी, तीव्र, कटु, प्रतिकूल, अरुचिकर, प्राण-हर शारीरिक पीडाओ को सह सकने वाला होता है।"[3]

काय-क्लेश और परीषह की भिन्नता प्राचीन काल से ही मानी जाती रही है। श्रुतसागरगणि ने दोनों का भेद बतलाते हुए लिखा है—"काय-क्लेश अपनी इच्छा के अनुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट है।"[4]

अनेकान्त दृष्टि

जैन आचार्यों की काय-क्लेश के विषय मे अनेकान्तदृष्टि रही है। उन्होंने अपेक्षा के अनुसार उसे महत्त्व भी दिया है और अनपेक्षित काय-क्लेश का विरोध भी किया है। आर्य जिनसेन ने इस अनेकान्तदृष्टि की बडी मार्मिक चर्चा की है। उन्होने भगवान् ऋषभ के प्रसंग में एक चिन्तन प्रस्तुत किया है—"मुमुक्षु को अपना शरीर न तो कृश ही बनाना चाहिए और न प्रवर रसो के द्वारा उसे पुष्टि ही करना चाहिए, किन्तु उस मध्यम-मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए—दोष-निवृत्ति के लिए उपवास आदि करने चाहिए और प्राण-संधारण के लिए आहार भी। काय-क्लेश उसी सीमा तक सम्मत है जब तक कि मानसिक संक्लेश उत्पन्न न हो। संक्लेश से मन का असमाधान होता है और असमाधान की स्थिति में मुनि धर्म से च्युत हो जाता है। अतः संयम-यात्रा के निर्वाह मे विघ्न उपस्थित न हो, वैसे उपस्थित होना चाहिए।"[5]

१—अंगुत्तरनिकाय, ४।१६।७।

२—विसुद्धिमग्ग, दूसरा परिच्छेद।

३—बुद्धवचन, पृ० ४१।

४—तत्त्वार्थ, ९।१९ श्रुतसागरीय वृत्ति।

५—महापुराण, २०।१-१०।

यह मध्यम-मार्ग की मान्यता जिनसेन से बहुत पहले ही स्थिर हो चुकी थी। अनेकान्त दृष्टि के साथ-साथ ही इसका उदय हुआ था। उत्तराध्ययन में उसके अनेक बीज प्राप्त हैं। आहार और अनशन—दोनों का ऐकान्तिक विधान नहीं है। छह कारणों से आहार करने की अनुमति दी गई है। वे ये हैं—

(१) वेदना,
(२) वैयावृत्य,
(३) ईर्या,
(४) संयम,
(५) प्राणधारण और
(६) धर्मचिन्ता।[१]

छह कारणों से अनशन करने की अनुमति दी गई है—

(१) आतंक,
(२) उपसर्ग,
(३) ब्रह्मचर्यधारण,
(४) प्राणिदया,
(५) तपस्या और
(६) शरीर-विच्छेद।[२]

इसी प्रकार सरस भोजन का भी एकान्तिक विधि-निषेध नहीं है। जो दूध, दही आदि सरस आहार करे उसे तपस्या भी करनी चाहिए—आहार और तपस्या का संतुलित क्रम चलना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, वह पाप-श्रमण होता है।[३]

आमरण अनशन के लिए भी अनेकान्तिक व्यवस्था है। जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का नित नया विकास होता रहे तब तक जीवन का धारण किया जाय, आहार आदि से शरीर को चलाया जाय और जब ज्ञान, दर्शन आदि का लाभ प्राप्त करने की क्षमता न रहे, उस स्थिति में देह का त्याग किया जाय—आहार का प्रत्याख्यान किया जाय।[४]

१—उत्तराध्ययन, २६।३२,३३।
२—वही, २६।३३-३४।
३—वही, १७।१५।
४—वही, ४।७ :
लाभान्तरे जीविय वूहइत्ता, पच्छापरिन्नाय मलावधंसी।

वस्त्र के विषय में भी महावीर का दृष्टिकोण मध्यममार्गी था। उन्होंने सचेल और अचेल—इन दोनों साधना-पद्धतियों को मान्यता दी।

(१) कई मुनि जीवन-पर्यन्त सचेल रहते थे।

(२) कई मुनि साधना के प्रारम्भ काल में सचेल रहते और उसके परिपक्व होने पर अचेल हो जाते।

(३) कई मुनि कभी सचेल रहते, कभी अचेल। हेमन्त में सचेल रहते और ग्रीष्म में अचेल हो जाते।[1] वस्त्र मिलने पर सचेल रहते, न मिलने पर अचेल।[2]

महावीर ने साधुओं को गणों में संगठित भी किया[3] और अकेले रहने की व्यवस्था भी दी।[4] उन्होंने गण में रहने वालों के लिए सेवा और सहयोग को प्रोत्साहन दिया[5] और अकेले रहने वालों के लिए सेवा या सहयोग न लेने की व्यवस्था दी[6]।

जो मण्डली-भोजन चाहते थे, उनके लिए वैसी व्यवस्था की[7] और मण्डली-भोजन के प्रत्याख्यान को भी महत्त्व दिया[8]। इस प्रकार साधना की व्यवस्था में उनका दृष्टिकोण अनेकान्तस्पर्शी रहा।

ऊपर कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं जो महावीर के मध्यम-मार्गी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं। महावीर का झुकाव यदि काय-क्लेश की ओर होता तो वे यह कभी नहीं कहते कि जो तप और नियम से भ्रष्ट हैं, वे चिर-काल तक अपने शरीर को क्लेश देकर भी संसार का पार नहीं पा सकते।[9]

उन्होंने काय-क्लेश को वही स्थान दिया, जो स्थान स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए शल्य-चिकित्सा का है। देहाध्यास वास्तव में ही बहुत गहरा होता है। उसकी जड़ों को उखाड़ फेंकने के लिए एक बार देह के प्रति निर्ममत्व होना होता है। रोग उत्पन्न होने

१–आचारांग, १।८।५।

२–उत्तराध्ययन, २।१३।

३–उत्तराध्ययन, ११।१४; १७।१७।

४–वही, ३२।५।

५–वही, २९।४४।

६–वही, २९।४०।

७–वही, १।३५।

८–वही, २९।३४।

९–वही, २०।४१।

पर औषध द्वारा उसका प्रतिकार न करना, इसी साधना की एक कड़ी है।[१] इस साधना की मृग-मरीचिका से तुलना की गई है। मृगापुत्र और उसके माता-पिता के संवाद से यह लगता है कि रोग का प्रतिकार न करना श्रमणों की सामान्य विधि थी।[२]

किन्तु दूसरे आगमों में रोग-प्रतिकार करने के उल्लेख भी मिलते हैं। हो सकता है प्रारम्भ में रोग-प्रतिकार का निषेध हो और बाद में उसका विधान किया गया हो। यह भी हो सकता है कि देह-निर्ममत्व की विशेष साधना करने वाले मुनियों के लिए चिकित्सा का निषेध हो, सबके लिए नहीं। संभव है मृगा-पुत्र की विशेष साधना की उत्कट इच्छा को ध्यान में रखकर ही माता-पिता ने ऐसा कहा हो। कुछ भी हो, चिकित्सा के विषय में आगमकारों की एकान्त-दृष्टि नहीं रही।

बाईस परीषहों, जो स्वीकृत-मार्ग पर स्थिर रहने और आत्म-शुद्धि के लिए सहन करने योग्य होते हैं, मे कुछ परीषह सब मुनियों के लिए नहीं है।

कठोर और मृदुचर्या का प्रश्न आपेक्षिक है। एक व्यक्ति को एक स्थिति मे जो कठोर लगता है, वही उसको दूसरी स्थिति मे मृदु लगने लगता है और जो मृदु लगता है, वह कभी कठोर लगने लगता है। इसी अनुभूति के संदर्भ में मृगा-पुत्र ने कहा था— "जिसकी लौकिक प्यास बुझ चुकी है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही है।"[३]

*

१–उत्तराध्ययन, २।३२-३३।

२–वही, १९।७५-८२।

३–वही, १९।४४ :

इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं।

प्रकरण : नवाँ

१–तत्त्वविद्या

तत्त्वविद्या हमारे ज्ञान-वृक्ष की वह शाखा है, जिसके द्वारा विश्व के अस्तित्व-नास्तित्व की व्याख्या की जाती है। इसके माध्यम से लगभग सभी दार्शनिकों ने दो मुख्य प्रश्नों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया। पहला प्रश्न यह रहा कि विश्व सत्य है या मिथ्या ? दूसरा प्रश्न था कि द्रव्य के अस्तित्व का स्रोत एक ही केन्द्र से प्रवाहित हो रहा है या उसके केन्द्र भिन्न-भिन्न हैं ?

उपनिषद् और सृष्टि

उपनिषदों के ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विश्व सत्य है। उसके अस्तित्व का स्रोत एक ही केन्द्र है। वह ब्रह्म है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि जो कुछ है, वह सब ब्रह्म है।[1] वह एक है, अद्वितीय है[2]। जो नानात्व को देखता है—दो को स्वीकार करता है, वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है।[3] ऐतरेय उपनिषद् मे बताया गया है कि सृष्टि से पूर्व एकमात्र आत्मा ही था। दूसरा कोई तत्त्व नही था। उसने सोचा लोकों की रचना करूँ। इस चिंतन के साथ उसने लोकों की रचना की।[4] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आरम्भ में एक मात्र सत् ही था। उसने इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ। इस इच्छा के साथ वह अनेक रूपो मे व्यक्त हो गया।[5]

वस्तुत सत् एक ही है। वही ब्रह्म या आत्मा है। जितना नानात्व है, वह उसी का प्रपच है।

१–(क) छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१
सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
(ख) मुण्डकोपनिषद्, २।२।११
ब्रह्मैवेदं सर्वम्।

२–छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।१
एकमेवाद्वितीयम्।

३–बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।१९, कठोपनिषद्, २।१।१०
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

४–ऐतरेयोपनिषद्, १।१।१-२।

५–छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।२-३।

औपनिषदिक दृष्टि का फलित अर्थ यह है कि विश्व का मूल हेतु ब्रह्म है। वही परमार्थ-सत्य है। शेष सब उसी से उत्पन्न है और उसी में विलीन हो जाता है। अतः बाह्य-जगत् असत्य है—परमार्थ-सत्य नहीं है। जो परमार्थ-सत्य है, वह 'एक' है। जो नानात्व है, वह उसी में से उत्पन्न है, अतः वस्तुतः 'एक' ही सत्य है। जो अनेक है, वह सत्य नहीं है।

बौद्ध दर्शन और विश्व

बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—हीनयान और महायान। हीनयान की दो शाखाएँ हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक—सर्वास्तिवादी हैं। वे जगत् के अस्तित्व को सत्य मानती हैं।

महायान की दो शाखाएँ—योगाचार और माध्यमिक—जगत् के अस्तित्व को मिथ्या मानती हैं।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक की दृष्टि में द्रव्य का अस्तित्व आत्म-केन्द्रित है। वह किसी एक ही केन्द्र से प्रवाहित नहीं हो रहा है। योगाचार और माध्यमिक की दृष्टि दार्शनिक युग में विकसित हुई थी। इसीलिए वह तर्कहीन ब्रह्म को मान्य नहीं कर सकी। वह औपनिषदिक चिन्तन का अन्तिम रूप बनी। औपनिषदिक चिन्तन था कि ब्रह्म सत्य है और नानात्व असत्य। योगाचार और माध्यमिक शाखाओं का चिन्तन रहा कि सब कुछ असत्य है।

जैन दर्शन और विश्व

जैन दृष्टि इन दोनों धाराओं से भिन्न रही। आगम और दार्शनिक—दोनों युगों में उसका रूप-परिवर्तन नहीं हुआ। उसका अपना अभिमत था कि एकत्व भी सत्य है और नानात्व भी सत्य है। अस्तित्व की दृष्टि से सब द्रव्य एक हैं, अतः एकत्व भी सत्य है। उपयोगिता की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं, अतः नानात्व भी सत्य है। जैन आचार्यों ने एकत्व की व्याख्या संग्रह-नय के आधार पर की और नानात्व की व्याख्या व्यवहार-नय के आधार पर। एकत्व और नानात्व की व्याख्या जहाँ निरपेक्ष होती है, वहाँ सत्य का दर्शन खण्डित हो जाता है। निरपेक्ष एकत्व भी सत्य नहीं है और निरपेक्ष नानात्व भी सत्य नहीं है। दोनों का सापेक्ष दर्शन ही सत्य का पूर्ण दर्शन है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य आत्म-केन्द्रित हैं। उनके अस्तित्व का स्रोत किसी एक ही केन्द्र से प्रवहमान नहीं है। चेतन का अस्तित्व जितना स्वतन्त्र और वास्तविक है, उतना ही स्वतंत्र और वास्तविक अचेतन का अस्तित्व भी है। चेतन और अचेतन की वास्तविक सत्ता ही यह जगत् है।[1]

१-उत्तराध्ययन, ३६।२।

यह जगत् अनादि-अनन्त है। चेतन अचेतन से उत्पन्न नहीं है और अचेतन चेतन से उत्पन्न नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जगत् अनादि-अनन्त है। यह व्याख्या द्रव्य-स्पर्शी नय के आधार पर की जा सकती है, किन्तु रूपान्तरस्पर्शी नय की व्याख्या इससे भिन्न होगी। उसके अनुसार यह जगत् सादि-सान्त भी है। इसका अर्थ यह है कि जगत् के घटक तत्त्व अनादि-अनन्त हैं और उनके रूप सादि-सान्त हैं। जीव अनादि-अनन्त हैं, किन्तु एकेन्द्रिय जीव प्रवाह की दृष्टि से अनादि अनन्त हैं और व्यक्ति की दृष्टि से सादि-सान्त हैं।[1] इसी प्रकार अजीव भी अनादि-अनन्त हैं किन्तु परमाणु प्रवाह की अपेक्षा अनादि-अनन्त है और व्यक्ति की दृष्टि से सादि-सान्त है।[2] जैन दार्शनिक इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते कि असत् से सत् उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि जगत् में नए सिरे से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जो जितना है, वह उतना ही था और उतना ही रहेगा। यह मौलिक तत्त्व की बात है। रूपान्तरण की दृष्टि से असत् से सत् उत्पन्न होता भी है। जो एक दिन पहले असत् होता है, वह आज सत् हो जाता है और जो आज सत् होता है, वह कल फिर असत् हो सकता है। जिसे हम जगत् कहते हैं, उसकी सृष्टि का मूल यह रूपान्तरण ही है। जैन दार्शनिकों के अनुसार जगत् के घटक तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। शेष सब इनका विस्तार है। संसार में जितने द्रव्य हैं, वे सब इन दो द्रव्यों के ही भेद-उपभेद हैं। उनमें कुछ ऐसे हैं, जो हमारे लिए दृश्य हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो हमारे लिए दृश्य नहीं हैं।

अजीव के पाँच प्रकार हैं—

धर्मास्तिकाय—	गतितत्त्व।
अधर्मास्तिकाय—	स्थितितत्त्व।
आकाशास्तिकाय—	अवकाशतत्त्व।
काल—	परिवर्तन का हेतु।
पुद्गलास्तिकाय—	संयोग-वियोगशील तत्त्व।

मूर्त-अमूर्त

भारतीय तत्त्ववेत्ता तीन हजार वर्ष पहले से ही मूर्त और अमूर्त का विभाग मानते रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त।[3] बृहदारण्यक २।३।१ में भी यही बात मिलती है। पुराण-साहित्य में भी इस मान्यता की

१—वही, ३६।७८-७९।
२—वही, ३६।१२-१३।
३—शतपथ ब्राह्मण, १४।५।३।१।

चर्चा हुई है।[1] जैन-आगमों में मूर्त और अमूर्त के स्थान पर रूपी और अरूपी का प्रयोग अधिक मिलता है। इनकी चर्चा भी जितने विस्तार से उनमें हुई है, उतनी अन्यत्र प्राप्त नहीं है। रूपी और अरूपी की सामान्य परिभाषा यह है कि जिस द्रव्य में वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान हों, वह रूपी है और जिसमें ये न हों वह अरूपी है। जीव अरूपी है इसलिए भृगु-पुत्रों ने अपने पिता से कहा था—"जीव अमूर्त होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है।"[2] अजीव के प्रथम चार प्रकार अरूपी हैं। पुद्गल रूपी है।[3] अरूपी जगत् जनसाधारण के लिए अगम्य है। उसके लिए जो गम्य है, वह पुद्गल जगत् है। उसके चार प्रकार हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।[4] परमाणु पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है। उससे छोटा कुछ भी नहीं है। स्कन्ध उनके समुदाय का नाम है। देश और प्रदेश उसके काल्पनिक विभाग हैं। पुद्गल की वास्तविक इकाई परमाणु ही है। परमाणु सूक्ष्म होते हैं, इसीलिए वे रूपी होने पर भी हमारे लिए दृश्य नहीं हैं। इसी प्रकार उनके सूक्ष्म-स्कन्ध भी हमारे लिए अदृश्य हैं। हमारे लिए वही रूपी जगत् दृश्य है, जो स्थूल है।

परमाणुवाद

जैन-आगमों में परमाणुओं के विषय में अत्यन्त विस्तृत चर्चा की गई है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आगमों का आधा भाग परमाणुओं की चर्चा से सम्बन्धित है। उनके विषय में जैन-दर्शन का एक विशेष दृष्टिकोण है। उसका अभिमत है कि इस संसार में जितना सांयोगिक परिवर्तन होता है, वह परमाणुओं के आपसी संयोग-वियोग और जीव और परमाणुओं के संयोग-वियोग से होता है। इसकी विशद चर्चा हम 'कर्मवाद और लेश्या' के प्रकरण में करेंगे।

शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है—"परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की ही विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन, आजीवक आदि द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है। किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया।"[5] ज्ञानीजी का यह प्रतिपादन प्रामाणिक नहीं है। औपनिषदिक दृष्टि के उपादान कारण परमाणु नहीं हैं। उसका उपादान ब्रह्म है।

१–विष्णुपुराण, १।२२।५३।
२–उत्तराध्ययन, १४।१९।
३–वही, ३६।४।
४–वही, ३६।१०।
५–भारतीय संस्कृति, पृ० २२९।

हरमन जेकोबी ने परमाणु सिद्धान्तों के विषय पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकाश डाला है। उनका अभिमत है—"ब्राह्मणों की प्राचीनतम दार्शनिक मान्यताओं में, जो उपनिषदों में वर्णित हैं, हम अणु सिद्धान्त का उल्लेख तक नहीं पाते हैं और इसलिए वेदान्त सूत्र में, जो उपनिषदों की शिक्षाओं को व्यवस्थित रूप से बताने का दावा करते हैं, इसका खण्डन किया गया है। सांख्य और योग दर्शनों में भी इसे स्वीकार नहीं किया गया है, जो वेदों के समान ही प्राचीन होने का दावा करते हैं, क्योंकि वेदान्त सूत्र भी इन्हें स्मृति के नाम से पुकारते हैं। किन्तु अणु सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन का अविभाज्य अंग है और न्याय ने भी इसे स्वीकार किया है। ये दोनों ब्राह्मण-परम्परा के दर्शन हैं जिनका प्रादुर्भाव साम्प्रदायिक विद्वानों (पण्डितों) द्वारा हुआ है, न कि दैवी या धार्मिक व्यक्तियों द्वारा। वेद-विरोधी मतों, जैनों ने इसे ग्रहण किया है, और आजीविकों ने भी··· । हम जैनों को प्रथम स्थान देते हैं क्योंकि उन्होंने पुद्गल के सम्बन्ध में अतीव प्राचीन मतों के आधार पर ही अपनी पद्धति को संस्थापित किया है।"[1]

जीव विभाग

दार्शनिक विद्वानों ने जीवों के विभाग भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किए हैं। जैन दार्शनिकों ने उनके विभाग का आधार गति और ज्ञान को माना है। गति के आधार पर जीवों के दो विभाग होते हैं—(१) स्थावर और (२) त्रस। जिनमें गमन करने की क्षमता नहीं है, वे स्थावर हैं और जिनमें चलने की क्षमता है, वे त्रस हैं।[2]

स्थावर सृष्टि

स्थावर जीवों के तीन विभाग है—(१) पृथ्वी, (२) जल और (३) वनस्पति।[3] ये तीनों दो-दो प्रकार के होते हैं—(१) सूक्ष्म और (२) स्थूल। सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त होते हैं और स्थूल जीव लोक के कई भागों में प्राप्त होते हैं।[4]

स्थूल पृथ्वी

स्थूल पृथ्वी के दो प्रकार है—(१) मृदु और (२) कठिन।[5] मृदु पृथ्वी के सात प्रकार हैं—

१-एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग २, पृ० १९९,२००।

२-उत्तराध्ययन, ३६।६८।

३-वही, ३६।६९।

४-वही, ३६।७८,८६,१००।

५-वही, ३६।७१।

(१) कृष्ण (काली), (२) नील (नीली या ग्रेनितशिलोत्पन्न), (३) लोहित (लेट राइट या लाल), (४) हारिद्र (पीली), (५) शुक्ल (श्वेत), (६) पाण्डु (धूमिल, भूरी), तथा (७) पनकमृतिका (नद्य प, पंक, किट्ट तथा चिकनी दोमट)। यहाँ ये भेद अत्यन्त वैज्ञानिक हैं।[1] प्रज्ञापना में भी मृदु पृथ्वी के ये सात प्रकार प्राप्त हैं।

कठिन पृथ्वी—भूतल-विन्यास (टेरेन) और करंबोपलों (ओरिस) को छत्तीस भागों में विभक्त किया गया है—

(१) शुद्ध पृथ्वी
(२) शर्करा
(३) बालुका - बलुई
(४) उपल—कई प्रकार की शिलाएँ और करंबोपल
(५) शिला
(६) लवण
(७) ऊष—नोनी मिट्टी
(८) अयस्—लोहा
(९) ताम्र—ताँबा
(१०) त्रपु—जस्त
(११) सीसक—सीसा
(१२) रूप्य—चाँदी
(१३) सुवर्ण—सोना
(१४) वज्र—हीरा
(१५) हरिताल
(१६) हिंगुलुक
(१७) मन.शीला—मैनसिल
(१८) सस्यक—रत्न की एक जाति
(१९) अंजन
(२०) प्रवालक—मूँगे के समान रंग वाला[2]
(२१) अभ्रव लुका—अभ्रक की बालू
(२२) अभ्रपटल—अभ्रक
(२३) गोमेदक—वैडूर्य की एक जाति
(२४) रुचक—मणि की एक जाति
(२५) अंक—मणि की एक जाति
(२६) स्फटिक
(२) मरकत—पन्ना
(२८) भुजमोचक—मणि की एक जाति
(२९) इन्द्रनील—नीलम
(३०) चन्दन—मणि की एक जाति
(३१) पुलक—मणि की एक जाति
(३२) सौगन्धिक—माणक की एक जाति
(३३) चन्द्रप्रभ—मणि की एक जाति
(३४) वैडूर्य
(३५) जलकान्त—मणि की एक जाति
(३६) सूर्यकान्त—मणि की एक जाति

वृत्तिकार के अनुसार लोहिताक्ष और मसारगल्ल क्रमश: स्फटिक और मरकत तथा गेरुक और हंसगर्भ के उपभेद है।[3] वृत्तिकार ने शुद्ध पृथ्वी से लेकर वज्र तक के चौदह

१–उत्तराध्ययन, ३६।७२।

२–कौटलीय अर्थशास्त्र, ११।३६।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६८९।

प्रकार तथा हरिताल से लेकर पटल तक के आठ प्रकार स्पष्ट माने हैं। गोमेदक से लेकर शेष सब चौदह प्रकार होने चाहिए, किन्तु अठारह होते हैं (उत्तराध्ययन, ३६।७३-७६)। इनमें से चार वस्तुओं का दूसरों में अन्तर्भाव होता है। वृत्तिकार इस विषय में पूर्णरूपेण असंदिग्ध नहीं है कि किससे किसका अन्तर्भाव होना चाहिए।[1]

स्थूल जल

स्थूल जल के पाँच प्रकार हैं—

(१) शुद्ध उदक, (२) ओस, (३) हरतनु, (४) कुहरा और (५) हिम।[2]

स्थूल वनस्पति

स्थूल वनस्पति के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्येक शरीरी और (२) साधारण शरीरी।[3] जिसके एक शरीर में एक जीव होता है, वह 'प्रत्येक शरीरी' कहलाती है। जिसके एक शरीर में अनन्त जीव होते है, वह 'साधारण शरीरी' कहलाती है।

प्रत्येक शरीरी वनस्पति के बारह प्रकार है—

(१) वृक्ष, (२) गुच्छ, (३) गुल्म, (४) लता, (५) वल्ली, (६) तृण, (७) लतावलय, (८) पर्वग, (९) कुहण, (१०) जलज, (११) औषधितृण और (१२) हरितकाय।[4]

साधारण शरीरी वनस्पति के अनेक प्रकार है, जैसे—कन्द, मूल आदि।[5]

त्रस सृष्टि

त्रस सृष्टि के छः प्रकार है—

(१) अग्नि, (२) वायु, (३) द्वीन्द्रिय, (४) त्रीन्द्रिय, (५) चतुरिन्द्रिय और (६) पंचेन्द्रिय।[6]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ६८९ :

इह च पृथिव्यादयश्चतुर्दश हरितालादयोऽष्टौ गोमेज्जकादयश्च क्वचित्कस्य-चित्कथंचिदन्तर्भावाच्चतुर्दशैवामी मीलिताः षट्त्रिंशद् भवन्ति।

२-उत्तराध्ययन, ३६।८५।

३-वही, ३६।९३।

४-वही, ३६।९४,९५।

५-वही, ३६।९६-९९।

६-वही, ३६।१०७,१२६।

अग्नि और वायु की गति अभिप्रायपूर्वक नहीं होती, इसलिए वे केवल गमन करने वाले त्रस हैं। द्वीन्द्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गमन करने वाले त्रस हैं।

अग्नि और वायु

अग्नि और वायु दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त रहते हैं और स्थूल जीव लोक के अमुक-अमुक भाग में है।[१] स्थूल अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद होते हैं, जैसे—अंगार, मुर्मुर, शुद्ध अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्का, विद्युत् आदि।[२]

स्थूल वायुकायिक जीवों के भेद ये हैं—(१) उत्कलिका, (२) मण्डलिका, (३) घनवात, (४) गुञ्जावात, (५) शुद्धवात और (६) संवर्तकवात।[३]

अभिप्रायपूर्वक गति करने वाले त्रस

जिन किन्ही प्राणियो में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और आगति एवं गति के विज्ञाता हैं, वे सब त्रस हैं।[४]

इस परिभाषा के अनुसार त्रस जीवो के चार प्रकार है—(१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय।[५] ये स्थूल ही होते है, इनमे सूक्ष्म और स्थूल का विभाग नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छनज ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छनज और गर्भज—दोनो प्रकार के होते हैं। गति की दृष्टि से पंचेन्द्रिय चार प्रकार के है—(१) नैरयिक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव। पचेन्द्रिय तिर्यञ्च तीन प्रकार के होते हैं—(१) जलचर, (२) स्थलचर और (३) खेचर।[६]

जलचर सृष्टि के मुख्य प्रकार मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और सुंसुमार आदि हैं।[७]

१—उत्तराध्ययन, ३६।१११,१२०।
२—वही, ३६।१००,१०९।
३—वही, ३६।११८-११९।
४—दशवैकालिक, ४ सूत्र ९।
५—उत्तराध्ययन, ३६।१२६।
६—वही, ३६।१७१।
७—वही, ३६।१७२।

स्थलचर सृष्टि की मुख्य जातियाँ दो हैं--(१) चतुष्पद और (२) परिसर्प।[1] चतुष्पद के चार प्रकार हैं—

(१) एक खुर वाले— अश्व आदि,
(२) दो खुर वाले— बैल आदि,
(३) गोल पैर वाले— हाथी आदि और
(४) नख-सहित पैर वाले— सिंह आदि।[2]

परिसर्प की मुख्य जातियाँ दो हैं—

(१) भुज परिसर्प— भुजाओं के बल रेंगने वाले। गोह आदि और
(२) उर परिसर्प— छाती के बल रेंगने वाले। सर्प आदि।[3]

खेचर सृष्टि की मुख्य जातियाँ चार हैं—

(१) चर्म पक्षी,
(२) रोम पक्षी,
(३) समुद्ग पक्षी और
(४) वितत पक्षी।[4]

यह जीव-सृष्टि की संक्षिप्त रूपरेखा है। देखिए यंत्र—

१-उत्तराध्ययन, ३६।१७९।
२-वही, ३६।१७९,१८०।
३-वही, ३६।१८१।
४-वही, ३६।१८८।
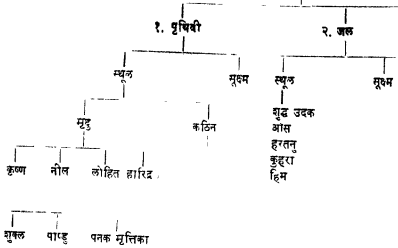
स्थावर-सृष्टि
१. पृथिवी
२. जल
स्थूल
सूक्ष्म
स्थूल
सूक्ष्म
मृदु
कठिन
शुद्ध उदक
ओस
हरतनु
कुहरा
हिम
कृष्ण
नील
लोहित
हारिद्र
शुक्ल
पाण्डु
पनक मृत्तिका
शुद्ध पृथिवी
शर्करा
बालुका
उपल
शिला
लवण
ऊष
अयस्
ताम्र
त्रपु
सीसक
रूप्य
सुवर्ण
वज्र
हरिताल
हिंगुलुक
मनःशीला
सस्यक
अंजन
प्रवालक
अभ्रपटल
अभ्रबालुका
गोमेदक
रुचक
अंक
स्फटिक
मरकत
भुजमोचक
इन्द्रनील
चन्दन
पुलक
सौगन्धिक
चन्द्रप्रभ
वैडूर्य
जलकान्त
सूर्यकान्त

३. वनस्पति
स्थूल
सूक्ष्म
प्रत्येक शरीरी
साधारण शरीरी
वृक्ष
गुच्छ
गुल्म
लता
वल्ली
तृण
लतावलय
पर्वग
कुहुण
जलज
औषधितृण
हरितकाय
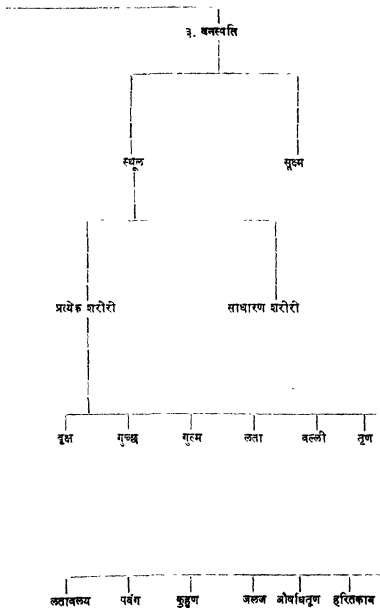
त्रस-सृष्टि

१. अग्नि
२. वायु
३ द्वीन्द्रिय
४ त्रीन्द्रिय
५. चतुरिन्द्रिय
६. पंचेन्द्रिय

१ अग्नि
स्थूल
सूक्ष्म
अंगार
मुर्मुर
शुद्ध अग्नि
अर्चि
ज्वाला
उल्का
विद्युत्

२. वायु
स्थूल
सूक्ष्म
उत्कलिका
मण्डलिका
घनवात
गुञ्जावात
शुद्धवात
संवर्तकवात

३. द्वीन्द्रिय
४. त्रीन्द्रिय
नैरयिक
तिर्यञ्च
रत्न
शर्करा
बालुका
पंक
धूम
तम
महातम
जलचर
मत्स्य
कच्छप
ग्राह
मगर
शुंशुमार
स्थलचर
चतुष्पद
एक खुर वाले
दो खुर वाले
गोल पैर वाले
नख-सहित पैर वाले
परिसर्प
भुज परिसर्प
उर: परिसर्प
खेचर
चर्म पक्षी
रोम पक्षी
समुद्ग पक्षी
वितत पक्षी

५. चतुरिन्द्रिय
६. पंचेन्द्रिय
मनुष्य
कर्मभूमिज
अकर्मभूमिज
अन्तरद्वीपज
देव
वैमानिक
भवनपति
व्यन्तर
ज्योतिष्क
असुरकुमार
नागकुमार
सुपर्णकुमार
विद्युत्कुमार
अग्निकुमार
द्वीपकुमार
दिक्कुमार
उदधिकुमार
वायुकुमार
स्तनितकुमार
भूत
पिशाच
यक्ष
राक्षस
किन्नर
किंपुरुष
महोरग
गन्धर्व
सूर्य
चन्द्र
ग्रह
नक्षत्र
तारा
कल्पोपपन्न
कल्पातीत
सौधर्म
ईशान
सनत्कुमार
महेन्द्र
ब्रह्म
लान्तक
महाशुक्र
सहस्रार
आनत
प्राणत
आरण
अच्युत
अनुत्तर
विजय
वैजयन्त
जयन्त
अपराजित
सर्वार्थसिद्ध
ग्रैवेयक
अधस्तन
मध्यम
उपरितन
अधस्तन
मध्यम
उपरितन
अधस्तन
मध्यम
उपरितन

दृश्य जगत् और परिवर्तनशील सृष्टि

जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) संसारी और (२) सिद्ध।[1] सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के द्वारा पौद्गलिक बंधनों से मुक्त जीव 'सिद्ध' कहलाते हैं। दृश्य जगत् और परिवर्तनशील सृष्टि में उनका कोई योगदान नहीं होता। वे केवल आत्मस्थ होते हैं। सृष्टि के विविध रूपों में संसारी जीवों का योगदान होता है। वे शरीरस्थ होते हैं, इसलिए पौद्गलिक संयोग-वियोग में रहते हुए नाना रूप धारण करते हैं। सृष्टि की विविधता उन्हीं रूपों में से निखार पाती है।

यह मिट्टी क्या है? पृथ्वी के जीवों का शरीर ही तो है। यह जल और क्या है? अग्नि, वायु, वनस्पति और जंगम—ये सभी शरीर है, जीवित या मृत। हमारे सामने ऐसी कोई भी वस्तु दृश्य नहीं है, जो एक दिन किसी जीव का शरीर न रही हो। शरीर और क्या है? सूक्ष्म को स्थूल बनाने और अदृश्य को दृश्य बनाने का एक माध्यम है। शरीर और जीव का संयोग सृष्टि के परिवर्तन और संचलन का मुख्य हेतु है।

२—कर्मवाद और लेश्या

परिस्थिति में ही गुण और दोष का आरोप वे लोग कर सकते हैं, जो आत्मा में विश्वास नहीं करते। आत्मा को मानने वाले लोग आन्तरिक और बाह्य दोनों में गुण-दोष देखते हैं और अन्तिम सचाई तो यह है कि आन्तरिक-विशुद्धि से ही बाहर की विशुद्धि होती है तथा आन्तरिक दोष से ही बाहर में दोष निष्पन्न होता है। अमितगति ने इसी भावभाषा में कहा है—

> अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः, शुद्धिः संपद्यते बहिः।
> बाह्यं हि कुरुते दोषं, सर्वमान्तरदोषतः॥[2]

बाहरी परिस्थिति से वे ही व्यक्ति प्रभावित होते हैं, जो विजातीय तत्त्वों से अधिक सम्पृक्त हैं। जिनका विजातीय तत्त्वों से सम्पर्क कम है, जिनकी चेतना अपने में ही लीन है, वे बाहर से प्रभावित नहीं होते।[3] इसी सत्य को इस भाषा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि जो बाहरी संगों से मुक्त रहता है, उसकी चेतना अपने में लीन रहती है

१—उत्तराध्ययन, ३६।४८।

२—मूलाराधना, अमितगति, १९९७।

३—मूलाराधना, ७।१९१२ :
मंदा हुंति कसाया, बाहिरसंग विजढस्स सव्वस्स।
गिण्हइ कसायबहुलो, चेव हु सव्वंपि गंथकलिं॥

और उसकी चेतना दूसरे रंगों मे रंग जाती है, जो बाहर में विलीन रहता है। सचाई यह है कि अपने को बाह्य मे विलीन करने वाला हर जीव बाह्य से प्रभावित होता है और उसकी चेतना बाहर के रंगो से रंगीन रहती है। लेश्या इस रंगीन चेतना का ही एक परिणाम है और कर्म-बन्धन उसी का अनुगमन करता है।

कर्म : चैतन्य पर प्रभाव

जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन। इन दोनो मे सीधा सम्बन्ध नही है। जीव लेश्या के माध्यम से ही पुद्गलो का आत्मीकरण करता है, इसलिए जब वह शुभ प्रवृत्ति में संलग्न रहता है, तब शुभ पुद्गल आत्मीकृत होते हैं, जो पुण्य कहलाते हैं और जब वह अशुभ प्रवृत्ति मे सलग्न रहता है, तब अशुभ पुद्गल आत्मीकृत होते हैं, जो पाप कहलाते है। जब ये पुण्य-पाप विभक्त किए जाते है, तब इनकी आठ जातियाँ बन जाती हैं, जिन्हे आठ कर्म कहा गया है—

(१) ज्ञानावरण— इससे ज्ञान आवृत होता है, इसलिए यह पाप है।
(२) दर्शनावरण— इससे दर्शन आवृत होता है, इसलिए यह पाप है।
(३) मोहनीय— इससे दृष्टि और चारित्र विकृत होते हैं, इसलिए यह पाप है।
(४) अन्तराय— इससे आत्मा का वीर्य प्रतिहत होता है, इसलिए यह पाप है।
(५) वेदनीय — यह सुख और दुःख की वेदना का हेतु बनता है, इसलिए यह पुण्य भी है और पाप भी है।
(६) नाम— यह शुभ और अशुभ अभिव्यक्ति का हेतु बनता है, इसलिए यह पुण्य भी है और पाप भी है।
(७) गोत्र— यह उच्च और नीच संयोगो का हेतु बनता है, इसलिए यह पुण्य भी है और पाप भी है।
(८) आयुष्य— यह शुभ और अशुभ जीवन का हेतु बनता है, इसलिए यह पुण्य भी है और पाप भी है।

जीव पुण्य या पाप नही है और पुद्गल भी पुण्य या पाप नही है। जीव और पुद्गल का सयोग होने पर जो स्थिति बनती है, वह पुण्य या पाप है।

इन पुण्य या पाप कर्मों के द्वारा जीवो में विविध परिवर्तन होते रहते हैं। इस जगत् के नानात्व का कर्म-समूह सर्वोपरि कारण है। कर्मों के पुद्गल सूक्ष्म हैं। उनसे ऐसे रहस्यपूर्ण कार्य घटित होते है, जिनकी सामान्य-बुद्धि व्याख्या ही नही कर सकती या जिन्हे बहुत सारे लोग ईश्वर की लीला कह कर सन्तोष मानते हैं। यदि हम जीव और कर्म पुद्गलो की संयोगिक प्रक्रियाओ को गहराई से समझ लें तो हम सृष्टि की सहज व्याख्या

कर सकते हैं और जटिलताओं से भी बच जाते हैं, जो ईश्वरीय-सृष्टि की व्याख्या में उत्पन्न होती हैं।

लेश्या : चेतन और अचेतन के संयोग का माध्यम

जितने स्थूल परमाणु स्कन्ध होते हैं, वे सब प्रकार के रंगों और उपरंगों से युक्त होते हैं। मनुष्य का शरीर स्थूल-स्कन्ध है, इसलिए वह भी सब रंगों से युक्त है। वह रंगीन है, इसीलिए बाह्य रंगों से प्रभावित होता है। उनका प्रभाव मनुष्य के मन पर भी पड़ता है। इस प्रभाव-शक्ति के आधार पर भगवान् महावीर ने सब प्राणियों के शरीरों और विचारों को छह वर्गों में विभक्त किया। उस वर्गीकरण को 'लेश्या' कहा जाता है—

(१) कृष्णलेश्या, (३) कापोतलेश्या, (५) पद्मलेश्या और
(२) नीललेश्या, (४) तेजोलेश्या, (६) शुक्ललेश्या।

डॉ० हर्मन जेकोबी के अभिमत की समीक्षा

डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है—"जैनों के लेश्या के सिद्धान्त में और गोशालक के मानवों को छह भागों में विभक्त करने वाले सिद्धान्त में समानता है। इसे पहले पहल प्रो० ल्यूमेन ने पकड़ा, किन्तु इस विषय में मेरा विश्वास है कि जैनों ने यह सिद्धान्त आजीवकों से लिया और उसे परिवर्तित कर अपने सिद्धान्तों के साथ समन्वित कर दिया।"[१]

मानवों का छह भागों में विभाजन गोशालक के द्वारा नहीं, किन्तु पूरणकश्यप के द्वारा किया गया था।[२] पता नहीं प्रो० ल्यूमेन और डॉ० हर्मन जेकोबी ने उसे 'गोशालक के द्वारा किया हुआ मानवों का विभाजन' किस आधार पर माना ?

पूरणकश्यप बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित छह तीर्थङ्करों में से एक है।[३] उन्होंने रंगों के आधार पर छह अभिजातियाँ निश्चित की थीं—

(१) कृष्णाभिजाति— क्रूर कर्म वाले सौकरिक, शाकुनिक आदि जीवों का वर्ग,
(२) नीलाभिजाति— बौद्ध-भिक्षु तथा कुछ अन्य कर्मवादी, क्रियावादी भिक्षुओं का वर्ग,
(३) लोहिताभिजाति— एकशाटक निर्ग्रन्थों का वर्ग,
(४) हरिद्राभिजाति— श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र,
(५) शुक्लाभिजाति— आजीवक श्रमण-श्रमणियों का वर्ग और

१–Sacred Books of the East, Vol XLV, Introduction, p. XXX.
२–अंगुत्तरनिकाय, ६।६।३, भाग ३, पृ० ९३।
३–दीघनिकाय, १।२, पृ० १६,२०।

(६) परमशुक्लाभिजाति— आजीवक आचार्य—नन्द, वत्स, कृश, सांकृत्य, मस्करी गोशालक आदि का वर्ग।[1]

आनन्द ने गौतम बुद्ध से इन छह अभिजातियों के विषय में पूछा तो उन्होंने इसे 'अव्यक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ प्रतिपादन' कहा।

इस वर्गीकरण का मुख्य आधार अचेलता है। इसमें वस्त्रों के अल्पीकरण या पूर्ण-त्याग के आधार पर अभिजातियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

गौतम बुद्ध ने आनन्द से कहा—"मैं भी छह अभिजातियों की प्रज्ञापना करता हूँ—

(१) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक (नीच कुल मे उत्पन्न) हो, कृष्ण-धर्म (पाप) करता है।

(२) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो, शुक्ल-धर्म करता है।

(३) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।

(४) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक (ऊँचे कुल मे उत्पन्न) हो, शुक्ल-धर्म (पुण्य) करता है।

(५) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, कृष्ण-धर्म करता है।

(६) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।"[2]

यह वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया हुआ है। इसमें चाण्डाल, निषाद, आदि जातियों को 'शुक्ल' कहा गया है। कायिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरण को 'कृष्ण-धर्म' और उनके सुचरण को 'शुक्ल-धर्म' कहा गया है। निर्वाण न कृष्ण है और न शुक्ल। इस वर्गीकरण का ध्येय यह है कि नीच जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी शुक्ल-धर्म कर सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति कृष्ण-धर्म भी करता है। धर्म और निर्वाण का सम्बन्ध जाति से नहीं है।

छह अभिजातियों के इन दोनों वर्गीकरणों का लेश्या के वर्गीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सर्वथा स्वतंत्र है। लेश्याओं का सम्बन्ध एक-एक व्यक्ति से है। विचारों को प्रभावित करने वाली लेश्याएँ एक व्यक्ति के एक ही जीवन में काल-क्रम से छहों हो सकती है।

लेश्या का वर्गीकरण छह अभिजातियों की अपेक्षा महाभारत के वर्गीकरण के अधिक निकट है। सनत्कुमार ने दानवेन्द्र वृत्रासुर से कहा—"प्राणियों के वर्ण छह प्रकार के हैं— (१) कृष्ण, (२) धूम्र, (३) नील, (४) रक्त, (५) हारिद्र और (६) शुक्ल। इनमें से

१–अंगुत्तरनिकाय, ६।६।३, भाग ३, पृ० ३५-९३,९४।

२–(क) अंगुत्तरनिकाय, ६।६।३, भाग ३, पृ० ९३-९४।

(ख) दीघनिकाय, ३।१०, पृ० २९५।

कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सह्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर और शुक्ल वर्ण अधिक सुखकर होता है।"[1]

कृष्ण वर्ण की नीच गति होती है। वह नरक में ले जाने वाले कर्मों में आसक्त रहता है। नरक से निकलने वाले जीव का वर्ण धूम्र होता है, यह पशु-पक्षी जाति का रंग है। नील वर्ण मनुष्य जाति का रंग है। रक्त वर्ण अनुग्रह करने वाले देववर्ग का रंग है। हारिद्र वर्ण विशिष्ट देवताओं का रंग है। शुक्ल वर्ण सिद्ध शरीरधारी साधकों का रंग है।[2]

महाभारत में एक स्थान पर लिखा है—"दुष्कर्म करने वाला मनुष्य वर्ण से परिभ्रष्ट हो जाता है। पुण्य-कर्म से वह वर्ण के उत्कर्ष को प्राप्त होता है।"[3]

'लेश्या' और महाभारत के 'वर्ण-निरूपण' में बहुत साम्य है, फिर भी वह महाभारत से गृहीत है, ऐसा मानने के लिए कोई हेतु प्राप्त नहीं है। रंग के प्रभाव की व्याख्या लगभग सभी दर्शन-ग्रन्थों में मिलती है। जैन-आचार्यों ने उसे सर्वाधिक विकसित किया, इस सम्बन्ध में कोई भी मनीषी दो मत नहीं हो सकता। इस विकास को देखते हुए सहज ही यह कल्पना हो जाती है कि जैन-आचार्य इसका प्रतिपादन बहुत पहले से ही करते आए हैं। इसके लिए वे उन दूसरी परम्पराओं के ऋणी नहीं हैं, जिन्होंने इसका प्रतिपादन केवल प्रासंगिक रूप में ही किया है।

गीता में गति के कृष्ण और शुक्ल—ये दो वर्ग किए गए हैं। कृष्णगति वाला बार-बार जन्म-मरण करता है। शुक्लगति वाला जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।[4]

धम्मपद में धर्म के दो भाग किए गए हैं। वहाँ लिखा है—"पण्डित मनुष्य को कृष्ण-धर्म को छोड़ शुक्ल-धर्म का आचरण करना चाहिये।"[5]

पतञ्जलि ने कर्म की चार जातियाँ बतलाई थीं—(१) कृष्ण, (२) शुक्ल-कृष्ण, (३) शुक्ल और (४) अशुक्ल-अकृष्ण। ये क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर हैं।

१–महाभारत, शान्तिपर्व, २८०।३३ :

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं, कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु, हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥

२–वही, २८०।३४ ४७।

३–वही, २९१।४ ५।

४–गीता, ८।२६ :

शुक्लकृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्ति मन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥

५–धम्मपद, पंडितवग्ग, श्लोक १९।

योगी की कर्म-जाति 'अशुक्ल-अकृष्ण' होती है। शेष तीन कर्म-जातियाँ सब जीवो मे होती हैं।[1] उनका कर्म कृष्ण होता है, जिनका चित्त दोष-कलुषित या क्रूर होता है। पीडा और अनुग्रह दोनो विद्याओ से मिश्रित कर्म 'शुक्ल-कृष्ण' कहलाता है। ये बाह्य-साधनो के द्वारा साध्य होते हे। तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान मे निरत लोगो के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं। उनमे बाह्य साधनो की अपेक्षा नही होती और न किसी को पीडा दी जाती है, इसलिए इस कर्म 'शुक्ल' कहा जाता है। जो पुण्य के फल की भी इच्छा नही करते, उन क्षीण क्लेश चरमदेह योगियो के अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होता है।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है।[3] सांख्य कौमुदी के अनुसार रजोगुण से मन मोह-रञ्जित होता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व-गुण से मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है।[4] स्वर-विज्ञान में भी यह बताया गया है कि विभिन्न तत्त्वो के विभिन्न वर्ण प्राणियो को प्रभावित करते हैं।[5] उनके अनुसार मूलत प्राणतत्त्व एक है। अणुओ के न्यूनाधिक वेग या कम्पन के अनुसार उसके पाँच विभाग होते हैं। उनके नाम, रग, आकार आदि इस प्रकार है—

नाम	वेग	रंग	आकार	रस या स्वाद
(१) पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
(२) जल	अल्प	सफेद या बैगनी	अर्द्धचन्द्राकार	कसैला
(३) तेजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	चरपरा
(४) वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
(५) आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ (सर्ववर्णक मिश्रित रंग)	अनेकबिन्दु गोल या आकार शून्य	कडवा

१–पातञ्जल योगसूत्र, ४।७।

२–वही, ४।७ भाष्य।

३–श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४।५ :

अजा मेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

४–सांख्यकौमुदी, पृ० २००।

५–शिवस्वरोदय, भाषा टीका, श्लोक १५६, पृ० ४२ :

आपः श्वेता क्षितिः पीता, रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूतः, आकाशः सर्ववर्णकः॥

रगों से प्राणि-जगत् प्रभावित होता है, इस सत्य की ओर जितने संकेत मिलते हैं, उनमें लेश्या का विवरण सर्वाधिक विशद और सुव्यवस्थित है।

लेश्या की परिभाषा और वर्गीकरण का आधार

मन के परिणाम अशुद्ध और शुद्ध—दोनो प्रकार के होते हैं। उनके निमित्त भी शुद्ध और अशुद्ध—दोनो प्रकार के होते हैं। निमित्त प्रभाव डालते हैं और मन के परिणाम उनसे प्रभावित होते हैं। इस प्रकार इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसीलिए इन दोनों को 'लेश्या'—निमित्त को द्रव्य-लेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या—कहा गया है। निमित्त बनने वाले पुद्गल है, उनमें वर्ण भी है, गंध भी है, रस और स्पर्श भी है, फिर भी उनका नामकरण वर्ण के आधार पर हुआ है। मानसिक विचारों की अशुद्धि और शुद्धि को कृष्ण और शुक्लवर्ण के द्वारा अभिव्यक्ति दी जाती रही है। इसका कारण यह हो सकता है कि गंध आदि की अपेक्षा वर्ण मन को अधिक प्रभावित करता है। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन रग अशुद्ध माने गए है। इनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी इसी प्रकार विभक्त होती हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याएँ है।[१] तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्याएँ हैं।[२]

अशुद्धि और शुद्धि के आधार पर छह लेश्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) कृष्णलेश्या	अशुद्धतम—	क्लिष्टतम
(२) नीललेश्या	अशुद्धतर —	क्लिष्टतर
(३) कापोतलेश्या	अशुद्ध—	क्लिष्ट
(४) तेजस्लेश्या	शुद्ध—	अक्लिष्ट
(५) पद्मलेश्या	शुद्धतर—	अक्लिष्टतर
(६) शुक्ललेश्या	शुद्धतम—	अक्लिष्टतम

इस अशुद्धि और शुद्धि का आधार केवल निमित्त नही है। निमित्त और उपादान दोनो मिल कर किसी स्थिति का निर्माण करते हैं। अशुद्धि का उपादान है—कषाय की तीव्रता और उसके निमित्त हैं—कृष्ण, नील और कापोत रंग वाले पुद्गल। शुद्धि का उपादान है—कषाय की मन्दता और उसके निमित्त हैं—रक्त, पीत और श्वेत रंग वाले पुद्गल। उत्तराध्ययन (३४।३) मे लेश्या का ग्यारह प्रकार से विचार किया गया है[३]—

१—उत्तराध्ययन, ३४।५६।
२—वही, ३४।५७।
३—वही, ३४।३।

(१) नाम—

(१) कृष्ण	(२) नील
(३) कापोत	(४) तेजस्
(५) पद्म	(६) शुक्ल[1]

(२) वर्ण—

(१) कृष्ण—	मेघ की तरह कृष्ण
(२) नील –	अशोक की तरह नील
(३) कापोत—	अलसी पुष्प की तरह मटमैला
(४) तेजस्—	हिंगुल की तरह रक्त
(५) पद्म —	हरिताल की तरह पीत
(६) शुक्ल[2] —	शङ्ख की तरह श्वेत ।

(३) रस—

(१) कृष्ण—	तूम्बे से अनन्त गुना कड़वा
(२) नील—	त्रिकुट (सोंठ, पिप्पल और काली मिर्च) से अनन्त गुना तीखा
(३) कापोत—	केरी से अनन्त गुना कसैला
(४) तेजस्—	पके आम से अनन्त गुना अम्ल-मधुर
(५) पद्म—	आसव से अनन्त गुना अम्ल, कसैला और मधुर
(६) शुक्ल—[3]	खजूर से अनन्त गुना मधुर

(४) गंध—

(१) कृष्ण—	मृत सर्प की गंध से अनन्त गुना अमनोज्ञ
(२) नील—	,, ,, ,, ,,
(३) कापोत—	,, ,, ,, ,,
(४) तेजस्—	सुरभि कुसुम की गन्ध से अनन्त गुना मनोज्ञ
(५) पद्म—	,, ,, ,, ,,
(६) शुक्ल—[4]	,, ,, ,, ,,

१–उत्तराध्ययन, ३४।३ ।
२–वही, ३४।४-९ ।
३–वही, ३४।१०-१५ ।
४–वही, ३४।१६-१७ ।

(५) स्पर्श—

(१) कृष्ण—	गाय की जीभ से अनन्त गुना कर्कश
(२) नील—	,, ,, ,,
(३) कापोत—	,, ,, ,,
(४) तेजस्—	नवनीत से अनन्त गुना मृदु
(५) पद्म—	,, ,, ,,
(६) शुक्ल[1]—	,, ,, ,,

(६) परिणाम—

(१) कृष्ण—	जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
(२) नील—	,, ,, ,,
(३) कापोत—	,, ,, ,,
(४) तेजस्—	जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
(५) पद्म—	,, ,, ,,
(६) शुक्ल[2]—	,, ,, ,

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणामों के तारतम्य पर विचार करने से प्रत्येक लेश्या के नौ-नौ परिणाम होते हैं—

(१) जघन्य—	जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट
(२) मध्यम—	जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट
(३) उत्कृष्ट—	जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट

इसी प्रकार सात परिणामों का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के त्रिक से गुणन करने पर विकल्पों की वृद्धि होती है। जैसे—९×३=२७, २७×३=८१, ८१×३=२४३। इस प्रकार मानसिक परिणामों की तरतमता के आधार पर प्रत्येक लेश्या के अनेक परिणमन होते हैं।

(७) लक्षण—

(१) कृष्ण[3]—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग—इन पाँच आस्रवों में प्रवृत्त होना, मन, वचन और काया का संयम न करना, जीव हिंसा में रत रहना, तीव्र आरम्भ में संलग्न रहना, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, क्रूर होना और इन्द्रियों पर विजय न पाना।

१–उत्तराध्ययन, ३४।१८-१९।
२–वही, ३४।२०।
३–वही, ३४।२१-२२।

नील[1]— ईर्ष्या, कदाग्रह, अतपस्विता, अविद्या, माया, निर्लज्जता, गृद्धि प्रद्वेष, शठता प्रमाद, रसलोलुपता, सुख की गवेषणा, आरम्भ में रहना, प्रकृति की क्षुद्रता और बिना विचारे काम करना।

कापोत[2]— वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, कपट, अपने दोषों को छुपाना, मिथ्या-दृष्टि, मखौल करना, दुष्ट-वचन बोलना, चोरी करना और मात्सर्य।

तेजस्[3]— नम्र व्यवहार करना, अचपल होना, ऋजुता, कुतूहल न करना, विनय में निपुण होना, जितेन्द्रियता, मानसिक समाधि, तपस्विता, धार्मिक-प्रेम, धार्मिक दृढ़ता, पाप-भीरुता और मुक्ति की गवेषणा।

पद्म[4]— क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता, चित्त की प्रशान्ति, आत्म-नियंत्रण, समाधि, अल्पभाषिता और जितेन्द्रियता।

शुक्ल[5]— धर्म और शुक्ल ध्यान को लीनता, चित्त की प्रशान्ति, आत्म-नियंत्रण, सम्यक् प्रवृत्ति, मन, वचन और काया का संयम तथा जितेन्द्रियता।

इस प्रसंग में गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा ५०८-५१६) द्रष्टव्य है। लेश्याओं के लक्षणों के साथ सत्त्व, रजस् और तमस् के लक्षणों की आंशिक तुलना होती है। शौच, आस्तिक्य, शुक्ल-धर्म की रुचि वाली बुद्धि—ये सत्त्वगुण के लक्षण हैं; बहुत बोलना, मान, क्रोध, दम्भ और मात्सर्य—ये रजोगुण के लक्षण हैं और भय, अज्ञान, निद्रा, आलस्य और विषाद—ये तमोगुण के लक्षण हैं।[6]

१-उत्तराध्ययन, ३४।२३-२४।

२-वही, ३४।२५-२६।

३-वही, ३४।२७-२८।

४-वही, ३४।२९-३०।

५-वही, ३४।३१-३२।

६ अष्टांगहृदय, शारीरस्थान, ३।३७,३८ :

सात्त्विकं शौचमास्तिक्यं शुक्लधर्मरुचिर्मतिः।
राजसं बहुभाषित्वं मानक्रुद्दम्भमत्सरम्॥
तामसं भयमज्ञानं, निद्रालस्यविषादिता।
इति भूतमयो देह·····················॥

(८) स्थान—

(१) कृष्ण— असंख्य[1]
(२) नील— "
(३) कापोत— "
(४) तेजस्— "
(५) पद्म— "
(६) शुक्ल— "

(९) स्थिति—

लेश्या	श्वेताम्बर[2]		दिगम्बर[3]	
	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
(१) कृष्ण	अन्तर्मुहूर्त	३३ सागर और एक मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त	३३ सागर
(२) नील	"	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर	"	१७ सागर
(३) कापोत	"	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर	"	७ सागर
(४) तेजस्	"	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर	"	२ सागर
(५) पद्म	"	अन्तर्मुहूर्त अधिक दस सागर	"	१८ सागर
(६) शुक्ल	"	अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागर	"	३३ सागर

(१०) गति—

(१) कृष्ण— दुर्गति[4]
(२) नील— "
(३) कापोत— "
(४) तेजस्— सुगति[5]
(५) पद्म— "
(६) शुक्ल— "

१-उत्तराध्ययन, ३४।३३।
२-वही, ३४।३४-३९।
३-तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २४१।
४-उत्तराध्ययन, ३४।५६।
५-वही, ३४।५७।

(११) आयु—लेश्या के प्रारम्भिक और अन्तिम समय में आयु शेष नहीं होता, किन्तु मध्यकाल में वह शेष होता है। यह नियम सब लेश्याओं के लिए समान है।[1]

तत्त्वार्थ राजवार्तिक (पृ० २३८) मे लेश्या पर सोलह दृष्टियों से विचार किया गया है—

(१) निर्देश	(५) कर्म	(९) साधन	(१३) काल
(२) वर्ण	(६) लक्षण	(१०) संख्या	(१४) अन्तर
(३) परिणाम	(७) गति	(११) क्षेत्र	(१५) भाव
(४) संक्रम	(८) स्वामित्व	(१२) स्पर्शन	(१६) अल्प-बहुत्व

भगवती, प्रज्ञापना आदि आगमों में तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे लेश्या का जो विशद विवेचन किया गया है, उसे देख कर सहज ही यह विश्वास होता है कि जैन-आचार्य लेश्या-सिद्धान्त की प्रस्थापना के लिए दूसरे सम्प्रदायो के ऋणी नही हैं।

मनुष्य का शरीर पौद्गलिक है। जो पौद्गलिक होता है, उसमें रग अवश्य होते हैं। इसीलिए संभव है कि रगो के आधार पर वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति चली। महाभारत में चारों वर्णों के रग भिन्न-भिन्न बतलाए गए हैं। जैसे—ब्राह्मणों का रग श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रो का काला।[2]

जैन-साहित्य में चौबीस तीर्थङ्करो के भिन्न-भिन्न रंग बतलाए गए हैं। पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रंग लाल, चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त का रंग श्वेत, मुनि सुव्रत और अरिष्टनेमि का रग कृष्ण, मल्लि और पार्श्व का रग नील तथा शेष सोलह तीर्थङ्करों का रग सुनहला था।[3]

१—उत्तराध्ययन, ३४।५८-६०।

२—महाभारत, शान्तिपर्व, २८८।५ :

ब्राह्मणानां सितोवर्णः, क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः, शूद्राणामसितस्तथा॥

३—अभिधान चिन्तामणि, १।४९।

रंग-चिकित्सा के आधार पर भी लेश्या के सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है। रंगों की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग रंगों की समुचित पूर्ति होने पर मिट जाते हैं। यह उनका शारीरिक प्रभाव है। इसी प्रकार रंगों के परिवर्तन और मात्रा-भेद से मन भी प्रभावित होता है। इस प्रसंग में डॉ० जे० सी० ट्रस्ट की 'अणु और आत्मा' पुस्तक द्रष्टव्य है।

•

खण्ड-२

प्रकरण : पहला

कथानक संक्रमण

भगवान् महावीर का अस्तित्व-काल ई० पू० छठी-पाँचवीं शताब्दी (५२७-४५५) है। उस समय अनेक मत प्रचलित थे। सभी धर्म-प्रवर्तकों का अपना-अपना साहित्य था। उस साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) वैदिक-साहित्य

(२) जैन-साहित्य

(३) बौद्ध-साहित्य

(४) श्रमण-साहित्य

उस समय सभी सम्प्रदाय दो धाराओं में बँटे हुए थे—

(१) वैदिक

(२) श्रमण

वैदिक-सम्प्रदाय के अन्तर्गत वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करने वाले कई सम्प्रदाय थे। श्रमण-सम्प्रदाय मे जैन, बौद्ध, आजीवक, गैरिक, परिव्राजक आदि-आदि थे। वैदिक-मान्यता के प्रतिनिधि ग्रन्थ वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। कालानुक्रम से अनेक ऋषि-महर्षियो ने 'ब्राह्मण', 'आरण्यक', 'कल्पसूत्र' आदि की रचनाएँ कीं और वैदिक-साहित्य को अपनी उपलब्धियों से समृद्ध किया।

भगवान् महावीर की वाणी का संग्रह कर जैन-आचार्यों ने उसे 'अङ्ग' और 'अङ्ग-बाह्य' आगम के रूप में प्रस्तुत किया और इसे 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' की संज्ञा दी।

महात्मा बुद्ध के उपदेशों को संगृहीत कर बौद्ध मनीषियों ने उसे 'त्रिपिटक' की संज्ञा दी।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध से पूर्व जो वैदिकेतर-साहित्य था उसे श्रमण-साहित्य की श्रेणी में रखा गया। प्रो० ई० ल्यूमेन ने इसे 'परिव्राजक-साहित्य' कहा और डॉ० विन्टरनित्ज ने इसे 'श्रमण-साहित्य' (Ascetic literature) की संज्ञा दी।[1]

---

१. Some Problems of Indian Literature में 'Ascetic literature of ancient India', p. 21 (Calcutta University Press 1925).

इस श्रमण-साहित्य में भगवान् पार्श्व के चौदह पूर्वों तथा आजीवक आदि श्रमण-सम्प्रदायों के साहित्य का समावेश होता है। जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में इस प्राचीन 'श्रमण-साहित्य' की झाँकी उपलब्ध होती है।

डॉ० विन्टरनिट्ज ने लिखा है—"जैन-आगम-साहित्य में प्राचीन भारत के श्रमण-साहित्य का बहुत बड़ा भाग सन्निहित है। श्रमण-साहित्य का कुछ अंश बौद्ध-साहित्य तथा महाकाव्य और पुराणों में भी मिलता है।"[1]

प्रस्तुत चर्चा

उत्तराध्ययन के ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनकी तुलना बौद्ध साहित्य तथा महाभारत से होती है। पाठक के मन में सहज ही यह प्रश्न उभरता है कि इनमें पहले कौन? इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित साहित्य के रचना-काल का निर्णय करना आवश्यक है।

बौद्ध परिषदें

(१) प्रथम परिषद बुद्ध-परिनिर्वाण के चौथे मास में हुई। इस सभा की अध्यक्षता महाकाश्यप ने की और राजगृह में वैभारगिरि के उत्तर-भाग में स्थित सप्तपर्णी गुफा में इसकी कार्यवाही चली। इस सभा में भाग लेने वाले भिक्षुओं की संख्या ५०० के लगभग थी। महाकाश्यप, उपालि तथा आनन्द ने इसमें प्रधान रूप से भाग लिया। इस परिषद् के दो मुख्य परिणाम निष्पन्न हुए—

१—उपालि के नेतृत्व में 'विनय' का निश्चय।

२—आनन्द के नेतृत्व में 'धम्म' पाठ का निश्चय।

(२) दूसरी परिषद् बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली के बालुकाराम में हुई। इसमें सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। इस सभा में विनय-सम्बन्धी दस बातों का निर्णय किया गया और सात सौ भिक्षुओं ने महास्थविर रेवत के नेतृत्व में 'धम्म' का संकलन किया।

(३) तीसरी परिषद् बुद्ध-परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद अशोक के समय में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में हुई। इसके सभापति तिस्स मोग्गलिपुत्र थे। यह परिषद् ९ महीने तक चली और इसमें बुद्ध-वचनों का संगायन हुआ और तिस्स मोग्गलिपुत्त ने

१. The Jainas in the History of Indian Literature, p 9:
In the sacred texts of the Jainas a great part of the ascetic literature of ancient India is embodied which has also left its traces in Buddhist literature as well as in the Epics and puranas.

'कथावस्तु' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस परिषद् की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार के लिए अनेक प्रचारक संसार के विभिन्न भागों में भेजे गए। यहीं से बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार का इतिवृत्त प्रारम्भ हुआ।

(४) चौथी परिषद् लंका के राजा वट्टगामणि अभय (ई० पू० २९-१७) के समय में हुई। अशोक के समय में महेन्द्र तथा अन्य भिक्षु जिस त्रिपिटक को लंका ले गए थे, उसे ताडपत्रों पर लेख-बद्ध किया गया।[१]

महाभारत का रचना-काल

महर्षि व्यास ने अठारह पुराणों की रचना के पश्चात् 'भारत' की रचना की।[२] स्वयं व्यास ने भी इसका उल्लेख किया है।[३]

पारजीटर ने पुराण-काल की मीमांसा करते हुए उसको ईसा पूर्व ९वीं शताब्दी से ईसवी सन् की चौथी शताब्दी तक माना है।[४]

यह माना जाता है कि महाभारत-युद्ध ई० पू० ३१०१ में हुआ था और उसके लगभग एक शताब्दी बाद ही 'भारत' की रचना हो गयी थी।[५] जायसवाल ने महाभारत-युद्ध को ई० पू० १४२४ में तथा पारजीटर ने ई० पू० ९५० में माना है।[६] मूल 'भारत' में चौबीस हजार श्लोक थे।[७]

पाश्चात्य विद्वान् हॉपकिन्स[८], विन्टरनिट्ज[९], मेकडोनल[१०], विन्सेन्टस्मिथ[११], मोनियर

१—भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ८९-१००।

२—मत्स्यपुराण, ५३।७० :

अष्टादशपुराणानि, कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलं, चक्रे तदुपबृंहितम्॥

३—महाभारत, आदिपर्व, १।५४-६४।

४ Ancient Indian Historical Tradition, p. 334.

५—चिन्तामणि विनायक वैद्य : महाभारत मीमांसा, पृ० १४०,१५२।

६—देखिए—Ancient Indian Historical Tradition, p. 182 तथा Foot note No. 3.

७—महाभारत, आदिपर्व, १।१०२ :

चतुर्विंशतिसाहस्रीं, चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्, भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

८. Cambridge History of India, Vol 1, p. 258.

९. History of Indian literature, Vol 1, p. 465.

१०. Sanskrit literature, p. 285-87.

११. Oxford History of India, p. 33.

विलियम्स[1] आदि-आदि ने महाभारत का निर्माण-काल ई० पू० ५०० से ईसवी सन् की चौथी शताब्दी तक माना है।

चिन्तामणि विनायक वैद्य उपलब्ध महाभारत को सौति द्वारा परिवर्द्धित मानते हैं और उसके काल की सीमा ई० पू० २०० से ई० पू० ४०० तक मानते हैं।[2]

यह माना जाता है कि मूल 'भारत' में औपदेशिक सामग्री नहीं थी। वह एकान्तत: ऐतिहासिक ग्रन्थ था। आज जो उपदेश उसमें संकलित हैं, वह समय-समय पर जोड़ा गया है। उसका मौलिक अंश सारे ग्रन्थ का पाँचवाँ भाग मात्र था। यही मूल 'भारत' है। जैन-आगम अनुयोगद्वार (ई० सन् पहली शताब्दी) तथा नन्दी (ई० सन् तीसरी या पाँचवी शताब्दी) में भारत का नाम आया है। भारत का नाम 'जय' भी रहा है—ऐसी भी मान्यता है।[3]

महाभारत के तीन रूप मिलते हैं —

(१) मूल भारत में ८८००[4] या १२००० श्लोक थे। वैशम्पायन ने चौबीस हजार किए और अन्त में सौति ने शौनक को सुनाया। उस समय शौनक द्वादश वर्षीय यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने सौति से अनेक प्रश्न किए और सौति ने उन प्रश्नों का समाधान किया। उन सभी प्रश्नों और उत्तरों का इसमें समावेश कर दिया गया। 'भारत' की श्लोक संख्या एक लाख हो गई।

(२) रायचौधरी ने यह माना है कि मूल 'भारत' चौबीस हजार श्लोक का था। तदनन्तर उसमें अनेक उपाख्यान, प्रचलित साहित्य की बहुविध सामग्री आदि का प्रक्षेप होता रहा। यह प्रक्षेप लगभग ईसा सन् की पाँचवी शताब्दी तक होता रहा है।[5]

(३) आर० सी० मजुमदार ने माना है कि महाभारत किसी एक व्यक्ति या एक काल की रचना नहीं है। यह ईसा पूर्व दूसरी से चौथी शताब्दी की रचना होनी चाहिए। ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी तक इसमें प्रक्षेप होते रहे हैं।[6]

१–Indian Wisdom, p 317.

२–महाभारत मीमांसा, पृ० १४०-१५२।

३–महाभारत:

(क) 'जयो नामेतिहासोऽयम्'।

(ख) प्रथम एवं अन्य अनेक पर्वों का प्रारम्भ इस श्लोक से होता है—

नारायणं नमस्कृत्य, नरं चैव नरोत्तमम्।
देवी सरस्वती व्यासं, ततो जयमुदीरयेत्॥

४–महाभारत, आदिपर्व, १।८१ :

अष्टौ श्लोकसहस्राणि, अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति, संजयो वेत्ति वा न वा॥

५. Studies in Indian Antiquities, p. 281-282.

६. Ancient India, p. 195.

जैन आगम-वाचनाएँ

वीर-निर्वाण से लगभग एक सहस्राब्दी के मध्य में आगम-संकलन की पाँच वाचनाएँ हुई —

पहली वाचना—वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी (वी० नि० के १६० वर्ष बाद) मे पाटलिपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पडा। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए। अन्यान्य अनेक दुविधाओ के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नही हो सका। अत आगम-ज्ञान की शृङ्खला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा। उस काल मे विद्यमान अनेक विशिष्ट आचार्य पाटलिपुत्र मे एकत्रित हुए। ग्यारह अङ्ग एकत्रित किए। उस समय बारहवें अङ्ग 'दृष्टिवाद' के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल मे 'महाप्राण-ध्यान' की साधना कर रहे थे। संघ के विशेष निवेदन पर उन्होंने मुनि स्थूलभद्र को बारहवें अङ्ग की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलभद्र मुनि अध्ययन मे संलग्न हो गए। उन्होंने 'दस पूर्व' अर्थ सहित सीख लिए। 'ग्यारहवे पूर्व की वाचना चालू थी। बहिनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बनाया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। आगे वाचना बन्द कर दी। फिर विशेष आग्रह करने पर अन्तिम 'चार पूर्वो'' की वाचना दी। किन्तु अर्थ नहीं बताया। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। स्थूलभद्र शाब्दिक-दृष्टि से चौदह-पूर्वी हुए, किन्तु आर्थी-दृष्टि से दस-पूर्वी ही रहे।

दूसरी वाचना—आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य मे हुआ। चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था। उसके सुप्रसिद्ध हाथीगुम्फा अभिलेख में यह उपलब्ध होता है कि उसने उडीसा के कुमारी पर्वत पर जैन-श्रमणो का एक संघ बुलाया और मौर्यकाल मे जो अङ्ग उच्छिन्न हो गए थे, उन्हें उपस्थित किया।[1]

तीसरी वाचना—आगम-संकलन का तीसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्यकाल मे हुआ।

उस काल में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पडा। भिक्षा मिलना अत्यन्त दुष्कर हो गया। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा में दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवगत हो गए। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन, अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत का नाश हुआ।

1. Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol. XIII, p. 236.

अङ्ग और उपाङ्गों का अर्थ से ह्रास हुआ। उसका भी बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के इस दुर्भिक्ष के बाद श्रमण-संघ स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्रित हुआ। अनेक-अनेक श्रमण उसमें सम्मिलित हुए। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना स्मृति में था, उसका अनुसंधान किया। इस प्रकार 'कालिक सूत्र' और 'पूर्वगत' के कुछ अंश का संकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे 'माथुरी वाचना' कहा गया। युग-प्रधान आचार्य स्कन्दिल ने उस संकलित-श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी, अत वह अनुयोग 'स्कन्दिली वाचना' भी कहलाया।

मतान्तर के अनुसार यह भी माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किंचिद् भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था। किन्तु आचार्य स्कन्दिल के अतिरिक्त शेष सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में पुन अनुयोग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उसे 'माथुरी वाचना' कहा गया और वह सारा अनुयोग स्कन्दिल सम्बन्धी गिना गया।[1]

चौथी वाचना—इसी समय (वीर-निर्वाण सं० ८२७-८४०) वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। किन्तु श्रमण बीच-बीच में बहुत कुछ भूल चुके थे। श्रुत की सम्पूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाय इसलिए जो कुछ स्मृति में था, उसे संकलित किया। उसे 'वल्लभी वाचना' या 'नागार्जुनीय वाचना' कहा गया।

पाँचवीं वाचना—वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में पुन श्रमण-संघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था। किन्तु एकत्रित मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित जो कुछ स्मृति थी, उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कण्ठगत आगमों को एकत्रित कर उन्हें एकरूपता देने का प्रयास किया गया। भगवान् महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहाँ-जहाँ समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें संक्षिप्त कर एक-दूसरे का पूर्ति-संकेत एक-दूसरे आगम में कर दिया गया। यह वाचना वल्लभी नगर में हुई, अतः इसे 'वल्लभी वाचना' कहा गया है।

१—(क) नंदी चूर्णि, पृ० ८।

(ख) नंदी, गाथा ३३, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ५१।

सदृश कथानक

बौद्ध-ग्रन्थों, महाभारत तथा जैन-ग्रन्थो में अनेक कथानक आंशिक रूप से समान मिलते हैं। उत्तराध्ययन मे ऐसे अनेक कथानक हैं, जो बौद्ध ग्रन्थों तथा महाभारत में भी उपलब्ध हैं। जैसे—

(१) उत्तराध्ययन अध्ययन १२ की कथावस्तु जातक ४९७ में।

(२) उत्तराध्ययन अध्ययन १३ की कथावस्तु जातक ४९८ में।

(३) उत्तराध्ययन अध्ययन १४ की कथावस्तु जातक ५०९ में तथा महाभारत, शान्तिपर्व, अध्ययन १७५ एवं २७७ मे।

(४) उत्तराध्ययन अध्ययन ९ की आंशिक तुलना जातक ५३९ तथा महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १७८ एवं २७६ से होती है।

अब हम जैन, बौद्ध तथा वैदिक प्रसगो को अविकल प्रस्तुत करते हुए उनकी समीक्षा करेंगे।

हरिकेशबल (अध्ययन १२)

मथुरा नगरी मे राजा शङ्ख राज्य करते थे। उन्होंने स्थविर मुनियों के पास धर्म सुना। मन वैराग्य से भर गया। वे मुनि बने। कालक्रम से गीतार्थ हुए। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए हस्तिनापुर आए और भिक्षा के लिए नगर की ओर चले। ग्राम प्रवेश के दो मार्ग थे। एक का नाम हुताशन-मार्ग था। वह अत्यन्त उष्ण और जलते अंगारों जैसा था। उष्णकाल मे उस मार्ग से कोई नही आ-जा सकता था। जो कोई अनजान मे उस मार्ग की ओर चला जाता, वह मर जाता था। मुनि ने निकट के एक मकान के गवाक्ष में बैठे सोमदेव ब्राह्मण से पूछा—"क्या मैं इस मार्ग से चला जाऊं?" ब्राह्मण यह सोच कर कि इस हुताशन-मार्ग से जाते हुए मुनि को हम जलता देख सकेंगे, कहा—"हाँ, आप इसी मार्ग से जाइए।"

मुनि निश्छल-भाव से उसी मार्ग से चल पड़े। वे लब्धि-सम्पन्न थे। उनके पाद-स्पर्श से मार्ग ठण्डा हो गया। ब्राह्मण ने मुनि को शान्त-भाव से धीरे-धीरे जाते देखा और वह भी उसी मार्ग से चल पडा। मार्ग को बर्फ जैसा ठण्डा देख उसने सोचा—अहो! मैं पापी हूँ। अशुभ संकल्प से मैंने पापाचरण किया है। मुनि महान् हैं। इन्हीं के प्रभाव से यह अग्नि-जैसा मार्ग भी हिम-स्पर्श वाला हो गया है। वह मुनि के समीप गया। भाव-युक्त प्रणाम कर बोला—"भगवन्! मैं पापी हूँ। मैंने पाप-कर्म किया है। उससे कैसे छुटकारा पा सकता हूँ।" मुनि ने संसार की असारता का उपदेश दिया, कषाय का विपाक बताया, धर्मानुष्ठान के फल का निरूपण किया, निर्वाण-सुख की प्रशंसा की और श्रमण-धर्म एवं

उसके आधारभूत सम्यक्त्व की शिक्षा दी। सोमदेव में विरक्ति के भाव जगे। वह मुनि बन गया। उसने धर्म-शिक्षा ग्रहण की और श्रामण्य का पालन करने लगा। किन्तु "मैं उत्तम जातीय हूँ"—यह जाति-गर्व उसमें बना रहा। वह रूप, ऐश्वर्य आदि का भी मद करने लगा। वह नहीं सोचता था कि संसार मे ऐसी क्या वस्तु है जिस पर गर्व किया जाय। जो कुछ शुभ या अशुभ होता है, वह सब कर्मों के प्रभाव से होता है। कहा भी है—

सुरो वि कुक्कुरो होइ, रंको राया वि जायए।
दिओ वि होइ मायंगो, संसारे कम्मदोसओ ॥
न सा जाई न सा जोणी, न त ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुया जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो ॥

—कर्म के प्रभाव से देव कुक्कुर बन जाता है, रंक राजा हो जाता है, ब्राह्मण मातंग हो जाता है। ऐसी कोई भी जाति या योनि नहीं है, ऐसा कोई भी स्थान या कुल नहीं है, जहाँ जीव न मरा हो या उत्पन्न न हुआ हो।

उत्तमत्तं गुणेहि चेव पाविज्जई ण जाईए।

—उत्तमता गुणों से प्राप्त होती है, जाति से नहीं।

सोमदेव मर कर देव बना। देवता का आयुष्य पूरा कर वह वहाँ से च्युत हुआ। मृत गंगा नदी के तट पर बलकोट्ट नामक हरिकेश रहते थे। उनके अधिपति का नाम बलकोट्ट था। उसके दो पत्नियाँ थीं—गौरी और गंधारी। सोमदेव का जीव गौरी के गर्भ मे पुत्र रूप में आया। गौरी ने स्वप्न मे वसन्तऋतु और फले-फूले आम वृक्ष को देखा। स्वप्न-शास्त्रियों ने कहा—"तुम एक विशिष्ट पुत्र को जन्म दोगी।" नौ मास बीते। उसने पुत्र को जन्म दिया। पूर्व भव के जाति-मेद के कारण वह अत्यन्त कुरूप और काला था। बलकोट्टों मे उत्पन्न होने के कारण उसका नाम 'बल' रखा गया। वह अत्यन्त क्रोधी था।

बसन्तोत्सव का समय था। सभी लोग उत्सव मे मग्न थे। लोग भोज मे भोजन कर रहे थे। सुरापान चल रहा था। लोगों ने बालक 'बल' को अप्रियकारी और क्रोधी मान अपने समूह से अलग कर दिया। वह दूर जा खड़ा हो गया और उत्सव को देखने लगा। इतने में ही एक भयंकर सर्प निकला। सहसा सभी उठ खड़े हुए और सर्प को मार डाला। कुछ ही क्षणों बाद एक निर्विष सर्प निकला। लोग भयभीत हो उठे। उसे निर्विष समझ छोड़ दिया। बल ने सोचा—"प्राणी अपने ही दोषों से दुःख पाता है। सर्प

सविष था, वह अपने ही दोष से मारा गया। निर्विष सर्प को लोगों ने छोड़ दिया। कहा है—

> भद्दएणेव होयव्वं, पावति भद्दाणि भद्दओ।
> सविसो हम्मति सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चति॥

—प्राणी को भद्रक होना चाहिए। भद्रक व्यक्ति को सर्वत्र सुख मिलता है। सर्प सविष होने के कारण मारा जाता है और भेरुंड निर्विष होने के कारण नहीं मारा जाता।

> नियगुणदोसेहिं संपय-विवयाओ होंति पुरिसाणं।
> ता उज्झिऊण दोसे, एण्हि पि गुणे पयासेमि॥

—मनुष्य अपने ही गुणो से संपदाओ को अर्जित करता है और अपने ही दोषो से विपत्तियाँ पाता है। अत मैं दोषो को छोड़ कर गुणो को प्रकट करूँगा।"

चिन्तन आगे बढा। जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जाति-मद के विपाक का चित्र सामने आया। विरक्ति के भाव उमड़े। साधु के समक्ष धर्म सुना और प्रव्रजित हो गया।

मुनि हरिकेशबल साधु-धर्म को स्वीकार करके घोर तपस्या करने लगे। तपस्या से सारा शरीर सूख गया। एक बार वे वाराणसी आए। तेंदुक उद्यान में ठहरे। वहाँ 'गंडोतिंदुग' यक्ष का मदिर था। वह यक्ष मुनि की उपासना करने लगा। एक बार एक दूसरा यक्ष वहाँ आया और गडीतिंदुग यक्ष से पूछा—"आज कल दिखाई नहीं देते ?" उसने कहा—"ये महात्मा मेरे उद्यान मे ठहरे है। सारा दिन इनकी ही उपासना में बीतता है।" वह आगन्तुक यक्ष मुनि के चरित्र से प्रतिबुद्ध हुआ और बोला—"मित्र ! ऐसे मुनि का सान्निध्य पाकर तुम कृतार्थ हो। मेरे उद्यान में भी कतिपय मुनि ठहरे हैं। चलो, उन्हे वंदना कर आएँ।" दोनो यक्ष वहाँ गए। उन्होंने देखा कि अनेक साधु विकथाएँ कर रहे हैं। कई स्त्री-कथा मे, कई जनपद-कथा मे आसक्त हैं। उनका मन खिन्न हो गया। वे मुनि हरिकेशबल में अनुरक्त हो गए। कुछ काल बीता।

एक बार वाराणसी के राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा यक्ष की पूजा करने अपने दासियो के साथ वहाँ आई। यक्ष की पूजा कर वह प्रदक्षिणा करने लगी। अचानक ही उसकी दृष्टि ध्यानलीन मुनि पर जा टिकी। उनके मैले कपड़े, तपस्या से कृश तथा रूप-लावण्य रहित शरीर को देख उसके मन मे घृणा हो आई। आवेश में आ उसने मुनि पर थूक डाला। यक्ष ने यह देखा। उसने सोचा—यह पापिनी है। इसने मुनि की अवहेलना की है। वह यक्ष उसके शरीर मे प्रविष्ट हो गया। कुमारी पागल की तरह बकने लगी। दासियाँ ज्यों-त्यों उसे राजमहल में ले गईं। राजा ने कुमारी की अवस्था

देखी। वह अत्यन्त विचलित हो गया। उसने उपचार के लिए गारुडिक आदि बुलाए। वैद्य भी आए। उपचार प्रारम्भ हुआ। कुछ भी लाभ नहीं हुआ। तांत्रिक तथा यांत्रिकों ने प्रयास किया। वह भी निष्फल रहा। राजा की आकुलता बढी। यक्ष ने कहा—"इस कुमारी ने साधु की अवहेलना की है। यदि इसका पाणिग्रहण उसी मुनि के साथ किया जाय तो मैं इसे छोड सकता हूँ, अन्यथा नही।" राजा ने कुमारी के जीवित रहने की आशा से यक्ष की बात स्वीकार कर ली।

कुमारी को विवाह के उपयुक्त वस्त्र और आभूषण पहनाए गए। राजा विवाह की समस्त सामग्री ले यक्ष-मन्दिर मे पहुँचा। मुनि को वन्दना की और प्रार्थना के स्वरों में कहा—"महर्षे! मेरी कन्या को स्वीकार करो।" मुनि ने कहा—"राजन्! मैं मुमुक्षु हूँ। ऐसी बातें यहाँ नहीं करनी चाहिए। जो मुनि एक वसति मे स्त्री के साथ भी नही रहते, वे भला स्त्री के साथ पाणिग्रहण कैसे करेंगे? मुनि मोक्ष के इच्छुक होते है। वे शाश्वत सुख को चाहते हैं। वे भला स्त्रियो में कैसे आसक्त हो सकते हैं?"

कन्या को मुनि-चरणो में छोड़ राजा अपने स्थान पर आ गया। यक्ष का द्वेष उभर आया। उसने मुनि को आच्छन्न कर कभी दिव्य रूप और कभी मुनि रूप बना कर उसे ठगा। वह रात भर ऐसा ही करता रहा। प्रभात हुआ। कन्या ने पूर्व-घटित घटना को स्वप्न मात्र माना। वह अकेली अपने पिता के पास पहुँची। रात को सारी बात उनसे कही। यह सुन कर पुरोहित रुद्रदेव ने कहा—"राजन्! यह ऋषि-पत्नी है। ऋषि के द्वारा त्यक्त होने के कारण वह ब्राह्मण की सम्पत्ति हो जाती है। आप इसे किसी ब्राह्मण को दे दें।" राजा ने उसे ही वह कन्या सौंप दी। वह उसके साथ विषय-भोग करता हुआ रहने लगा। कुछ काल बीता। पुरोहित ने यज्ञ किया। भद्रा को यज्ञ-पत्नी बनाया। उस यज्ञ में भाग लेने के लिए दूर-दूर से विद्वान् बुलाए गए। उन सबके लिए प्रचुर भोजन-सामग्री एकत्रित की गई।

उस समय मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणे के दिन वे भिक्षा के लिए घर-घर घूमते हुए उसी यज्ञ-मण्डप में जा पहुँचे।[1]

वह तप से कृश हो गये थे। उनके उपधि और उपकरण प्रान्त (जीर्ण और मलिन) थे। उसे आते देख, वे अनार्य (ब्राह्मण) हँसे।

जाति-मद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणों ने परस्पर इस प्रकार कहा—

"बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल और बडी नाक वाला, अधनंगा, पांशु-पिशाच

१—सुखबोधा, पत्र १७३-१७५।

(चुडैल) सा, गले में संकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथडा) डाले हुए वह कौन आ रहा है ?

"ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? किस आशा से यहाँ आए हो ? अधनंगे तुम पांसु-पिशाच (चुडैल) से लग रहे हो। जाओ, आँखों से परे चले जाओ ! यहाँ क्यों खडे हो ?"

उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकम्पा करने वाला तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर मे प्रवेश कर इस प्रकार बोला—

"मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, धन व पचन-पाचन और परिग्रह से विरत हूँ। यह भिक्षा का काल है। मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहाँ आया हूँ।

"आपके यहाँ पर यह बहुत सारा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। मैं भिक्षा-जीवी हूँ, यह आपको ज्ञात होना चाहिए। अच्छा ही है कुछ बचा भोजन इस तपस्वी को मिल जाए।"

सोमदेव ने कहा—"यहाँ जो भोजन बना है, वह केवल ब्राह्मणो के लिए ही बना है। वह एक-पाक्षिक है—अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान हम तुम्हें नहीं देंगे, फिर यहाँ क्यो खडे हो ?"

यक्ष ने कहा—"अच्छी उपज की आशा से किसान जैसे स्थल (ऊँची भूमि) में बीज बोते हैं, वैसे ही नीची भूमि में बोते हैं। इसी श्रद्धा से (अपने आपको निम्न भूमि और मुझे स्थल तुल्य मानते हुए भी तुम) मुझे दान दो, पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नही जाएगा।"

सोमदेव ने कहा—"जहाँ बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते हैं, वे क्षेत्र इस लोक मे हमें ज्ञात हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं, वे ही पुण्य क्षेत्र हैं।"

यक्ष ने कहा—"जिनमें क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है—वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-विहीन और पाप-क्षेत्र हैं।

"हे ब्राह्मणो ! इस संसार मे तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदों को पढ कर भी उनका अर्थ नही जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरों में भिक्षा के लिए जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

सोमदेव ने कहा—"ओ ! अध्यापको के प्रतिकूल बोलने वाले साधु ! हमारे समक्ष तू क्या बढ-बढ कर बोल रहा है ? हे निर्ग्रन्थ ! यह अन्न-पान भले ही सड कर नष्ट हो जाए, किन्तु तुझे नहीं देंगे।"

यक्ष ने कहा—"मैं समितियों से समाहित, गुप्तियो से गुप्त और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नहीं दोगे, तो इन यज्ञों का आज तुम्हें क्या लाभ होगा ?"

सोमदेव ने कहा—"यहाँ कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे और फल से पीट, गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहाँ से बाहर निकाले ?'

अध्यापकों का वचन सुन कर बहुत से कुमार उधर दौडे। वहाँ आ डण्डो, बेंतों और चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे।

राजा कौशलिक की सुन्दर पुत्री भद्रा यज्ञ-मण्डप मे मुनि को प्रताडित होते देख क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने लगी।

भद्रा ने कहा—"राजाओ और इन्द्रो से पूजित यह वह ऋषि है, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित होकर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नही चाहा।

"यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिए जाने पर भी नही चाहा।

"यह महान् यशस्वी है। महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है। इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलनीय नही है। कही यह अपने तेज से तुम लोगो को भस्मसात् न कर डाले ?"

सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के सुभाषित वचनो को सुन कर यक्षों ने ऋषि का वैयावृत्य (परिचर्या) करने के लिए कुमारो को भूमि पर गिरा दिया।

वे घोर रूप वाले यक्ष आकाश मे स्थिर होकर उन छात्रो को मारने लगे। उनके शरीरों को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

"जो इस भिक्षु का अपमान कर रहे हैं, वे नखो से पर्वत खोद रहे हैं, दाँतो से लोहे को चबा रहे हैं और पैरों से अग्नि को प्रताडित कर रहे हैं।

"यह महर्षि आशीविष-लब्धि से सम्पन्न है। उग्र तपस्वी है। घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। जो भिक्षा के समय भिक्षु का वध कर रहे हैं, वे पतग-सेना की भाँति अग्नि मे झंपापात कर रहे हैं।

"यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिल कर सिर झुका कर इस मुनि की शरण में आओ। कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है।"

उन छात्रो के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएँ फैल गईं। वे निष्क्रिय हो गए। उनकी आँखें खुली की खुली रह गईं। उनके मुँह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुँह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहर निकल आए।

उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और घबराया हुआ अपनी पत्नी सहित मुनि के पास आ उन्हें प्रसन्न करने लगा—"भन्ते ! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करें।

"भन्ते ! मूढ़ बालकों ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करें। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नही किया करते।"

मुनि ने कहा—"मेरे मन में कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किन्तु यक्ष मेरा वैयावृत्य कर रहे हैं। इसीलिए ये कुमार प्रताडित हुए।"

सोमदेव ने कहा—"अर्थ और धर्म को जानने वाले भूति-प्रज्ञ (मंगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नही करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणो की शरण ले रहें हैं।

"महाभाग ! हम आपकी अर्चा करते हैं। आपका कुछ भी ऐसा नही है, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनो से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन ले कर खाइए।

"मेरे यहाँ यह प्रचुर भोजन पडा है। हमे अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएँ।"

महात्मा हरिकेशबल ने हाँ भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान किया।

देवो ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य धन की वर्षा की। आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहो दानम्' (आश्चर्यकारी दान)—इस प्रकार का घोष किया।

यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है। जो ऐसी महान् अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

मुनि ने कहा—"ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए तुम बाहर से (जल से) शुद्धि की क्या माँग कर रहे हो ? जिस शुद्धि की बाहर से माँग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सुदृष्ट (सम्यग्दर्शन) नही कहते।

"दर्भ, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करते हुए, संध्या और प्रातःकाल मे जल का स्पर्श करते हुए, प्राणो और भूतों की हिंसा करते हुए, मंद-बुद्धि वाले तुम बार-बार पाप करते हो।"

सोमदेव ने कहा—"हे भिक्षो ! हम कैसे प्रवृत्त हों ? यज्ञ कैसे करें ? जिससे पाप-कर्मों का नाश कर सकें। यक्ष-पूजित सयत ! आप हमें बताएँ—कुशल पुरुषों ने सुइष्ट (श्रेष्ठ-यज्ञ) का विधान किस प्रकार किया है ?"

मुनि ने कहा—"मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नहीं करते ; असत्य और चौर्य का सेवन नही करते ; परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग कर के विचरण करते हैं।

"जो पाँच संवरों से सुसंवृत्त होता है, जो असंयम-जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।"

सोमदेव ने कहा—"भिक्षो! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है? तुम्हारे घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से हैं? तुम्हारे ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं? और किस होम से तुम ज्योति को हुत (प्रीणित) करते हो?"

मुनि ने कहा—"तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) घी डालने की करछियाँ है। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि प्रशस्त (अहिंसक) होम करता हूँ।"

सोमदेव ने कहा—"आपका नद (जलाशय) कौन सा है? आपका शान्ति-तीर्थ कौन-सा है? आप कहाँ नहा कर कर्म-रज धोते हैं? हे यक्ष-पूजित संयत! हम आपसे जानना चाहते हैं—आप बताइए।"

मुनि ने कहा—"अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा नद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है। जहाँ नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रज का त्याग करता हूँ।

"यह स्नान, कुशल पुरुषो द्वारा दृष्ट है। यह महा स्नान है। अत ऋषियों के लिए यही प्रशस्त है। इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध हो कर उत्तम-स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए।'

—उत्तराध्ययन १२।४-४७।

मातङ्ग जातक

क. वर्तमान कथा

उस समय आयुष्मान पिण्डोल-भारद्वाज जेतवन से आकाश-मार्ग से जा बहुत करके कोसाम्बी में उदयन-नरेश के उद्यान में ही दिन बिताने के लिए जाते। पूर्व-जन्म मे स्थविर ने राज्य करते हुए दीर्घकाल तक उसी उद्यान में बड़ी मण्डली के साथ सम्पत्ति का मजा लूटा था। वह उस पूर्व (जन्म के) परिचय के कारण वहीं दिन बिताने के लिए रह, फलसमापत्ति सुख मे समय बिताते। एक दिन जब वह सुपुष्पित शालवृक्ष के नीचे आकर बैठे थे, उदयन सप्ताह भर महान पान पी 'उद्यान-क्रीड़ा खेलने के लिए' बड़ी मण्डली के साथ उद्यान पहुंचा और मंगल शिला पर एक स्त्री की गोद मे लेटा-लेटा

शराब के नशे के कारण सो गया। जो स्त्रियाँ बैठी गा रही थी उन्होंने वाद्य छोड़े और उद्यान जा फल-फूल चुनने लगीं। जब उन्होने स्थविर को देखा तो जाकर प्रणाम कर बैठी। स्थविर बैठे धर्म-कथा कह रहे थे। उस स्त्री ने भी देह हिलाकर राजा को जगा दिया। उसने पूछा—"वे चण्डालनियाँ कहाँ गई ?" उत्तर दिया—"एक श्रमण को घेर कर बैठी हैं।" वह गुस्सा हुआ और जाकर स्थविर को बुरा भला कहा। फिर 'अच्छा, श्रमण को लाल चीटियों से कटवाता हूँ' कह स्थविर के शरीर पर लाल चींटों का बोना छुड़वा दिया। स्थविर ने आकाश मे खड़े हो उसे उपदेश दिया। फिर जेतवन में गन्धकुटी के द्वार पर ही उतरे। तथागत ने पूछा—कहाँ से आये ? वह समाचार कहा। शास्ता ने 'भारद्वाज ! न केवल अभी उदयन प्रव्रजितो को कष्ट देता है, इसने पूर्वजन्म में दिया ही है' कह उसके प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय मे वाराणसी मे ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व नगर के बाहर चाण्डाल-योनि में पैदा हुए। उनका नाम रखा गया मातङ्ग। आगे चल कर बड़े होने पर मातङ्ग-पण्डित नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस समय वाराणसी सेठ की एक लड़की (दिट्ठमगलिका) शकुन मानने वाली थी। वह एक-दो महीने मे एक बार बड़ी मण्डली के साथ बाग मे उद्यान-क्रीड़ा के लिए जाती। एक दिन बोधिसत्व किसी काम से नगर मे जा रहे थे। बोधिसत्व ने नगर में प्रवेश करते समय नगर-द्वार के भीतर दिट्ठमङ्गलिका को देखा। वह एक ओर जा, लग कर खड़ा हुआ। दिट्ठमङ्गलिका ने कनात मे से देख कर पूछा—"यह कौन है ?"

"आर्य्ये ! चाण्डाल है।"

"न देखने योग्य दृश्य दिखाई देते हैं" कह उसने सुगन्धित जल से आँखें धोईं और लौट पड़ी ! उसके साथ आए हुए आदमी गुस्से में भर कर बोले—"रे दुष्ट चाण्डाल ! आज तेरे कारण हमारी मुफ्त की शराब और भोजन जाता रहा।" वे मातङ्ग-पण्डित को हाथों और पाँव से पीट कर बेहोश करके गये। थोड़ी देर में जब उसे होश आया तो उसने सोचा—दिट्ठमङ्गलिका के आदमियों ने मुझ निर्दोष को अकारण पीटा है, अब मुझे दिट्ठमङ्गलिका मिलेगी तभी उठूँगा, नही मिलेगी तो नही उठूँगा। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर वह जाकर उसके पिता के निवास-स्थान के द्वार पर पड़ रहा। उसने पूछा—"क्यो पड़ा है ?"

"और कोई कारण नहीं, मुझे दिट्ठमङ्गलिका चाहिए।" एक दिन बीता, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां तथा छठा दिन बीता। बोधिसत्वो का संकल्प पूरा होता ही है,

इसलिए सातवें दिन दिट्ठमङ्गलिका बाहर कर उसे दे दी गई। वह बोली—"स्वामी उठें। आपके घर चलें।"

"भद्रे ! तेरे आदमियों ने मुझे अच्छी तरह पीटा है, मैं दुर्बल हूँ। मुझे उठा कर पीठ पर चढा कर ले चल।" उसने वैसा किया और नगरवासियो के सामने ही नगर से निकल चण्डाल-ग्राम को गई। बोधिसत्व ने जाति-भेद की मर्य्यादा को अक्षुण्ण रखते हुए उसे कुछ दिन घर मे रखा। फिर सोचा—'मैं केवल प्रव्रजित होकर ही इसे श्रेष्ठ लाभ तथा यश प्राप्त करा सकूँगा, और किसी उपाय से नही।" उसने उसे बुला कर कहा—"भद्रे ! मैं यदि जंगल से कुछ न लाऊगा तो हमारी जीविका नही चलेगी। मेरे आने तक घबराना नही। मैं जंगल जाऊँगा।" घर वालो को भी उसने उसका ख्याल रखने के लिए कहा। जगल पहुँच उसने श्रमण-प्रव्रज्या ग्रहण की और अप्रमादी रह सातवें दिन आठ समापत्तियों और पाँच अभिज्ञा प्राप्त की। 'अब दिट्ठमङ्गलिका का सहारा बन सकूँगा' सोच वह ऋद्धि-बल से जाकर चण्डाल-ग्राम के द्वार पर उतरा और दिट्ठमङ्गलिका के घर के द्वार पर पहुँचा। उसका आना सुनकर वह बाहर निकली और रोने-पीटने लगी—"स्वामी ! मुझे अनाथ करके क्यो प्रव्रजित हो गये ?"

"भद्रे ! चिन्ता मत कर। तेरी पूर्व सम्पत्ति से भी अधिक सम्पत्ति वाली बनाऊँगा। लेकिन क्या तू परिषद के बीच में इतना कह सकेगी कि मेरा स्वामी मातङ्ग नही है, महा ब्रह्मा है ?"

"स्वामी ! हाँ कह सकूँगी।"

"तो अब यदि कोई पूछे कि तेरा स्वामी कहाँ है, तो कहना ब्रह्मलोक गया है ? "कब आयेगा ?" पूछे तो उत्तर देना कि आज से सातवें दिन पूर्णिमा के चन्द्रमा को तोड कर आयेगा। उसे यह कह वह हिमालय को ही चला गया। दिट्ठमङ्गलिका ने भी बाराणसी में परिषद के बीच जहाँ तहाँ वैसे ही कहा। लोगो ने विश्वास कर लिया—"वह महा ब्रह्मा है, इसलिए दिट्ठमङ्गलिका के पास नहीं जाता है, यह ऐसा होगा।" बोधिसत्व ने भी पूर्णिमा के दिन जब चन्द्रमा अपने माग के मध्य मे था, ब्रह्मा का रूप धारण कर सारे काशी राष्ट्र तथा बारह योजन की वाराणसी को एक-प्रकाश कर, चन्द्रमा को फोड नीचे उतर, वाराणसी के ऊपर तीन बार चक्कर काटा। वह जनता द्वारा गन्ध माला आदि से पूजित हो चण्डाल-ग्राम की ओर गया। ब्रह्म-भक्तों ने इकट्ठे हो चण्डाल-ग्राम पहुँच, दिट्ठमङ्गलिका का घर शुद्ध वस्त्रो से छा दिया। भूमि को चार प्रकार की सुगन्धियों से लीप दिया। फूल बिखेर दिये। धूनी दी। वस्त्रों का चंदवा तान महाशयन बिछाया। सुगन्धित प्रदीप जला द्वार पर चाँदी के वर्ण की बालू बिखेरी। फूल बिखेरे और ध्वजायें बाँधी। इस प्रकार के अलंकृत घर में बोधिसत्व उतरे

और अन्दर आकर थोड़ी देर शय्या पर बैठे। उस समय दिट्ठमङ्गलिका ऋतुवती थी, उसने अंगूठे से उसकी नाभि को छू दिया। उससे उसकी कोख में गर्भ प्रतिष्ठित हो गया। बोधिसत्व ने उसे सम्बोधित कर कहा—"भद्रे! तुझे गर्भ रह गया है। तुझे पुत्र होगा। तू और तेरा पुत्र भी श्रेष्ठ लाभ तथा यश को प्राप्त होंगे। तेरा चरणोदक सारे जम्बुद्वीप के राजाओं के लिए अभिषेक-जल होगा। तेरे नहाने का जल अमृतौषध होगा, जो इसे सिर पर छिड़केंगे वे सर्वदा के लिए रोग मुक्त हो जायेंगे। मनहूस (प्राणी) से बचेंगे। तेरे चरणों में सिर रख कर प्रणाम करने वाले हजार देकर प्रणाम करेंगे, उसी प्रकार सुनाई देने की सीमा के अन्दर खड़े होकर प्रणाम करने वाले सौ देंगे, दिखाई देने की सीमा के अन्दर खड़े होकर प्रणाम करने वाले एक कार्षापण देकर प्रणाम करेंगे। अप्रमादी होकर रहो।" इस प्रकार उसे उपदेश दे, घर से निकल जनता की आँखों के ही सामने ऊपर उठ चन्द्र-मण्डल में प्रवेश किया। ब्रह्म-भक्तों ने इकट्ठे हो खड़े ही खड़े रात बिता दी। प्रातःकाल ही दिट्ठमङ्गलिका को सोने की पालकी में बिठा उन्होंने उसे सिर पर उठाया और नगर में ले गये। महाब्रह्मा की भार्य्या है समझ जनता ने सुगन्धित माला आदि से उसकी पूजा की। जिन्हें चरणों में सिर रख कर प्रणाम करना मिलता वे हजार देते, जो सुनाई देने की सीमा के अन्दर खड़े हो प्रणाम करते वे सौ देते, जो दिखाई देने की सीमा के अन्दर खड़े हो प्रणाम करते वे एक कार्षापण देते। इस प्रकार बारह योजन की वाराणसी में लेकर घूमने से अट्ठारह करोड़ धन प्राप्त किया।

फिर नगर की परिक्रमा कर नगर के बीच में महामण्डप बनवाया और कनात तनवा कर बड़े ठाट-बाट के साथ उसे वहाँ बसाया। मण्डप के पास ही सात द्वार-कोठों वाला तथा सात तल्लों वाला प्रासाद बनवाया जाने लगा। भवन निर्माण का बड़ा भारी कार्य्य आरम्भ हुआ। दिट्ठमङ्गलिका ने मण्डप में ही पुत्र को जन्म दिया।

उसके नाम-करण के दिन ब्राह्मणों ने इकट्ठे होकर मण्डप में पैदा होने के कारण मण्डव्य कुमार ही नाम रखा। प्रासाद दस महीने में समाप्त हुआ। तब से वह बड़े ऐश्वर्य्य के साथ रहने लगी। मण्डव्य कुमार भी बड़ी शान के साथ बड़ा होने लगा। जब यह सात-आठ वर्ष का हुआ तभी जम्बुद्वीप में उत्तमाचार्य्य इकट्ठे हुए। उन्होंने उसे तीनों वेद पढ़ाये। सोलह वर्ष की आयु होने पर उसने ब्राह्मणों का भोजन बाँध दिया। सोलह हजार ब्राह्मण नियमित भोजन करते। चौथे द्वार-कोठे पर ब्राह्मणों को दान दिया जाता था।

एक दिन बड़े उत्सव के दिन बहुत-सी खीर पकवाई गई। सोलह हजार ब्राह्मण चौथे द्वार-कोठे में बैठ स्वर्ण-वर्ण घृत तथा मधु और खाण्ड से सिक्त खीर खाते थे। कुमार भी सब अलङ्कारों से अलङ्कृत हो, सोने की खड़ाऊँ पर चढ़, हाथ में सोने का दण्डा लिये

वह कहता घूम रहा था कि यहाँ मधु दो और यहाँ घृत दो। उस समय मातङ्ग-पण्डित हिमालय के आश्रम में बैठा था। उसने सोचा कि दिट्ठमङ्गलिका के पुत्र का क्या हाल है? यह देख कि वह अनुचित रास्ते पर जा रहा है उसने सोचा कि मैं आज ही जान कर माणवक का दमन कर, उससे जिन्हें दान देने से महान् फल होता है उन्हें दान दिला कर आऊँगा। वह आकाश-मार्ग से अनोतत्त-सरोवर पहुँचा, मुख प्रक्षालन आदि किया। फिर मनोशिलातल पर खड़े हो लाल कपड़ा धारण कर, काय-बन्धन बाँधा और पांसुकूल-संघाटी पहन, मिट्टी का बरतन ले, आकाश-मार्ग से जा चौथे द्वार-कोठे की दानशाला में ही उतर एक ओर खड़ा हुआ। मण्डव्य ने इधर उधर देखते हुए जब उसे देखा तो सोचा—ऐसा बद-सूरत, यक्ष जैसा यह प्रव्रजित है! उससे पूछा—यहाँ तू कहाँ से आया है? उसने उससे बातचीत करते हुए पहली गाथा कही—

कुतो नु आगच्छसि सम्मवासि
ओतल्लको पंसुपिसाचको व
सङ्कार चोलं पटिमुञ्च कंठे
को रे तुवं होहिसि अदक्खिणेय्यो ॥१॥

[हे चिथड़ेधारी! हे गंदे वस्त्र वाले! हे पांसु-पिशाच-सदृश! तू यह गले में कूड़े के ढेर पर से उठाये वस्त्र पहन कर कहाँ से आया है और कौन है?]

यह सुन बोधिसत्व ने कोमल चित्त से ही उससे बातचीत करते हुए दूसरी गाथा कही—

अन्नं तव इदं पकतं यसस्सि,
तं खज्जरे भुञ्जरे पिय्यरे च,
जानासि त्वं परदत्तूपजीवि,
उत्तिट्ठ पिण्डं लभतं सपाको ॥२॥

[हे यशस्वी! तेरे घर यह अन्न पका है। उसे (लोग) खा-पी रहे हैं। तू जानता है कि हम दूसरों द्वारा दिया ही खाकर जीने वाले हैं। उठ! चाण्डाल को भी कुछ भोजन मिले।]

तब मण्डव्य ने गाथा कही—

अन्नं मम इद पकतं ब्राह्मणानं,
अत्तत्थाय सद्दहतो मम इदं,
अपेहि एत्थ, किं तुवट्ठितोसि,
न मा दिसा तुय्हं ददन्ति जम्म ॥३॥

[मेरे यहाँ जो अन्न पका है वह ब्राह्मणो के लिए है, यह मेरी श्रद्धा के कारण आत्म-हित के लिए है। यहाँ से दूर हट। यहाँ क्या खडा है। हे दुष्ट! मेरे जैसे तुझे दान नही देते है।]

तब बोधिसत्व ने गाथा कही—

थले च निन्ने च वपन्ति बीजं
अनूपखेत्ते फलं आससाना,
एताय सद्धाय ददाहि दानं,
अप्पेव आराधये दक्खिणेय्ये ॥४॥

[जिस प्रकार (कृषक) फल की आशा मे ऊँचे स्थल पर भी बीज बोते हैं और नीचे स्थल पर भी। और वे पानी की जगह भी बोते हैं। इसी प्रकार तू भी ऐसी ही श्रद्धा से सबको दान दे। सभव है तू दान-देने योग्यो का (भी) सत्कार कर सके।]

तब मण्डव्य ने गाथा कही—

खेत्तानि मय्हं विदितानि लोके
येसाहं बीजानि पतिट्ठपेमि,
ये ब्राह्मणा जाति मन्तूपपन्ना,
तानीध खेत्तानि सुपेसलानि ॥५॥

[मैं लोक मे जो (दान-) क्षेत्र है उन्हे जानता हूं। उन्ही मे मैं बीज डालता हूँ। जो जाति तथा मन्त्रो से युक्त ब्राह्मण है वे ही इस ससार मे अच्छे खेत हैं।]

तब बोधिसत्त्व ने दो गाथाएँ कही—

जाति मदो च अतिमानिता च,
लोभो च दोसो च मदो च मोहो,
एते अगुणा येसुव सन्ति सब्बे
तानीध खेत्तानि अपेसलानि ॥६॥
जाति मदो च अतिमानिता च
लोभो च दोसो च मदो च मोहो,
एते अगुणा येसु न सन्ति सब्बे
तानीध खेत्तानि सुपेसलानि ॥७॥

[जाति-मद, अभिमान, लोभ, द्वेष, मद तथा मूढता—ये सब अवगुण जिनमे हैं वे इस लोक में अच्छे (दान-) क्षेत्र नही हैं। जाति-मद, अभिमान, लोभ, द्वेष, मद तथा मूढता—ये सब अवगुण जिनमे नही है, वे ही इस लोक मे अच्छे (दान-) क्षेत्र हैं।]

इस प्रकार बोधिसत्व के बार-बार बोलने से उसे क्रोध आ गया। 'यह बहुत बकवास करता है, ये द्वारपाल कहाँ गये, इस चाण्डाल को निकालते नहीं हैं' कहते हुए उसने गाथा कही—

कत्थेव भट्टा उपजोतियो च
उपज्झायो अथवा मण्डकुच्छि,
इमस्स दण्डं च वधं च दत्वा
गले गहेत्वा खलयाथ जम्मं ॥८॥

[इस प्रकार उपजोति, उपाध्याय तथा मण्डकुच्छि कहाँ चले गये ? इसे दण्ड दें और मारें। इस दुष्ट को गले से पकड कर धुन डालें।]

वे भी उसकी बात सुन जल्दी से आ पहुँचे और बोले—"देव ! क्या करें ?"

"तुमने इस दुष्ट चाण्डाल को देखा।"

"देव ! नहीं देखते हैं। यह भी नही जानते है कि कहाँ से आया ? यह कोई माया-धारी या जादूगर होगा।"

"अब क्या खडे हो ?"

"देव ! क्या करें ?"

"इसके मुँह को पीट कर तोड़ दो, डण्डो और बाँस की लाठियो से इसकी पीठ उधाड दो, मारो, गले से पकड कर इस दुष्ट को धुन डालो। यहाँ से निकाल बाहर करो।"

अभी जब वे बोधिसत्व तक पहुँचे ही नही थे, बोधिसत्व ने आकाश में खडे हो गाथा कही—

गिरिं नखेन खणसि अयो दन्तेन खादसि
जातवेदं पदहसि यो इसिं परिभाससि ॥९॥

[जो ऋषि को भला-बुरा कहता है, वह नाखून से पर्वत खोदता है, अथवा दाँत से लोहा काटता है अथवा आग को निगलता है।]

यह गाथा कह बोधिसत्व उस माणवक और ब्राह्मणो के देखते ही देखते आकाश में जा पहुँचे।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने गाथा कही—

इदं वत्वान मातङ्गो इसि सच्चपरक्कमो
अन्तलिक्खस्मिं पक्कामि ब्राह्मणानं उदिक्खतं ॥१०॥

[यह कहकर सत्य-पराक्रमी मातङ्ग ब्राह्मणों की आँख के सामने ही आकाश को चला गया।]

उसने प्राचीन दिशा की ओर जा एक गली में उतर ऐसा दृढ़-संकल्प किया कि उसके पाँव के चिन्ह दिखाई दें। वहाँ पूर्व-द्वार के पास भिक्षाटन करके मिला-जुला भोजन प्राप्त किया और एक शाला में बैठ वह मिला-जुला भोजन खाया। नगर-देवताओं से जब यह सहन न हो सका कि यह राजा हमारे आर्य को दुःख देने वाली बात कहता है तो वे आये। बड़े यक्ष ने उसकी गर्दन पकड़ कर मरोड़ी, शेष देवताओं ने शेष ब्राह्मणों की गर्दन पकड़ कर मरोड़ी। बोधिसत्व के चित्त की कोमलता के कारण 'उसका पुत्र है' जान मारा नहीं, केवल कष्ट दिया। मण्डव्य का सिर घूम कर पीठ की ओर हो गया। हाथ-पाँव सीधे होकर खड़े हो गये, आँखें बदल कर मुर्दे के समान हो गईं। वह लकड़ी-शरीर होकर गिर पड़ा। शेष ब्राह्मण मुँह से थूक गिराते हुए इधर-उधर लोटते थे। दिट्ठमङ्गलिका को सूचना दी गई—आर्य्ये! तेरे पुत्र को कुछ हो गया है। वह जल्दी से आई और पुत्र को देख कर बोली—यह क्या! उसने गाथा कही—

आवेठितं पिट्ठितो उत्तमाङ्ग
बाहुं पसारेति अकम्मनेय्यं,
सेतानि अक्खीनि कथा मतस्स
को मे इयं पुत्तं अकासि एवं ॥११॥

[इसका सिर पीठ की ओर घुमा दिया गया है। यह निकम्मी बाहीं को फैलाता है। इसकी आँखें मृत व्यक्ति के समान श्वेत हो गई हैं। मेरे पुत्र को ऐसा किसने कर दिया है?]

वहाँ खड़े हुए लोगों ने उसे बताने के लिए गाथा कही—

इधागमा समणो दुम्मवासी
ओतल्लको पंसु पिसाचको व,
सङ्कार चोलं परिमुच्च कण्ठे
सो ते इमं पुत्त अकासि एवं ॥१२॥

[यहाँ एक चीथड़ेधारी श्रमण आया। वह गंदे वस्त्र पहने था। वह पंसु-पिशाच सदृश था। वह गले में कूड़े के ढेर से उठाए वस्त्र पहने था। उसी ने तेरे पुत्र का ऐसा हाल किया है।]

उसने यह सुना तो सोचा—और किसी की ऐसी सामर्थ्य नहीं है। निस्सन्देह मातङ्ग-पण्डित ही होगा। वह धीर पुरुष मैत्री भावना युक्त है। वह इतने आदमियों को कष्ट पहुँचा कर नहीं जायेगा। 'वह किस ओर गया होगा?' पूछते हुए उसने गाथा कही—

कतमं दिसं अगमा भूरिपञ्ञो
अक्खाथ मे माणवा एतमत्थ,
गन्त्वान त पटिकरेमु अच्चय
अप्पेव नं पुत्त लभेमु जीवित ॥१३॥

[वह बहु-प्रज्ञ किस ओर गया है ? हे तरुणो ! मुझे यह बताओ। हम उसके पास जाकर अपना अपराध क्षमा करवावें। सम्भव है हमारे पुत्र को जीवन-लाभ हो जाय।]

वहाँ खडे हुए तरुणो ने उसे इस प्रकार कहा—

वेहासय अगमा भूरिपञ्ञो
पथद्धुनो पन्नरसे व चन्दो,
अपि चापि सो पुरिमं दिस अगच्छि
सच्चप्पटिञ्ञा इसि साधुरूपो ॥१४॥

[वह बहु-प्रज्ञ आकाश की ओर गया है। पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति वह (आकाश-) मार्ग के बीचोबीच गया है। और वह साधु-स्वरूप सत्य-प्रतिज्ञ ऋषि पूर्व दिशा की ओर गया है।]

उसने उनकी बात सुन अपने स्वामी को खोजने का निश्चय किया। सोने का कलश और सोने का प्याला लिया, दासियो सहित वह वहाँ पहुँची जहाँ बोधिसत्व ने अपने चरण-चिन्हो के दिखाई देने का हट सङ्कल्प किया था। उसके अनुसार जा वह जिस समय बोधिसत्व पीढे पर बैठ भोजन कर रहे थे, उनके पास पहुँची और प्रणाम करके एक ओर खडी हुई। उसने उसे देख थोडा भात पात्र मे छोडा। दिट्ठमङ्गलिका ने स्वर्ण-कलश मे उसे पानी दिया। उसने वहीं हाथ धो मुख-प्रक्षालन किया। उसने यह पूछते हुए कि किसने मेरे पुत्र की शकल बिगाडी, गाथा कही—

आवेठित पिट्ठितो उत्तमङ्ग
बाहु पसारेति अकम्मनेय्यं,
सेतानि अक्खीनि यथा मतस्स
को मे इम पुत्तं अकासि एवं ॥१५॥

[अर्थ ऊपर दिया ही है।]

इसके बाद की गाथाएँ उनके प्रश्नोत्तर है—

यक्खा हवे सन्ति महानुभावा
अन्वागता इसयो साधुरूपा,
ते दुट्ठचित्तं कुपित विदित्वा
यक्खा हि ते पुत अकसु एवं ॥१६॥

[साधु-रूप ऋषियों को देख महानुभाव यक्ष उनके पीछे-पीछे आये। उन्होंने ही तेरे पुत्र को दुष्ट-चित्त तथा क्रोधित देख इस प्रकार बना दिया है]

यक्खा च मे पुत्तं अकंसु एव
त्वं एव मे मा कुद्धो ब्रह्मचारि,
तुम्हे व पादे सरण गतास्मि
अन्वागता पुत्तसोकेन भिक्खु ॥१७॥

[यदि यक्ष मेरे पुत्र पर क्रोधित हुए हे तो हे ब्रह्मचारी ! तू मुझ पर क्रोधित न हो ! हे भिक्षु ! मैं पुत्र-शोक से दुखी हो तुम्हारी ही शरण आई हू ।]

तदेव हि एतरहि च मय्ह
मनोपदोसो मम नत्थि कोचि,
पुत्तो च ते वेद मदेन मत्तो
अत्थ न जानाति अधिच्च वेदे ॥१८॥

[उस समय और इस समय भी मेरे मन मे कुछ द्वेष नही है। तेरा पुत्र वेद-मत से मस्त हुआ है। उसने वेद पढकर अर्थ नही जाना ।]

अद्धा हवे भिक्खु मुहुत्तकेन
सम्मुह्यते व पुरिसस्स सञ्ञा
एकापराधं खम भूरिपञ्ञ,
न पण्डिता क्रोध बला भवन्ति ॥१९॥

[भिक्षु ! ऐसा होना ही है कि क्षण भर मे मनुष्य की बुद्धि मोह को प्राप्त हो जाती है। हे बहु-प्रज्ञ ! उसके एक दोष का क्षमा करें। पण्डितो का बल क्रोध नही है ।]

इस प्रकार उसके क्षमा मांगने पर बोधिसत्व ने 'तो यक्षो को भगाने के लिए अमृत-औषध बताता हूं' कह गाथा कही —

इदञ्च मय्ह उत्तिट्ठपिण्ड
मण्डव्यो भुञ्जतु अप्पपञ्ञो,
यक्खा च ते न न विहेठयेय्युं
पुत्तो च ते होहिति सो अरोगो ॥२०॥

[यह मूर्ख मण्डव्य मेरा जूठा-भोजन खाये। उससे इसे यक्ष कष्ट नही देंगे और तेरा पुत्र निरोग हो जायगा ।]

उसने बोधिसत्व की बात सुन सोने का प्याला आगे बढ़ाया—'स्वामी ! अमृतौषध दें'। बोधिसत्व ने जूठी काँजी उसमें डाल कर कहा—"इसमें से पहले आधी काँजी अपने पुत्र के मुँह में डाल कर शेष चाटी मे पानी से मिला कर बाकी ब्राह्मणों के मुँह में

डाल। सभी निरोग हो जायेंगे।" इतना कह वह ऊपर उठ कर हिमालय ही चला गया। उसने भी उस प्याले को सिर पर ले "मुझे अमृतौषध मिला है।" कहते हुए घर आकर पहले पुत्र के मुँह में डाली। यक्ष भाग गया। उसने धूली पोछते हुए उठ कर पूछा— "माँ यह क्या?" "अपने किये हुए को तू ही जानेगा। आ तात! अपने दक्षिणा-देने योग्यों का हाल देख।" उसे उन्हें देख कर पश्चात्ताप हुआ।

तब उसकी माता ने "तात मण्डव्य! तू मूर्ख है। दान देने के महा-फल स्थान को नहीं पहचानता है। इस तरह के लोग दान-देने योग्य नहीं होते। अब से इन दुश्शीलों को दान मत दे। शीलवानों को दे।" कह ये गाथाएँ कहीं—

> मण्डव्य बालोसि परित्तपञ्ञो
> यो पुञ्ञखेत्तानं अकोविदो सि,
> महक्कसावेसु ददासि दानं
> किलिट्ठ कम्मेसु असञ्ञतेसु ॥२१॥
> जटा च केसा अजिनानि वत्था
> जरूदपानं व मुखं परूल्हं,
> पज इमं पस्सथ रूम्मरूपि
> न जटाजिनं तायति अप्पपञ्ञं ॥२२॥
> येसं रागो च दोसो च अविज्जा च विराजिता
> खीणासवा अरहन्तो तेसु दिन्नं महप्फलं ॥२३॥

[हे मण्डव्य! तू अल्प-बुद्धि है। तू मूर्ख है। तू पुण्य-क्षेत्र नहीं पहचानता है। तू असंयत चित्त-मैल धारी, महान् दोषियों को दान देता है। कुछ लोगों की जटायें है, केश हैं, अजिनचर्म के वस्त्र हैं, मुँह पुराने कुएँ के समान बालों से भरा है। इन चीथड़े-धारी लोगों को देखो। अल्प-प्रज्ञ आदमी की जटा और अजिनचर्म से मोक्ष नहीं होता। जिनके राग, द्वेष तथा अविद्या जाती रही हैं, जो क्षीणास्रव हैं, जो अरहत हैं उन्हें देने में महान् फल है।]

इसलिए तात! अब से इस प्रकार के उपशीलों को दान न दे। लोक में जो आठ समापत्ति-लाभी तथा पञ्च अभिज्ञा प्राप्त धार्मिक श्रमण ब्राह्मण हैं तथा प्रत्येक बुद्ध हैं, उन्हें दान दे। तात! आ अपने कुल के निकटस्थ लोगों को अमृत पिला निरोग करूँगी।" यह कह उसने जूठी काँजी मँगवाई और पानी की चाटी में मिलवा सोलह हजार ब्राह्मणो के मुँह पर छिड़कवाया। एक-एक जना धूली पोछता हुआ उठ खड़ा हुआ।

ब्राह्मणों ने उन्हें अब्राह्मण बना दिया—इन्होंने चाण्डाल का जूठा पिया है। वे लज्जित होकर वाराणसी से निकले और मेद-राष्ट्र में जा मेद राजा के पास रहने लगे। मण्डव्य वहीं रहने लगा।

उस समय वेत्रवती नगरी के पास वेत्रवती नदी के किनारे जातिमन्त नाम का एक ब्राह्मण प्रव्रजित हुआ। वह 'जाति' के कारण बहुत अभिमानी था। बोधिसत्व उसका अभिमान चूर-चूर करने के लिए वहाँ आ, उसके पास ही नदी के ऊपर की ओर रहने लगे। उसने एक दिन दातुन कर यह संकल्प कर उसे नदी में गिराया कि यह दातुन जाकर जातिमन्त की जटाओं में लगे। जब वह पानी का आचमन करने लगा तो वह जाकर उसकी जटाओं में लगी। उसने यह देख कर कहा—"तेरा बुरा हो! यह मनहूस कहाँ से ?" 'इसका पता लगाऊँगा' सोच वह पानी के स्रोत के ऊपर गया। वहाँ उसने बोधिसत्व को देख कर पूछा—"क्या जात है ?" "चाण्डाल हूँ।" "तू ने नदी मे दातुन गिराई ?" "हाँ, मैंने गिराई।" "तेरा बुरा हो, चाण्डाल मनहूस, यहाँ मत रह, स्रोत के नीचे की ओर रह। उसके नीचे जाकर रहने पर भी उसके गिराये हुए दातुन स्रोत से उलटे जा उसकी जटाओ में लगते। वह बोला—"तेरा बुरा हो। यदि यहाँ रहेगा तो आज से सातवें दिन तेरा सिर सात टुकडे हो जायगा।"

बोधिसत्व ने सोचा—यदि मैं इसके प्रति क्रोध करूँगा तो मेरा शील अरक्षित होगा। मै उपाय से ही इसका अभिमान चूर-चूर करूँगा। उसने सातवें दिन सूर्योदय रोक दिया। मनुष्य क्रोधित हो जातिमन्त तपस्वी के पास पहुँचे और पूछा—"भन्ते! तुम सूर्योदय नहीं होने देते ?" वह बोला—"यह मेरा काम नही है, नदी के किनारे एक चाण्डाल रहता है, यह उसका काम होगा।" आदमियो ने बोधिसत्व के पास पहुँच पूछा—"भन्ते! तुम सूर्योदय नही होने देते ?" "आयुष्मानो! हाँ।" "क्यो ?" "तुम्हारे कुल विश्वस्त तपस्वी ने मुझ निरपराध को शाप दिया है। वह आकर जब मेरे पाँव में गिर कर क्षमा माँगेगा तब सूर्य को मुक्त करूँगा।" वे गये और उसे खींच कर लाये और बोधिसत्व के पैरो में गिरा कर क्षमा मंगवाई और प्रार्थना की—"भन्ते! सूर्य को मुक्त करें।"

"मैं नहीं छोड सकता, यदि मैं छोड दूँगा तो उसका सिर सात टुकड़े हो जायेगा।"

"भन्ते! क्या करें ?"

उसने "मिट्टी लाओ" कह मिट्टी का ढेला मँगवाया। फिर "इसे तपस्वी के सिर पर रख तपस्वी को पानी मे उतारो" कह तपस्वी को पानी मे उतरवा सूर्य को मुक्त किया। सूर्य-रश्मि का स्पर्श होते ही मिट्टी के ढेले के सात टुकड़े हो गये। तपस्वी ने पानी मे गोता लगाया। उसका दमन कर बोधिसत्व ने जिज्ञासा की—"सोलह हजार ब्राह्मण कहाँ रहते हैं ?" पता लगा कि मेद-राष्ट्र के पास। उनका दमन करने की इच्छा से वह ऋद्धि से वहाँ पहुँचा और नगर के पास उतर भिक्षापात्र ले नगर में भिक्षाटन के लिए निकला। ब्राह्मणो ने सोचा—यदि यह यहाँ एकाध दिन भी रह गया तो हमें अप्रतिष्ठित कर देगा। उन्होंने शीघ्रता से जाकर राजा को कहा—"एक मायाधर जादूगर आया है। उसे पकड़वायें।" राजा ने "अच्छा" कह स्वीकार किया। बोधिसत्व मिला-

जुला भोजन ले एक दीवार के सहारे एक चबूतरे पर बैठ कर कर खाने लगे। जिस समय ध्यान दूसरी ओर था उस समय भोजन करते हुए ही उसे राजा के आदमियों ने आकर तलवार से मार डाला। वह मर कर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ।

इस जातक में बोधिसत्व कोण्ड (?) का दमन करने वाले हुए। वह इस पर निर्भरता(?) में ही मृत्यु को प्राप्त हुए। देवताओं ने क्रोधित हो सारे मेद-राष्ट्र पर गर्म गारे की वर्षा की और राष्ट्र को अराष्ट्र कर दिया। इसीलिए कहा गया है—

उपहञ्ञमाने मेज्झा मातङ्गस्मि यसस्सिने
सपारिसज्जो उच्छिन्नो मेज्झरञ्ञ तदा अहु ॥२४॥

[यशस्वी मातङ्ग के मारे जाने के कारण उस समय मेद-राज्य और उसकी सारी परिषद् नष्ट हो गई।]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, न केवल अभी, पहले भी उदयन ने प्रव्रजितो को कष्ट ही दिया है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय मण्डव्य उदयन था। मातङ्ग-पण्डित तो मैं ही था।

—जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९७, मातङ्ग जातक पृ० ५८३-५९७।

जैन-कथावस्तु का संक्षिप्त सार

चाण्डाल मुनि का यज्ञवाट में भिक्षा के लिए जाना।
ब्राह्मणो द्वारा अब्राह्मण को दान का निषेध करना।
मुनि की शिक्षा।
ब्राह्मणो का मुनि के प्रति अशिष्ट व्यवहार।
यक्ष द्वारा छात्रो को मूच्छित किया जाना।
राजा की पुत्री भद्रा जो यज्ञपत्नी थी, का वहाँ आना।
समस्त ब्राह्मण-कुमारो को मुनि का यथार्थ परिचय देना।
मुनि की शरण ग्रहण करने की प्रेरणा देना।
सोमदेव का मुनि के पास आ क्षमा-याचना कर भोजन लेने की प्रार्थना करना।
मुनि द्वारा क्षमा देना, जातिवाद की अयथार्थता का स्थापन करना, यज्ञ की यथार्थता को समझाना और कर्म-मुक्ति का मार्ग दिखाना।

बौद्ध-कथावस्तु का संक्षिप्त सार

वाराणसी मे मण्डव्य कुमार का प्रतिदिन सोलह हजार ब्राह्मणो को भोजन देना।
हिमालय के आश्रम मे मातङ्ग पण्डित का भिक्षा लेने आना।
उसके फटे हुए और गंदे वस्त्र देख कर उसे स्थान से हटाना।
मातङ्ग पण्डित का मण्डव्य को उपदेश देना।
दान-क्षेत्र की यथार्थता बताना।

मण्डव्य के साथियो द्वारा मातङ्ग का पीटा जाना।

नगर-देवताओ द्वारा ब्राह्मणो की दुर्दशा करना।

सेठ की कन्या दिट्ठमङ्गलिका का आना, वहाँ की अवस्था को देख कर स्थिति को जान लेना।

सोने का कलश और प्याला ले मातङ्ग मुनि के पास जाना—क्षमा-याचना करना।

मातङ्ग पण्डित द्वारा ब्राह्मणो के ठीक होने का उपाय करना और

दिट्ठमङ्गलिका का सभी ब्राह्मणो को दान-क्षेत्र की यथार्थता बताना।

समान गाथाएँ

उत्तराध्ययन, अध्ययन १२ श्लोक	मातङ्ग जातक (संख्या ४९७) गाथा
कयरे आगच्छइ दित्तरूवे काले विगराले फोक्कनासे। ओमचेलए पंसुपिसायभूए सङ्करदूसं परिहरिय कण्ठे ॥६॥	
कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे काए व आसाइ हमागओ सि। ओमचेलगा पंसुपिसायभूया गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओ सि ? ॥७॥	१ (पृ० २७२ पर उद्धृत)
समणो अहं संजओ बम्भयारी विरओ धणपयणपरिग्गहाओ। परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥९॥	
वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य अन्नं पभूयं भवयाणमेयं। जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥१०॥	२ (पृ० २७२ ,, ,,)
उवक्खडं भोयण माहणाणं अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं। न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि ? ॥११॥	३ (पृ० २७३ ,, ,,)

थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं
आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं ॥१२॥ ४ (पृ० २७३ पर उद्धृत)
खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१३॥ ५ (पृ० २७३ „ „)
कोहो य माणो य वहो य जेसि
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१४॥
तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइ ॥१५॥ ६,७ (पृ० २७३ „ „)
के एत्थ खत्ता उवजोइया वा
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं दण्डेण फलेण हन्ता
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ? ॥१८॥
अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव
समागया तं इसि तालयन्ति ॥१९॥ ८ (पृ० २७४ „ „)
गिरिं नहेहि खणह
अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहि हणह
जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥ ९ (पृ० २७४ „ „)
अवहेडिय पिट्ठिसउत्तमंगे
पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते
उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते ॥२९॥ ११ (पृ० २७५ „ „)

पुव्वि च इण्हि च अणागयं च
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥३२॥ १६-१८ (पृ० २७६-७७ पर उद्धृत)
अत्थ च धम्म च वियाणमाणा
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरण उवेमो
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥३३॥ १६ (पृ० २७७ ,, ,,)

एक विश्लेषण

इन समानताओ के अतिरिक्त इन दोनो मे काफी अन्तर भी है। मातङ्ग जातक में मातङ्ग-पण्डित की कथा के अतिरिक्त एक और कथा का समावेश किया गया है। पहली कथा मे चाण्डाल मातङ्ग पंडित ब्राह्मणो को शिक्षा देकर सही मार्ग पर लाते है और दूसरी कथा मे ब्राह्मण मातङ्ग को राजा से मरवा देते है। विद्वानो की मान्यता है कि यह दूसरी कथा बाद में जोडी गई है।

डॉ० घाटगे का अभिमत है कि जब हम जैन और बौद्ध परम्पराओ मे प्रचलित इन कथाओ की तुलना करते है, तब हमें यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-परम्परा की कथावस्तु विस्तृत है और उसका कथ्य अनेक विचारो से मिश्रित है। जैन-परम्परा की कथावस्तु बहुत सरल है और कथ्यमात्र को छूने वाली है। लेकिन एक तथ्य ऐसा है जिसके आधार पर यह माना जा सकता है कि जैन-कथावस्तु बौद्ध-कथावस्तु से प्राचीन है। मातङ्ग जातक मे प्रतिपाद्य विषय के सूक्ष्म अध्ययन मे यह ज्ञात हो जाता है कि ब्राह्मणो के प्रति लेखक की भावनाएँ बहुत अधिक उद्धत और कटु हैं जब कि जैन-कथावस्तु मे ऐसा नही है। बौद्धों की कथावस्तु मे ब्राह्मणो को सहज धोखा देना और उन द्वारा किए गए अपराधो के लिए जूठन खाने के लिए प्रेरित करना—ये दो तथ्य उपरोक्त मान्यता को स्पष्ट कर देते हैं। 'इन्ही तथ्यो ने दूसरी कथा को इसी जातक मे समाविष्ट करने के लिए लेखक को प्रेरित किया होगा और इस प्रकार की भावनाएँ साम्प्रदायिक पक्षपातों के आधार पर आगे चल कर पनपी होगी।'[1] उस समय ब्राह्मण जन्मना जाति के आधार पर विशेषताओं

1. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17 (1935, 1936) 'A few Parallels in Jains and Buddhist works', page 345, by A. M Ghatage, M A
This must have also led the writer to include the other story in the same Jātaka. And such an attitude, must have arisen in later times as the effect of sectarian bias.

को स्वीकार करते थे। इस तथ्य को निराधार बताना ही इन कथाओं का प्रतिपाद्य था। यह तथ्य जैन-कथानक में स्पष्ट प्रतीत होता है और वह भी बहुत अधिक मानवीय और सहानुभूतिपूर्ण विधि से।[1]

चित्र-सम्भूत (उत्तराध्ययन १३)

साकेत नगर में चन्द्रावतंसक राजा का पुत्र मुनिचन्द्र राज्य करता था। राज्य का उपभोग करते-करते उसका मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। उसने मुनि सागरचन्द के पास दीक्षा ग्रहण की। वह अपने गुरु के साथ-साथ देशान्तर जा रहा था। एक बार वह भिक्षा लेने गाँव में गया, पर सार्थ से बिछुड गया और एक भयानक अटवी में जा पहुँचा। वह भूख और प्यास से व्याकुल हो रहा था। वहाँ चार ग्वाल-पुत्र गाएँ चरा रहे थे। उन्होंने मुनि की अवस्था देखी। उनका मन करुणा से भर गया। उन्होंने मुनि की परिचर्या की। मुनि स्वस्थ हुए। चारों ग्वाल-पुत्रों को धर्म का उपदेश दिया। चारों बालक प्रतिबुद्ध हुए और मुनि के पास दीक्षित हो गए। वे सभी आनन्द से दीक्षा-पर्याय का पालन करने लगे। किन्तु उनमें से दो मुनियों के मन में मैले कपड़ों के विषय में जुगुप्सा रहने लगी। चारों मर कर देवगति में गए। जुगुप्सा करने वाले दोनों देवलोक से च्युत हो दशपुर नगर में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षी से युगल रूप में जन्मे। वे युवा हुए। एक बार वे जगल में अपने खेत की रक्षा के लिए गए। रात हो गई। वे एक वट वृक्ष के नीचे सो गए। अचानक ही वृक्ष के कोटर में एक सर्प निकला और एक को डँस कर चला गया। दूसरा जागा। उसे यह बात मालूम हुई। तत्काल ही वह सर्प की खोज में निकला। वही सर्प उसे भी डँस गया। दोनों मर कर कालिंजर पर्वत पर एक मृगी के उदर से युगल रूप में उत्पन्न हुए। एक बार दोनों आस-पास चर रहे थे। एक व्याध ने एक ही बाण से दोनों को मार डाला। वहाँ से मर कर वे गंगा नदी के तीर पर एक राजहंसिनी के गर्भ में आए। युगल रूप में जन्मे। वे युवा बने। वे दोनों साथ-साथ घूम रहे थे। एक बार एक मछुए ने उन्हे पकड़ा और गर्दन मरोड़ कर मार डाला।

उस समय वाराणसी नगरी में चाण्डालों का एक अधिपति रहता था। उसका नाम

1. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17 (1935-1936) 'A few Parallels in Jain and Buddhist works', page 345, by A. M. Ghatage M. A.

था भूतदत्त। वह बहुत समृद्ध था। वे दोनो हंस मर कर उसके पुत्र हुए। उनका नाम चित्र और सम्भूत रखा गया। दोनों भाइयो में अपार स्नेह था।

उस समय वाराणसी नगरी में शङ्ख राजा राज्य करता था। नमुचि उसका मंत्री था। एक बार उसके किसी अपराध पर राजा क्रुद्ध हो गया और वध की आज्ञा दे दी। चाण्डाल भूतदत्त को यह कार्य सौपा गया। उसने नमुचि को अपने घर मे छिपा लिया और कहा—"मन्त्रिन्! यदि आप मेरे तल-घर में रह कर मेरे दोनो पुत्रो को अध्यापन कराना स्वीकार कर लें तो मैं आपका वध नही करूँगा।" जीवन की आशा से मंत्री ने बात मान ली। अब वह चाण्डाल के पुत्रो—चित्र और सम्भूत को पढाने लगा। चाण्डाल-पत्नी नमुचि की परिचर्या करने लगी। कुछ काल बीता। नमुचि चाण्डाल-स्त्री में आसक्त हो गया। भूतदत्त ने यह बात जान ली। उसने नमुचि को मारने का विचार किया। चित्र और सम्भूत दोनो ने अपने पिता के विचार जान लिए। गुरु के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित हो उन्होने नमुचि को कही भाग जाने की सलाह दी। नमुचि वहाँ से भागा-भागा हस्तिनापुर मे आया और चक्रवर्ती सनत्कुमार का मंत्री बन गया।

चित्र और सम्भूत बडे हुए। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। नृत्य और संगीत मे वे प्रवीण हुए। वाराणसी के लोग उनकी कलाओ पर मुग्ध थे।

एक बार मदन-महोत्सव आया। अनेक गायक-टोलियाँ मधुर-राग मे अलाप रही थी और तरुण-तरुणियो के अनेक गण नृत्य कर रहे थे। उस समय चित्र-सम्भूत की नृत्य-मण्डली भी वहाँ आ गई। उनका गाना और नृत्य सबसे अधिक मनोरम था। उसे सुन और देख कर सारे लोग उनकी मण्डली की ओर चले आए। युवतियाँ मन्त्र-मुग्ध सी हो गई। सभी तन्मय थे। ब्राह्मणो ने यह देखा। मन में ईर्ष्या उभर आई। जातिवाद की आड ले वे राजा के पास गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने दोनो मातङ्ग-पुत्रो को नगर से निकाल दिया। वे अन्यत्र चले गए।

कुछ समय बीता। एक बार कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर वे दोनो मातङ्ग-पुत्र पुन: नगर मे आए। वे मुँह पर कपडा डाले महोत्सव का आनन्द ले रहे थे। चलते-चलते उनके मुँह से सगीत के स्वर निकल पडे। लोग अवाक् रह गए। वे उन दोनों के पास आए। आवरण हटाते ही उन्हे पहचान गए। उनका रक्त ईर्ष्या से उबल गया। 'ये चाण्डाल-पुत्र हैं'—ऐसा कह कर उन्हे लातो और चाटो से मारा और नगर से बाहर निकाल दिया। वे बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने सोचा—'धिक्कार है हमारे रूप, यौवन, सौभाग्य और कला-कौशल को! आज हम चाण्डाल होने के कारण प्रत्येक वर्ग से तिरस्कृत हो रहे हैं। हमारा सारा गुण-समूह दूषित हो रहा है। ऐसा जीवन जीने से लाभ ही क्या?' उनका मन जीने से ऊब गया। वे आत्म-हत्या का दृढ़ संकल्प ले

वहाँ से चले। एक पहाड पर इसी विचार से चढे। ऊपर चढ कर उन्होंने देखा कि एक श्रमण ध्यान-लीन है। वे साधु के पास आए और बैठ गए। ध्यान पूर्ण होने पर साधु ने उनका नाम-धाम पूछा। दोनो ने अपना पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मुनि ने कहा—"तुम अनेक कला-शास्त्रो के पारगामी हो। आत्म-हत्या करना नीच व्यक्तियो का काम है। तुम्हारे जैसे विमल-बुद्धि वाले व्यक्तियो के लिए वह उचित नही। तुम इस विचार को छोडो और जिन-धर्म की शरण में आओ। इससे तुम्हारे शारीरिक और मानसिक सभी दुःख उच्छिन्न हो जाएंगे।" उन्होने मुनि के वचन को शिरोधार्य किया और हाथ जोड़ कर कहा—"भगवन्! आप हमें दीक्षित करें।" मुनि ने उन्हे योग्य समझ दीक्षा दी। गुरु-चरणो की उपासना करते हुए वे अध्ययन करने लगे। कुछ समय बाद वे गीतार्थ हुए। विचित्र तपस्याओ से आत्मा को भावित करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। एक बार वे हस्तिनापुर आए। नगर के बाहर एक उद्यान मे ठहरे। एक दिन मास-क्षमण का पारणा करने के लिए मुनि सम्भूत नगर मे गए। भिक्षा के लिए वे घर-घर घूम रहे थे। मंत्री नमुचि ने उन्हे देख कर पहचान लिया। उसकी सारी स्मृतियाँ सद्यस्क हो गई। उसने सोचा—'यह मुनि मेरा सारा वृत्तान्त जानता है। यहाँ के लोगों के समक्ष यदि इसने कुछ कह डाला तो मेरी महत्ता नष्ट हो जाएगी।' ऐसा विचार कर उसने लाठी और मुक्को से मार कर मुनि को नगर से बाहर निकालना चाहा। कई लोग मुनि को पीटने लगे। मुनि शान्त रहे। परन्तु लोग जब अत्यन्त उग्र हो गए, तब मुनि का चित्त अशान्त हो गया। उनके मुँह से धुँआ निकला और सारा नगर अन्धकारमय हो गया। लोग घबडाए। अब वे मुनि को शान्त करने लगे। चक्रवर्ती सनत्कुमार भी वहाँ आ पहुँचा। उसने मुनि से प्रार्थना की—"भन्ते! यदि हम से कोई त्रुटि हुई हो तो आप क्षमा करें। आगे हम ऐसा अपराध नही करेंगे। आप महान् हैं। नगर-निवासियो को जीवन-दान दें।" इतने से मुनि का क्रोध शान्त नही हुआ। उद्यान मे बैठे मुनि चित्र ने यह सम्वाद सुना और आकाश को धूम्र मे आच्छादित देखा। वे तत्काल वहाँ आए और उन्होने मुनि सम्भूत से कहा—"मुने! क्रोधानल को उपशान्त करो, उपशान्त करो। महर्षि उपशम-प्रधान होते हैं। वे अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते। तुम अपनी शक्ति का संवरण करो।" मुनि सम्भूत का मन शान्त हुआ। उन्होने तेजोलेश्या का सवरण किया। अंधकार मिट गया। लोग प्रसन्न हुए। दोनो मुनि उद्यान में लौट गए। उन्होंने सोचा—'हम काय-संलेखना कर चुके है, इसलिए अब अनशन करना चाहिए।' दोनों ने बडे धैर्य के साथ अनशन ग्रहण किया।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने जब यह जाना कि मंत्री नमुचि के कारण ही सभी लोगो को संत्रास सहना पडा है तो उसने मंत्री को बाँधने का आदेश दिया। मंत्री को रस्सो से बाँध कर मुनियों के पास लाए। मुनियों ने राजा को समझाया और उसने मंत्री को

मुक्त कर दिया। चक्रवर्ती दोनो मुनियों के पैरो पर गिर पड़ा। रानी सुनन्दा भी साथ थी। उसने भी वन्दना की। अकस्मात् ही उसके केश मुनि सम्भूत के पैरों को छू गए। मुनि सम्भूत को अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। उसने निदान करने का विचार किया। मुनि चित्र ने ज्ञान-शक्ति मे यह जान लिया और निदान न करने की शिक्षा दी, पर सब व्यर्थ। मुनि सम्भूत ने निदान किया—'यदि मेरी तपस्या का फल है तो मैं चक्रवर्ती बनूँ।'

दोनो मुनियो का अनशन चालू था। वे मर कर सौधर्म देवलोक मे देव बने। वहाँ का आयुष्य पूरा कर चित्र का जीव पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ का पुत्र बना और सम्भूत का जीव काम्पिल्यपुर में ब्रह्म राजा की रानी चुलनी के गर्भ में आया। रानी ने चौदह महास्वप्न देखे। बालक का जन्म हुआ। उसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया।

राजा ब्रह्म के चार मित्र थे—(१) काशी देश का अधिपति कटक, (२) गजपुर का राजा कणेरदत्त, (३) कोशल देश का राजा दीर्घ और (४) चम्पा का अधिपति पुष्पचूल। राजा ब्रह्म का इनके साथ अगाध प्रेम था। वे सभी एक-एक वर्ष एक-एक के राज्य मे रहते थे। एक बार वे सब राजा ब्रह्म के राज्य में समुदित हो रहे थे। उन्ही दिनो की बात है, एक दिन राजा ब्रह्म को असह्य मस्तक-वेदना उत्पन्न हुई। स्थिति चिन्ताजनक बन गई। राजा ब्रह्म ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को चारो मित्रो को सौंपते हुए कहा—"इसका राज्य तुम्हे चलाना है।" मित्रो ने स्वीकार किया।

कुछ काल बाद राजा ब्रह्म की मृत्यु हो गई। मित्रो ने उसका अन्त्येष्टि-कर्म किया। उस समय कुमार ब्रह्मदत्त छोटी अवस्था मे था। चारों मित्रो ने विचार-विमर्श कर कोशल देश के राजा दीर्घ को राज्य का सारा भार सौपा और बाद में सब अपने-अपने राज्य की ओर चले गए। राजा दीर्घ राज्य की व्यवस्था करने लगा। सर्वत्र उसका प्रवेश होने लगा। रानी चुलनी के साथ उसका प्रेम-बन्धन गाढ होता गया। दोनों नि:सकोच विषय-वासना का सेवन करने लगे।

रानी के इस दुश्चरण को जान कर राजा ब्रह्म का विश्वस्त मंत्री धनु चिन्ताग्रस्त हो गया। उसने सोचा—'जो व्यक्ति अधम आचरण में फँसा हुआ है, वह भला कुमार ब्रह्मदत्त का क्या हित साध सकेगा ?'

उसने रानी चुलनी और राजा दीर्घ के अवैध सम्बन्ध की बात अपने पुत्र वरधनु के द्वारा कुमार तक पहुँचाई। कुमार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने एक उपाय ढूँढ़ा। एक कौवे और एक कोकिल को पिंजरे में बन्द कर अन्तःपुर में ले गया और रानी चुलनी को सुनाते हुए कहा—"जो कोई भी अनुचित सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे मैं इसी प्रकार पिंजरे में डाल दूँगा।" राजा दीर्घ ने यह बात सुनी। उसने चुलनी से कहा—"कुमार ने हमारा सम्बन्ध जान लिया है। मुझे कौवा और तुम्हें कोयल मान संकेत दिया है। अब हमें

सावधान हो जाना चाहिए।" चुलनी ने कहा—"वह अभी बच्चा है। जो कुछ मन में आता है, कह देता है।" राजा दीर्घ ने कहा—"नहीं, ऐसा नहीं है। वह हमारे प्रेम में बाधा डालने वाला है। उसको मारे बिना अपना सम्बन्ध नहीं निभ सकता।" चुलनी ने कहा—"जो आप कहते हैं, वह सही है, किन्तु उसे कैसे मारा जाए ? लोकापवाद से भी तो हमें डरना चाहिए।" राजा दीर्घ ने कहा—"जनापवाद से बचने के लिए पहले हम इसका विवाह कर दें, फिर ज्यों-त्यों इसे मार देंगे।" रानी ने बात मान ली।

एक शुभ वेला में कुमार का विवाह सम्पन्न हुआ। उसके शयन के लिए राजा दीर्घ ने हजार स्तम्भ वाला एक लाक्षा-गृह बनवाया।

इधर मंत्री धनु ने राजा दीर्घ से प्रार्थना की—"स्वामिन् ! मेरा पुत्र वरधनु मंत्री-पद का कार्य-भार संभालने के योग्य हो गया है। मैं अब कार्य से निवृत्त होना चाहता हूँ। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और छलपूर्वक कहा—"तुम और कहीं जा कर क्या करोगे ? यहीं रहो और दान आदि धर्मों का पालन करो।" मंत्री ने राजा की बात मान ली। उसने नगर के बाहर गंगा नदी के तट पर एक विशाल प्याऊ बनाई। वहाँ वह पथिकों और परिव्राजकों को प्रचुर अन्न-पान देने लगा। दान व सम्मान के वशीभूत हुए पथिकों और परिव्राजकों द्वारा उसने लाक्षा-गृह से प्याऊ तक एक सुरंग खुदवाई। राजा-रानी को इस सुरंग की बात ज्ञात नहीं हुई।

रानी चुलनी ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपनी नववधू के साथ उस लाक्षा-गृह में भेजा। दोनों वहाँ गए। रानी ने शेष सभी जाति-जनों को अपने-अपने घर भेज दिया। मंत्री का पुत्र वरधनु वहीं रहा। रात्रि के दो पहर बीते। कुमार ब्रह्मदत्त गाढ निद्रा में लीन था। वरधनु जाग रहा था। अचानक लाक्षा-गृह एक ही क्षण में प्रदीप्त हो उठा। हाहाकार मचा। कुमार जागा और दिग्मूढ बना हुआ वरधनु के पास आ बोला—"यह क्या हुआ ? अब क्या करें ?" वरधनु ने कहा—"यह राज-कन्या नहीं है, जिसके साथ आपका पाणिग्रहण हुआ है। इसमें प्रतिबन्ध करना उचित नहीं है। चलो हम चलें।" उसने कुमार ब्रह्मदत्त को एक संकेतित स्थान पर लात मारने को कहा। कुमार ने लात मारी। सुरंग का द्वार खुल गया। वे उसमें घुसे। मंत्री ने पहले ही अपने दो विश्वासी पुरुष सुरंग के द्वार पर नियुक्त कर रखे थे। वे घोड़ों पर चढ़े हुए थे। ज्यों ही कुमार ब्रह्मदत्त और वरधनु सुरंग से बाहर निकले त्यों ही उन्हें घोड़ों पर चढ़ा दिया। वे दोनों वहाँ से चले। पचास योजन दूर जाकर ठहरे। लम्बी यात्रा के कारण घोड़े खिन्न होकर गिर पड़े।

अब वे दोनों वहाँ से पैदल चले। चलते-चलते वे कोष्ठ-ग्राम में आए। कुमार ने वरधनु से कहा—"मित्र ! प्यास बहुत जोर से लगी है, मैं अत्यन्त परिश्रान्त हो गया हूँ। वरधनु गाँव में गया। एक नाई को साथ ले, वह लौटा। कुमार का सिर मुँडाया, गेरुए

वस्त्र पहिनाए और श्रीवत्सालंकृत चार अंगुल प्रमाण पट्ट-बंधन से वक्षस्थल को आच्छादित किया। वरधनु ने भी वेष परिवर्तन किया। दोनों गाँव में गए। एक दास के लड़के ने घर से निकल कर उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया। वे दोनो उसके घर गए। पूर्ण सम्मान से उन्हें भोजन कराया। उस गृहस्वामी के बंधुमती नाम की एक पुत्री थी। भोजन कर चुकने पर एक महिला आई और कुमार के सिर पर आखे (अक्षत) डाले और कहा—"यह बंधुमती का पति है।" यह सुन कर वरधनु ने कहा—"इस मूर्ख बटुक के लिए क्यों अपने आपको नष्ट कर रहे हो ?" गृहस्वामी ने कहा—"स्वामिन ! एक बार नैमित्तिक ने हमे कहा था जिस व्यक्ति का वक्षस्थल पट्ट से आच्छादित होगा और जो अपने मित्र के साथ यहाँ भोजन करेगा, वही इस कन्या का पति होगा।" कुमार ने बंधुमती के साथ विवाह किया। दूसरे दिन वरधनु ने कुमार से कहा—"हमे बहुत दूर जाना है।" बंधुमती से प्रस्थान की बात कह वरधनु और कुमार दोनों वहाँ से चल पड़े। एक गाँव में आए। वरधनु पानी लेने गया। शीघ्र ही आ उसने कहा—"कुमार ! लोगों में यह जनश्रुति है कि राजा दीर्घ ने ब्रह्मदत्त के सारे मार्ग रोक लिए हैं, अब हम पकड़े जाएँगे। अत. कुछ उपाय ढूँढना चाहिए।" दोनो राजमार्ग को छोड, उन्मार्ग से चले। एक भयंकर अटवी में पहुँचे। कुमार प्यास से व्याकुल हो गया। वह एक वट-वृक्ष के नीचे बैठा। वरधनु पानी की टोह में निकला। घूमते-घूमते वह दूर जा निकला। राजा दीर्घ के सिपाहियों ने उसे देख लिया। उन्होने इसका पीछा किया। वह बहुत दूर चला गया। ज्यों-त्यों कुमार के पास आ उसने चलने का संकेत किया। कुमार ब्रह्मदत्त वहाँ से भागा। वह एक दुर्गम कान्तार में जा पहुँचा। प्यास और भूख मे परिक्लान्त होता हुआ तीन दिन तक चलकर कान्तार को पार किया। उसने वहाँ एक तापस को देखा। तापस के दर्शन मात्र से उसे जीवित रहने की आशा हो गई। उसने पूछा—"भगवन् ! आपका आश्रम कहाँ है ?" तापस ने आश्रम का स्थान बताया और उसे कुलपति के पास ले गया। कुमार ने कुलपति को प्रणाम किया। कुलपति ने पूछा—"वत्स ! यह अटवी अपाय बहुल है। तुम यहाँ कैसे आए ?" कुमार ने सारी बात यथार्थ रूप में उनसे कही।

कुलपति ने कहा—"वत्स ! तुम मुझे अपने पिता का छोटा भाई मानो। यह आश्रम-पद तुम्हारा ही है। तुम यहाँ सुखपूर्वक रहो।" कुमार वही रहने लगा। काल बीता। वर्षा ऋतु आ गई। कुलपति ने कुमार को धनुर्वेद आदि महत्त्वपूर्ण सारी विद्याएँ सिखाई।

एक बार शरद् ऋतु में तापस फल, कंद, मूल, कुसुम, लकड़ी आदि लाने के लिए अरण्य में गए। वह कुमार भी कुतूहलवश उनके साथ जाना चाहता था। कुलपति ने उसे रोका, पर वह नहीं माना और अरण्य मे चला गया। वहाँ उसने अनेक सुन्दर वनखण्ड देखे। वहाँ के वृक्ष फल और पुष्पों से समृद्ध थे। उसने एक हाथी देखा और उसे

से भीषण गर्जारव किया। हाथी उसकी ओर दौड़ा। यह देख कुमार ने अपने उत्तरीय को गोल गेंद-सा बना हाथी की ओर फेंका। तत्क्षण ही हाथी ने उस गेंद को अपनी सूँड से पकड़ कर आकाश में फेंक दिया। और भी अनेक चेष्टाएँ कीं। हाथी अत्यन्त कुपित हो गया। कुमार ने उसे छल से पकड़ लिया और अनेक प्रकार की क्रीडाओं से परिश्रान्त कर छोड़ दिया। कुमार उत्पथ से आश्रम की ओर चल पड़ा। वह दिग्मूढ़ हो गया था। इधर-उधर घूमते-घूमते वह एक नगर में पहुँचा। वह नगर जीर्ण-शीर्ण हो चुका था। उसके केवल खण्डहर ही अवशेष थे। वह उन खण्डहरों को आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगा। देखते-देखते उसकी आँखें एक ओर जा टिकीं। उसने एक खड्ग और चौड़े मुँह वाला बाँस का कुंडा देखा। उसका कुतूहल बढ़ा। परीक्षा करने के लिए उसने खड्ग से कुंडे पर प्रहार किया। एक ही प्रहार में कुंडा नीचे गिर गया। उसके अन्दर से एक मुंड निकला। मनोहर सिर को देख उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने सोचा—धिक्कार है मेरे व्यवसाय को! उसने अपने पराक्रम की निन्दा की, बहुत पश्चात्ताप किया। उसने एक ओर ऊँचे बंधे हुए पाँव वाले कबंध को देखा। उसकी उत्सुकता और बढ़ी।

आगे उसने एक उद्यान देखा। वहाँ एक सप्तभौम प्रासाद था। उसके चारों ओर अशोक-वृक्ष थे। वह धीरे-धीरे प्रासाद में गया। उसने वहाँ एक स्त्री देखी। वह विकसित कमल तथा विद्याधर सुन्दरी की तरह थी। उसने पूछा—"सुन्दरी! तुम कौन हो?" सुन्दरी ने ससंभ्रम कहा—"महाभाग! मेरा वृत्तान्त बहुत बड़ा है। तुम ही इसका समाधान दे सकते हो। तुम कौन हो? कहाँ से आए हो?" कुमार ने कोकिलालाप की तरह मधुर उसकी वाणी को सुन कर कहा—"सुन्दरी! मैं पांचाल देश के राजा ब्रह्म का पुत्र हूँ। मेरा नाम ब्रह्मदत्त है।" इतना सुनते ही वह महिला अत्यन्त हर्षित हुई। आनन्द उसकी आँखों से बाहर झाँकने लगा। वह उठी और उसके चरणों में गिर पड़ी और रोने लगी। कुमार का हृदय दया से भींग गया। 'देवी! मत रो'—यह कह उसने उसे उठाया और पूछा—"देवी! तुम कौन हो?" उसने कहा—"आर्यपुत्र! मैं तुम्हारे मामा पुष्पचूल राजा की लड़की हूँ। एक बार मैं अपने उद्यान के कुँए के पास वाली भूमि में खेल रही थी। नाट्योन्मत्त नाम का विद्याधर वहाँ आया और मुझे उठा यहाँ ले आया। यहाँ आए मुझे बहुत दिन हो गए हैं। मैं परिवार की विरहाग्नि में जल रही हूँ। आज तुम अचानक ही यहाँ आ गए। मेरे लिए यह अचिंतित स्वर्ण-वर्षा हुई है। अब तुम्हें देख कर मुझे जीने की आशा भी बंधी है।" कुमार ने कहा—"वह महाशत्रु कहाँ है? मैं उसके बल की परीक्षा करना चाहता हूँ।"

स्त्री ने कहा—"स्वामिन्! उसने मुझे पठित सिद्ध शंकरी नाम की विद्या दी और कहा—इस विद्या के स्मरण मात्र से वह सखि, दास आदि का परिवार के रूप में उपस्थित होकर तुम्हारे आदेश का पालन करेगी। वह तुम्हारे पास आते हुए शत्रुओं का

निवारण करेगी। उसे पूछने पर वह मेरी सभी बात बताएगी। मैंने एक बार उसका स्मरण किया। उसने कहा—"यह नाट्योन्मत्त नाम का विद्याधर है। मैं उसके द्वारा यहाँ लाई गई हूँ। मैं अधिक भाग्यवती हूँ। वह मेरा तेज सह नहीं सका। इसलिए वह मुझे इस विद्या निर्मित तथा सफेद और लाल ध्वजा से भूषित प्रासाद में छोड़ गया। मेरा वृत्तान्त जानने के लिए अपनी बहिन के पास अपनी विद्या को प्रेषित कर स्वयं वंशकुंड में चला गया। विद्या को साध कर वह मेरे साथ विवाह करेगा। आज उसको विद्या-सिद्धि होगी।

इतना सुन कर ब्रह्मदत्त कुमार ने पुष्पावती से उस विद्याधर के मारे जाने की बात कही। वह अत्यन्त प्रसन्न हो बोली—"आर्य ! आपने अच्छा किया। वह दुष्ट मारा गया।" दोनों ने गन्धर्व-विवाह किया। कुमार कुछ समय तक उसके साथ रहा। एक दिन उसने देव-वलय का शब्द सुना। कुमार ने पूछा—"यह किसका शब्द है" ? उसने कहा—"आर्यपुत्र ! विद्याधर नाट्योन्मत्त की बहिन खण्डविशाखा उसके विवाह के लिए सामग्री लेकर आ रही है। तुम थोडी देर के लिए यहाँ से चले जाओ। मैं उसकी भावना जान लेना चाहती हूँ। यदि वह तुम से अनुरक्त होगी तो मैं प्रासाद के ऊपर लाल ध्वजा फहरा दूँगी अन्यथा सफेद।" कुमार वहाँ से चला गया। थोड़े समय बाद कुमार ने सफेद ध्वजा देखी। वह धीरे-धीरे वहाँ से चल पड़ा और गिरि-निकुञ्ज में आ गया। वहाँ एक बडा सरोवर देखा। उसने उसमें डुबकी लगाई। उत्तर-पश्चिम तीर पर जा निकला। वहाँ एक सुन्दर कन्या बैठी थी। कुमार ने उसे देखा और सोचा—अहो ! यह मेरे पुण्य की परिणति है कि यह कन्या मुझे दीख पडी। कन्या ने भी स्नेहपूर्ण दृष्टि से कुमार को देखा और वह वहाँ से चली गई। थोड़े ही समय मे एक दासी वहाँ आई और कुमार को वस्त्र-युगल, पुष्प-तंबोल आदि भेंट किए और कहा—"कुमार ! सरोवर के समीप जिस कन्या को तुमने देखा था, उसी ने यह भेंट भेजी है और आपको मंत्री के घर में ठहरने के लिए कहा है। आप वहाँ चलें और सुखपूर्वक रहें।" कुमार ने वस्त्र पहिने, अलंकार किया और नागदेव मंत्री के घर पर जा पहुंचा। दासी ने मंत्री से कहा—"आपके स्वामी की पुत्री श्रीकान्ता ने इन्हें यहाँ भेजा है। आप इनका सन्मान करें और आदर से यहाँ रखें।" मंत्री ने वैसा ही किया। दूसरे दिन मंत्री कुमार को साथ ले राजा के पास गया। राजा ने उठ कर कुमार को आगे आसन दिया। राजा ने वृत्तान्त पूछा और भोजन से निवृत्त होकर कहा—"कुमार ! हम आपका और क्या स्वागत करें ! कुमारी श्रीकान्ता को आपके चरणों में भेंट करते हैं।" शुभ दिन मे विवाह सम्पन्न हुआ। एक दिन कुमार ने श्रीकान्ता से पूछा—"तुम्हारे पिता ने मेरे साथ तुम्हारा विवाह कैसे किया ? मैं तो अकेला हूँ।" उसने कहा—"आर्यपुत्र ! मेरे पिता पराक्रमी हिस्सेदारों द्वारा उपद्रुत होकर इस विषम पल्ली में रह रहे हैं। यह नगर-ग्राम आदि को लूट कर

दुर्ग में चले आते हैं। मेरी माता श्रीपती के चार पुत्र थे। उनके बाद मैं उत्पन्न हुई। इसलिए पिता का मुझ पर अत्यन्त स्नेह था। जब मैं युवती हुई, तब एक बार पिता ने कहा—"पुत्री ! सभी राजा मेरे विरुद्ध हैं अत जो घर बैठे ही तुम्हारे लिए उचित वर आ जाए तो मुझे कहना।" इसीलिए मैं प्रतिदिन सरोवर पर जाती हूं और मनुष्यों को देखती हूं। आज मेरे पुण्यबल से तुम दीख पडे। यही सब रहस्य है।

कुमार श्रीकान्ता के साथ विषय-सुख भोगने लगा। कुछ दिन बीते। एक बार वह पल्लीपति अपने साथियो को साथ ले एक नगर को लूटने गया। कुमार भी उसके साथ था। गाँव के बाहर कमल सरोवर के पास उसने अपने मित्र वरधनु को बैठे देखा। वरधनु ने भी कुमार को पहिचान लिया। असंभावित दर्शन के कारण वह रोने लगा। कुमार ने उसे सान्त्वना दी। उसे उठाया। वरधनु ने कुमार से पूछा—"मेरे परोक्ष में तुमने क्या-क्या अनुभव किए हैं ?" कुमार ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। कुमार ने कहा—"तुम अपनी भी बात बताओ।"

वरधनु ने कहा—"कुमार ! मैं तुम्हें एक वट-वृक्ष के नीचे बैठे छोड कर पानी लेने गया था। मैंने एक बडा सरोवर देखा। मैं एक दोने मे जल भर तुम्हारे पास आ रहा था। इतने मे ही महाराज दीर्घ के सन्नद्ध भट्ट मेरे पास आए और बोले—'वरधनु ! ब्रह्मदत्त कहाँ है ?' मैंने कहा—'मैं नहीं जानता।' उन्होने मुझे बहुत पीटा, तब मैंने कहा—'कुमार को बाघ ने खा लिया।' भट्टो ने कहा—'वह प्रदेश हमे बताओ, जहाँ बाघ ने कुमार को खाया था।' इधर-उधर घूमता हुआ मैं कपट से तुम्हारे पास आया और तुम्हे भाग जाने के लिए संकेत किया। मैंने भी परिव्राजक द्वारा दी गई गुटिका मुँह मे रखी और उसके प्रभाव से मैं बेहोश हो गया। मुझे मरा हुआ समझ कर वे भट्ट चले गए। बहुत देर बाद मैंने मुँह से गुटिका निकाली। मुझे होश हो आया। होश आते ही मैं तुम्हारी टोह में निकल पडा, परन्तु कहीं भी तुम नही मिले। मैं एक गाँव मे गया। वहाँ एक परिव्राजक ने कहा—मैं तुम्हारे पिता का मित्र हूं। मेरा नाम वसुभाग है। उसने कहा—'तुम्हारे पिता धनु भाग गए। राजा दीघ ने तुम्हारी माता को मातङ्ग के मुहल्ले मे डाल दिया।' यह सुन कर मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं काम्पिल्यपुर गया और कापालिक का वेश धारण कर उस मातङ्ग बस्ती के प्रधान को धोखा दे माता को ले आया। एक गाँव मे मेरे पिता के मित्र ब्राह्मण देवशर्मा के यहाँ माँ को छोड कर तुम्हारी खोज में यहाँ आया हूँ।"

इस प्रकार दोनो अपने-अपने सुख-दुःख की बातें कर रहे थे। इतने मे ही एक पुरुष वहाँ आया। उसने कहा—"महाभाग ! तुम्हे यहाँ से कहीं भाग जाना चाहिए। तुम्हारी खोज करते-करते राजा दीर्घ के मनुष्य यहाँ आ गए हैं।"

इतना सुन दोनों कुमार और वरधनु, वहाँ से चल पड़े। गहन जंगलों को पार कर वे

कौशाम्बी पहुँचे। गाँव के बाहर एक उद्यान में ठहरे। वहाँ सागरदत्त और बुद्धिल्ल नाम के दो श्रेष्ठी-पुत्र अपने-अपने कुक्कुट लडा रहे थे। लाख मुद्राओं की बाजी लगी हुई थी। कुक्कुटो का युद्ध प्रारम्भ हुआ। सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल्ल के कुक्कुट को गिरा डाला। पुन: बुद्धिल्ल के कुक्कुट ने सागरदत्त के कुक्कुट को गिरा दिया। सागरदत्त का कुक्कुट पंगु हो गया। वह बुद्धिल्ल के कुक्कुट के साथ लडने में असमर्थ था। सागरदत्त बाजी हार गया। इतने मे ही दर्शक के रूप मे खडे वरधनु ने कहा—"यह क्या बात है कि सागरदत्त का कुक्कुट सुजाति का होते हुए भी हार गया ? यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं परीक्षा करना चाहता हूँ।" सागरदत्त ने कहा—"महाभाग ! देखो-देखो मेरी लाख मुद्राएँ चली गई। इसका मुझे कोई दु ख नही है। परन्तु दु:ख इतना ही है कि मेरे अभिमान की सिद्धि नही हुई।"

वरधनु ने बुद्धिल्ल के कुक्कुट को देखा। उसके पाँवो मे लोहे की सूक्ष्म सूइयाँ बँधी हुई थी। बुद्धिल्ल ने वरधनु को देखा। वह उसके पास आ धीरे से बोला—"यदि तू इन सूक्ष्म सूइयो की बात नही बताएगा तो मैं तुझे अर्द्धलक्ष मुद्राएँ दूँगा।" वरधनु ने स्वीकार कर लिया। उसने सागरदत्त से कहा—'श्रेष्ठिन् ! मैंने देखा, पर कुछ भी नही दीखा। बुद्धिल्ल को ज्ञात न हो इस प्रकार वरधनु ने आँखों में अँगुली के संचार के प्रयोग से सागरदत्त को कुछ संकेत किया। सागरदत्त ने अपने कुक्कुट के पैरो मे सूक्ष्म सूइयाँ बाँध दी और बुद्धिल्ल का कुक्कुट पराजित हो गया। उसने लाख मुद्राएं हार दी। अब सागरदत्त और बुद्धिल्ल दोनो समान हो गए। सागरदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वरधनु से कहा—"आर्य। चलो, हम घर चलें !" दोनो घर पहुँचे। उनमे अत्यन्त स्नेह हो गया। एक दिन एक दास-चेट आया। उसने वरधनु को एकान्त मे बुलाया और कहा—"सूई का व्यतिकर न कहने पर बुद्धिल्ल ने जो तुम्हें अर्द्धलक्ष देने को कहा था, उसके निमित्त से उसने चालीस हजार का यह हार भेजा है।" यों कह कर उसने हार का डिब्बा समर्पित कर दिया। वरधनु ने उसको स्वीकार कर लिया। उसे ले वह ब्रह्मदत्त के पास गया। कुमार को सारी बात कही और उसे हार दिखाया। हार को देखते हुए कुमार की दृष्टि हार के एक भाग मे लटकते हुए एक पत्र पर जा टिकी। उस पर ब्रह्मदत्त का नाम अंकित था। उसने पूछा—"मित्र ! यह लेख किसका है ?" वरधनु ने कहा—"कौन जाने ? संसार में ब्रह्मदत्त नाम के अनेक व्यक्ति हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?"

वरधनु कुमार को एकान्त में ले गया और लेख को देखा। उसमे यह गाथा अंकित थी—

पत्थिज्जइ जइ वि जए, जणेण संजोयजणियजत्तेणं।
तह वि तुमं चिय धणियं, रयणवई मणइ माणेउं ॥

—'यद्यपि रत्नवती को पाने के लिए अनेक प्रार्थी हैं, फिर भी रत्नवती तुम्हारे लिए ही समर्पित है।'

उसने सोचा—मैं इसके भावार्थ को कैसे जानूँ। दूसरे दिन एक परिव्राजिका आई। उसने कुमार के सिर पर आखे तथा फूल डाले और कहा—"पुत्र ! हजार वर्ष तक जीओ।" इतना कह कर वह वरधनु को एकान्त मे ले गई और उसके साथ कुछ मंत्रणा कर वापस चली गई। कुमार ने वरधनु को पूछा—"यह क्या कह रही थी ?" वरधनु ने कहा—"कुमार ! उसने मुझे कहा कि बुद्धिल ने जो हार भेजा था और उसके साथ जो लेख था उसका प्रत्युत्तर दो।" मैंने कहा—"वह ब्रह्मदत्त नाम से अंकित है।" यह ब्रह्मदत्त है कौन ? उसने कहा—"सुनो ! किन्तु उसे किसी दूसरे को मत कहना।" उसने आगे कहा—

"इसी नगरी मे श्रेष्ठी-पुत्री रत्नवती रहती है। बाल्यकाल से ही मेरा उस पर अपार स्नेह है। वह युवती हुई। एक दिन मैंने उसे कुछ सोचते हुए देखा। मैं उसके पास गई। मैंने कहा—"पुत्री रत्नवती ! क्या सोच रही है ?" उसके परिजन ने कहा—यह बहुत दिनो से इसी प्रकार उदासीन है। मैंने उसे बार-बार पूछा। पर वह नही बोली। तब उसकी सखी प्रियंगुलतिका ने कहा—भगवती ! यह लज्जावश तुम्हें कुछ भी नही बताएगी। मैं कहता हूँ—एक बार यह उद्यान में क्रीडा करने के लिए गई। वहाँ उसके भाई बुद्धिल श्रेष्ठी ने लाख मुद्राओ की बाजी पर कुक्कुट लडाए थे। इसने वहाँ एक कुमार को देखा। उसको देखते ही यह ऐसी बन गई। यह सुन कर मैंने उसको काम-व्यथा (मदन-विकार) जान ली। परिव्राजिका ने स्नेहपूर्वक कहा—"पुत्री ! यथार्थ बात बताओ। तब उसने ज्यो-त्यों कहा—तुम मेरी माँ के समान हो, तुम्हारे सामने अकथनीय कुछ भी नहीं है। प्रियंगुलतिका ने जिसे बताया है, वह ब्रह्मदत्त कुमार यदि मेरा पति नहीं होगा तो मैं निश्चय ही प्राण त्याग दूँगी। यह सुन कर मैंने उससे कहा—धैर्य रखो। मैं वैसा उपाय करूँगी, जिससे कि तुम्हारी कामना सफल हो सके। यह बात सुन कर कुमारी रत्नवती कुछ स्वस्थ हुई। कल मैंने उसके हृदय को आश्वासन देने के लिए कहा—मैंने ब्रह्मदत्त कुमार को देखा है। उसने भी कहा—भगवती ! तुम्हारे प्रसाद से सब कुछ अच्छा होगा। किन्तु उसके विश्वास के लिए बुद्धिल के कथन के मिष से हार के साथ ब्रह्मदत्त नामांकित एक लेख भेज देना। मैंने कल वैसा ही किया।" आगे उस परिव्राजिका ने कहा—"मैंने लेख की सारी बात तुम्हें बता दी। अब उसका प्रत्युत्तर दो।"

वरधनु ने कहा—मैंने उसे यह प्रत्युत्तर दिया—

> 'बम्भदत्तो वि गुरुगुणवरधणुकलिओ त्ति माणिउं मग्गई।
> रयणवइं रयणिवई चंदो इव चंदणी जोगो॥

—'वरधनु सहित ब्रह्मदत्त भी रत्नवती का योग चाहता है, जैसे रजनीपति चाँद चाँदनी का।'

वरधनु द्वारा कही गई सारी बात सुन कर कुमार रत्नवती को बिना देखे ही उसमें तन्मय हो गया। उसको प्राप्त करने के उपाय सोचते-सोचते अनेक दिन बीत गए।

एक दिन वरधनु बाहर से आया और सम्भ्रान्त होता हुआ बोला—"कुमार! इस नगर के स्वामी द्वारा कौशलाधिपति ने हमें ढूँढ़ने के लिए विश्वस्त पुरुषों को भेजा है। इस नगर के स्वामी ने ढूँढ़ना प्रारम्भ कर दिया—ऐसा मैंने लोगों से सुना है।" यह व्यतिकर जान कर सागरदत्त ने दोनों को भौंहरे में छुपा दिया। रात्रि आई। कुमार ने सागरदत्त से कहा—'ऐसा कोई उपाय करो, जिससे हम यहाँ से निकल जाएँ।"

यह सुन कर सागरदत्त उन दोनों को साथ ले, नगरी के बाहर चला गया। कुछ दूर गए। सागरदत्त उनके साथ जाना चाहता था। परन्तु ज्यों-त्यों उसे समझा कर घर भेजा और कुमार तथा वरधनु दोनों आगे चलने लगे। नगर के बाहर पहुँचे। वहाँ एक उद्यान था। उसमें एक यक्षायतन था। वहाँ एक वृक्ष के नीचे एक रथ खड़ा था। वह शस्त्रों से सज्जित था। उसके पास एक स्त्री बैठी थी। कुमार को देख कर वह उठी और आदर-भाव प्रकट करती हुई बोली—"आप इतने समय बाद कैसे आए ?" यह सुन कुमार ने कहा—"भद्रे! हम कौन हैं ?" उसने कहा—"स्वामिन्! आप ब्रह्मदत्त और वरधनु हैं।" कुमार ने कहा—"तुमने यह कैसे जाना ?" उसने कहा—"सुनो! इसी नगरी में धनप्रवर नाम का सेठ रहता है। उसकी पत्नी का नाम धनसंचया है। उसके आठ पुत्र हैं। मैं उसकी नौवीं सन्तान हूँ। मैं युवती हुई। मुझे कोई पुरुष पसन्द नहीं आया। तब मैंने इस यक्ष की आराधना प्रारम्भ की। यक्ष भी मेरी भक्ति से संतुष्ट हुआ। वह सामने आ बोला—बेटी! भविष्य में होने वाला चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त कुमार तुम्हारा पति होगा। मैंने पूछा—'मैं उसे कैसे जान सकूँगी ?' यक्ष ने कहा—'बुद्धिल्ल और सागर-दत्त के कुक्कुट-युद्ध में जिस पुरुष को देख कर तुम्हें आनन्द हो, उसे ही ब्रह्मदत्त जान लेना।' उसने मुझे जो बताया, वह सब यहाँ मिल गया। मैंने जो हार आदि भेजा, वह आप जानते ही हैं।" यह सुन कर कुमार उसमें अनुरक्त हो गया। वह उसके साथ रथ पर आरूढ हुआ और उससे पूछा—"हमें कहाँ जाना चाहिए ?" रत्नवती ने कहा—"मगधपुर में मेरे चाचा सेठ धनसार्थवाह रहते हैं। वे हमारा वृत्तान्त जान कर हमारा आगमन अच्छा मानेंगे। अतः आप वहीं चलें, उसके बाद जहाँ आपकी इच्छा हो।"

रत्नवती के वचनानुसार कुमार मगधपुर की ओर चल पड़ा। वरधनु को सारथी बनाया। ग्रामानुग्राम चलते हुए वे कौशाम्बी जनपद को पार कर गए। आगे चलते हुए वे एक गहन जंगल में जा पहुँचे। वहाँ कंटक और सुकंटक नाम के दो चोर-सेनापति रहते थे। उन्होंने रथ और उसमें बैठी हुई अलंकृत स्त्री को देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि रथ में तीन ही व्यक्ति हैं। वे सज्जित होकर आए और उन पर प्रहार करने लगे।

कुमार ने भी अनेक प्रकार से प्रहार किए। चोर-सेनापति हार कर भाग गए। कुमार ने रथ आगे बढाया। वरधनु ने कहा—"कुमार! तुम बहुत परिश्रान्त हो गए हो। कुछ समय के लिए रथ मे ही सो जाओ।" कुमार और रत्नवती दोनों सो गए। रथ आगे बढ रहा था। वे एक पहाडी प्रदेश में पहुँचे। घोडे थक गए। एक नदी के पास जा, वे रुक गए। कुमार जागा, जंभाई लेकर उठा। आस-पास देखा। वरधनु नहीं दीखा। कुमार ने सोचा—संभव है पानी लाने गया हो। कुछ देर बाद उसने भयाक्रान्त हो वरधनु को पुकारा। कोई उत्तर नहीं मिला। रथ के अगले भाग को देखा। वह लोही से लिपा हुआ था। कुमार ने सोचा—वरधनु मारा गया है। हा! मैं मारा गया। अब मैं क्या करूँ? यह कहते हुए वह रथ में ही मूर्च्छित हो गिर गया। कुछ समय बीता। होश आया। 'हा, हा, भ्रात वरधनु!' यह कहता हुआ प्रलाप करने लगा। रत्नवती ने ज्यों-त्यों उसे बिठाया। कुमार ने कहा—"सुन्दरी! स्पष्ट नहीं जान पा रहा हूँ कि क्या वरधनु मर गया है या जीवित है? मैं उसको ढूँढने के लिए पीछे जाना चाहता हूँ।" रत्नवती ने कहा—"आर्यपुत्र! यह पीछे चलने का अवसर नहीं है। मैं एकाकिनी हूँ। यह भयंकर जंगल है। इसमे अनेक चोर और श्वापद रहते हैं। यहाँ की सारी घास पैरों से रौंदी हुई है, इसलिए यहाँ पास में ही कोई बस्ती होनी चाहिए।" कुमार ने उसकी बात मान ली। वह मगध देश की ओर चल पडा। उस देश की संधि-संस्थित एक ग्राम मे पहुँचा। ग्राम-सभा में बैठे हुए ठाकुर ने उसे प्रवेश करते हुए देखा। उसे विशेष व्यक्ति मान कर वह उठा। उसका सम्मान किया। अपने घर ले गया। रहने के लिए मकान दिया। जब सुखपूर्वक वह बैठ चुका था, तब ठाकुर ने कुमार से कहा—"महाभाग! तुम बहुत ही उद्विग्न दीख रहे हो।" कुमार ने कहा—"मेरा भाई चोरो के साथ लडता हुआ न जाने कहाँ चला गया? किस अवस्था को प्राप्त हो गया? उसे ढूँढने के लिए मुझे जाना चाहिए।" ठाकुर ने कहा—"आप खेद न करें। यदि वह इस अटवी में होगा तो अवश्य ही मिल जाएगा।" ठाकुर ने अपने आदमी भेजे। विश्वस्त आदमी चारो ओर अटवी में गए। वे आकर बोले—"स्वामिन्! हमे अटवी में कोई खोज नहीं मिली। केवल एक बाण मिला है।" यह सुनते ही कुमार अत्यन्त उद्विग्न हो गया। उसने सोचा—निश्चय ही वरधनु मारा गया है। रात आई। कुमार और रत्नवती सो गए। एक प्रहर रात बीती। गाँव मे चोर घुसे। लूट-खसोट होने लगी। कुमार ने चोरो का सामना किया। सभी चोर भाग गए। गाँव के प्रमुख ने कुमार का अभिनन्दन किया। प्रातःकाल हुआ। ठाकुर ने अपने पुत्र को उनके साथ भेजा। वे चलते-चलते राजगृह पहुँचे। नगर के बाहर एक परिव्राजक का आश्रम था। कुमार रत्नवती को आश्रम में बिठा गाँव के अन्दर गया। प्रवेश करते ही उसने अनेक खम्भों पर टिका हुआ, अनेक कलाओं से निर्मित एक धवल भवन देखा। वहाँ दो सुन्दर कन्याएँ बैठी थीं। कुमार को देख कर अत्यन्त अनुराग

दिखाती हुई दोनों ने कहा—"क्या आप जैसे महापुरुषो के लिए यह उचित है कि भक्ति से अनुरक्त व्यक्ति को भुला कर परिभ्रमण करते रहें ?" कुमार ने कहा—"वह कौन है, जिसके लिए तुम कह रही हो ?" उन्होंने कहा—"कृपा कर आप आसन ग्रहण करें।" कुमार बैठ गया। स्नान किया। भोजन से निवृत्त हुआ। दोनो स्त्रियों ने कहा—"महा-सत्व ! इसी भरत के वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे शिवमन्दिर नाम का नगर है। वहाँ ज्वलनसिंह नाम का राजा राज्य करता है। उसकी महारानी का नाम विद्युत्शिखा है। हम दोनों उनकी पुत्रियाँ हैं। हमारे बडे भाई का नाम नाट्योन्मत्त है। एक बार हमारे पिता अग्निशिख मित्र के साथ गोष्ठी में बैठे थे। उन्होने आकाश की ओर देखा। अनेक देव तथा असुर अष्टापद पर्वत के अभिमुख जिनेश्वर देव के वन्दनार्थ जा रहे थे। राजा भी अपने मित्र तथा बेटियो के साथ उसी ओर चल पडा। हम सब अष्टापद पर्वत पर पहुँचे। जिनदेव की प्रतिमाओ को वन्दना की। सुगन्धित द्रव्यों से अर्चा की। तीन प्रदक्षिणा कर लौट रहे थे। हमने देखा कि एक अशोक-वृक्ष के नीचे दो मुनि खडे हैं। वे चरण-लब्धि सम्पन्न थे। हम उनके पास गए। वन्दना कर बैठ गए। उन्होने धर्मकथा कही—

'संसार असार है। शरीर विनाशशील है। जीवन शरद् ऋतु के बादलों की तरह है। यौवन विद्युत् के समान चञ्चल है। भोग किंपाल फल जैसे हैं। इन्द्रिय-जन्य सुख संध्या के राग की तरह है। लक्ष्मी कुशाग्र पर टिके हुए पानी की बूँद की तरह चञ्चल है। दुःख सुलभ है, सुख दुर्लभ है। मृत्यु सर्वत्रगामी है। ऐसी स्थिति में प्राणी को मोह का बन्धन तोडना चाहिए। जिनेन्द्र प्रणीत धर्म में मन लगाना चाहिए।' परिषद् ने यह धर्मोपदेश सुना। लोग विसर्जित हुए। अवसर देख अग्निशिख ने पूछा—'भगवन् ! इन बालिकाओ का पति कौन होगा ?' मुनि ने कहा—'इनका पति भातृ-वधक होगा।'

यह सुन राजा का चेहरा श्याम हो गया। हमने पिता से कहा—'तात ! मुनियों ने जो संसार का स्वरूप बताया है, वह यथार्थ है। हमें ऐसा विवाह नही चाहिए। हमें ऐसा विषय-सुख नही चाहिए।' पिता ने बात मान ली। तब से हम अपने प्रिय भाई की स्नान-भोजन आदि की व्यवस्था मे ही चिन्तित रहती है। हम अपने शरीर-परिकर्म का कोई ध्यान नहीं रखतीं।

एक दिन हमारे भाई ने घूमते हुए तुम्हारे मामे की लडकी पुष्पवती को देखा। वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया और उसे हरण कर यहाँ ले आया। परन्तु वह उसकी दृष्टि सहने में असमर्थ था। अतः विद्या को साधने के लिए गया। आगे का वृत्तान्त आप जानते हैं।'

'हे महाभाग ! उस समय तुम्हारे पास से आ कर पुष्पवती ने हमे भाई का सारा वृत्तान्त सुनाया। उसे सुन कर हमें अत्यन्त शोक हुआ। हम रोने लगीं। पुष्पवती ने

धर्मदेशना दे हमें शान्त किया और संकरी-विद्या से हमारे वृत्तान्त को जान कर उसने कहा—'मुनि के वचन को याद करो। ब्रह्मदत्त को अपना पति मानो। हमने अनुराग पूर्वक मान लिया। पुष्पवती के सफेद संकेत से आप कहीं चले गए। हमने आप को अनेक नगरों व ग्रामों में ढूंढा, पर आप कही नहीं मिले। अन्त में हम खिन्न हो यहाँ आईं। आज हमारा भाग्य जागा। अतर्कित हिरण्य की वृष्टि के समान आपके दर्शन हुए। हे महाभाग ! पुष्पवती की बात को याद कर आप हमारी आशा पूरी करें।" यह सुन कुमार प्रसन्न हुआ। सारी बात स्वीकार कर ली। उनके साथ गन्धर्व विवाह किया। रात वहीं बिताई। प्रातःकाल हुआ। कुमार ने कहा—"तुम दोनो पुष्पवती के पास चली जाओ। उसके साथ तब तक रहना, जब तक मैं राजा न बन जाऊँ।" दोनों ने बात मान ली। उनके जाने पर कुमार ने देखा कि न वहाँ प्रासाद है और न परिजन। उसने सोचा—यह विद्याधारियो की माया है अन्यथा ऐसा इन्द्रजाल-सा कैसे होता ? कुमार को रत्नवती का स्मरण हो आया और वह उसको ढूँढने आश्रम की ओर चला। वहाँ न तो रत्नवती ही थी और न कोई दूसरा। किसे पूछूँ, यह सोच उसने इधर-उधर देखा। कोई नही मिला। वह उसी की चिन्ता मे व्यग्र था कि वहाँ एक पुरुष दीखा। कुमार ने पूछा—"महाभाग ! क्या तुमने अमुक-अमुक आकृति तथा वेष-धारण करने वाली स्त्री को आज या कल कही देखा है ?" उसने कहा—"कुमार ! क्या तुम रत्नवती के पति हो ?" कुमार ने कहा—"हाँ।"

उसने कहा—"कल अपराह्न वेला मे मैंने उसको रोते देखा था। मैं उसके पास गया और पूछा—'पुत्री ! तुम कौन हो ? कहाँ से आई हो ? दुःख का कारण क्या है ? कहाँ जाना है ?' उसने कुछ कहा। मैंने उसे पहिचान लिया। मैंने कहा—'तुम मेरी धेवती हो। मैंने उसका वृत्तान्त जाना और उसे उसके चाचा के पास ले गया। उसने उसे आदरपूर्वक अपने घर मे प्रवेश कराया। इसीलिए अन्वेषण करने पर भी वह तुम्हे नही मिली। तुमने अच्छा किया कि यहाँ आ गए।" इतना कह कर उसने कुमार को सार्थवाह के घर ले गया। रत्नवती के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। वह विषय-सुख का भोग करता हुआ वहीं रहने लगा। एक दिन उसे याद हो आया कि आज 'वरधनु का दिन है' यह सोच उसने ब्राह्मणो को भोजन के लिए निमंत्रित किया। संयोगवश वरधनु ब्राह्मण के वेश में भोजन लेने वही आ गया। उसने एक नौकर से कहा—"जाओ ! अपने स्वामी से कहो कि यदि तुम मुझे भोजन दोगे तो वह उस परलोकवर्ती के मुँह और पेट में चला जाएगा, जिसके लिए तुमने भोज किया है।" नौकर ने जा कुमार से सारी बात कही। कुमार बाहर आया। उसने ब्राह्मण को पहचान लिया। दोनो ने परस्पर आलिंगन किया। दोनों अन्दर गए। स्नान, भोजन आदि से निवृत्त हो कुमार ने वरधनु से अपना वृत्तान्त पूछा। वरधनु ने कहा—

"उस रात आप दोनों रथ पर सो गए थे। मैं आगे बैठा था। एक चोर घनी झाडी में छुपा बैठा था। उसने पीछे से बाण मारा। मैं वेदना से पराभूत हो धरती पर गिर पडा। आप पर भी कोई आपत्ति न आ जाए, इसलिए मैंने आवाज नहीं की। रथ विलीन हो गया। मैं भी सघन वृक्षों को चीरता हुआ उसी गाँव मे पहुँचा, जहाँ आप थे। वहाँ के प्रधान से मैंने आपके विषय की सारी बात जान ली। मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। ज्यो-त्यों मैं यहाँ आया। आपसे मिलना हुआ।"

दोनों अत्यन्त आनन्द से दिन बिता रहे थे। एक बार दोनो ने विचार किया—कितने दिन तक हम निठल्लेपन-से बैठे रहेंगे। हमें कोई उपाय ढूँढना चाहिए। मधुमास आया। मदनमहोत्सव की वेला में नगर के सारे लोग क्रीडा करने उद्यान मे गए। कुतूहलवश कुमार और वरधनु—दोनों भी वहीं गए। सभी नर-नारी विविध क्रीडाओ में मग्न थे। इतने मे ही मदोन्मत्त राज-हस्ती आलान से छूट गया। वह निरंकुश हो दौड पडा। सभी लोग भयभीत हो गए। भयंकर कोलाहल होने लगा। सभी क्रीडा-गोष्ठियाँ भंग हो गईं। इस प्रवृत्त कोलाहल मे एक तरुण स्त्री मत्तहाथी के भय से पागल की तरह दौडती हुई त्राण के लिए इधर-उधर देख रही थी। हाथी की दृष्टि उस पर पडी। चारो ओर हाहाकार होने लगा। स्त्री के परिवार वाले चिल्लाने लगे। कुमार ने यह देखा। वह भयभीत तरुणी के आगे हो, हाथी को हाँका। कुमारी बच गई। हाथी कुमारी को छोड कर अत्यन्त कुपित हो, सूँड को घुमाता हुआ, कानो को फडफडाता हुआ कुमार की ओर दौडा। कुमार ने अपनी चादर को गेंद बना हाथी की ओर फेंका। हाथी ने उसे रोष से अपनी सूँड मे पकड आकाश में उछाल दिया। वह धरती पर जा गिरा। हाथी उसे पुन उठाने में प्रयत्नशील था कि कुमार शीघ्र ही उसकी पीठ पर जा बैठा और तीखे अंकुश से उस पर प्रहार किया। हाथी उछला। तत्क्षण ही कुमार ने मीठे वचनों से उसे सम्बोधित किया। हाथी शान्त हो गया।

लोगों ने यह देखा। चारों ओर से साधुवाद की ध्वनि आने लगी। मंगलपाठको ने कुमार का जयघोष किया। हाथी को आलान पर ले जाया गया। कुमार पास ही खड़ा रहा।

राजा आया। कुमार को देख वह विस्मित हुआ। उसने पूछा—"यह कौन है ?" मंत्री ने सारी बात बताई। राजा प्रसन्न हुआ। कुमार को साथ ले वह अपने राजमहल में आया। स्नान-भोजन-पान आदि से उसका सत्कार किया। भोजन के पश्चात् राजा ने अपनी आठ पुत्रियाँ कुमार को समर्पित की। शुभ मुहूर्त्त में विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। कुमार कई दिन वहाँ रहा।

एक दिन एक स्त्री कुमार के पास आ कर बोली—"कुमार ! मैं आप से कुछ कहना

चाहती हूँ।" कुमार ने कहा—"बोलो।" उस स्त्री ने कहा—"इसी नगरी में वैश्रमण नाम का सार्थवाह रहता है। उसकी पुत्री का नाम श्रमती है। मैंने उसको पाला-पोषा है। वह वही बालिका है, जिसकी तुमने हाथी से रक्षा की है। हाथी के संभ्रम से बच जाने पर उसने तुम्हें जीवनदाता मान कर तुम्हारे प्रति अनुरक्ति दिखाई है। तुम्हारे रूप, लावण्य और कला-कौशल को देख कर वह तुम्हारे में अत्यन्त अनुरक्त है। तभी से वह तुम्हें देखती हुई स्तम्भित की तरह, लिखित मूर्ति की तरह, भूमि में गढ़ी कील की तरह, निश्चल और भरी आँखों से क्षण भर वहाँ ठहरी। हाथी का सभ्रम दूर होने पर ज्यों-त्यों उसे घर ले जाया गया। वहाँ भी वह न स्नान करती है, न भोजन ही करती है। वह तब से मौन है। मैं उसके पास गई। उससे कहा—'पुत्री! तुम बिना कारण ही क्यों अनमनी हो रही हो? मेरे वचनों की क्यों अवहेलना कर रही हो?' उसने मुस्कुराते हुए कहा—'माँ! तुमसे मैं क्या छुपाऊँ? किन्तु लज्जावश मैं चुप हूँ। माँ! यदि उस कुमार के साथ, जिसने मुझे हाथी से बचाया है, मेरा विवाह नहीं हो जाता, तो मेरा मरना निश्चित है। यह बात सुन मैंने उसके पिता से सारी बात कही। उसने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। आप कृपा कर इस बालिका को स्वीकार करें।' कुमार ने स्वीकार कर लिया। शुभ दिन में उसका विवाह सम्पन्न हुआ। वरधनु का विवाह अमात्य सुबुद्धि की पुत्री नन्दा के साथ हुआ। दोनों सुख भोगते हुए वहीं रहने लगे। कई दिन बीते। चारों ओर उनकी बातें फैल गईं।

वे चलते-चलते वाराणसी पहुँचे। राजा कटक ने जब यह संवाद सुना तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और पूर्ण सम्मान से कुमार ब्रह्मदत्त का नगर में प्रवेश करवाया। अपनी पुत्री कटकावती से उसका विवाह किया। राजा कटक ने दूत भेज कर सेना-सहित पुष्पचूल को बुला लिया। मंत्री धनु और राजा कणेरुदत्त भी वहाँ आ पहुँचे और भी अनेक राजा मिल गए। उन सबने वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त कर काम्पिल्य-पुर पर चढ़ाई कर दी। घमासान युद्ध हुआ। राजा दीर्घ मारा गया। 'चक्रवर्ती की विजय हुई'—यह घोष चारों ओर फैल गया। देवों ने आकाश से फूल बरसाए। बारहवाँ चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है, यह नाद हुआ। सामन्तों ने कुमार ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक किया।

राज्य का परिपालन करता हुआ ब्रह्मदत्त सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार एक नट आया। उसने राजा से प्रार्थना की—"मैं आज मधुकरी गीत नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन करना चाहता हूँ।" चक्रवर्ती ने स्वीकृति दे दी। अपराह्न में नाटक होने लगा। उस समय एक कर्मकरी ने फूल-मालाएँ ला कर राजा के सामने रखीं। राजा ने उन्हें देखा और मधुकरी गीत सुना। तब चक्रवर्ती के मन में एक विकल्प उत्पन्न हुआ—

'ऐसा नाटक उसने पहले भी कहीं देखा है।' वह इस चिन्तन में लीन हुआ और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। उसने जान लिया कि ऐसा नाटक मैंने सौधर्म देवलोक में पद्मगुल्म नामक विमान में देखा था।

इसकी स्मृति मात्र से वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़ा। पास में बैठे हुए सामन्त उठे, चन्दन का लेप किया। राजा की चेतना लौट आई। सम्राट् आश्वस्त हुआ। पूर्वजन्म के भाई की याद सताने लगी। उसकी खोज करने के लिए उसने एक मार्ग ढूँढा। रहस्य को छिपाते हुए सम्राट ने महामात्य वरधनु से कहा—"आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातङ्गावमरौ तथा"—इस श्लोकार्द्ध को सब जगह प्रचारित करो और यह घोषणा करो कि इस श्लोक की पूर्ति करने वाले को सम्राट् अपना आधा राज्य देगा। प्रतिदिन यह घोषणा होने लगी। यह अर्द्ध श्लोक दूर-दूर तक प्रसारित हो गया और व्यक्ति-व्यक्ति को कण्ठस्थ हो गया।

इधर चित्र का जीव देवलोक से च्युत हो कर पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ के घर जन्मा। युवा हुआ। एक दिन पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और वह मुनि बन गया। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वही काम्पिल्यपुर में आया और मनोरम नाम के कानन में ठहरा। एक दिन वह कायोत्सर्ग कर रहा था। उसी समय रहट को चलाने वाला एक व्यक्ति वहाँ बोल उठा—

'आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातङ्गावमरौ तथा।'

मुनि ने यह सुना और उसके आगे के दो चरण पूरा करते हुए कहा—

'एषा नौः षष्ठिका जातिः, अन्योन्याभ्यां वियुक्तयो ॥'

रहंट चलाने वाले उस व्यक्ति ने उन दोनो चरणो को एक पत्र मे लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी मे वह दौड़ा-दौड़ा राज-दरबार मे पहुँचा। सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर वह राज्य सभा में गया और एक ही साँस मे पूरा श्लोक सम्राट् को सुना डाला। उसे सुनते ही सम्राट् स्नेहवश मूर्च्छित हो गए। सारी सभा क्षुब्ध हो गई। सभासद् क्रुद्ध हुए और उसे पीटने लगे। उन्होने कहा—"तू ने सम्राट् को मूर्च्छित कर दिया। यह कैसी तेरी श्लोक-पूर्ति?" मार पड़ी, तब वह बोला—"मुझे मत मारो। श्लोक की पूर्ति मैंने नही की है।" "तो किसने की है?"—सभासदों ने पूछा। वह बोला—"मेरे रहंट के पास खड़े एक मुनि ने की है।" अनुकूल उपचार पा कर सम्राट् सचेतन हुआ। सारी बात की जानकारी प्राप्त की और वह मुनि के दर्शन के लिए सपरिवार चल पड़ा। कानन में पहुँचा। मुनि को देखा। वन्दना कर विनयपूर्वक उनके

१—सुखबोधा, पत्र १८५।१९७।

पास बैठ गया। बिछुड़ा हुआ योग पुन: मिल गया। अब वे दोनों भाई सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा करने लगे।[१]

महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने बहुमान-पूर्वक अपने भाई से इस प्रकार कहा—

"हम दोनों भाई थे—एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी।

"हम दोनों दशार्ण देश में दास, कालिंजर पर्वत पर हिरण, मृत-गंगा के किनारे हंस और काशी-देश में चाण्डाल थे।

"हम दोनों सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हमारा छठा जन्म है, जिसमें हम एक-दूसरे से बिछुड़ गए।"

मुनि ने कहा—"राजन्! तू ने निदानकृत (भोग-प्रार्थना से बद्ध्यमान्) कर्मों का चिन्तन किया। उनके फल-विपाक से हम बिछुड़ गए।"

चक्री ने कहा—"चित्र! मैंने पूर्व-जन्म में सत्य और शौचमय शुभ अनुष्ठान किए थे। आज मैं उनका फल भोग रहा हूँ। क्या तू भी वैसा ही भोग रहा है?"

मुनि ने कहा—"मनुष्यों का सब सुचीर्ण (सुकृत) सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामों के पुण्यफल से युक्त है।

"सम्भूत! जिस प्रकार तू अपने को महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल से युक्त मानता है, उसी प्रकार चित्र को भी जान। राजन्! उसके भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति थी।

"स्थविरों ने जन-समुदाय के बीच अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाली जो गाथा गाई, जिसे शील और श्रुत से सम्पन्न भिक्षु बड़े यत्न से अर्जित करते हैं, उसे सुनकर मैं श्रमण हो गया।"

चक्री ने कहा—"उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये प्रधान प्रासाद तथा दूसरे अनेक रम्य प्रासाद हैं। पंचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर एवं विचित्र हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है—इसका तू उपभोग कर।

"हे भिक्षु! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारीजनों को परिवृत करता हुआ इन भोगों को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

धर्म में स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाले चित्र मुनि ने पूर्व-भव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले कामगुणों में आसक्त राजा से यह वचन कहा—

"सब गीत विलाप हैं, सब नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब काम-भोग दुःखकर हैं।

१–सुखबोधा, पत्र १८५-१९७।

"राजन् ! अज्ञानियों के लिए रमणीय और दुःखकर काम-गुणों में वह सुख नहीं है, जो सुख कामों से विरक्त, शील और गुण में रत तपोधन भिक्षु को प्राप्त होता है।

"नरेन्द्र ! मनुष्यों में चाण्डाल-जाति अधम है। उसमें हम दोनों उत्पन्न हो चुके हैं। जहाँ हम चाण्डालों की बस्ती में रहते थे और सब लोग हमसे द्वेष करते थे।

"हम दोनों ने कुत्सित चाण्डाल-जाति में जन्म लिया और चाण्डालों की बस्ती में निवास किया। सब लोग हमसे घृणा करते थे। इस जन्म में जो उच्चता प्राप्त हुई है, वह पूर्व-कृत शुभ कर्मों का फल है।

"उसी के कारण वह तू महान् अनुभाव (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल युक्त राजा बना है। इसीलिए तू अशाश्वत भोगों को छोड़ कर चारित्र-धर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।

"राजन् ! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर शुभ-अनुष्ठान नहीं करता, वह मृत्यु के मुँह मे जाने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म की आराधना नहीं होने के कारण पर-लोक में भी पश्चात्ताप करता है।

"जिस प्रकार सिंह हिरण को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अंशधर नहीं होते— अपने जीवन का भाग दे कर बचा नहीं पाते।

"ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बँटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

"यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड़ कर केवल अपने किए कर्मों को साथ लेकर सुखद या दुःखद पर-भव मे जाता है।

"उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता में जला कर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते हैं।

"राजन् ! कर्म बिना भूल किए (निरन्तर) जीवन की मृत्यु के समीप ले जा रहे हैं। बुढ़ापा मनुष्य के वर्ण (सुस्निग्ध कान्ति) का हरण कर रहा है। पञ्चाल-राज ! मेरा वचन सुन, प्रचुर कर्म मत कर।"

चक्री ने कहा—"साधो ! तू जो मुझे यह वचन जैसे कह रहा है, वैसे मैं भी जानता हूँ कि ये भोग आसक्तिजनक होते हैं। किन्तु हे आर्य ! हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए वे दुर्जय हैं।

"चित्र मुने ! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती (सनत्कुमार) को देख भोगों में आसक्त हो कर मैंने अशुभ निदान (भोग-संकल्प) कर डाला।

"उसका मैंने प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) नही किया। उसी का यह ऐसा फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगो मे मूर्च्छित हो रहा हूँ।

"जैसे पंक-जल (दलदल) में फँसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुँच पाता, वैसे ही काम-गुणो में आसक्त बने हुए हम श्रमण-धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर पाते।"

मुनि ने कहा—"जीवन बीत रहा है। रात्रियाँ दौडी जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नही हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड देते है, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।

"राजन्! यदि तू भोगो का त्याग करने मे असमर्थ है, तो आर्य-कर्म कर। धर्म में स्थित हो कर सब जीवो पर अनुकम्पा करने वाला बन, जिससे तू जन्मान्तर में वैक्रिय-शरीर वाला देव होगा।

"तुझ में भोगो को त्यागने की बुद्धि नही है। तू आरम्भ और परिग्रह मे आसक्त हैं। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप किया। तुझे आमंत्रित (सम्बोधित) किया। राजन्! अब मैं जा रहा हू।"

पचाल-जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन का पालन नही किया। वह अनुत्तर काम-भोगो को भोग कर अनुत्तर नरक में गया।

कामना से विरक्त और प्रधान चारित्र-तप वाला महर्षि चित्र अनुत्तर संयम का पालन कर अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त हुआ।

—उत्तराध्ययन, १३।४-३५।

चित्तसम्भूत जातक

क. वर्तमान कथा

उनका परस्पर बहुत विश्वास था। सभी कुछ आपस में बाँटते थे। भिक्षाटन के लिए इकट्ठे जाते और इकट्ठे ही वापस लौटते। पृथक्-पृथक् नही रह सकते थे। धर्मसभा मे बैठे भिक्षु उनके विश्वास की ही चर्चा कर रहे थे। शास्ता ने आ कर पूछा—"भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओ, इसमें कुछ आश्चर्य नही है यदि यह एक जन्म मे परस्पर विश्वासी हैं, पुराने पण्डितों ने तीन-चार जन्मान्तरों तक भी मित्र-भाव नही त्यागा" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय अवन्ति राष्ट्र में उज्जेनी में अवन्ति-महाराज राज्य करते थे। उस समय उज्जेनी के बाहर चाण्डालग्राम था। बोधिसत्व ने वहाँ जन्म ग्रहण किया। एक दूसरे प्राणी ने भी उसकी मासी का पुत्र हो कर जन्म ग्रहण किया। उनमें से एक का नाम चित्त था, दूसरे का सम्भूत। उन दोनों ने बडे होकर चाण्डालवंश धोपन (?) नाम का सीखा। एक दिन उज्जेनी-नगर-द्वार पर शिल्प दिखाने की इच्छा से एक ने उत्तर-द्वार पर शिल्प दिखाया, दूसरे ने पूर्व-द्वार पर।

उस नगर में दो दुष्ट-मङ्गलिकायें थीं—एक सेठ की लडकी, दूसरी पुरोहित की लडकी। उन दोनों ने बहुत-सा खाद्य-भोज्य लिया और उद्यान-क्रीडा के लिए जाने की इच्छा से एक उत्तर-द्वार से निकली तथा दूसरी पूर्व-द्वार से। उन्होंने उन चाण्डाल-पुत्रों को शिल्प दिखाते देखा तो पूछा—ये कौन हैं? "चाण्डाल-पुत्र।" उन्होंने सुगन्धित जल से आँखें धोईं और वहीं से वापस हो गईं—न देखने योग्य देखा। जनता ने उन दोनों को पीट कर बहुत पीडा पहुँचाई—"रे दुष्ट चाण्डालो! तुम्हारे कारण हमें मुफ्त की शराब और भोजन नहीं मिला।" जब उन्हें होश आया तो दोनों एक दूसरे के पास गये और एक जगह मिल कर एक दूसरे को दुःख-समाचार कहा और रोये-पीटें। तब उन्होंने सोचा—क्या करें? तब निश्चय किया—"यह दुःख हमें अपनी 'जाति' के कारण हुआ। हम चाण्डाल-कर्म न कर सकेंगे। 'जाति' छिपाकर ब्राह्मण-विद्यार्थी बन तक्षशिला जा कर शिल्प सीखेंगे।" वे तक्षशिला पहुँचे और धर्म-शिष्य बन कर प्रसिद्ध आचार्य के पास विद्या ग्रहण करने लगे। जम्बूद्वीप मे दो 'चाण्डाल' जाति छिपा कर विद्या ग्रहण कर रहे हैं—यह बात कही-सुनी जाने लगी। उन दोनो में से चित्त पण्डित का विद्या-ग्रहण समाप्त हो गया था, सम्भूत का अभी नहीं।

एक दिन एक ग्रामवासी ने आचार्य को पाठ करने के लिए निमन्त्रण दिया। उसी दिन रात को वर्षा होकर मार्ग के कन्दरा आदि भर गये। आचार्य ने प्रातःकाल ही चित्त पण्डित को बुलवा कर कहा—"तात! मैं न जा सकूँगा। तू विद्यार्थियों को साथ ले जा और मङ्गल-पाठ कर अपना हिस्सा खाकर हमारा हिस्सा ले आना।" वह 'अच्छा' कह विद्यार्थियो को साथ लेकर गया। जब तक ब्रह्मचारी-गण स्नान करें तथा मुँह धोयें तब तक आदमियों ने ठंडी होने के लिए खीर परोस कर रख दी। वह अभी ठंडी नहीं हुई थी तभी ब्रह्मचारी आकर बैठ गये। आदमियों ने 'दक्षिणोदक' दे उनके सामने थालियाँ रखी। सम्भूत ने एकदम मूठ की तरह खीर को ठंडी समझ खीर-पिंड लेकर मुँह में डाल लिया। उसका मुँह ऐसे जलने लगा मानो लोहे का गर्म गोला मुँह में चला गया हो। वह काँप गया और होश ठिकाने न रख सकने के कारण चित्त पण्डित की ओर देख चाण्डाल-भाषा मे बोल पडा—"अरे! ऐसा है!" उसने भी उसी प्रकार ध्यान न रख

चाण्डाल-भाषा में ही कहा—"निगल, निगल।" ब्रह्मचारियों ने परस्पर एक दूसरे की ओर देखा—यह क्या भाषा है? चित्त पण्डित ने मङ्गल-पाठ किया। ब्रह्मचारियों ने (वहाँ से) निकल पृथक्-पृथक् हो जहाँ-तहाँ बैठ भाषा की परीक्षा की और पता लगा लिया कि यह चाण्डाल-भाषा है। तब उन्होंने उन दोनों को पीटा—रे दुष्ट चाण्डालो! इतने दिन तक 'हम ब्राह्मण हैं' कह कर हमें धोखा दिया। तब एक सत्पुरुष ने "हटो" कह कर उन्हें बचाया और उपदेश दिया—यह तुम्हारी 'जाति' का दोष है, जाओ कहीं प्रव्रजित होकर जीवो। ब्रह्मचारियों ने जाकर आचार्य को कह दिया कि ये चाण्डाल है। वे भी जंगल में जा ऋषियो की प्रव्रज्या के ढग पर प्रव्रजित हुए। फिर थोड़े ही समय बाद वहाँ से च्युत होकर नेरञ्जरा नदी के किनारे मृगी की कोख में जन्म ग्रहण किया। वे माता की कोख से निकलने के समय से ही इकट्ठे चरते, पृथक्-पृथक् न रह सकते।

एक दिन चर चुकने के बाद सिर से सिर, सींगो से सींग, थोथनी से थोथनी मिलाये खड़े जुगाली कर रहे थे। एक शिकारी ने शक्ति चला एक ही चोट मे दोनो की जान ले ली। वहाँ से च्युत होकर नर्मदा के किनारे वह (बाज ?) होकर पैदा हुए। वहाँ भी बड़े होने पर चोंगा चुकने के बाद सिर से सिर, चोंच से चोंच मिलाकर खड़े थे। एक चिड़ीमार ने उन्हें देखा और एक ही झटके में पकड कर मार डाला।

किन्तु, वहाँ से च्युत होकर चित्त पण्डित तो कोसम्बी में पुरोहित का पुत्र होकर पैदा हुआ, सम्भूत पण्डित उत्तर पाञ्चाल राजा का पुत्र होकर। नामकरण के दिन से उन्हें अपने पूर्व-जन्म याद आ गये। उनमे से सम्भूत पण्डित को क्रमश याद न रह सकने के कारण केवल चाण्डाल का जन्म ही याद था, किन्तु चित्त-पण्डित को क्रमश चारो जन्म याद थे। वह सोलह वर्ष का होने पर (घर से) निकला और ऋषि-प्रव्रज्या ग्रहण कर ध्यान-अभिञ्ञा-लाभी हो ध्यान-सुख का आनन्द लेता हुआ समय बिताने लगा।

सम्भूत पण्डित ने पिता के मरने पर छत्र धारण किया। उसने छत्र-धारण के दिन ही मंगल-गीत के रूप में उल्लास-वाक्य के तौर पर दो गाथायें कहीं। उन्हे सुन 'यह हमारे राजा का मङ्गल-गीत है' करके रनिवास की स्त्रियाँ तथा गन्धर्व उसी गीत को गाते थे। क्रमश सभी नगर निवासी भी 'यह हमारे राजा का प्रिय गीत है' समझ उसे ही गाने लगे।

चित्त पण्डित ने हिमालय में रहते ही रहते सोचा—"क्या मेरे भाई सम्भूत ने अभी छत्र-धारण किया है, अथवा नहीं किया है?" उसे पता लगा कि धारण कर लिया है। तब उसने सोचा—"अभी नया राज्य है। अभी समझा न सकूँगा। बूढे होने पर उसके पास जा, धर्मोपदेश दे उसे प्रव्रजित करूँगा।" वह पचास वर्ष के बाद जब राजा के लड़के-लड़की बड़े हो गये, ऋद्धि से वहाँ पहुँचे और जाकर उद्यान में उतर, मङ्गल-शिला पर स्वर्ण-प्रतिमा की तरह बैठे।

उस समय एक लडका उस गीत को गाता हुआ लकड़ियाँ बटोर रहा था। चित्त-पण्डित ने उसे बुलाया। वह आकर प्रणाम करके खडा हुआ। उससे पूछा—"तू प्रातः-काल से यही एक गीत गाता है। क्या और नहीं जानता ?"

"भन्ते ! और भी अनेक गीत जानता हूं। किन्तु ये हमारे राजा के प्रिय गीत हैं, इसलिए इन्हे ही गा रहा हूँ।"

"क्या राजा के विरुद्ध गीत गाने वाला भी कोई है ?"

"भन्ते ! कोई नही।"

"तू राजा के गीत के विरुद्ध गीत गा सकेगा ?"

"जानूगा तो गा सकूँगा।"

"तो तू राजा के दो गीत गाने पर इसे तीन गीत करके गाना। राजा के पास जाकर गाना। राजा प्रसन्न होकर तुझे बहुत ऐश्वर्य देगा।" उन्होंने उसे गीत दे विदा किया। वह शीघ्र माँ के पास गया और सज-सजा कर राजद्वार पर पहुँचा। वहाँ उसने कहलवाया—एक लड़का आपके साथ प्रति-गीत गायेगा। राजा ने कहलवाया—आ जाय। उसने जाकर प्रणाम किया। राजा ने पूछा—'तात ! तू प्रति-गीत गायेगा ?"

'हाँ देव ! सारी राज्य-परिषद् इकट्ठी करायें।"

जब सारी राज्य-परिषद् इकट्ठी हो गई तब उसने राजासे कहा—"देव ! आप अपना गीत गायें, मैं प्रति-गीत गाऊँगा।"

राजा ने दो गाथायें कही—

[आदमियो के किए हुए सभी कर्म फल देते हैं, किया गया कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। मैं देखता हूँ कि महानुभाव सम्भूत अपने कर्म से पुण्य-फल को प्राप्त हुआ है ॥१॥]

[आदमियो के किये सभी कर्म फल देते हैं। किया गया कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। कदाचित् चित्त का भी मन मेरे ही मन की तरह समृद्ध होगा ॥२॥]

उसके गीत के बाद लडके ने गाते हुए तीसरी गाथा कही—

[आदमियो के किए हुए सभी कर्म फल देते हैं, किया गया कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। हे देव ! यह जानें कि चित्त का मन भी तुम्हारे मन ही की तरह समृद्ध है ॥३॥]

यह सुन राजा ने चौथी गाथा कही—

[क्या तू चित्त है, अथवा तू ने अपने को चित्त कहने वाले किसी से यह गाथा सुनी है, अथवा तुझे किसी ऐसे आदमी ने जिसने चित्त को देखा कहीं हो यह गाथा कही है ?

मुझे इसमें सन्देह नही है कि गाथा अच्छी प्रकार कही गई है। मैं तुझे सौ गॉव देता हूँ ।।४।।]

तब लडके ने पाँचवी गाथा कही—

[मैं चित्त नही हूँ। मैंने अन्यत्र से ही सुनी है। (तुम्हारे उद्यान मे बैठे हुए एक) ऋषि ने ही मुझे यह सिखाया है कि जाकर राजा के सामने यह गाथा कहो। वह सन्तुष्ट होकर वर दे सकता है ।।५।।]

यह सुन राजा ने सोचा वह मेरा भाई चित्त होगा। अभी जाकर उसे देखूँगा। उसने आदमियो को आज्ञा देते हुए दो गाथाये कही —

[सुन्दर सिलाई वाले, अच्छे बने हुए रथ जोते जायें। हाथियो को कसो और उनके गले मे मालायें (आदि) डालो ।।६।।

भेरी, मृदङ्ग तथा शङ्ख बजें। शीघ्र यान जोते जायें। आज ही मैं उस आश्रम में जाऊँगा जहाँ जाकर बैठे हुए ऋषि को देखूँगा ।।७।।]

उसने यह कहा और श्रेष्ठ रथ पर चढ शीघ्र जाकर उद्यान के द्वार पर रथ छोड चित्त-पण्डित के पास पहुँचा। वहाँ प्रणाम कर एक ओर खडे हो प्रसन्न मन से आठवी गाथा कही—

[परिषद् के बीच मे कही हुई गाथा के कारण आज मुझे बडा लाभ हुआ। आज मैं शील-व्रत से युक्त ऋषि को देख कर प्रीति-युक्त तथा प्रसन्न हूँ ।।८।।]

चित्त-पण्डित को देखने के समय से ही उसने प्रसन्न हो "मेरे भाई के लिए पलग बिछाओ" आदि आज्ञा देते हुए नौवी गाथा कही—

[आप आसन तथा पादोदक ग्रहण करें। हम आप से अर्घ्य के बारे मे पूछ रहे है। आप हमारा अर्घ्य ग्रहण करें ।।९।।]

इस प्रकार मधुर-स्वागत कर राज्य के बीच में से दो टुकडे करके देते हुए यह गाथा कही—

[तुम्हारे लिए सुन्दर भवन बनायें और नारीगण तुम्हारी सेवा में रहें। मुझ पर कृपा करके मुझे आज्ञा दें। हम दोनो मिलकर यहाँ राज्य करें ।।१०।।]

उसकी यह बात सुन चित-पण्डित ने धर्मोपदेश देते हुए छ गाथायें कहीं—

[हे राजन्! दुष्कर्मो का बुरा फल देखकर और शुभ-कर्मों का महान् विपाक देखकर मैं अपने आपको ही संयत रखूँगा—मुझे पुत्र, पशु तथा धन नहीं चाहिए ।।११।।

प्राणियों का जीवन यहाँ दस दशाब्दों का ही है। बिना उस अवधि को पहुँचे ही प्राणी टूटे बाँस के समान सूख जाता है ।।१२।।

ऐसी अवस्था मे क्या आनन्द, क्या क्रीडा, क्या मजा, क्या धन की खोज ? मुझे पुत्र तथा दारा से क्या प्रयोजन ? राजन् ! मैं बन्धन से मुक्त हूँ ॥१३॥

यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मृत्यु मुझे नही भूलेगी। जब मृत्यु सिर पर हो तो क्या मजा और क्या धन की खोज ॥१४॥

हे राजन् ! चाण्डाल-योनि आदमियों मे निकृष्ट और अधम जाति है। हम अपने पाप-कर्मों के ही कारण पहले चाण्डाल-योनि में उत्पन्न हुए ॥१५॥

अवन्ती में चाण्डाल हुए, नेरञ्जरा के तट पर मृग, नर्मदा के तट पर (?) बाज और आज वही ब्राह्मण-क्षत्रिय ॥१६॥]

इस प्रकार पूर्व समय की निकृष्ट योनियों का प्रकाशन कर अब इस जन्म के भी आयु-संस्कारो के सीमित होने की बात कह पुण्य की प्रेरणा करते हुए चार गाथाएँ कही—

[अल्पायु प्राणी को (मृत्यु के पास) ले जाती है। जरा-प्राप्त के लिए रक्षा का कोई उपाय नही है। हे पञ्चाल ! मेरा यह कहना कर—ऐसे कर्म जिनसे दुख उत्पन्न हो मत कर ॥१७॥ ... ऐसे कर्म जिनका फल दुख हो मत कर ॥१८॥...ऐसे कर्म जो चित्त-मैल रूपी धूल से ढँके हो मत कर ॥१९॥ अल्पायु प्राणी को (मृत्यु के पास) ले जाती है। जरा प्राणी के वर्ण का नाश कर देती है। हे पञ्चाल ! मेरा यह कहना कर—ऐसे कर्म मत कर जो नरक मे उत्पत्ति का कारण हो ॥२०॥]

बोधिसत्व के ऐसा कहने रहने पर राजा ने प्रसन्न हो तीन गाथायें कही—

[हे ऋषि ! जिस तरह से तू कहता है उसी तरह से तेरा यह कहना निश्चयात्मक रूप से सत्य है किन्तु हे भिक्षु ! मेरे पास बहुत काम-भोग (के साधन) हैं और उन्हें मेरे जैसा नही छोड सकता ॥२१॥

जिस तरह से दलदल मे फँसा हुआ हाथी स्थल दिखाई देने पर भी वहाँ नही जा सकता उसी प्रकार मैं भी काम-भोग के दलदल मे फँसा हुआ भिक्षु के मार्ग को नही ग्रहण कर सकता ॥२२॥]

[जिस प्रकार माता-पिता पुत्र के सुख की कामना से उसका अनुशासन करते हैं, उसी प्रकार भन्ते ! आप मुझे उपदेश दें जिससे मैं आगे सुखी होऊँ ॥२३॥]

तब उसे बोधिसत्व ने कहा—

[हे राजन् ! यदि तू इन मानवी काम-भोगो को छोडने का साहस नही कर सकता तो यह कर कि धार्मिक-कर लिया जाय और तेरे राष्ट्र मे अधार्मिक-काम न हो ॥२४॥

तेरे दूत चारों दिशाओं में जाकर श्रमण-ब्राह्मणो को निमन्त्रण देकर लायें। तू अन्न-पान, वस्त्र, शयनासन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ से उनकी सेवा कर ॥२५॥

प्रसन्नतापूर्वक श्रमण-ब्राह्मणों को अन्न-पान से सन्तुष्ट कर। यथासामर्थ्य दान देने और खाने वाला निन्दा-रहित हो स्वर्ग-लोक को प्राप्त होता है ॥२६॥

हे राजन् ! यदि नारीगण से घिरे होने पर तुझ पर राज-मद सवार हो जाय तो इस गाथा को मन मे करना और परिषद् के सामने बोलना ॥२७॥

खुले आकाश के नीचे सोने वाला प्राणी, चलती फिरती माता द्वारा दूध पिलाया गया (प्राणी), कुत्तो से घिरा हुआ (प्राणी) आज राजा कहलाता है ॥२८॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने उसे उपदेश देकर 'मैंने तुझे उपदेश दे दिया। अब तू चाहे प्रव्रजित हो चाहे न हो। मैं स्वयं अपने कर्म के फल को भोगूँगा' कहा और आकाश में उठ कर उसके सिर पर धूलि गिराते हुए हिमालय को ही चले गये। राजा ने भी यह देखा तो उसके मन मे वैराग्य पैदा हुआ। उसने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपा और सेना को सूचित कर हिमालय की ही ओर चला गया। बोधिसत्व को उसका आना ज्ञात हुआ तो ऋषि-मण्डली के साथ आ वह उसे ले कर गये और प्रव्रजित कर योग-विधि सिखाई। उसने ध्यान लाभ किया। इस प्रकार वे दोनो ब्रह्मलोक गामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना 'इस प्रकार भिक्षुओ, पुराने पण्डित तीन-चार जन्मो तक भी परस्पर दृढ विश्वासी रहे' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सम्भूत पण्डित आनन्द था। चित्त पण्डित तो मैं ही था।

—जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९८, चित्तसम्भूत जातक, पृ० ५९८-६०८।

जैन-कथावस्तु का संक्षिप्त सार

जैन-परम्परा मे वर्णित कथावस्तु का बौद्ध-परम्परा के कथा-वस्तु से बहुत अंशो मे समानता है। दोनो के कथा-वस्तु गद्य-पद्य में हैं। उत्तराध्ययन मे वर्णित कथा-वस्तु तथा संवाद पद्य मे हैं। वे ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति से प्रारम्भ होते हैं। इसमें ३५ श्लोक है। टीका में सम्पूर्ण कथा है। वह गद्य म है। भाषा साहित्यिक और ललित है। उत्तराध्ययन मे निबद्ध कथानक मूल मे वहाँ से प्रारम्भ होता है जब दोनो भाई चित्र और सम्भूत (चित्र पुरिमताल नगर के सेठ के पुत्र के रूप मे, मुनि अवस्था मे, तथा सम्भूत ब्रह्म राजा का पुत्र ब्रह्मदत्त के रूप मे) मिलते हैं और सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा करने लगते हैं। चित्र का जीव मुनि-अवस्था मे ब्रह्मदत्त को संसार की असारता, ऐश्वर्य की चंचलता और भोगों की नश्वरता समझाता है और श्रामण्य स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। परन्तु जब वह ब्रह्मदत्त को मुनि बनने के लिए असमर्थ पाता है, तब उसे गृहस्थावस्था मे रहकर ही धर्म मे स्थिर रहने की प्रेरणा देता है परन्तु ब्रह्मदत्त का मन धर्म में नही लगता। मुनि चला जाता है। धर्माराधना कर मुनि सिद्ध हो जाता है। ब्रह्मदत्त भोगासक्त हो नरक में जाता है। ५, ६ और ७ वें श्लोक में पूर्व-जन्मों का नामोल्लेख हुआ है, किन्तु उनका विस्तार यहाँ नहीं है। टीकाकार नेमिचन्द्र ने सुखबोधा (पत्र १८५) में उनके पूर्व के पाँच भवों का विस्तार से वर्णन किया है। जातक के गद्य भाग में उनके

पूर्व के दो भवों का वर्णन है। इसमे कुछ अन्तर भी है। जैन-कथानक के अनुसार उनके छः भव इस प्रकार है—

(१) दसपुर नगर में शाडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न।

(२) कालिंजर पर्वत पर मृगी की कोख से युगल रूप मे उत्पन्न।

(३) मृतगंगा के तीर पर हँसी के गर्भ से उत्पन्न।

(४) वाराणसी मे श्वपाक के पुत्र चित्त-सम्भूत के रूप मे उत्पन्न।

(५) देवलोक मे उत्पन्न।

(६) चित्र का जीव पुरिमताल नगर में ईभ्य सेठ के यहाँ पुत्र रूप मे और सम्भूत का जीव काम्पिल्यपुर मे ब्रह्म राजा की रानी चुलनी के गर्भ में पुत्र रूप से उत्पन्न।[1]

बौद्ध-कथावस्तु का संक्षिप्त सार

(१) नरेञ्जरा नदी के किनारे मृगी की कोख से उत्पन्न।

(२) नर्मदा नदी के किनारे बाज रूप में उत्पन्न।

(३) चित्र का जीव कोशाम्बी मे पुरोहित का पुत्र और संभूत का जीव पाञ्चाल राजा के पुत्र रूप मे उत्पन्न।[2]

जातक में दोनो भाई मिलते हैं। चित्र ने सम्भूत को उपदेश दिया। परन्तु सम्भूत का मन भोगो से विरक्त नही हुआ। उसके सिर पर धूल गिराते हुए चित्र हिमालय की ओर चला गया। राजा सम्भूत ने यह देखा तो उसके मन मे वैराग्य पैदा हुआ और हिमालय की ओर चला गया। चित्र ने उसे योग-विधि सिखाई। उसने ध्यान-लाभ किया। इस प्रकार वे दोनो ब्रह्मलोक गामी हुए।

१–उत्तराध्ययन, १३।५-७

आसिमो भायरा दो वि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो॥
दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीरे, सोवागा कासिभूमिए॥
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा॥

२–जातक, संख्या ४९८, चतुर्थ खण्ड, पृ० ६००।

समान गाथाएँ

उत्तराध्ययन, अध्ययन १३ श्लोक	*चित्त सम्भूत जातक (संख्या ४९८)* गाथा
दासा दसण्णे आसी मिया कालिंजरे नगे। हंसा मयंगतीरे सोवागा कासिभूमिए ॥६॥	चण्डालाहुम्ह अवन्तीसु मिगा ने रञ्जरं पति, उक्कुसा नम्मदा तीरे त्यज्ज ब्राह्मण खत्तिया ॥१६॥
सव्वं सुचिण्णं सफलं नराण कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि । अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि आया मम पुण्णफलोववेए ॥१०॥	सब्बं नरानं सफलं सुचिण्णं न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि, पस्सामि सम्भूतं महानुभावं सकम्मना पुञ्ञफलूपपन्नं ॥१॥
जाणासि संभूय ! महाणुभाग महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं । चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं ! इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥११॥	सब्बं नरानं सफल सुचिण्णं न कम्मना किञ्चन मोघमत्थि, चित्तं विजानाहि तत्थ एव देव इद्धो मन तस्स यथापि तुय्ह ॥३॥
महत्थरूवा वयणप्पभूया गाहाणुगीया नरसंघमज्झे । जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया इहऽज्जयन्ते समणो म्हि जाओ ॥१२॥	सुलद्ध लाभा वत मे अहोसि गाथा सुगीता परिसाय मज्झे, सो हं इसि सील वतूपपन्नं दिस्वा पतीतो सुमनो हमस्मि ॥८॥
उच्चोयए महु कक्के य बम्भे पवेइया आवसहा य रम्मा । इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥१३॥	
नट्टेहि गीएहि य वाइएहि नारीजणाइं परिवारयन्तो भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू ! मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥१४॥	रम्म च ते आवसथं करोन्तु नारीगणेहि परिचारयस्सु, करोहि ओकासं अनुग्गहाय उभो पि इमं इस्सरियं करोम ॥१०॥
उवणिज्जई जीवियमप्पमायं वण्णं जरा हरइ नरस्स राय । पंचालराया ! वयणं सुणाहि मा कासि कम्माइ महालयाइं ॥२६॥	उपनीयती जीवितं अप्पमायु वण्णं जरा हन्ति नरस्स जीवितो करोहि पञ्चाल मम एत वाक्य मा कासि कम्मं निरयूप पत्तिया ॥२०॥

अहं पि जाणामि जहेह साहू !	अद्धा हि सच्चं वचनं तव एतं
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं ।	यथा इसी भाससि एव एतं
भोगा इमे संगकरा हवन्ति	कामा च मे सन्ति अनप्पकप्पा
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं ॥२७॥	ते दुच्चजा मा दिसकेन भिक्खु ॥२१॥
नागो जहा पंकजलावसन्नो	नागो यथा पङ्कमज्झे ब्यसन्नो
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।	पस्सं थलं नाभिसम्भोति गन्तुं
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा	एवं पहं कामपङ्के ब्यसन्नो
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥३०॥	न भिक्खुनो मग्गं अनुब्बजामि ॥२२॥
जइ तासि भोगे चइउं असत्तो	न चे तुवं उस्सहसे जनिन्द
अज्जाइं कम्माइं करेहि राय ! ।	कामे इमे मानुसके पहातु,
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी	धम्मं बलिं पट्ठपयस्सु राज
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥३२॥	अधम्मकारो च ते माहु रट्ठे ॥२४॥

एक विश्लेषण

इन दोनों के निरीक्षण से पता चलता है कि उत्तराध्ययन की कथावस्तु विस्तृत है। परन्तु आगे चल कर जब कुमार ब्रह्मदत्त अपने मंत्री-पुत्र वरधनु के साथ घर से निकल कर दूर चला जाता है और जब तक वे दोनो पुन: अपने नगर में नहीं लौट आते तब तक का कथानक बहुत जटिल हो गया है। अवान्तर छोटी-मोटी घटनाओ के कारण कथावस्तु की शृङ्खला को याद रखना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। किन्तु ये सारी अवान्तर घटनाएँ कुमार ब्रह्मदत्त से सम्बन्धित रहती है और उन सबका अन्त किसी कन्या के साथ पाणिग्रहण से होता है।

कुमार ब्रह्मदत्त वरधनु के साथ अपनी नगरी में आता है। राज्याभिषेक होने के पश्चात् भाई की स्मृति हो आती है। दोनो मिलते हैं। मुनि चित्र का जीव धर्माराधना कर मुक्त हो जाता है। कुमार ब्रह्मदत्त (सम्भूत का जीव) भोगों मे आसक्त हो नरक मे जाता है।

जैन-कथानक में सम्भूत के जीव कुमार ब्रह्मदत्त को नरकगामी बताया है और बौद्ध-परम्परा के सम्भूत को ब्रह्मलोक गामी। यह अन्तर है।

सरपेन्टियर ने माना है कि इन दोनो कथानकों मे केवल कथावस्तु का ही साम्य नही है, किन्तु उनके पद्यो में भी असाधारण साम्य है।[1]

[1] The Uttarādhyayana Sūtra, p 45.

डॉ० घाटगे ने माना है कि जातक का पद्य-भाग गद्य-भाग से ज्यादा प्राचीन है। गद्य-भाग बहुत बाद का प्रतीत होता है। यह तथ्य भाषा और तर्क के द्वारा सिद्ध हो जाता है। यही तथ्य हमें यह मानने के लिए प्रेरित करता है कि उत्तराध्ययन में संगृहीत कथावस्तु दोनों में प्राचीन है।[1]

उनकी यह भी मान्यता है कि उत्तराध्ययन के पद्यों मे उन दोनो के पूर्व-भवो का कोई उल्लेख नहीं मिलता। जब कि उनका संकेत, केवल दोनों के संलाप में है। जातक मे उनके पूर्व-भवों का विस्तार से वर्णन है, जिनको हम अर्वाचीन संशोधन नही मान सकते और न यही मान सकते हैं कि उनका समावेश बाद में हुआ है। सूक्ष्म निरीक्षण से हमें यह भी पता चलता है कि अनेक स्थलों पर जातक कथावस्तु का वर्ण्य-विषय कथा के साथ-साथ चलता है और व्यवस्थित है, परन्तु जैन-कथावस्तु में ऐसा नही है। इसका कारण है कि जैन-कथावस्तु की व्यवस्थापना में परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ है जब कि बौद्ध-कथावस्तु मे ऐसा नही हुआ। क्योंकि उन पर लिखी गई टीकाओ ने उनके गद्य-पद्यो की संख्या निर्धारित कर दी और उन्हें अन्तिम रूप से स्थापित कर दिया ताकि उनमें कोई परिवर्तन न हो। यद्यपि जातक का गद्य-भाग उत्तराध्ययन की रचना-काल से बहुत बाद में लिखा गया था, तो भी उसमें पूर्व-भवो का सुन्दर संकलन हुआ है जब कि जैन-कथावस्तु में वह छूट गया है।[2]

सरपेन्टियर ने १३वें अध्ययन के प्रथम तीन श्लोकों को अर्वाचीन माना है।[3] परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट तर्क उपस्थित नहीं किया है। चूर्णि, टीका आदि व्याख्या-ग्रन्थ इस विषय की कोई ऊहापोह नही करते। प्रकरण की दृष्टि से भी ये श्लोक अनुपयुक्त नहीं लगते। इन तीन श्लोको में उनके जन्म-स्थल, जन्म का कारण और परस्पर मिलन का उल्लेख है। दोनो भाई मिलते हैं और अपने-अपने सुख-दुःख के विपाक का कथन करते हैं। ये श्लोक आगे के श्लोको से संबद्ध हैं। यह सही है कि ये तीन श्लोक आर्या छन्द में निबद्ध हैं और आगे के श्लोक अनुष्टुप, उपजाति आदि विभिन्न छन्दो मे निबद्ध हैं। किन्तु छन्दो की भिन्नता से ये प्रक्षिप्त या अर्वाचीन नही माने जा सकते।

उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्ययन की कथावस्तु हस्तिपाल जातक (संख्या ५०९) से बहुत अंशों में मिलती है। कथा की संघटना और पात्रो का विवरण जैन-कथा के

---

१. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol 17, (1935-1936): A few parallels in Jain and Buddhist works, p. 342, by A M Ghatage, M A..

२. वही, पृ० ३४२-३४३।

३. The Uttarādhyayana Sūtra, p. 326.

समान ही हैं। महाभारत में भी पिता-पुत्र का एक संवाद है और उसके कई श्लोक उत्तराध्ययन के श्लोकों मे अक्षरश समान हैं। हम सर्वप्रथम तीनों परम्पराओं में प्रचलित कथावस्तु को प्रस्तुत कर उस पर ऊहापोह करेंगे।

इषुकार (उत्तराध्ययन, अ० १४)

चित्र और सम्भूत, पूर्व-जन्म में, दो ग्वाले मित्र थे। उन्हे साधु के अनुग्रह से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे वहाँ से मर कर देवलोक मे गए। वहाँ से च्युत हो कर उन्होने क्षितिप्रतिष्ठित नगर के एक इभ्य-कुल मे जन्म लिया। वे बडे हुए। चार इभ्य-पुत्र उनके मित्र बने। उन सबने युवावस्था मे काम-भोगो का उपभोग किया, फिर स्थविरों से धर्म सुन प्रव्रजित हुए। चिरकाल तक संयम का अनुपालन किया। अन्त मे अनशन कर सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान मे चार पल्य की स्थिति वाले देव बने। दोनों ग्वाल-पुत्रो को छोड कर शेष चारो मित्र वहाँ से च्युत हुए। उनमे एक कुरु जनपद के इषुकार नगर मे इषुकार नाम का राजा हुआ और दूसरा उसी राजा की रानी कमलावती। तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा भृगु पुरोहित की पत्नी यशा। बहुत काल बीता। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नही हुआ। पति-पत्नी चिन्तित रहने लगे।

एक बार उन दोनो ग्वाल-पुत्रो ने, जो अभी देव-भव मे थे, अवधिज्ञान से जाना कि वे भृगु पुरोहित के पुत्र होगे। वे वहाँ से चले। श्रमण का रूप बना भृगु पुरोहित के पास आए। भृगु और यशा दोनो ने वन्दना की। मुनियो ने धर्म का उपदेश दिया। भृगु-दम्पति ने श्रावक के व्रत स्वीकार किए। पुरोहित ने पूछा—"भगवन्! हमारे कोई पुत्र होगा या नही ?" श्रमण युगल ने कहा—"तुम्हे दो पुत्र होंगे, किन्तु वे बाल्यावस्था मे ही दीक्षित हो जाएँगे। उनकी प्रव्रज्या में तुम्हें कोई व्याघात उपस्थित नही करना होगा। वे दीक्षित हो कर धर्म-शासन की प्रभावना करेंगे।" इतना कह दोनों श्रमण वहाँ से चले गए। पुरोहित पति-पत्नी को प्रसन्नता हुई। कालान्तर मे वे दोनो देव पुरोहित-पत्नी के गर्भ में आए। दीक्षा के भय से पुरोहित नगर को छोड व्रज गाँव मे जा बसा। वहाँ पुरोहित की पत्नी यशा ने दो पुत्रों को जन्म दिया। वे कुछ बडे हुए। माता-पिता ने सोचा, ये कही दीक्षित न हो जाएँ, अत एक बार उनसे कहा—"पुत्रो! ये श्रमण सुन्दर-सुन्दर बालको को उठा ले जाते हैं और मार कर उनका मांस खाते हैं। उनके पास तुम दोनों कभी मत जाना।"

एक बार दोनों बालक खेलते-खेलते गाँव से बहुत दूर निकल गए। उन्होने देखा कि कई साधु उसी मार्ग से आ रहे हैं। भयभीत हो वे एक वृक्ष पर चढ गए। संयोगवश साधु भी उसी वृक्ष की सघन छाया मे आ बैठे। बालको का भय बढा। माता-पिता की शिक्षा स्मृति-पटल पर नाचने लगी। साधुओं ने कुछ विश्राम किया। झोली से पात्र

निकाले और सभी एक मण्डली में भोजन करने लगे। बालकों ने देखा कि मुनि के पात्रों में मांस जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। साधुओं को सामान्य भोजन करते देख बालकों का भय कम हुआ। बालकों ने सोचा—अहो! हमने ऐसे साधु अन्यत्र भी कहीं देखे हैं। चिन्तन चला। उन्हें जातिस्मृति-ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे नीचे उतरे, मुनियों को वन्दना की और सीधे अपने माता-पिता के पास आ कर बोले—

"हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत है और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।"

उनके पिता ने उन कुमार मुनियों को तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली बातें कहीं—"पुत्रो! वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनको पुत्र नहीं होता, उनकी गति नहीं होती।

"पुत्रो! इसलिए वेदों को पढ़ो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ। स्त्रियों के साथ भोग करो। पुत्रों को उत्पन्न करो। उनका विवाह कर, घर का भार सौंप कर फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना।"

दोनों कुमारों ने सोच-विचार पूर्वक उस पुरोहित को—जिसका मन और शरीर, आत्म-गुण रूपी इन्धन और मोह रूपी पवन से अत्यन्त प्रज्वलित, शोकाग्नि से संतप्त और परितप्त हो रहा था, जिसका हृदय वियोग की आशंका से अतिशय छिन्न हो रहा था, जो एक-एक कर अपना अभिप्राय अपने पुत्रों को समझा रहा था, उन्हें धन और क्रम-प्राप्त काम-भोगों का निमंत्रण दे रहा था—ये वाक्य कहे—

"वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी त्राण नहीं होते। इसलिए आपने जो कहा, उसका अनुमोदन कौन कर सकता है?

"ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।

"जिसे कामनाओं से मुक्ति नहीं मिली, वह पुरुष अतृप्ति की अग्नि से संतप्त हो कर दिन-रात परिभ्रमण करता है। दूसरों के लिए प्रमत्त हो कर धन की खोज में लगा हुआ, वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है।

"यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है, और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाए?

"जिसके लिए लोग तप किया करते हैं, वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन

और इन्द्रियों के विषय तुम्हे यहीं प्राप्त है, फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो ?"—पिता ने कहा।

पुत्र बोले—"पिता ! जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है। वहाँ धन स्वजन और इन्द्रिय-विषय का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नही। हम गुण-समूह से सम्पन्न श्रमण होगे, प्रतिबन्ध-मुक्त हो कर गाँवो और नगरो में विहार करने वाले और भिक्षा ले कर जीवन चलाने वाले भिक्षु होगे।'

"पुत्रो ! जिस प्रकार अरणी में अविद्यमान् अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिल में तेल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर मे जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नही रहता"—पिता ने कहा।

कुमार बोले—' पिता ! आत्मा अमूर्त है, इसलिए यह इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता। यह अमूर्त है, इसलिए नित्य है। यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु है और बन्धन ही ससार का हेतु है—ऐसा कहा है।

"हम धर्म को नहीं जानते थे, तब घर मे रहे, हमारा पालन होता रहा और मोह-वश हमने पाप-कर्म का आचरण किया। किन्तु अब फिर पाप-कर्म का आचरण नही करेंगे।

"यह लोक पीड़ित हो रहा है, चारो ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आ रही है। इस स्थिति मे हमे सुख नही मिल रहा है।"

"पुत्रो ! यह लोक किससे पीडित है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहा जाता है ? मैं जानने के लिए चिन्तित हूं"—पिता ने कहा।

कुमार बोले—"पिता ! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीडित हे, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है।

"जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नही आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती है।

"जो-जो रात बीत रही हे, वह लौट कर नही आती। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती हैं।"

"पुत्रो ! पहले हम सब एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतो का पालन करें, फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे"—पिता ने कहा।

पुत्र बोले—"पिता ! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुंह से बच कर पलायन कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूंगा।

"हम आज ही उस मुनि-धर्म को स्वीकार कर रहें हैं, जहाँ पहुँच कर फिर जन्म

लेना न पडे। भोग हमारे लिए अप्राप्त नही है—हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके है। राग-भाव को दूर कर श्रद्धा पूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त है।"

"पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर मे नही रह सकता। हे वाशिष्ठि ! अब मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओ से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूँठ कहते हैं।

"बिना पंख का पक्षी, रण-भूमि मे सेना-रहित राजा और जल-पोत पर धन-रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो जाता हूँ।"

वाशिष्ठी ने कहा—"ये सुसंस्कृत और प्रचुर शृङ्गार-रस से परिपूर्ण इन्द्रिय-विषय, जो तुम्हे प्राप्त हैं, उन्हे अभी हम खूब भोगें। उसके बाद हम मोक्ष-मार्ग को स्वीकार करेंगे।"

पुरोहित ने कहा—"हे भवति ! हम रसो को भोग चुके है। वय हमें छोडते चला जा रहा है। मैं असंयम-जीवन के लिए भोगो को नही छोड रहा हूँ। लाभ-अलाभ और सुख-दुःख को समदृष्टि से देखता हुआ मुनि-धर्म का आचरण करूँगा।"

वाशिष्ठी ने कहा—"प्रतिस्रोत में बहने वाले बूढे हँस की तरह तुम्हे पीछे अपने बन्धुओ को याद न करना पडे, इसलिए मेरे साथ भोगों का सेवन करो। यह भिक्षाचर्या और ग्रामानुग्राम विहार सचमुच दुःखदायी है।"

पुरोहित ने कहा—"हे भवति ! जैसे साप अपने शरीर की केंचुली को छोड मुक्त-भाव से चलता है, वैसे ही पुत्र भोगो को छोड कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यो रहूँ, उनका अनुगमन क्यो न करूँ ?

"जैसे रोहित मच्छ जर्जरित जाल को काट कर बाहर निकल जाते हैं, वैसे ही उठाए हुए भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी और धीर पुरुष काम-भोगो को छोड कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं।"

वाशिष्ठी ने कहा—"जैसे क्रौंच पक्षी और हँस बहेलियो द्वारा बिछाए हुए जालों को काट कर आकाश मे उड जाते है, वैसे ही मेरे पुत्र और पति जा रहे हैं। पीछे मैं अकेली क्यो रहूं ? उनका अनुगमन क्यो न करूँ ?"

'पुरोहित अपने पुत्र और पत्नी के साथ भोगों को छोड कर प्रव्रजित हो चुका है'—यह सुन राजा ने उसके प्रचुर और प्रधान धन-धान्य आदि को लेना चाहा, तब महारानी कमलावती ने बार-बार कहा—

"राजन् ! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो, यह क्या है ?

"यदि समूचा जगत् तुम्हे मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नही होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।

"राजन् ! इन मनोरम काम-भोगों को छोड कर जब कभी मरना होगा । हे नरदेव ! एक धर्म ही त्राण है । उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नही दे सकती ।

"जैसे पक्षिणी पिंजडे मे आनन्द नही मानती, वैसे ही मुझे इस बंधन मे आनन्द नहीं मिल रहा है । मैं स्नेह के जाल को तोड कर अकिंचन, सरल क्रिया वाली, विषय-वासना से दूर और परिग्रह एव हिंसा के दोषो से मुक्त हो कर मुनि-धर्म का आचरण करूँगी ।

"जैसे दवाग्नि लगी हुई है, अरण्य मे जीव-जन्तु जल रहे हैं, उन्हे देख राग-द्वेष के वशीभूत हो कर दूसरे जीव प्रमुदित होते है, उसी प्रकार काम-भोगो मे मूर्च्छित हो कर हम मूढ़ लोग यह नहीं समझ पाते कि यह समूचा ससार राग-द्वेष की अग्नि से जल रहा है ।

"विवेकी पुरुष भोगो को भोग कर फिर उन्हे छोड कर वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहार करते हैं और वे स्वेच्छा से विचरण करने वाले पक्षियो की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतंत्र विहार करते हैं ।

"आर्य ! जो काम-भोग अपने हाथो में आए हुए है और जिनको हमने नियंत्रित कर रखा है, वे कूद-फाँद कर रहे हैं । हम कामनाओ मे आसक्त बने हुए हैं, किन्तु अब हम भी वैसे ही होंगे, जैसे कि अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ भृगु हुए है ।

"जिस गीध के पास मास होता है, उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं और जिसके पास मांस नही होता, उस पर नही झपटते—यह देख कर मैं आमिष (धन, धान्य आदि) को छोड, निरामिष हो कर विचरूँगी ।

"गीध की उपमा से काम-भोगो को संसार-वर्धक जान कर मनुष्य को इनसे इसी प्रकार शंकित हो कर चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड के सामने सांप शंकित हो कर चलता है ।

"जैसे बन्धन को तोड कर हाथी अपने स्थान (विंध्याटवी) में चला जाता है, वैसे ही हमें अपने स्थान (मोक्ष) मे चले जाना चाहिए । हे महाराज इषुकार ! यह पथ्य है, इसे मैंने ज्ञानियों से सुना है ।"

राजा और रानी विपुल राज्य और दुस्त्यज्य काम-भोगो को छोड निर्विषय, निरामिष, नि स्नेह और निष्परिग्रह हो गए ।

धर्म को सम्यक् प्रकार से जान, आकर्षक भोग-विलास को छोड, वे तीर्थङ्कर के द्वारा उपदिष्ट घोर तपश्चर्या को स्वीकार कर संयम मे घोर पराक्रम करने लगे ।

इस प्रकार वे सब क्रमश बुद्ध हो कर धर्म-परायण, जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न बन गए तथा दु:ख के अन्त की खोज में लग गए ।

जिनकी आत्मा पूर्व-जन्म में कुशल-भावना से भावित थी, वे सब—राजा, रान ; ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मणी और दोनो पुरोहित कुमार अर्हत् के शासन मे आ कर दु ख का अत पा गए—मुक्त हो गए।

— उत्तराध्ययन, १४।७-५३।

हत्थिपाल जातक

पूर्व समय में वाराणसी में एसुकारी नाम का राजा था। उसका पुरोहित बचपन से उसका प्रिय सहायक था। वे दोनो अपुत्रक थे। एक दिन उन्होंने सुखपूर्वक बैठे हुए विचार किया, हमारे पास ऐश्वर्य बहुत है, पुत्र अथवा पुत्री नही है, क्या किया जाय ? तब राजा ने पुरोहित से कहा—"यदि तुम्हारे घर मे पुत्र उत्पन्न होगा, तो मेरे राज्य का स्वामी होगा, यदि मेरे घर में पुत्र पैदा होगा तो तुम्हारे घर की सम्पत्ति का मालिक होगा।" इस प्रकार वे दोनो परस्पर वचन-बद्ध हुए। एक दिन पुरोहित अपनी जमींदारी के गाँव में गया। वापस लौटने पर जब वह दक्षिणद्वार से नगर में प्रवेश कर रहा था तो उसने नगर के बाहर अनेक पुत्रों वाली एक दरिद्र स्त्री को देखा। उसके सात पुत्र थे। सभी निरोग। एक के हाथ मे पकाने की हाँडी थी। एक के हाथ में चटाई। एक आगे-आगे चल रहा था। एक पीछे-पीछे। एक ने अँगुली पकड रखी थी। एक गोद मे था। एक कन्धे पर बैठा था।

उससे पुरोहित ने पूछा—"भद्रे ! इन बच्चो का पिता कहाँ हैं ?" "स्वामी ! इनका कोई एक ही निश्चित पिता नही है।" "इस प्रकार के सात पुत्र क्या करने से मिले ?" उसे जब कोई अन्य आधार न दिखाई दिया तो उसने नगर-द्वार स्थित निग्रोध-वृक्ष की ओर संकेत करके कहा—"स्वामी ! इस निग्रोध-वृक्ष पर रहने वाले देवता से प्रार्थना करने से मिले, इसी ने मुझे पुत्र दिए।" पुरोहित ने उसे तो 'तू जा' कह कर विदा किया। तब वह स्वयं रथ से उतर, निग्रोध-वृक्ष के नीचे पहुँचा। उसकी शाखा पकड कर हिलाई और बोला—"हे देवपुत्र ! तुझे राजा से क्या नही मिलता। राजा प्रति वर्ष हजार (मुद्राओं) का त्याग कर बलि देता है। तू उसे पुत्र नही देता। इस दरिद्र स्त्री ने तेरा क्या उपकार किया है कि उसे सात पुत्र दिए हैं। यदि हमारे राजा को पुत्र नहीं देगा, तो आज से सातवें दिन तुझे जड से उखडवा कर टुकडे-टुकडे कर दूँगा।" इस प्रकार वह वृक्ष-देवता को धमका कर चला गया। उसने इसी प्रकार अगले दिन और फिर अगले दिन लगातार छः दिनों तक धमकी दी। छठे दिन शाखा को पकड कर बोला—"हे वृक्ष-देवता ! अब आज केवल एक रात शेष रह गई है। यदि मेरे राजा को पुत्र नही देगा तो कल तुझे समाप्त कर दूँगा।" वृक्ष-देवता ने विचार कर इस बात की गहराई को

समझा। इस ब्राह्मण को यदि पुत्र नही मिला, तो यह मेरा विमान नष्ट कर देगा, इसे किस प्रकार पुत्र दिया जाय? उसने चारों महाराजाओं के पास पहुँच वह बात कही। वे बोले—'हम उसे पुत्र नहीं दे सकते।' अट्ठाईस यक्ष-सेनापति के पास गया। उन्होंने भी वैसा ही उत्तर दिया। देवराज शक्र के पास जा कर कहा। उसने भी इसे योग्य पुत्र मिलेगा अथवा नहीं? का विचार करते हुए चार देव-पुत्रों को देखा। वे पूर्व-जन्म में बनारस में जुलाहे हुए थे। उन्होंने जो कुछ कमाया, उसके पाँच हिस्से कर के चार हिस्से खाए और एक-एक हिस्सा इकट्ठा करके दान दिया। वे वहाँ से च्युत हो कर त्रयोत्रिंश भवन मे पैदा हुए। वहाँ से याम-भवन मे। इस प्रकार ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर छः देव-लोकों मे सम्पत्ति का उपभोग करते हुए विचरते रहे। उस समय उनकी त्रयोत्रिंश भवन से च्युत होकर यामभवन जाने की बारी थी। शक्र ने उनके पास पहुँच, उन्हें बुलाकर कहा—'मित्रो, तुम्हे मनुष्य-लोक आना चाहिए, वहाँ एसुकारी राजा की पटरानी के गर्भ से जन्म ग्रहण करो।' वे उसका कहना सुनकर बोले—'देव, अच्छा जायेंगे। लेकिन हमें राज-कुल से प्रयोजन नही है। हम पुरोहित के घर में जन्म ग्रहण कर, कुमार अवस्था मे ही प्रव्रजित होंगे।' शक्र ने 'अच्छा' कहा और उनसे प्रतिज्ञा करा ली। फिर आकर वृक्ष-देवता से वह बात कही। उसने सन्तुष्ट हो शक्र को नमस्कार किया और अपने विमान के प्रति गमन किया।

अगले दिन पुरोहित ने भी कुछ मजबूत आदमियो को लिया और कुल्हाडी आदि ले वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ जा वृक्ष की शाखा पकड बोला—'हे देवता, आज मुझे याचना करते-करते सातवाँ दिन हो गया। अब तेरा अन्त समय आ पहुँचा।' तब वृक्ष-देवता ने बडे ठाट-बाट के साथ पेड को तने की खोह में से निकलकर उसे मधुर-स्वर से बुलाया और कहा—'ब्राह्मण, एक पुत्र की बात जाने दो, मैं तुम्हें चार पुत्र दूँगा।' 'मुझे पुत्र नही चाहिए, हमारे राजा को पुत्र दे।' 'तुम्ही को मिलेंगे।' 'तो दो मुझे, और दो राजा को।' 'राजा को नही, चारो तुम्ही को मिलेंगे और तुमको भी वे केवल मिलेंगे ही, क्योकि वे घर में न रहकर कुमार अवस्था में हो प्रव्रजित हो जायेंगे।' 'तुम पुत्र दो, उन्हें प्रव्रजित न होने देने की हमारी जिम्मेवारी है।'

वृक्ष-देवता ने उसे वर दे अपने भवन में प्रवेश किया। उसके बाद से देवता का आदर-सत्कार बढ गया। ज्येष्ठ देव-पुत्र च्युत होकर पुरोहित की ब्राह्मणी की कोख में आया। नामकरण के दिन उसका नाम हस्तिपाल रखा गया और प्रव्रजित होने से रोके रखने के लिए उसे हाथीवानो को सौपा गया। वह उनके पास पलने लगा। उसके पदचिह्नों पर आ पडने के समान दूसरा च्युत होकर रानी के गर्भ में आया। उसका भी जन्म ग्रहण करने पर अश्वपाल नाम रखा गया। वह साइसों के पास पलने लगा। तीसरे का नाम जन्म होने पर गो-पाल रखा गया। वह ग्वालों के साथ बढ़ने लगा।

चौथे के पैदा होने पर अज-पाल नाम। वह बकरियाँ चराने वालो के साथ बढ़ने लगा। वे बड़े होने के साथ-साथ सौभाग्यशाली हुए।

उनके प्रव्रजित होने के डर से राज्य-सीमा से सभी प्रव्रजितों को निकाल दिया गया। सारे काशी-राष्ट्र में एक प्रव्रजित भी नहीं रह गया। वे कुमार कठोर स्वभाव के थे, जिस दिशा में जाते, उस दिशा मे ले जाई जाने वाली भेंट लूट लेते। सोलह वर्ष की आयु होने पर हस्तिपाल के शरीर बल का ख्याल कर राजा और पुरोहित दोनों ने मिलकर सोचा—'कुमार बड़े हो गये। उनके राज्याभिषेक का समय हो गया। अब क्या करना चाहिए। फिर सोचा, अभिषिक्त होने पर और भी उद्दण्ड हो जायेंगे। उन्हें देखकर ये भी प्रव्रजित हो जायेंगे। इनके प्रव्रजित होने पर जनता उबल खड़ी होगी। अभी विचार कर लें। बाद में अभिषिक्त करेंगे।'

यह सोच, दोनों ने ऋषि-वेष बनाया और भिक्षाटन करते हुए हस्तिपाल कुमार के निवास-स्थान पर पहुंचे। कुमार उन्हें देखकर सन्तुष्ट हुआ, प्रसन्न हुआ। उसने पास आकर प्रणाम किया और तीन गाथायें कहीं—

चिरस्सं वत पस्साम
ब्राह्मणं देवण्णिनं,
महाजटं भारधरं
पंकदंतं रजस्सिरं ॥१॥
चिरस्सं वत पस्साम इसिं धम्मगुणे रतं,
कासायवत्थवसनं वाकचीर पटिच्छद ॥२॥
आसनं उदकं पज्ज पटिगण्हातु नो भवं,
अग्घे भवन्तं पुच्छाम, अग्घ कुरुतु नो भवं ॥३॥

(१) मैं चिरकाल के बाद मलिन-दन्त, भस्मयुक्त, जटाधारी, भारवाही, देव-तुल्य ब्राह्मणो का दर्शन कर रहा हूँ।

(२) मैं चिरकाल के बाद, धर्म-रत, काषाय-वर्ण, वल्कल चीरधारी ब्राह्मणों को देख रहा हूँ।

(३) आप हमारा आसन, तथा पादोदक ग्रहण करें। हम आपसे यह पूज्य-वस्तु ग्रहण करने की प्रार्थना कर रहे हैं। आप यह पूज्य वस्तु ग्रहण करें।

इस प्रकार उसने उनसे एक-एक कर के बारी-बारी पूछा। तब पुरोहित बोला—
'तात, तू हमें क्या समझ कर ऐसा कह रहा है ?'

'हिमालयवासी ऋषिगण।'

'तात, हम ऋषि नहीं हैं, यह राजा एसुकारी है और मैं तुम्हारा पिता पुरोहित।'

'तो, तुमने ऋषि-भेष क्यों बनाया ?'

'तेरी परीक्षा लेने के लिए।'

'मेरी क्या परीक्षा लेने हो ?'

'यदि हमें देखकर प्रव्रजित न हो, तो हम राज्याभिषिक्त करने के लिए आए है।'

'तात! मुझे राज्य नहीं चाहिए, मैं प्रव्रजित होऊँगा।'

तब उसके पिता ने 'तात हस्तिपाल, यह प्रव्रज्या का समय नही है', कह अपने आशय के अनुसार उसे उपदेश देते हुए चार गाथाएँ कही—

अधिच्च वेदे परियेस वित्तं,
पुत्ते गेहे तात पतिट्ठपेत्वा
गन्धे रसे पच्चनुभुत्व सब्बं
अरञ्ञ साधु, मुनि सो पसत्थो ॥४॥

'वेदाध्ययन कर, धनार्जन कर, हे तात! जो पुत्रों को राज्यादि पर स्थापित कर तथा सभी कामभोगों को भोगकर अरण्य मे प्रविष्ट होना है, उसका ऐसा करना साधु है और उस मुनि की प्रशंसा होती हे।'

तब हस्तिपाल बोला—

वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो
न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति,
गन्धे रसे मुच्चन आहु सन्तो
सकम्मुना होति फलूपपत्ति ॥५॥

'न वेद सत्य हैं और न धन-लाभ सत्य है, और न पुत्र-लाभ से ही जरा का नाश होता है। सन्त पुरुषों का कहना है कि गन्ध-रस आदि काम-भोग मूर्च्छा है। अपने किए कर्म से ही फल की प्राप्ति होती है।'

कुमार का कथन सुनकर राजा बोला—

अद्धा हि सच्चं, वचनं तवेतं
सकम्मुना होति फलूपपत्ति
जिण्णा च माता पितरो च तव यिमे
पस्सेय्युं त वस्स सतं अरोगं ॥६॥

'निश्चय से तेरा यह कथन सत्य है कि स्वकर्म से ही फल की प्राप्ति होती है। तेरे माता-पिता वृद्ध हो गए हैं। वे तुझे सौ वर्ष तक नीरोग देखें।'

यह सुन कुमार ने 'देव ! आप यह क्या चाहते हैं ?' कह दो गाथाएँ कहीं—

यस्स अस्स सक्खी मरणेन राज
जराय मेत्ती नरविरियसेट्ठ,
यो चापि जञ्ञा स मरिस्सं कदाचि
पस्सेय्युं तं वस्ससतं अरोग ॥७॥
यथापि नावं पुरिसोदकम्हि
एरेति चे न उपनेति तीरं
एवम्पि व्याधी सततं जरा च
उपनेन्ति मच्च वसं अन्तकस्स ॥८॥

'राजन् ! जिसकी मृत्यु से मैत्री हो, हे नरवीर्य श्रेष्ठ ! जिसका जरा के साथ सखा-भाव हो और जो यह जानता हो कि मैं कभी नहीं मरूँगा उसी के सौ वर्ष तक नीरोग देखने की बात कही जा सकती है।'

'जिस प्रकार आदमी यदि नौका को पानी में चलाता है, तो वह उसे किनारे पर ले ही जाती है, उसी प्रकार जरा और व्याधि आदमी को मृत्यु के पास ले जाते हैं।'

इस प्रकार प्राणियों के जीवन-संस्कार की तुच्छता प्रकट कर, 'महाराज, आप रहें, आपके साथ बातचीत करते ही करते व्याधि-जरा मरण मेरे समीप चले आ रहे हैं, अप्रमादी बन कह रहे हैं' कह, राजा तथा पिता को नमस्कार कर, अपने सेवकों को साथ ले, वाराणसी राज्य को त्यागकर प्रव्रजित होने के उद्देश्य से निकल पड़ा। यह प्रव्रज्या सुन्दर होगी सोच हस्तिपाल कुमार के साथ जनता निकल पड़ी। योजन भर का जुलूस हो गया। उसने उस जन-समूह के साथ गंगा तट पर पहुँच, गंगा के जल को देख, योगाभ्यास कर ध्यान लाभ किया और तब सोचने लगा—'यहाँ बहुत जनता एकत्र हो जाएगी। मेरे तीनों छोटे भाई, माता-पिता, राजा तथा देवी, सभी अनुयाइयों सहित प्रव्रजित हो जायेंगे, वाराणसी खाली हो जायगी, इनके आने तक मैं यहीं रहूं।' वह जनता को उपदेश देता हुआ वहीं रहा।

फिर एक दिन राजा और पुरोहित ने सोचा, 'हस्तिपाल कुमार तो राज्य छोड़ कर, लोगों को साथ ले, प्रव्रजित होने के उद्देश्य से जाकर गंगा-तट पर बैठ गया, हम अश्वपाल की परीक्षा कर उसे ही अभिषिक्त करेंगे।' वे ऋषि-वेष धारण कर उसके भी गृह-द्वार पर पहुँचे। उसने भी उन्हें देख, प्रसन्न हो, पास जाकर 'चिरस्स व्रत' आदि गाथाएँ कह वैसा ही व्यवहार किया। उन्होंने उसे वैसा ही उत्तर दे अपने आने का कारण बताया। उसने पूछा—'मेरे भाई हस्तिपाल कुमार के रहते उससे पहले मैं ही कैसे श्वेत-छत्र का अधिकारी होता हूँ ?' उत्तर मिला—'तात ! तेरा भाई, 'मुझे राज्य की अपेक्षा नहीं,

मैं प्रव्रजित होऊंगा' कह चला गया।' पूछा—'वह इस समय कहाँ है ?' 'गंगा-तट पर !' 'तात ! मेरे भाई ने जिसे थूक दिया, उसकी मुझे जरूरत नही है।' 'मूर्ख, तुच्छ-प्रज्ञ प्राणी ही इस क्लेश का त्याग नही कर सकते, किन्तु मैं त्याग करूँगा।' इतना कह, राजा तथा पुरोहित को उपदेश देते हुए उसने दो गाथाएँ कही—

पको च कामा पलिपो च कामा
मनोहरा दुत्तरा, मच्चुधेय्या,
एतस्मि पके पलिपे ब्यसन्ना
हीनत्तरूपा न तरन्ति पारं ॥९॥
अयं पुरे लुद्द अकासि कम्मं
स्वाय गहीतो, न हि मोक्ख इतो मे
ओरुधिया नं परिरक्खिस्सामि
माय पुन लुद्दं अकासि कम्मं ॥१०॥

'काम-भोग कीचड हैं, काम भोग दलदल हैं, मनोहर है, दुस्तर हैं, मरण-मुख है। इस कीचड में, इस दलदल में फँसे हुए हीनात्म लोग तैर कर पार नही हो सकते।'

'मैंने पूर्व जन्म मे रौद्र-कर्म किया। उसका फल अब भोग रहा हूं। उससे मोक्ष नहीं है। अब मैं वाणी और कर्मेन्द्रियो की रक्षा करूँगा, ताकि फिर मुझसे रौद्र-कर्म न हो।'

'आप रहे, आपके साथ बात करते ही करते व्याधि, जरा, मरण आदि आ पहुँचते है' कह, उपदेश दे, योजन-भर जनता को साथ ले, निकल कर हस्तिपाल कुमार के पास पहुँचा। उसने आकाश में बैठ, उसे धर्मोपदेश देते हुए कहा—'भाई ! यहाँ बडा जन-समूह एकत्र होगा। अभी हम यही रहें।' दूसरे ने भी 'अच्छा' कह स्वीकार किया।

फिर एक दिन राजा और पुरोहित उसी प्रकार गोपाल-कुमार के घर पहुँचे। उसके द्वारा भी उसी प्रकार स्वागत किए जाने पर उन्होने अपने आने का कारण कहा। उसने भी अश्वपाल-कुमार की ही तरह अस्वीकार किया। बोला—'मैं चिरकाल से खोए बैल को ढूँढने वाले की तरह प्रव्रज्या को ढूँढता फिर रहा हूं। बैल के पद-चिह्नो की तरह मुझे वह मार्ग दिखाई दे गया है, जिस पर भाई चला है। अब मैं उसी मार्ग से चलूँगा।'

इतना कह, यह गथा कही—

गवं व नट्ठं पुरिसो यथा वने
परियेसति राज अपस्समानो,
एवं नट्ठो एसुकारी मं अत्थो
सो हं कथं न गवेसेय्य राज ॥११॥

'हे राजन् ! जिस प्रकार वह आदमी जिसका बैल खो गया है और दिखाई नहीं

देता, वह जंगल में अपने बैल को खोजता है, उसी प्रकार हे एसुकारी ! मेरा जो प्रव्रज्या रूपी अर्थ नष्ट हो गया, उसे मैं आज कैसे न खोजूं ।'

वे बोले—'तात गोपाल, एक दो दिन प्रतीक्षा कर। हमारे आश्वस्त होने पर पीछे प्रव्रजित होना।' उसने, 'महाराज, यह नहीं कहना चाहिए कि आज करने योग्य कार्य कल करूँगा। शुभ-कर्म आज और आज ही करना चाहिए'—कह, शेष गाथाएँ कहीं—

> **हिय्यो ति हिय्यो ति पोसो परेति (परिहायति)**
> **अनागत नेतं अत्थीति ञत्वा**
> **उपन्नछन्द को पनुदेय्य धीरो ॥१२॥**

जो पुरुष कल और परसों करता रहता है, उसका पतन होता है। यह जान कर कि भविष्य-काल है ही नहीं, कौन धीर-पुरुष किसी (कुशल) सकल्प को टालेगा।

इस प्रकार गोपाल-कुमार ने दो गाथाओं से धर्मोपदेश दिया। फिर 'आप रहे, आपके साथ बातचीत करते ही करते व्याधि, जरा, मरण आदि आ पहुँचते हैं' कह, योजन-भर जनता को साथ ले, निकल कर, दोनों भाइयों के पास ही चला गया। हस्तिपाल ने उसे भी आकाश में बैठकर धर्मोपदेश दिया।

फिर अगले दिन राजा और पुरोहित उसी प्रकार अजपाल कुमार के घर पहुँचे। उसके भी उसी प्रकार आनन्द प्रकट करने पर उन्होंने अपने आने का कारण कह, छत्र धारण करने की बात कही। कुमार ने पूछा—'मेरे भाई कहाँ है ?' 'वे हमें राज्य की अपेक्षा नहीं है' कह, श्वेत-छत्र छोड़, तीन योजन अनुयाइयों को साथ ले, निकल, जाकर गङ्गा-तट पर बैठे हैं।' 'मैं अपने भाइयों के थूक को, सिर पर लिए-लिए नहीं घूमूँगा। मैं भी प्रव्रजित होऊँगा। 'तात ! तू अभी छोटा है।' हमारे हाथ का सहारा है। आयु होने पर प्रव्रजित होना।' कुमार ने उत्तर दिया—'आप क्या कहते हैं ? क्या ये प्राणी बचपन में भी और बूढ़े होने पर भी नहीं मरते हैं ? यह बचपन में मरेगा और यह बूढ़े होने पर मरेगा—इसका किसी के भी हाथ अथवा पाँव में कोई प्रमाण नहीं। मैं अपना मृत्यु-काल नहीं जानता। इसलिए अभी प्रव्रजित होऊँगा।' इतना कह दो गाथायें कहीं'—

> **पस्सामि वोहं दहरिं कुमारिं**
> **मत्तूपमं केतकपुप्फनेत्तं**
> **अभुत्व भोगे पठमे वयस्मिं**
> **आदाय मच्चु वजते कुमारिं ॥१३॥**
> **युवा सुजातो सुमुखो सुदस्सनो**
> **सामो कुसुम्भपरिकिण्णमस्सु—**
> **हित्वान कामे पटिगच्छ गेहं**
> **अनुजान मं, पब्बजिस्सामि देव ॥१४॥**

'मैं देखता हूँ कि हास-विलास-युक्त, मस्त, केतक पुष्प के समान विशाल नेत्रों वाली कुमारी को, जिसने काम-भोगों को नहीं भोगा है, प्रथम-आयु में ही मृत्यु के कर बम देती है।'

'उसी प्रकार कुलीन, सुन्दर, सुदर्शन, स्वर्ण-वर्ण, तरुण को जिसकी दाढी केसर की तरह बिखरी है, लेकर चल देती है। इसलिए मैं काम-भोगों तथा घर को छोडकर प्रव्रजित होना चाहता हूँ। आप मुझे अनुज्ञा दें।'

इस प्रकार कह, 'और आप रहें, आपके साथ बातचीत करते ही करते व्याधि, जरा मरण आदि आ पहुँचते हैं' कह कर उसने दोनों को प्रणाम किया। फिर योजन भर जनता को अनुयाई बना, निकलकर, गंगा-तट पर ही जा पहुँचा। हस्तिपाल ने उसे भी आकाश में बैठकर धर्मोपदेश दिया। 'बड़ा जन-समूह एकत्र होगा' सुन वह भी वहीं बैठ गया।

फिर अगले दिन पालथी मारे बैठे पुरोहित ने सोचा—मेरे पुत्र प्रव्रजित हो गए अब मैं अकेला ही मनुष्य रूपी ठूँठ हो कर रह गया हूँ। मैं भी प्रव्रजित होऊँगा। यह सोच उसने ब्राह्मणी के साथ विचार-विमर्श करते हुए यह गाथा कही—

साखाहि रुक्खो लभते समञ्ज
पहीनसाखं पन खाणुं आहु,
पहीनपुत्तस्स ममज्ज होति
वासेट्ठि भिक्खाचरियाय कालो ॥१५॥

'शाखा सहित होने से ही पेड को वृक्ष कहते हैं। शाखा-रहित पेड ठूँठ कहलाता है। हे वासेट्ठि ! इस समय मैं पुत्र-विहीन हूँ। इसलिए यह मेरा प्रव्रजित होने का समय है।'

यह कहकर उसने ब्राह्मणों को बुलवाया। साठ हजार ब्राह्मण इकट्ठे हो गए। उसने उन्हें पूछा—'तुम क्या करोगे ?' 'और आचार्य तुम ?' 'मैं तो पुत्र के पास प्रव्रजित होऊँगा।' उसने अस्सी-करोड धन ब्राह्मणों को सौंपा, योजन-भर ब्राह्मण-जनता को साथ ले, निकलकर पुत्र के ही पास पहुँचा। हस्तिपाल ने उस जन-समूह को भी आकाश में खड़े होकर धर्मोपदेश दिया।

फिर अगले दिन ब्राह्मणी सोचने लगी—मेरे चारों पुत्र श्वेत-छत्र छोडकर प्रव्रजित होने के लिए चले गए। ब्राह्मण भी पुरोहित-पद और अस्सी करोड धन छोडकर पुत्रों के पास ही गया। मैं यहाँ क्या करूँगी। मैं भी पुत्रों का ही अनुगमन करूँगी। उसने पूर्वकालीन उदाहरण को लाते हुए उल्लास गाथा कही—

अघस्मि कोञ्चा व यथा हिमच्चये
तन्तानि जालानि पदालिय हंसा,
गछन्ति पुत्ता च पती च मय्हं
साहं कथ नानुवजे पजानं ॥१६॥

'जिस प्रकार आकाश मे क्रोच (पक्षी) जाते है अथवा जिस प्रकार हिमपात के समय हंस जाल को काटकर चले गए, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पति मुझे छोड कर चले गए। अब मैं अपने पुत्रों का अनुकरण कैसे न करूँ ?'

इस प्रकार उसने 'मैं ऐसी सोचती हुई भी, क्यो न प्रव्रजित होऊँ ?' सोच, निश्चय करके, ब्राह्मणियो को बुलवाया और पूछा—'तुम क्या करोगी ?' 'और आर्ये ! तुम ?' 'मे प्रव्रजित होऊँगी।' 'हम भी प्रव्रजित होगी।' उसने वह वैभव छोड दिया और योजन-भर अनुयाइयो को साथ ले, पुत्रो के पास ही गई। हस्तिपाल ने उस परिषद् को भी, आकाश मे बैठे धर्मोपदेश दिया।

फिर अगले दिन राजा ने पूछा—'पुरोहित कहाँ है ?' 'देव ! पुरोहित और उसकी ब्राह्मणी, सारा धन छोड, दो-तीन योजन अनुयाइयो को साथ ले, पुत्रो के पास ही चले गए।' 'जिसका स्वामी नही, ऐसा धन राजा का होता है।' ऐसा सोच राजा ने उसके घर से धन मंगवा लिया।

तब राजा की पटरानी ने पूछा—'राजा क्या करता है ?' उत्तर मिला—'पुरोहित के घर से धन मँगवा रहा है।' तब प्रश्न किया—'पुरोहित कहाँ है?' उत्तर मि ा—'सपत्नीक प्रव्रज्या के लिए निकल पडा है।' यह बात सुनी, तो पटरानी ने सोचा—'यह राजा ब्राह्मण, ब्राह्मणी तथा चार पुत्रो द्वारा परित्यक्त मल और थूक को, मोह से मूढ होने के कारण, अपने घर उठवा कर मगवा रहा है। इसे उपमा द्वारा समझाऊँगी।' उसने कसाई-घर से मास मंगवाया, राजागन मे ढेर लगवा दिया, और सीधा-रास्ता छोड जाल तनवा दिया। गीध दूर से ही देखकर मांस के लिए उतरे। उनमें जो बुद्धिमान थे, उन्होने जाल फैला देख सोचा कि भारी हो जाने पर हम सीधे न उड सकेंगे। वे खाया हुआ मास भी छोड, जाल में न फँस, सीधे उडकर ही चले गए। किन्तु जो अन्धे-मूर्ख थे, उन्होंने उनका परित्यक्त, वमित मांस खाया और भारी हो जाने के कारण सीधे न उठ सके। वे जाकर जाल में फँस गए।

तब एक गीध लाकर रानी को दिखाया गया। उसने उसे लिया और राजा के समीप जाकर बोली, 'महाराज आयें, राजागंन मे एक तमाशा देखें।' उसने झरोखा खोला और 'महाराज, इन गीधो को देखें, कह दो गाथाएँ कही—

एते भुत्वा वमित्वा च पक्कमन्ति विहंगमा,
ये च भुत्वा न वमिंसु ते मे हत्थत्थं आगता ॥१७॥
अवमी ब्राह्मणो कामे, ते त्वं पच्चावमिस्ससि,
वन्तादो पुरिसो राज न सो होति पसंसियो ॥१८॥

'इनमें जो खाकर वमन कर दे रहे हैं, वे पक्षी उडे जा रहे हैं, और जो खाकर वमन नहीं कर सकते, वे मेरे हाथ मे आ फँसे।'

'ब्राह्मण ने जिन काम-भोगों का तिरस्कार किया, उन्हे तू उपभोग करने आ रहा है। हे राजन् ! वमन किए हुए को खाने वाले की प्रशंसा नही होती।'

यह सुन राजा को पश्चात्ताप हुआ। उसे तीनो भव जलते हुए प्रतीत हुए। उसने सोचा कि मुझे आज ही राज्य छोड कर प्रव्रजित हो जाना चाहिए। उसके मन मे वैराग्य पैदा हो गया। तब उसने देवी की प्रशंसा करते हुए यह गाथा कही—

पके व पोसं पलिपे ब्यसन्नं
बली यथा दुब्बलं उद्धरेय्य,
एव पि मं त्वं उदतारि भोति
पञ्चालि गाथाहि सुभासिताहि ॥१९॥

'जैसे कोई बलवान् आदमी कीचड अथवा दलदल मे फँसे किसी दुर्बल मनुष्य का उद्धार कर दे, उसी प्रकार हे पञ्चाली ! तूने सुभाषित गाथाओ द्वारा मेरा उद्धार कर दिया है।'

यह कह और उसी क्षण प्रव्रजित होने की इच्छा से अपने अमात्यों को बुलाकर पूछा—'तुम क्या करोगे ?' 'और देव ! आप ?' 'मैं हस्तिपाल के समीप प्रव्रजित होऊँगा।' 'देव ! हम भी प्रव्रजित होगे।' राजा ने बारह योजन के वाराणसी नगर का राज्य छोड दिया और घोषणा कर दी कि जिन्हे जरूरत हो वे श्वेत-छत्र धारण करें। वह तीन-योजन अनुयाइयो के साथ कुमार के ही पास पहुँचा। कुमार ने उसकी परिषद् को भी आकाश में बैठ धर्मोपदेश दिया।

शास्ता ने राजा के प्रव्रजित होने की बात को प्रकाशित करते हुए यह गाथा कही—

इदं वत्वा महाराज एसुकारी दिसम्पति।
रट्ठं हित्वान पब्बजि नागो छेत्वा व बंधनं ॥२०॥

'यह कहकर दिशा-पति महाराज एसुकारी उसी प्रकार राष्ट्र छोडकर प्रव्रजित हो गया, जैसे हाथी बन्धन को काट डालता है।'

फिर एक दिन नगर मे अवशिष्ट जनो ने इकट्ठे हो, राजद्वार पहुँच, देवी को सूचना

करा, राज-भवन मे प्रवेश कर, देवी की वन्दना की और एक ओर खडे हो यह गाथा कही—

राजा च पब्बज्जं आरोचयित्थ
रट्ठं पहाय नरविरियसेट्ठो,
तुवम्पि नो होहि यथेव राजा
अम्हेहि गुत्ता अनुसास रज्जं ॥२१॥

'राजा को प्रव्रज्या अच्छी लगी। वह नरवीर्यश्रेष्ठ राज छोड कर चला गया। अब तुम हमारी वैसी ही 'राजा' बन जाओ। हमारे द्वारा सुरक्षित रह कर राज्यानुशासन करो।'

उसने जनता का कहना सुन शेष गाथाएँ कही—

राजा च पब्बज्जं आरोचयित्थ
रट्ठं पहाय नरविरियसेट्ठो
अहं पि एका चरिस्सामि लोके
हित्वान कामानि मनोरमानि ॥२२॥
राजा च ···· ········· ··
हित्वान कामानि यथोधिकानि ॥२३॥
अच्चेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो
वयोगुणा अनुपब्बं जहन्ति,
अहं पि एका चरिस्सामि लोके
हित्वान कामानि मनोरमानि ॥२४॥
अच्चेन्ति·· ········· · ·
हित्वान कामानि यथोधिकानि ॥२५॥
अच्चेन्ति··············· ······ ·
सीतिभूता सब्बं अतिच्च संगं ॥२६॥

'राजा को प्रव्रज्या अच्छी लगी। वह नरवीर्यश्रेष्ठ राज्य छोडकर चला गया। मैं भी मनोरम काम-भोगो को छोडकर लोक मे अकेली विचरूँगी।'

'राजा को··· मैं भी नाना प्रकार के काम-भोगो को छोडकर लोक में अकेली विचरूँगी।'

'काल चला जाता है, रातें गुजर जाती हैं, आयु क्रमानुसार व्यतीत हो जाती है। मैं भी मनोरम काम-भोगो को छोड कर लोक मे अकेली विचरूँगी।'

'काल चला जाता है ··· । मैं भी नाना प्रकार के काम-भोगो को छोड कर लोक में अकेली विचरूँगी ।'

'काल चला जाता है··· । मैं भी सारी आसक्तियो को छोड शान्त-चित्त हो लोक में अकेली विचरूँगी ।'

इस प्रकार उसने इन गाथाओ से जनता को धर्मोपदेश दे अमात्य-भार्य्याओ को बुलवा कर पूछा—'तुम क्या करोगी ?' 'और आर्ये तुम ?' 'मैं प्रव्रजित होऊँगी ।' 'हम भी प्रव्रजित होगी ।' उसने 'अच्छा' कह राजभवन के स्वर्णागार आदि खुलवाये और फिर 'अमुक स्थान पर बडा खजाना गडा है' सोने की पाटी पर लिखवा कर घोषणा की कि यह दिया ही है (लेने वाले) ले जायें । फिर उस सोने की पट्टी को ऊँचे खम्भे में बंधवा कर नगर में मुनादी करवा, महान् सम्पत्ति छोड, नगर से निकल पडी । उस समय सारे नगर मे खलबली मच गई। लोग सोचने लगे—'राजा और देवी राज्य छोड कर प्रव्रजित होने के लिए चले गए, अब हम क्या करें ?' तब लोग भरे-भराये घर छोड, पुत्रो को हाथ में ले निकल पडे । तमाम दुकानें खुली की खुली रह गई । लौट कर कोई देखने वाला न था । सारा नगर खाली हो गया । देवी भी तीन-योजन अनुयाइयो को लेकर वही पहुंची । हस्तिपाल कुमार ने उसके अनुयाइयो को भी आकाश मे बैठ धर्मोपदेश दिया । फिर बारह योजन अनुयाइयों को साथ ले हिमवन्त की ओर चल दिया । 'जब हस्तिपाल कुमार बारह योजन की वाराणसी को खाली करके, प्रव्रजित होने के लिए, जनता को लेकर हिमाचल चला जा रहा है, तो हमारी क्या गिनती हे'—सोच सारे काशी राष्ट्र मे खलबली मच गई । आगे चलकर तीस योजन अनुयायी हो गए । वह उन अनुयाइयो को ले हिमालय में प्रविष्ट हुआ ।

शक्र ने ध्यान लगाकर देखा तो उसे पता चला कि हस्तिपाल कुमार अभिनिष्क्रमण कर निकल पडा । उसने सोचा, बडी भीड होगी । निवासस्थान की व्यवस्था होनी चाहिए । शक्र ने विश्वकर्मा को बुलाकर आज्ञा दी—'जा छत्तीस योजन लम्बा और पन्द्रह योजन चौड़ा आश्रम बनाकर उसमें प्रव्रजितो की आवश्यकताएँ लाकर रख ।' उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और गङ्गा-तट पर रमणीय प्रदेश में उक्त लम्बाई-चौड़ाई का आश्रम बना दिया । फिर पर्णशालाओं में पीढे, आसन आदि बिछाकर प्रव्रजित की सभी आवश्यकताओ की व्यवस्था की । एक-एक पर्णशाला के द्वार पर एक-एक चंक्रमण-भूमि, रात्रि और दिन के लिए, चूना पुता सहारे का पटड़ा, उन-उन जगहो पर नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से लदे हुए पुष्प-वृक्ष, एक-एक चंक्रमण-भूमि के सिरे पर एक-एक पानी भरा कुंआ, उसके पास एक-एक फल-वृक्ष । वह (वृक्ष) अकेला ही सभी प्रकार के फल ला देता था । यह सब देव-प्रताप से हुआ । विश्वकर्मा ने आश्रम का निर्माण कर,

पर्णशालाओं में प्रव्रजितों की आवश्यकताएँ दीवार पर अक्षर लिखे, जो कोई भी प्रव्रजित होना चाहे, इन प्रव्रजितों की आवश्यकताओं को ले ले।" फिर अपने प्रताप से भयानक शब्द, मृग, पक्षी, दुर्दर्शनीय अमनुष्यों को दूर करके अपने स्थान को ही चला गया।

हस्तिपाल कुमार ने डण्डी-डण्डी जाकर शक्र के दिए हुए आश्रम में प्रवेश किया और लिखे अक्षरों को देख, सोचा शक्र ने मेरे महान् अभिनिष्क्रमण की बात जान ली होगी। उसने द्वार खोल, पर्णशाला मे प्रवेश किया और ऋषियों के ढंग की प्रव्रज्या के चिह्नों को लेकर निकल पडा। फिर चंक्रमण-भूमि मे उतर, कई बार इधर-उधर जा, सारी जनता को प्रव्रजित कर, आश्रम का विचार किया। तब तरुण पुत्रों और स्त्रियों को बीच की जगह मे पर्णशाला दी, उसके बाद बूढी स्त्रियों को, उसके बाद बाँझ स्त्रियों को, और अन्त में चारो ओर घेर कर पुरुषो को स्थान दिया।

तब एक राजा यह सुन कि वाराणसी मे राजा नही है, आया। उसने सजे-सजाये नगर को देख, राज-भवन में चढ, जहाँ-तहाँ रत्नो के ढेर देख सोचा, 'इस प्रकार के नगर को छोड प्रव्रजित होने के समय से यह प्रव्रज्या महान् होगी।' उसने एक पियक्कड से मार्ग पूछा और हस्तिपाल के पास ही चला गया। हस्तिपाल को जब पता लगा कि वह वन के सिरे पर आ पहुँचा है, तो अगवानी कर, आकाश मे बैठ धर्मोपदेश दे, आश्रम ला, सभी लोगों को प्रव्रजित किया। इसी प्रकार और भी छ राजा प्रव्रजित हुए। सात राजाओं ने सम्पत्ति छोडी। छत्तीस-योजन का आश्रम सारा का सारा भर गया। जो काम-वितर्क आदि वितर्कों मे से किसी संकल्प को मन मे जगह देता, महापुरुष उसे धर्मोपदेश दे ब्रह्म-विहार और योग-विधि बताते। उनमे से अधिकाश ध्यान तथा अभिज्ञा प्राप्त कर तीन हिस्सों में से दो हिस्से ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए। फिर तीसरे हिस्से के तीन हिस्से करके, एक हिस्सा ब्रह्मलोक मे पैदा हुआ, एक छः काम-लोगो में, एक ऋषियों की सेवा कर मनुष्य लोक में तीनो कुशल सम्पत्तियो में पैदा हुए। इस प्रकार हस्तिपाल के शासन में न कोई नरक मे पैदा हुआ, न कोई पशु होकर पैदा हुआ, न कोई प्रेत होकर पैदा हुआ और न कोई असुर होकर पैदा हुआ।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १७५

अतिक्रामति कालेऽस्मिन्, सर्वभूतक्षयावहे।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत, तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

राजा युधिष्ठिर ने पूछा—'पितामह ! समस्त भूतों का संहार करनेवाला यह काल बराबर बीता जा रहा है, ऐसी अवस्था मे मनुष्य क्या करने से कल्याण का भागी हो सकता है ? यह मुझे बताइए।'

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ! ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—'युधिष्ठिर ! इस विषय में ज्ञानी पुरुष पिता और पुत्र के संवाद रूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवाद को ध्यान देकर सुनो।'

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ !, स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी, मेधावी नाम नामतः ॥३॥

कुन्तीकुमार ! प्राचीन काल मे एक ब्राह्मण थे, जो सदा वेदशास्त्रों के स्वाध्याय मे तत्पर रहते थे। उनके एक पुत्र हुआ, जो गुण से तो मेधावी था ही नाम से भी मेधावी था।

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः, स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो, लोकतत्त्वविचक्षणः ॥४॥

वह मोक्ष, धर्म और अर्थ में कुशल तथा लोकतत्त्व का अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस पुत्र ने अपने स्वाध्याय-परायण पिता से कहा—

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानां, क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम् ।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं, ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥५॥

पुत्र बोला—'पिताजी ! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुष को क्या करना चाहिए ? तात ! आप मुझे यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए, जिसके अनुसार मैं धर्म का आचरण कर सकूँ।'

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र, पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥६॥

पिता ने कहा—'बेटा ! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे, फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके पितरों की सद्गति के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा करे। विधिपूर्वक विविध अग्नियों की स्थापना करके यज्ञों का अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रम मे प्रवेश करे। उसके बाद मौनभाव से रहते हुए संन्यासी होने की इच्छा करे।'

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥७॥

पुत्र ने कहा—'पिताजी ! यह लोक जब इस प्रकार से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है, जरा अवस्था द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया है, दिन और रात सफलतापूर्वक

आयु-क्षय रूप काम कर बीत रहे है, ऐसी दशा मे भी आप धीर की भाँति कैसी बात कर रहे हैं।'

कथमभ्याहतो लोक., केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह, किं नु भीवयसीव माम् ॥८॥

पिता ने पूछा—'बेटा ! तुम मुझे भयभीत-सा क्यो कर रहे हो ? बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रखा है, और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं।'

मृत्युनाभ्याहतो लोको, जरया परिवारित.।
अहोरात्राः पतन्त्येते, ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥९॥

पुत्र ने कहा—'पिताजी ! देखिए, यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है। बुढापे ने इसे चारो ओर से घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियो की आयु का अपहरणस्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यो नही है ?

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥१०॥

'ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं इस बात को जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभर के लिए भी रुक नही सकती और मैं उसके जाल में फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ ?

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यथा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥११॥

'जब एक-एक रात बीतने के साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है, तब छिछले जल मे रहनेवाली मछली के समान कौन सुख पा सकता है ?

तदैव वन्ध्य दिवसमिति विद्याद् विचक्षण.।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥१२॥

'जिस रात के बीतने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिन को विद्वान् पुरुष व्यर्थ ही गया समझे। मनुष्य की कामना पूरी भी नहीं होने पाती कि मौत उसके पास आ पहुँचती है।

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥१३॥

'जैसे घास चरते हुए भेडों के पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर

चल देती है, उसी प्रकार मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो, मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु, मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥१४॥

'इसलिए जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिए। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय, क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायेंगे और मौत आपको खींच ले जाएगी।

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः, कृतमस्य न वा कृतम् ॥१५॥

'कल किया जाने वाला काम आज ही पुरा कर लेना चाहिए। जिसे सायंकाल में करना है, उसे प्रातःकाल में ही कर लेना चाहिए; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं।

को हि जानाति कस्याद्य, मृत्युकालो भविष्यति।
अबुद्ध एवाक्रमते, मीनान् मीनग्रहो यथा॥

'कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा? सम्पूर्ण जगत् पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है तो उसे पहले से निमंत्रण नहीं भेजती है। जैसे मछुए चुपके से आकर मछलियों को पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है।

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥१६॥

'अतः युवावस्था में ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिए, क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है। धर्माचरण करने से इस लोक में कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है।

मोहेन हि समाविष्टः, पुत्रदारार्थमुद्यतः।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा, पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥१७॥

'जो मनुष्य मोह में डूबा हुआ है, वही पुत्र और स्त्री के लिए उद्योग करने लगता है और करने तथा न करने योग्य काम करके इन सबका पालन-पोषण करता है।

तं पुत्रपशुसम्पन्नं, व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति ॥१८॥

'जैसे सोए हुए मृग को बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओं से सम्पन्न एवं उन्हीं में मन को फँसाए रखने वाले मनुष्य को एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है।

संचिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्र पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति ॥१९॥

'जब तक मनुष्य भोगों से तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभी तक ही उसे मौत आकर ले जाती है। ठीक वैसे ही, जैसे व्याघ्र किसी पशु को ले जाता है।

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥२०॥

'मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा है, इस प्रकार चेष्टाजनित सुखमें आसक्त हुए मानव को काल अपने वश मे कर लेता है।

कृतानां फलमप्राप्तं, कर्मणां कर्मसञ्ज्ञितम्।
क्षेत्रापणगृहासक्त, मृत्युरादाय गच्छति ॥२१॥

'मनुष्य अपने खेत, दूकान और घर मे ही फँसा रहता है, उसके किए हुए उन कर्मों का फल मिलने भी नहीं पाता, उसके पहले ही उस कर्मासक्त मनुष्य को मृत्यु उठा ले जाती है।

दुर्बलं बलवन्तं च, शूरं भीरु जडं कविम्।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान्, मृत्युरादाय गच्छति ॥२२॥

'कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या डरपोक तथा मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसको समस्त कामनाओ के पूर्ण होने से पहले ही उसे उठा ले जाती है।

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च, दुःखं चानेककारणम्।
अनुषक्तं यदा देहे, किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥२३॥

'पिताजी! जब इस शरीर में मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणो से होने वाले दुःखों का आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं?

जातमेवान्तकोऽन्ताय, जरा चान्वेति देहिनम्।
अनुषक्ता द्वयेनैते, भावा स्थावरजङ्गमाः ॥२४॥

'देहधारी जीव के जन्म लेते ही अन्त करने के लिए मौत और बुढ़ापा उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनो से बँधे हुए हैं।

मृत्योर्वा मुखमेतद् वै, या ग्रामे वसतो रतिः ।
देवानामेव वै गोष्ठो, यदरण्यमिति श्रुतिः ॥२५॥

'ग्राम या नगर में रह कर जो स्त्री-पुत्र आदि में आसक्ति बढायी जाती है, यह मृत्यु का मुख ही है और जो वन का आश्रय लेता है, यह इन्द्रियरूपी गौओं को बाँधने के लिए गोशाला के समान है, यह श्रुति का कथन है ।

निबन्धनी रज्जुरेषा, या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति, नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥२६॥

'ग्राम में रहने पर वहाँ के स्त्री-पुत्र आदि विषयों मे जो आसक्ति होती है, यह जीव को बाँधने वाली रस्सी के समान है । पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काट कर निकल पाते हैं । पापी पुरुष इसे नही काट पाते ।

न हिंसयति यो जन्तून्, मनोवाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः, प्राणिभि र्न स हिंस्यते ॥२७॥

'जो मनुष्य मन, वाणी और शरीररूपी साधनों द्वारा प्राणियों की हिंसा नहीं करता, उसकी भी जीवन और अर्थ का नाश करने वाले हिंसक प्राणी हिंसा नहीं करते है ।

न मृत्युसेनामायान्तीं, जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं, सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥२८॥

'सत्य के बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्यु की सेना का कभी सामना नही कर सकता ; इसलिए असत्य को त्याग देना चाहिए ; क्योंकि अमृतत्व सत्य में ही स्थित है ।

तस्मात् सत्यव्रताचारः, सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः, सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥२९॥

'अत मनुष्य को सत्यव्रत का आचरण करना चाहिए । सत्य-योग मे तत्पर रहना और शास्त्र की बातों को सत्य मान कर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियों का संयम करना चाहिए । इस प्रकार सत्य के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकता है ।

अमृतं चैव मृत्युश्च, द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात्, सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥३०॥

'अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीर मे ही स्थित हैं । मनुष्य मोह से मृत्यु को और सत्य से अमृत को प्राप्त होता है ।

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी, कामक्रोधबहिष्कृतः ।
समदुःखसुखः क्षेमी, मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥३१॥

'अतः अब मैं हिंसा से दूर रह कर सत्य की खोज करूँगा, काम और क्रोध को हृदय से निकाल कर दुःख और सुख मे समान भाव रखूँगा तथा सबके लिए कल्याणकारी बन कर देवताओं के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊँगा।

शान्तियज्ञरतो दान्तो, ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च, भविष्याम्युदगायने ॥३२॥

'मैं निवृत्ति-परायण हो कर शान्तिमय यज्ञ मे तत्पर रहूँगा, मन और इन्द्रियो को बस मे रख कर ब्रह्मयज्ञ (वेद-शास्त्रो के स्वाध्याय) मे लग जाऊँगा और मुनिवृत्ति मे रहूँगा। उत्तरायण के मार्ग से जाने के लिए मैं जप और स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादिरूप कर्मयज्ञ का अनुष्ठान करूँगा।

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः, क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥३३॥

'मेरे-जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देने वाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचो के समान अपने शरीर के ही रक्त-मास द्वारा किए जाने वाले तामस यज्ञो का अनुष्ठान कैसे कर सकता है?

यस्य वाङ्मनसी स्यातां, सम्यक् प्रणिहिते सदा।
तपस्त्यागश्च सत्यं च, स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥३४॥

'जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भली-भाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्य से सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं, नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥३५॥

संसार मे विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।

आत्मन्येवात्मना जात, आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा।
आत्मन्येव भविष्यामि, न मां तारयति प्रजा ॥३६॥

'मैं संतान-रहित होने पर भी परमात्मा मे ही परमात्मा द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, परमात्मा में ही स्थित हूँ। आगे भी आत्मा मे ही लीन हो जाऊँगा। संतान मुझे पार नहीं उतारेगी।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं, यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं, ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥३७॥

'परमात्मा के साथ एकता तथा समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्ड का परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से उपरति—इनके समान ब्राह्मण के लिए दूसरा कोई धन नहीं है।

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते, किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं, पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥३८॥

'ब्राह्मणदेव पिताजी! जब आप एक दिन मर ही जायेंगे तो आपको इस धन से क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओं से आपका क्या काम है तथा स्त्री आदि से आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? आप अपने हृदयरूपी गुफा में स्थित हुए परमात्मा को खोजिए। सोचिए तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गए।'

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत् पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥३९॥

भीष्मजी कहते हैं -- नरेश्वर! पुत्र का यह वचन सुन कर पिता ने जैसे सत्य-धर्म का अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्य-धर्म में तत्पर रह कर यथायोग्य बर्ताव करो।'

जैन कथावस्तु का संक्षिप्त सार

जैन-कथावस्तु तथा बौद्ध-कथावस्तु में बहुत साम्य है। सारी कथावस्तु एक ही धुरी पर घूमती-सी प्रतीत होती है। जो कुछ अन्तर है, वह बहुत ही सामान्य है। जैन-कथावस्तु के छह पात्र हैं—

(१) महाराज इषुकार
(२) महारानी कमलावती
(३) पुरोहित भृगु
(४) पुरोहित की पत्नी यशा
(५,६) पुरोहित के दो पुत्र

पुरोहित के दोनों पुत्र दीक्षा के लिए प्रस्तुत होते हैं। माता-पिता उन्हें ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार गार्हस्थ्य-धर्म के अनुशीलन का उपदेश देते हैं और पुत्र संसार की असारता को दिखाते हुए एक दिन प्रव्रजित हो जाते हैं। माता-पिता भी उनके साथ दीक्षित हो जाते हैं। पुरोहित का कोई उत्तराधिकारी नहीं होने से राजा का मन उसकी धन-सम्पत्ति लेने के लिए ललचा जाता है। रानी उस परित्यक्त धन को वमन से उपमित करती है। राजा का मन विरक्ति से भर जाता है। राजा-रानी दोनों प्रव्रजित हो जाते हैं।

बौद्ध-कथावस्तु का संक्षिप्त सार

बौद्ध-कथावस्तु के आठ पात्र हैं—

(१) राजा एसुकारी
(२) पटरानी
(३) पुरोहित
(४) पुरोहित की पत्नी
(५) पुत्र हस्तिपाल
(६) दूसरा पुत्र अश्वपाल
(७) तीसरा पुत्र गोपाल
(८) चौथा पुत्र अजपाल

न्यग्रोध-वृक्ष के देवता के वरदान से पुरोहित के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं। चारों प्रव्रजित होने के लिए प्रस्तुत होते हैं। पिता उनकी परीक्षा करता है। पिता और पुत्रों में संवाद होता है। चारों बारी-बारी से पिता के समक्ष जीवन की नश्वरता, संसार की असारता, मृत्यु की अविकलता और काम-भोगों की मोहकता का प्रतिपादन करते हैं। चारों दीक्षित हो जाते हैं। पुरोहित भी प्रव्रजित हो जाता है। अगले दिन ब्राह्मणी भी प्रव्रज्या ले लेती है। राजा-रानी भी प्रव्रजित हो जाते हैं।

एक विश्लेषण

उत्तराध्ययन की भूमिका में सरपेन्टियर ने लिखा है कि 'यह कथानक जातक के गद्य भाग से आश्चर्यकारी समानता प्रस्तुत करता है और वस्तुत यह प्राचीन होना चाहिए।'[1]

डॉ० घाटगे ने जैन-कथावस्तु को व्यवस्थित, स्वाभाविक और यथार्थ बताया है। उनकी मान्यता है कि जैन-कथावस्तु जातक से प्राचीन है। उन्होंने जैन-कथावस्तु की जातक से तुलना करते हुए लिखा है—"जातक में संगृहीत कथावस्तु पूर्ण है और पुरोहित के चारों पुत्रों के जन्म का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करती है। यह वर्णन जैन-कथावस्तु में नहीं है।

1. The Uttarādhyayana Sūtra, Page 332, Foot note No. 2;
This legend certainly presents a rather striking resemblance to the prose introduction of the Jataka 509, and must consequently be old.

"दूसरा अन्तर पुत्रो की संख्या सम्बन्धी है। जातक मे पुरोहित के चार पुत्रो का उल्लेख है और उत्तराध्ययन में केवल दो का। ...जैन-कथावस्तु के अनुसार पुरोहित और राजा के बीच कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता, किन्तु जातक से यह ज्ञात होता है कि पुरोहित चारों पुत्रो की परीक्षा करने के लिए राजा का परामर्श लेता है और (पुरोहित और राजा) दोनों मिल कर दीक्षा ग्रहण सम्बन्धी पुत्रों की इच्छा की परीक्षा करते है। जैन-कथावस्तु के अनुसार यह ज्ञात होता है कि जब पुरोहित का सारा कुटुम्ब दीक्षित हो जाता है, तब राजा धर्मशास्त्र के अनुसार उसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेता है। इसका असर रानी के मन पर पडता है और वह साध्वी बनने के लिए प्रस्तुत होती है। राजा को भी दीक्षित होने के लिए प्रेरित करती है। जैन-कथानक का यह तथ्य अधिक स्वाभाविक और यथार्थ है। जातक में ऐसा नहीं है। इसी प्रकार जातक के कथानक मे वर्णित चार पुत्रो का समान चरित्र, पुरोहित को न्यग्रोध वृक्ष-देवता द्वारा चार पुत्रो का वरदान प्राप्त होना, राजा को एक भी पुत्र की प्राप्ति न होना, जब कि उसे पुत्र-लाभ की अत्यन्त आवश्यकता थी तथा राजा और पुरोहित का सम्बन्ध आदि-आदि तथ्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-कथावस्तु प्राचीन ही नही, किन्तु बहुत सुरक्षित और व्यवस्थित तथा रोचक है।"[1]

महाभारत के दो अध्यायो (शान्तिपर्व, अ० १७५ तथा २७७) मे ऐसा वर्णन है, जिससे इस कथावस्तु के अन्तर्गत आए हुए पिता-पुत्र के संवाद की तुलना की जा सकती है। दोनो अध्यायों का प्रतिपाद्य एक है, नामो का भी अन्तर नही है। दोनो प्रकरणो (अध्याय १७५ तथा २७७) मे महाराज युधिष्ठिर भीष्म पितामह से कल्याण का मार्ग पूछते हैं और उत्तर देते हुए भीष्म एक ब्राह्मण तथा उसके पुत्र 'मेधावी' के संवाद रूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहले प्रकरण में ३९ (अथवा दक्षिणात्य के अनुसार ४०½) श्लोक हैं और दूसरे प्रकरण में ३९ श्लोक हैं। दोनो प्रकरणो के श्लोक प्राय समान हैं, कही-कहीं केवल शब्दो का अन्तर है।[2]

उत्तराध्ययन के इस अध्ययन में ५३ श्लोक हैं। उनके साथ इन अध्यायों का बहुत साम्य है। पद्यों का अर्थ-साम्य और शब्द-साम्य वस्तुतः विस्मय में डाल देता है। जैन और बौद्ध-कथावस्तु में पिता और पुत्र के साथ-साथ राजा और रानी का भी पूरा प्रसंग आता है और वे सब अन्त में प्रव्रजित हो जाते हैं। महाभारत के इस संवाद मे केवल

१-Annals of the Bhandārkar Oriental Research Institute, Vol 17 (1935-1936), 'A few parallels in Jain and Buddhist works', page 343, 344.

२-देखिए—महाभारत, शान्तिपर्व (पृष्ठ ४८७१-४८७४ तथा ५१३८-५१४१)।

पिता-पुत्र का ही मुख्य प्रसंग है और अन्त मे पुत्र के उपदेश से पिता सत्य-धर्म के अनुष्ठान में उद्यत हो जाता है।

महाभारत के इन अध्यायों के सूक्ष्म अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि पिता ब्राह्मण-धर्म की बात पुत्र को समझाता है और उसे वेद का अध्ययन करने, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने, पितरो की सद्गति के लिए पुत्र पैदा करने तथा यज्ञों का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित करता है और तदनन्तर वानप्रस्थ-आश्रम को स्वीकार करने की बात कहता है। किन्तु पुत्र इन सबका निरसन करता है। निरसन-काल में वह जो तथ्य प्रस्तुत करता है, वे श्रमण-परम्परा सम्मत प्रतीत होते है। वह कहता है—

(१) सन्यास के लिए काल की कोई इयत्ता नही होनी चाहिए।
(२) मध्यम वय मे धर्माचरण करना चाहिए।
(३) किए हुए कर्मों का भोग अवश्यम्भावी है।
(४) यज्ञ अकरणीय हैं।
(५) हिंसायुक्त पशु-यज्ञ तामस यज्ञ हैं।
(६) त्याग, तपस्या और सत्य ही शान्ति के मार्ग है।
(७) त्याग के समान कोई सुख नही है।
(८) सन्तान पार नही उतार सकती।
(९) धन और बन्धु त्राण नही है।
(१०) आत्मा का अन्वेषण करो।

महाभारत के इन अध्यायो के श्लोक तथा जातक के कुछेक श्लोक उत्तराध्ययन के श्लोको मे बहुत समानता रखते है—

उत्तराध्ययन	*महाभारत*	*हस्तिपाल जातक*
अध्ययन १४	*शान्ति० अ० १७५*	*स० ५०६*
जाईजरामच्चुभयाभिभूया **बहिविहाराभिनिविट्ठचित्ता।** **ससारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा** **दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥४॥**	२३	
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे **पुत्ते पडिट्ठप्प गिहसि जाया!।** **भोच्चाण भोए सह इत्थियाहि** **आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥९॥**	६	४

वेया अहीया न भवन्ति ताणं
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥१२॥ ७१,१८,२५,२६,३६ ५
खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१३॥ ११
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि
इमं च मे किच्च इम अकिच्च।
तं एवमेव लालप्पमाणं
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥१५॥ २०,२१,२२ १२
धणं पभूय सह इत्थियाहि
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्मं ॥१६॥
धणेण किं धम्मधुराहिगारे
सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी
बहिविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥१७॥ ३७,३८
जहा वय धम्ममजाणमाणा
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुब्भमाणा परिरक्खियन्ता
तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥२०॥ १०
अब्भाहयम्मि लोगंमि
सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहि पडन्तीहि
गिहंसि न रइं लभे ॥२१॥ ७
केण अब्भाहओ लोगो ?
केण वा परिवारिओ ?।
का वा अमोहा वुत्ता ?
जाया ! चिंतावरो हुमि ॥२२॥ ८

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो
जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता
एवं ताय ! वियाणह ॥२३॥ ६

जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स
अफला जन्ति राइओ ॥२४॥

जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स
सफला जन्ति राइओ ॥२५॥ १०,११,१२

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं
जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि
सो हु कंखे सुए सिया ॥२७॥ ७

अज्जेव धम्म पडिवज्जयामो
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥२८॥ १५

पुरोहियं तं ससुयं सदारं
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुम्बसारं विउलुत्तमं तं
रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥३७॥ ३६

वन्तासी पुरिसो रायं !
न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं
धणं आदाउमिच्छसि ॥३८॥ १८

नागो व्व बन्धणं छित्ता
अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं।
उसुयारि त्ति मे सुयं ॥४८॥ २०

उत्तराध्ययन के ४४, ४५ वें श्लोक की ओर संकेत करते हुए सरपेन्टियर ने बताया है कि इन श्लोकों का प्रतिपाद्य जातक के १८ वें श्लोक में प्रतिपादित कथा से ही जाना जा सकता है। वह कथा है—

"पुरोहित का सारा कुटुम्ब प्रव्रजित हो गया। राजा ने यह सुन उसका सारा धन मँगवा लिया। रानी को यह पता लगा। उसने राजा को समझाने के लिए एक उपाय सोचा। उसने कसाई-घर से मांस मँगवाया और उसे राज्याङ्गण में बिखेर दिया। सीधे रास्ते को छोड, उसके चारों ओर जाल तनवा दिया। मांस को देख कर गीध आए। भर पेट मांस खाए। उनमें जो बुद्धिमान् थे, उन्होंने जाल फैला हुआ देख कर सोचा कि मांस खा कर हम भारी हो चुके हैं। अब हम सीधे नहीं उड सकेंगे। उन्होंने खाये हुआ मांस का वमन किया और हल्के हो सीधे उड कर चले गए। जाल में नहीं फँसे। किन्तु जो विचारहीन गीध थे, उन्होंने बुद्धिमान् गीधों द्वारा वमित मांस भी खा लिया। वे बहुत भारी हो गए। सीधे उडने मे असमर्थ थे। वे टेढे उडे और जाल में फँस गए। तब एक गीध ला कर रानी को दिखाया गया। वह उसे ले राजा के समीप गई और बोली—महाराज! राज्याङ्गण में एक तमाशा देखें। उसने झरोखा खोला और कहा—महाराज! इन गीधों को देखें। इनमें जो खा कर वमन कर दे रहे हैं, वे पक्षी उड कर चले जा रहे है और जो खा कर वमन नही कर सकते, वे मेरे हाथ मे आ फंसे।"[1]

यह प्रसंग यथार्थ लगता है। परन्तु जैन-व्याख्याकारों ने इसका कोई संकेत नहीं दिया। सम्भवतः इसका हेतु परम्परा की विस्मृति है।

सरपेन्टियर उत्तराध्ययन के इस अध्ययन के ४९ से ५३ तक के श्लोकों को मूल नहीं मानते। उनका कथन है कि "ये पाँच श्लोक मूल-कथा से सम्बन्धित नही हैं और संभव है कि जैन-कथाकार ने इनका निर्माण कर यहाँ रखा हो।"[2]

परन्तु ऐसा मानने का कोई आधार नही है।

एक संवाद

मार्कण्डेय पुराण (अध्याय १०) में भी उक्त चर्चा का संवादी एक संवाद आया है। जैमिनी ने पक्षिगण से प्राणियों के जन्म आदि विषयक प्रश्न किए। उसके समाधान में उन्होने पिता-पुत्र का एक संवाद प्रस्तुत करते हुए कहा—

१-जातक संख्या ५०९, पाँचवाँ खण्ड, पृ० ७५।

2–The Uttarādhyana Sūtra, page 335.

The verses from 49 to the end of the chapter certainly do not belong to original legend. But must have been composed by the Jain author.

एक नगर में भार्गव नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र का नाम सुमति था। वह परम धर्मात्मा था। उसने आत्म-धर्म के मर्म को समझ लिया था। एक दिन पिता ने कहा—"पुत्र ! वेदों को पढ कर गुरु की शुश्रूषा कर, गार्हस्थ्य-जीवन बीता कर, यज्ञ आदि कर, पुत्रों को जन्म दे कर संन्यास ग्रहण करना, पहले नहीं।"[१]

सुमति ने कहा—"पिता ! जिन क्रियाओ के लिए आप मुझे कह रहे हैं, मैंने उनका अनेक बार अभ्यास किया है। उसी प्रकार अन्यान्य शास्त्रो तथा नाना प्रकार के शिल्पो का भी मैंने बहुत बार अभ्यास किया है। मुझे ज्ञान प्राप्त हो चुका है। वेदों से मुझे क्या प्रयोजन ?[२]

"पिताजी ! मैं इस संसार-चक्र में बहुत घूमा। अनेक बार अनेक माता-पिता किए। संयोग और वियोग भी मैंने देखा है। अनेक प्रकार के सुख-दुःख मैंने अनुभव किए हैं। इस प्रकार जन्म-मृत्यु करते-करते मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं अपने लाखो पूर्व-जन्म देख रहा हूँ, मुझे मोक्ष को प्राप्त कराने वाला ज्ञान उत्पन्न हो चुका है। उस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के पश्चात् ऋग्, यजु, साम आदि वेदो के क्रिया-कलाप मुझे उचित प्रतीत नहीं होते। मुझे उत्कृष्ट ज्ञान मिल चुका है, मैं निरीह हूँ, वेदो से मुझे क्या प्रयोजन ? इसी उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना से मुझे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाएगी।"[३]

१—मार्कण्डेय पुराण, १०।११,१२ :

वेदानधीत्य सुमते !, यथानुक्रम माविलः।
गुरुशुश्रूषणेव्यग्रो, भैक्षान्नकृत भोजनः ॥
ततो गार्हस्थ्य मास्थाय चेष्ट्वा यज्ञाननुत्तमान्।
इष्टमुत्पादयापत्यमाश्रयेथा वनं ततः ॥

२—वही, १०।१६,१७ :

तातैतद् बहुशोऽभ्यस्तं, यत्त्वयाद्योपदिश्यते।
तथैवान्यानि शास्त्राणि, शिल्पानि विविधानि च ॥
. . .. ।
उत्पन्नज्ञानबोधस्य, वेदैः किं मे प्रयोजनम् ॥

३—वही, १०।२७,२८,२९ :

एवं संसार चक्रेस्मिन्, भ्रमता तात ! संकटे।
ज्ञान मेतन्मयाप्राप्तं, मोक्षसम्प्राप्तिकारकम् ॥
विज्ञाते यत्र सर्वोऽयमृग्यजुःसामसंहितः।
क्रियाकलापो विगुणो, न सम्यक् प्रतिभाति मे ॥
तस्मादुत्पन्नबोधस्य, वेदैः किं मे प्रयोजनम्।
गुरुविज्ञानतृप्तस्य, निरीहस्य सदात्मनः ॥

पिता ने कहा—"पुत्र ! तू ऐसी बातें क्यों कर रहा है ? मुझे लगता है कि किसी ऋषि या देवता का शाप तुझे लगा है।"[१]

पुत्र ने कहा—"पिताजी ! पूर्व-जन्म में मैं एक ब्राह्मण था। परमात्मा के ध्यान में मैं सदा लीन रहता था। आत्म-विद्या के विचार मेरे में पूर्ण विकसित हो चुके थे। मैं साधना में रत था। मुझे लाख जन्मों की स्मृति हो आई। जातिस्मरण-ज्ञान की प्राप्ति धर्म-त्रयी में रहे हुए मनुष्य को नहीं होती। मुझे यह ज्ञान पहले से ही प्राप्त है। अब मैं आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करूँगा।"[२]

पिता-पुत्र का संवाद आगे चलता है। पुत्र पिता के समक्ष मृत्यु-दशा का वर्णन उपस्थित करता है।

यह संवाद उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्ययन से मिलता-जुलता है। इसमें आत्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा और वेद-ज्ञान की निरर्थकता को बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया है।

विन्टरनित्ज़ ने माना है कि यह बहुत सम्भव है कि यह संवाद बौद्ध अथवा जैन परम्परा का हो और बहुत काल बाद इसे महाकाव्य और पौराणिक-साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया हो। किन्तु मुझे लगता है कि यह बहुत प्राचीन काल से प्रचलित श्रमण-साहित्य का अंश रहा होगा और उसी से जैन, बौद्ध, महाकाव्यकारों तथा पुराणकारों ने इसे ग्रहण कर लिया होगा।[3]

नमि-प्रव्रज्या

उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन 'नमि-प्रव्रज्या' की आंशिक तुलना 'महाजनक जातक' (सं० ५३९) से होती है।

जैन-कथावस्तु

मालव देश के सुदर्शनपुर नगर में मणिरथ राजा राज्य करता था। उसका कनिष्ठ भ्राता युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मणिरथ ने कपटपूर्वक युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा उस समय गर्भवती थी। उसने जंगल में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला-नरेश पद्मरथ ले गया। उसका नाम 'नमि' रखा।

पद्मरथ के श्रमण बन जाने पर 'नमि' मिथिला का राजा बना। एक बार वह दाह-ज्वर से आक्रान्त हुआ। छह मास तक घोर वेदना रही। उपचार चला। दाह-ज्वर को शान्त करने के लिए रानियाँ स्वयं चन्दन घिसतीं। एक बार सभी रानियाँ चन्दन घिस रही थी। उनके हाथों में पहिने हुए कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से 'नमि' खिन्न

१—मार्कण्डेय पुराण, १०।३४,३५।

२—वही, १०।३७,४४।

३—The Jainas in the History of Indian Literature, p. 7.

हो उठा। उसने कंकण उतार लेने को कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य-चिन्ह स्वरूप एक-एक कंकण को छोड कर शेष सभी उतार दिए।

कुछ देर बाद राजा ने अपने मंत्री से पूछा—"कंकण का शब्द सुनाई क्यों नहीं दे रहा है?" मंत्री ने कहा—"स्वामिन्! कंकणो के घर्षण का शब्द आपको अप्रिय लगा था, इसलिए सभी रानियों ने एक-एक कंकण रख कर शेष सभी उतार दिए। एक कंकण से घर्षण नहीं होता और घर्षण के बिना शब्द कहाँ से उठे?"

राजा नमि प्रबुद्ध हो गया। उसने सोचा सुख अकेलेपन मे है—जहाँ द्वन्द्व है—दो हैं—वहाँ दुःख है। विरक्त-भाव से वह आगे बढा। उसने प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प किया।

जब राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर रहा था, प्रव्रजित हो रहा था, उस समय मिथिला मे सब जगह कोलाहल होने लगा।

उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि से देवेन्द्र ने ब्राह्मण के रूप मे आ कर इस प्रकार कहा—

"हे राजर्षि! आज मिथिला के प्रासादो और गृहो मे कोलाहल से परिपूर्ण दारुण शब्द क्यों सुनाई दे रहे हैं?"

यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

"मिथिला मे एक चैत्य-वृक्ष था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र-पुष्प और फलो से लदा हुआ और बहुत पक्षियो के लिए सदा उपकारी।

"एक दिन हवा चली और उस चैत्य-वृक्ष को उखाड कर फेंक दिया। हे ब्राह्मण! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीडित हो कर आक्रन्द कर रहे हैं।"

इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

"यह अग्नि है और यह वायु है। यह आपका मन्दिर जल रहा है। भगवन्! आप अपने रनिवास की ओर क्यो नही देखते?"

यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

"वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नही है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है, उसमे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

"पुत्र और स्त्रियो से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती।

"सब बन्धनों से मुक्त 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है', इस प्रकार एकत्वदर्शी, गृहत्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।"

इस प्रकार नमि और इन्द्र के बीच लम्बा संभाषण हुआ। जब इन्द्र ने देखा कि राजा नमि अपने संकल्प पर अडिग है, तब उसने अपना मूल रूप प्रकट किया और नमि को स्तुति कर चला गया। नमि श्रामण्य मे उपस्थित हो गए।

बौद्ध-कथावस्तु

विदेह राष्ट्र के मिथिला नगर मे महाजनक नाम का राजा राज्य करता था। उसके अरिट्ठजनक और पोलजनक नाम के दो पुत्र थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् अरिट्ठजनक राजा बना। कालान्तर में दोनो भाइयो में वैमनस्य बढा। पोलजनक प्रत्यन्त-ग्राम में चला गया। वहाँ संगठित हो अपने दल-बल के साथ वह मिथिला पहुँचा और भाई को युद्ध के लिए ललकारा। युद्ध हुआ। अरिट्ठजनक मारा गया। पति की मृत्यु की बात सुन उसकी पत्नी घर से निकल गई। वह गर्भवती थी। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। पितामह के नाम पर उसका नाम महाजनक कुमार ही रखा। वह बडा हुआ। उसने तीनो वेद और सब शिल्प सीख लिए। माँ की आज्ञा ले वह पिता का राज्य लेने मिथिला पहुँचा। राजा पोलजनक मर चुका था। उसके कोई पुत्र नही था। कुमार महाजनक राजा बनाया गया। कुमारी सीवली से उसका विवाह हुआ। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम दीर्घायु कुमार रखा। एक दिन राजा महाजनक उद्यान देखने गया। वहाँ आम के दो वृक्ष थे। एक पर फल थे, दूसरे पर नहीं। राजा ने एक फल खाया। साथ वाले सभी ने एक-एक फल तोडा। सारा वृक्ष फलहीन हो गया। उसकी शोभा नष्ट हो गई। राजा ने लौटते समय देखा—दोनो वृक्ष फल से रहित हैं। उसने माली से पूछा। सारी बात जान कर उसने सोचा—यह दूसरा वृक्ष फल-रहित होने के कारण हरा-भरा खड़ा है। यह फलदार होने से नोचा गया, खसोटा गया। यह राज्य भी फलदार-वृक्ष के समान है। प्रव्रज्या फल-रहित वृक्ष के समान है। जिसके पास कुछ भी है, उसे भय है, जिसके पास कुछ भी नहीं, उसे भय भी नही। मैं फलदार-वृक्ष जैसा न रह, फल-रहित वृक्ष जैसा होऊँगा। वह प्रतिबुद्ध हुआ। प्रासाद में रहते हुए भी श्रमण-धर्म का पालन करते-करते उसके चार महीने गुजर गए। प्रव्रज्या की ओर उसका चित्त अत्यधिक झुक गया। घर नरक के समान लगने लगा। उसने सोचा—'यह कब होगा कि मैं इस समृद्ध, विशाल और सम्पत्ति से परिपूर्ण मिथिला को छोड कर प्रव्रजित होऊँगा ?' राजा प्रव्रजित हो गया। रानियों ने रोकने का प्रयास किया। सीवली देवी ने एक उपाय ढूँढ निकाला। उसने महासेना रक्षक को बुला कर आज्ञा दी—"तात ! राजा के जाने के रास्तो पर आगे-आगे पुराने घरों तथा पुरानी शालाओं में आग लगा दो। घास-पत्ते इकट्ठे करा कर जहाँ-तहाँ धुआँ करा दो।" उसने वैसा करा दिया। सीवली ने राजा से जा कर कहा—

"घरों में आग लग गई है। ज्वाला निकल रही है। खजाने जल रहे हैं। सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता—सभी जल रहे है। हे राजन्! आप आ कर रोकें।"

राजा महाजनक ने कहा—

सुसुखं बत जीवाम येस नो नत्थि किञ्चनं।
मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ ॥१२५॥

"हमारे पास कुछ नही है। हम सुखपूर्वक जीने हैं। मिथिला नगरी के जलने पर मेरा कुछ नही जलता।

सुसुखं बत जीवाम येस नो नत्थि किंचनं।
रट्ठे विलुप्पमानम्हि न मे किंचि अजीरथ ॥१२७॥
सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभास्सरा यथा ॥१२८॥

"हमारे पास कुछ नहीं। हम सुखपूर्वक जीते है। राष्ट्र के उजड़ने से मेरी कुछ हानि नहीं।"

"हमारे पास कुछ नही। हम सुखपूर्वक जीते है। जैसे अभास्वर देवता, वैसे ही हम प्रीति-भक्षक हो कर रहेंगे।"

राजा सबको छोड आगे चला गया। देवी साथ थी। दोनो बातचीत करते एक नगर-द्वार पर पहुँचे। वहाँ एक लड़की बालू को थपथपा रही थी। उसके एक हाथ में एक कंगन था। दूसरे में दो। एक बज रही थी। दूसरी नि शब्द थी। राजा ने पूछा—"हे कुमारिके! क्या कारण है कि तेरी एक भुजा बजती है, एक नही बजती?"[1] उसने कहा—"मेरे इस हाथ मे दो कगन हैं। रगड से शब्द पैदा होता है। दो होने से यही होता है। हे श्रमण! मेरे इस हाथ में एक ही कंगन है। वह अकेला होने से आवाज नहीं करता। दो होने से विवाद होता है, एक किससे विवाद करेगा? स्वर्ग की कामना करने वाले तुझ को अकेले रहना रुचिकर लगेगा।"[2]

वे चले गए। एक उसुकार (वंस-फोड) के यहाँ रुके। वह एक आँख से बाँस को देख रहा था। महाजनक ने पूछा—"हे वंस-फोड! क्या तुझे इस तरह अच्छा दिखाई देता है, जो तू एक आँख को बन्द कर के एक से बाँस के टेढेपन को देखता है?"[3]

उसने कहा—"हे श्रमण! दोनो आँखो से विस्तृत-सा दिखाई देता है। टेढ़ी जगह

१-जातक, ५३९, श्लो० १५८।
२-वही, ५३९, श्लो० १५९-१६१।
३-वही, ५३९, श्लो० १६५।

का पता न लगने से बाँस सीधा नहीं होता, एक आँख को बन्द कर के देखने से टेढापन दीख जाता है, बाँस सीधा हो जाता है।"[1]

रानी सीवली ने जाना कि राजा का मन संसार से ऊब चुका है। फिर भी रागवश वह उनके पीछे-पीछे चली जा रही थी। महाजनक ने चलते-चलते रास्ते पर ही मूँज के तिनके से सींक खींच कर कहा—"देवी! देख, अब यह फिर उससे नहीं मिलाया जा सकता। इसी तरह से अब फिर मेरा-तेरा साथ वास नहीं हो सकता।"

महाजनक अकेले आगे चले गए। रानी लौट कर मिथिला आई। अपने पुत्र दीर्घायु को राज्य-भार संभला कर स्वयं प्रव्रज्या ग्रहण कर ब्रह्मलोकगामिनी हुई।

यह कथा अत्यन्त संक्षेप मे दी गई है। सम्पूर्ण कथा के लिए देखिए—महा जनक जातक सख्या ५३६, पृष्ठ ३४-७७ तक।

जैन-कथावस्तु और इस जातक (सं० ५३९) की कथावस्तु में पूर्ण समानता नहीं है, किन्तु दोनो का प्रतिपाद्य एक-सा ही है। दोनो कथानक इन्ही विचारो को पुष्ट करते है—

(१) अन्यान्य आश्रमो से संन्यास आश्रम श्रेष्ठ है। (उत्त० ९।४४,जा० २५-११५)

(२) संतोष त्याग में है, भोग मे नहीं। (उत्त० ९।४८, ४९, जा० १२२)

(३) एकाकीपन में सुख है, द्वन्द्व (दो) दुःख का मूल है। (उत्त० ९।१६, जा० १६१, १६८)

(४) अकिंचनता सुख का साधन है। (उत्त० ९।१४ ; जा० १२५)

(५) काम-भोग साधना के विघ्न है। (उत्त० ९।२३ ; जा० १३२)

इनके अतिरिक्त जैन-कथावस्तु के ये और निष्कर्ष हैं—

(१) आत्म-विजय ही परम-विजय है। (उत्त० ९।३४,३५)

(२) आत्मा ही दुर्जेय है। (उत्त० ९।३६)

(३) दान से सयम श्रेष्ठ है। (उत्त० ९।४०)

(४) तृष्णा अनन्त है। इसकी पूर्ति नही हो सकती। (उत्त० ९।४८,४९)

(५) कषाय-त्याग मोक्ष का हेतु है। (उत्त० ९।५५)

दोनों कथावस्तुओं के कई प्रसंग एक-से हैं—

(१) सम्पत्ति से समृद्ध मिथिला को छोड़ कर प्रव्रजित होना।

(२) मिथिला को जलती हुई दिखला कर प्रव्रज्या से मन हटाने का प्रयत्न करना।

(३) मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता, ऐसे ममत्व-रहित-भाव प्रकट करना।

१—जातक, ५३९, श्लोक १६६-१६७।

(४) जैन-कथावस्तु के अनुसार इन्द्र परीक्षा करने आता है और जातक में देवी सीवली परीक्षा करने आती है।

(५) जैन-कथावस्तु के अनुसार मिथिला नरेश नमि कंकण के शब्दों को सुन प्रतिबुद्ध हुए और बौद्ध-कथावस्तु के अनुसार मिथिला नरेश आम्र-वृक्ष को देख प्रतिबुद्ध हुए।

(६) अकेले में सुख है—दोनों का सोचना।

सोनक जातक (सं० ५२६)

इस जातक में भी कुछ ऐसा ही प्रसंग आया है। पुरोहित का पुत्र सोनक मगध नरेश के पुत्र अरिन्दम कुमार का मित्र था। वे राजगृह में रहते थे। उस समय वहाँ मगध का साम्राज्य था। सोनक का मन सन्यास की ओर झुका। वह वहाँ से चल पड़ा। दोनों मित्र अलग-अलग हो गए। चालीस वर्ष बीते। कुमार अरिन्दम वाराणसी का राजा बन गया था। उसे अपने मित्र सोनक की स्मृति हो आई। उसने एक गाथा कही—

> कस्स सुत्वा सतं दम्मि सहस्सं दट्ठु सोनकं।
> को मे सोनकं अक्खाति सहायं पंसुकीळितं॥

"किसी को सुन कर कहने वाले को सौ दूँगा, स्वयं देख कर कहने वाले को हजार दूँगा। कौन है जो मुझे मेरे बचपन के मित्र सोनक का समाचार देगा ?"

लोगों के मुँह-मुँह पर यह गीत नाचने लगा। एक दिन एक कुमार राजा के पास आया और बोला—

> मय्हं सुत्वा सतं देहि, सहस्सं दट्ठु सोनकं।
> अहं सोनकं आक्खिस्सं, सहायं पंसुकीलितं॥

"मुझे सुनाने वाले को आप सौ दें, मुझे देखने वाले को हजार दें, मैं तुम्हारे बचपन के मित्र सोनक को बता दूँगा।"

बालक ने कहा—"सोनक उद्यान में है।" राजा वहाँ गया। प्रत्येक-बुद्ध सोनक ने आठ श्रमण-भद्र गाथाएँ कहीं। उनमें पाँचवी गाथा थी—

> पंचमं भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो।
> नगरम्हि डय्हमानाम्हि नास्स किंचि अडय्हथ॥

"अकिंचन अनागारिक भिक्षु के लिए पाँचवी आनन्द की बात यह है कि यदि नगर में आग भी लग जाए तो उसका कुछ नहीं जलता।"

आगे चल कर राजा अपने पुत्र को राज्य दे प्रव्रजित हो जाता है ।[1] इस जातक से उत्तराध्ययन अध्ययन ९ और १३ का आंशिक साम्य है—

(१) 'नगरी जलने पर मेरा कुछ नहीं जलता'—प्रत्येक-बुद्ध सोनक का यह कथन उत्तराध्ययन के नमि (नौवाँ अध्ययन) के—'मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता'—इस कथन से मिलता है ।

(२) जातक मे अरिन्दमकुमार अपने मित्र सोनक को ढूँढने के लिए एक श्लोक प्रचारित करते हैं, दूसरे श्लोक को सुन मित्र-मुनि से मिलते हैं और उनके उपदेश से प्रभावित हो प्रव्रजित हो जाते है । उत्तराध्ययन के १३वें अध्ययन में चित्र और सम्भूत एक जन्म मे भाई थे। मर कर देव बने । वहाँ से च्यवन कर भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे उत्पन्न हुए । एक ब्रह्मदत्त कुमार और दूसरा एक इभ्य का पुत्र । ब्रह्मदत्त कुमार ने भाई की खोज करने के लिए श्लोक का आधा भाग प्रचारित किया और उसे पूरा करने वाले को पारितोषिक देने की घोषणा की। एक रेंहट वाले ने उसकी पूर्ति की। राजा उसे साथ ले रेंहट पर आया । मुनि को देख गद्‌गद् हो गया । मुनि ने उपदेश किया । पर व्यर्थ । मुनि मुक्त हो जाते है और राजा नरक मे जा गिरता है।

माण्डव्य मुनि और जनक

महाभारत (शान्ति पर्व, अध्याय २७६) मे माण्डव्य मुनि और जनक का संवाद आया है । एक बार युधिष्ठिर ने पितामह भीष्म से पूछा—तृष्णा-क्षय का उपाय कौन-सा है ? भीष्म ने प्राचीन उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—राजन् ! एक बार माण्डव्य मुनि ने विदेहराज जनक से भी यही प्रश्न किया था । उसका उत्तर देते हुए राजा जनक ने कहा—

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥४॥

"मैं बडे सुख से जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, क्योंकि इस जगत् में कोई भी वस्तु मेरी नही है। किसी पर भी मेरा ममत्व नहीं है । मिथिला के प्रदीप्त होने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता ।'

"जो विवेकी हैं, उन्हे समृद्धि-सम्पन्न विषय भी दुःख रूप ही जान पडते हैं। परन्तु अज्ञानियों को तुच्छ विषय भी सदा मोह में डाले रहते हैं। लोक में जो काम जनित सुख है तथा जो स्वर्ग का दिव्य एवं महान् सुख है, वे दोनों तृष्णा-क्षय से होने वाले सुख की सोलहवीं कला की भी तुलना नहीं कर सकते ।"

१—सोनक जातक, संख्या ५२९ (जातक भाग ५, पृ० ३३१-३४६) ।

आगे उन्होंने कहा—"धन के बढ़ने के साथ-साथ तृष्णा भी बढ़ती चली जाती है। ममकार ही दुःख का हेतु है। भोग की आसक्ति दुःख बढ़ाती है। जो सबको आत्म-तुला से तोलता है, वह समस्त द्वन्द्वों से छूट कर शान्त और निर्विकार हो जाता है। तृष्णा को छोड़ना अत्यन्त दुष्कर है। जो तृष्णा को छोड़ देता है, वह परम-सुख को पा लेता है।"

यह संवाद भी उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन की आंशिक समानता को लिए हुए है।

जनक और भीष्म

इसी प्रकार महाभारत (शान्तिपर्व, अ० १७८) मे एक और प्रसंग आया है। एक बार भीष्म ने कहा—धन की तृष्णा से दुःख और उसकी कामना के त्याग से परम-सुख की प्राप्ति होती है। यही बात महाराज जनक ने भी कही है। एक बार जनक ने कहा था—

> अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
> मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥२॥

"मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है, फिर भी मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला के जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता।"

भीष्म ने आगे कहा—एक बार नहुषनन्दन राजा ययाति ने बोध्य ऋषि से पूछा—महाप्राज्ञ ! शान्ति कैसे मिल सकती है ? कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय ले कर आप शान्ति और सतोष के साथ विचरते हैं ?

बोध्य मुनि ने कहा—मेरे छह गुरु है—

(१) पिङ्गला वेश्या से मैंने आशा के त्याग का मर्म सीखा है।

(२) क्रौञ्च पक्षी से मैंने भोगों के परित्याग से सुख मिलता है, यह सीखा है।

(३) सर्प से मैंने अनिकेत रहने की शिक्षा पाई है।

(४) पपीहे से मैंने अद्रोहवृत्ति की शिक्षा पाई है।

(५) बाण बनाने वाले से एकाग्र चित्त रहने का मर्म पाया है।

(६) हाथ में पहने हुए एक कगन से एकाकीपन की शिक्षा ली है।

उत्तराध्ययन के इस अध्ययन के निष्कर्षों की उपर्युक्त तथ्यों से बहुत समानता है।

एक विश्लेषण

महाभारत के अनेक प्रसंगों में जहाँ जनक का संवाद या कथन है वहाँ भीष्म ने—'मैं प्राचीन इतिहास के उदाहरण में इस तथ्य को स्पष्ट करता हूँ'—यह कह कर जनक के विचारों का प्रतिपादन किया है।[1]

१–महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १७८,२१८,२७६।

जहाँ कहीं जनक या उनके वंश के राजाओं का प्रसंग है, वहाँ आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान की चर्चा[1], मोक्षतत्त्व का विवेचन[2], तृष्णा-त्याग[3], ममत्व-त्याग[4] आदि-आदि की चर्चा है।

विष्णु पुराण मे उल्लेख है कि मिथिला के सभी नरेश आत्म-वादी होते हैं।

इन तथ्यो से दो फलित सामने आते है—

(१) जनक श्रमण-परम्परा को मानने वाले प्राचीन पुरुष थे।

(२) जनक के संवाद जो महाभारत में उल्लिखित हुए है, वे ब्राह्मणेतर-परम्परा के हैं और वह परम्परा श्रमण-परम्परा होनी चाहिए।

जातको की तुलना से हमने देखा कि उनमे उल्लिखित कथाएँ जैन-कथावस्तु से निकट हैं। हम पहले यह भी कह चुके हैं कि जातको का गद्य-भाग अर्वाचीन है। बहुत प्राचीन काल से अनेक उदाहरण और कथानक प्रचलित थे। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार धर्म-ग्रन्थो ने उसे अपनाया और कुछ एक संशोधन से उसे अपने सिद्धान्तो के अनुसार ढाल कर स्वीकार कर लिया। राइस डेविड्स ने जातको के विषय मे ऊहापोह करते हुए लिखा है कि बौद्ध-साहित्य के नौ विभागो में जातक एक विभाग है। परन्तु यह विभाग आज के जातक से सर्वथा भिन्न था। प्राचीन जातक के अध्ययन से हम दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं—एक तो यह है कि प्राचीन जातक का बहुलांश भाग किसी एक ढाँचे में ढला हुआ नही था और उसमे कोई पद्य नही थे। वे केवल काल्पनिक कथाएँ (Fables), उदाहरण (Parables) और आख्यायिकाएँ (Legends) मात्र थे। दूसरी बात यह है कि उपलब्ध जातक केवल प्राचीन जातक के अंश मात्र है।[5]

राइस डेविड्स ने दस ऐसे जातको[6] को ढूँढ निकाला है, जिनके सूक्ष्म अध्ययन से यह प्रकट होता है कि वे बुद्ध से पूर्व भी जन-कथाओ के रूप मे प्रचलित थे। इन जातको के विषय मे उनका अभिमत यह है—"ये सारे जातक बौद्ध-साहित्य से भी ज्यादा

१—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २१८।

२—वही, शान्तिपर्व, अध्याय २१९।

३—वही, शान्तिपर्व, अध्याय २७६।

४—वही, शान्तिपर्व, अध्याय १७८।

५—Buddhist India, page 196, 197.

६—वही, पृ० १९५। वे दस जातक ये हे—अपन्नक (सं० १), मखादेव (स० ९), सुखविहारी (स० १०), तित्तिर (सं० ३७), लित्त (सं० ९१), महा-सुदस्सन (सं० ९५), खण्ड-वट्ट (सं० २०३), मणि-कन्ठ (सं २५३), बक ब्रह्म (सं० ४०५)।

प्राचीन हैं। इनमें से किसी को भी हम केवल बौद्ध-मत का ही नही मान सकते। बौद्ध विद्वानों ने अपने-अपने आचार-विचार के अनुसार कुछ परिवर्तन कर उसे अपनाया है। इनमे बहुत सारे तो भारतीय लोक-कथाओं के संग्रह है। इनसे जो आचार विषयक बातें प्राप्त होती हैं, वे भी एकान्ततः भारतीय हैं।"[१]

इस तथ्योक्ति से भी यह सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से बहुत पूर्व कई कथाएँ प्रचलित थी, जिन्हे तीनो धाराओं ने अपनाया है।

जातको का पद्य-भाग (जो प्रचलित पद्यो का संग्रह मात्र है) बहुत विश्वसनीय है, क्योकि वह उस भाषा मे है जो कई शताब्दियो पुरानी है।[२]

अन्त मे उनकी मान्यता है कि "जातक में वर्णित कथाएँ पद्य-भाग के बिना ही प्रचलित थी। जब वे बौद्ध-परम्परा में सम्मिलित की गई (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे) तब उनमे प्रचलित पद्य जोड दिए गए। इसलिए सम्भव है कि ये कथाएँ बौद्ध-काल से पूर्व की ही नही, किन्तु बहुत प्राचीन हैं।'[३]

जातको का प्रणयन और संकलन मध्यदेश मे प्राचीन जन कथाओ के आधार पर हुआ है।[४] विन्टरनिट्ज ने भी इसी मत को माना है।[५]

भरतसिंह उपाध्याय का मान्यता है कि जातक तो मूल रूप मे केवल गाथाएँ है, शेष भाग तो उसकी व्याख्या है।[६]

समीक्षा

पूर्व लिखित कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर मस्तिष्क पर पहला प्रभाव यह होता है कि एक परम्परा ने दूसरी परम्परा का अनुकरण किया है। किन्तु किसने किसका अनुकरण किया, उसका इतिवृत्त हमें ज्ञात नहीं है। कालक्रम की दृष्टि से विचार करने पर फलित होता है कि जैन और महाभारत के लेखकों ने बौद्धों का अनुकरण किया है। क्योकि बौद्ध-संगीतियो का समय जैन-वाचनाओ तथा महाभारत की

१–Buddhist India, p. 197
२–वही, पृ० २०४।
३–वही, पृ० २०६।
४–वही, पृ० १७२,२०७,२०८।
५–इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृ० ११३,११४,१२ ११२३।
६–पाली साहित्य का इतिहास, पृ० ३०६।

रचना से पूर्ववर्ती है। पर यह सम्भव नही है। इस असम्भवता के दो हेतु हैं—

(१) वाचना-काल में सारे साहित्य का निर्माण नही हुआ था, किन्तु उसका सकलन किया गया था, थोडा-बहुत निर्मित भी हुआ था। प्रस्तुत कथानक पहले नहीं लिखे गए थे, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

(२) प्रतियो की दुर्लभता। उस समय का वातावरण पारस्परिक तनाव का था। वैसी स्थिति में अपने साहित्य की प्रतियाँ दूसरो को देते, इसकी कल्पना करना कठिन है। बहुत सम्भव यही है कि पूर्ववर्ती श्रमण-साहित्य में प्रचलित कथानको को जातक, उत्तराध्ययन और महाभारत में अपने ढंग से उद्धृत किया गया है। इनकी शब्दावली में प्राप्त परिवर्तन से यह तथ्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

*

प्रकरण : दूसरा

प्रत्येक-बुद्ध

मुनि के तीन प्रकार होते हैं—

(१) स्वयं-बुद्ध— जो स्वयं बोधि प्राप्त करते है।

(२) प्रत्येक-बुद्ध— जो किसी एक निमित्त से बोधि प्राप्त करते हैं।

(३) बुद्ध-बोधित— जो गुरु के उपदेश से बोधि प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक-बुद्ध एकाकी विहार करते हैं। वे गच्छवास में नहीं रहते।[1]

उत्तराध्ययन चार प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख मिलता है—

(१) करकण्डु— कलिंग का राजा,

(२) द्विमुख— पंचाल का राजा,

(३) नमि— विदेह का राजा और

(४) नग्गति— गंधार का राजा[2]

इनका विस्तृत वर्णन टीका में प्राप्त है।[3] ये चारों प्रत्येक-बुद्ध एक साथ, एक ही समय मे देवलोक से च्युत हुए, एक साथ प्रव्रजित हुए, एक ही समय में बुद्ध हुए, एक ही समय मे केवली बने और एक साथ सिद्ध हुए।[4]

ऋषिभाषित प्रकीर्णक मे ४५ प्रत्येक-बुद्धों का जीवन-वर्णन है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि २० प्रत्येक-बुद्ध भगवान् नमि के तीर्थ मे, १५ भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थ में और १० भगवान् महावीर के तीर्थ मे हुए है।[5] किन्तु प्रत्येक-बुद्धों की इस नामावली मे इन चार प्रत्येक-बुद्ध मुनियों का नाम नहीं है, यह कुछ आश्चर्य सा लगता है।

करकण्डु बूढे बैल को देख कर प्रतिबुद्ध हुआ।

१–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५२५-५२८।

२–उत्तराध्ययन, १८।४५।

३–सुखबोधा, पत्र १३३-१४५।

४–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७०।

५–श्रीमद्‌षि. प्रत्येकबुद्धभाषितानि श्रीऋषिभाषित सूत्राणि, पृ० ८२
(प्रकाशित, सन् १९२७, रत्नपुत्र ऋषभदेव केशरीमल)।
पूरे विवरण के लिए देखिए—उत्तरज्झयणाणि (उत्तराध्ययन सानुवाद संस्करण) के नौवें अध्ययन का आमुख, पृ० १०५-१०८।

द्विमुख इन्द्रध्वज को देख कर प्रतिबुद्ध हुआ।

नमि एक चूड़ी की नीरवता को देख कर प्रतिबुद्ध हुआ।

नग्गति मञ्जरी विहीन आम्र-वृक्ष को देख कर प्रतिबुद्ध हुआ।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में भी इन चार प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख मिलता है।[2] किन्तु इनके जीवन-चरित्र तथा बोधि-प्राप्ति के निमित्तों के उल्लेख में भिन्नता है।

बौद्ध-ग्रन्थो मे दो प्रकार के बुद्ध बतलाए गए हैं—

(१) प्रत्येक-बुद्ध और

(२) सम्मासम्बुद्ध।[3]

जो स्वयं ही बोधि प्राप्त करते है, किन्तु जगत् को उपदेश नही देते, वे प्रत्येक-बुद्ध कहे जाते हैं। इन्हे उच्च और पवित्र आत्म-दृष्टि पैदा होती है और ये जीवन भर अपनी उपलब्धि का कथन नही करते। इसीलिए-इन्हे 'मौन-बुद्ध' भी कहा जाता है। ये दो हजार असंख्येय कल्प तक 'पारामी' की साधना करते हैं। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय या गाथापति के कुल मे उत्पन्न होते है। इन्हे समस्त ऋद्धि, सम्पत्ति और प्रतिसम्पदा उपलब्ध होती है। ये कभी बुद्ध से साक्षात् नहीं मिलते। ये एक साथ अनेक हो सकते हैं।

बौद्ध टीकाओ मे चार प्रकार के बुद्ध बतलाए हैं—

(१) सव्वञ्ञुबुद्ध (सर्वज्ञ-बुद्ध),

(२) पच्चेकबुद्ध (प्रत्येक बुद्ध),

(३) चतुसच्चबुद्ध (चतु सत्य-बुद्ध) और

(४) सुतबुद्ध (श्रुत बुद्ध)।[4]

इन चार प्रकार के बुद्धों का वर्णन विभिन्न बौद्ध-ग्रन्थों में आया है।

अब हम संक्षेप में जैन और बौद्ध ग्रन्थो के अनुसार उन चारों प्रत्येक-बुद्ध मुनियों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत कर उन पर मीमांसा करेंगे।

१-करकण्डु

जैन-ग्रन्थ के अनुसार

चम्पा नगरी में दधिवाहन नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम

१-सुखबोधा, पत्र १३३ :

वसहे य इंदकेऊ, वलए अंबे य पुप्फिए बोही।
करकंडु दुम्मुहस्सा, नमिस्स गंधाररन्नो य॥

२-कुम्भकार जातक (सं० ४०८)।

३-डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग २, पृ० २९४।

४-वही, पृ० २९४।

पद्मावती था। वह गणतन्त्र के अधिनेता महाराज चेटक की पुत्री थी।

एक बार रानी गर्भवती हुई। उसे दोहद उत्पन्न हुआ। परन्तु वह उसे व्यक्त करने मे लज्जा का अनुभव करती रही। शरीर सूख गया। राजा ने बात पूछी। आग्रह किया। तब रानी ने अपने मन की बात कह दी।

रानी राजा का वेष धारण कर हाथी पर बैठी। राजा स्वय उसके मस्तक पर छत्र लगा कर खडा था। रानी का दोहद पूरा हुआ। वर्षा आने लगी। हाथी वन की ओर भागा। राजा-रानी घबडाए। राजा ने रानी से वटवृक्ष की शाखा पकडने के लिए कहा। हाथी उस वट-वृक्ष के नीचे से निकला। राजा ने एक डाल पकड ली। रानी डाल नही पकड सकी। हाथी रानी को ले आगे भाग गया। राजा अकेला रह गया। रानी के वियोग से वह अत्यन्त दुःखी हो गया।

हाथी थककर निर्जन वन मे जा ठहरा। उसे एक तालाब दिखा। वह प्यास बुझाने के लिए पानी मे घुसा। रानी अवसर देख नीचे उतरी और तालाब मे बाहर आ गई।

वह दिग्मूढ हो इधर-उधर देखने लगी। भयाक्रान्त हो वह एक दिशा की ओर चल पडी। उसने एक तापस देखा। उसके निकट जा प्रणाम किया। तापस ने उसका परिचय पूछा। रानी ने सब बता दिया। तापस ने कहा—"मैं भी महाराज चेटक का सगोत्री हूँ। अब भयभीत होने की कोई बात नही।" उसने रानी को आश्वस्त कर, फल भेंट किए। रानी ने फल खाए। दोनो वहाँ से चले। कुछ दूर जाकर तापस ने गाँव दिखाते हुए कहा—"मैं इस हल-कृष्ट भूमि पर चल नही सकता। वह दंतपुर नगर दीख रहा है। वहाँ दंतवक्र राजा है। तुम निर्भय हो वहाँ चली जाओ और अच्छा साथ देखकर चम्पापुरी चला जाना।"

रानी पद्मावती दंतपुर पहुँची। वहाँ उसने एक उपाश्रय मे साध्वियों को देखा। उनके पास जा वन्दना की। सध्वियो ने परिचय पूछा। उसने सारा हाल कह सुनाया, पर गर्भ की बात गुप्त रख ली।

साध्वियो की बात सुन रानी को वैराग्य हुआ। उसने दीक्षा ले ली। गर्भ वृद्धिगत हुआ। महत्तरिका ने यह देख रानी से पूछा। साध्वी रानी ने सच-सच बात बता दी। महत्तरिका ने यह बात गुप्त रखी। काल बीता। गर्भ के दिन पूरे हुए। रानी ने शय्यातर के घर जा प्रसव किया। उस नवजात शिशु को रत्नकम्बल मे लपेटा और अपनी नामांकित मुद्रा उसे पहना श्मशान में छोड दिया। श्मशानपाल ने उसे उठाया और अपनी स्त्री को दे दिया। उसने उसका नाम 'अवकीर्णक' रखा। साध्वी-रानी ने श्मशानपाल की पत्नी से मित्रता की। रानी जब उपाश्रय मे पहुँची तब साध्वियों ने गर्भ के विषय में पूछा। उसने कहा—मृत पुत्र हुआ था। मैंने उसे फेंक दिया।

बालक श्मशानपाल के यहाँ बड़ा हुआ। वह अपने समवयस्क बालकों के साथ खेल खेलते समय कहता—"मैं तुम्हारा राजा हूँ। मुझे कर दो।"

एक बार उसके शरीर में सूखी खुजली हो गई। वह अपने साथियों से कहता—"मुझे खुजला दो।" ऐसा करने से उसका नाम 'करकण्डु' हुआ।

करकण्डु उस साध्वी के प्रति अनुराग रखता था। वह साध्वी मोहवश उसे भिक्षा में प्राप्त लड्डू आदि दिया करती थी।

बालक बड़ा हुआ। वह श्मशान की रक्षा करने लगा। वहाँ पास ही बाँस का बन था। एक बार दो साधु उस ओर से निकले। एक साधु दण्ड के लक्षणों को जानता था। उसने कहा—"अमुक-प्रकार का दण्ड जो ग्रहण करेगा, वह राजा होगा।" करकण्डु तथा एक ब्राह्मण के लड़के ने यह बात सुनी। ब्राह्मणकुमार तत्काल गया और उस लक्षण वाले बाँस का दण्ड काटा। करकण्डु ने कहा—"यह बाँस मेरे श्मशान मे बढा है, अत. इसका मालिक मैं हूँ।" दोनों में विवाद हुआ। न्यायाधीश के पास गए। उसने न्याय देते हुए करकण्डु को दण्ड दिला दिया।

ब्राह्मण कुपित हुआ और उसने चाण्डाल परिवार को मारने का षड्यंत्र रचा। चाण्डाल को इसकी जानकारी मिल गई। वह अपने परिवार को साथ ले काञ्चनपुर चला गया।

काञ्चनपुर का राजा मर चुका था। उसके पुत्र नहीं था। राजा चुनने के लिए घोडा छोड़ा गया। घोडा सीधा वही जा रुका, जहाँ चाण्डाल विश्राम कर रहा था। घोडे ने कुमार करकण्डु की प्रदक्षिणा की और वह उसके निकट ठहर गया। सामन्त आए। कुमार को ले गए। राज्याभिषेक हुआ। वह काञ्चनपुर का राजा बन गया।

जब ब्राह्मणकुमार ने यह समाचार सुना तो वह एक गाँव लेने की आशा से करकण्डु के पास आया और याचना की कि मुझे चम्पा-राज्य मे एक गाँव दिया जाए। करकण्डु ने दधिवाहन के नाम पत्र लिखा। दधिवाहन ने इसे अपना अपमान समझा। उसने करकण्डु को बुरा-भला कहा। करकण्डु ने यह सब सुन कर चम्पा पर चढ़ाई कर दी।

साध्वी रानी पद्मावती ने युद्ध की बात सुनी। मनुष्य-संहार की कल्पना साकार हो उठी। वह चम्पा पहुँचीं। पिता-पुत्र का परिचय कराया। युद्ध बन्द हो गया। राजा दधिवाहन अपना सारा राज्य करकण्डु को दे प्रव्रजित हो गया।

करकण्डु गो-प्रिय था। एक दिन वह गोकुल देखने गया। उसने एक पतले बछड़े को देखा। उसका मन दया से भर गया। उसने आज्ञा दी कि इस बछडे को उसकी माँ का सारा दूध पिलाया जाए और जब यह बडा हो जाए तो दूसरी गायो का दूध भी इसे पिलाया जाए। गोपालों ने यह बात स्वीकार की।

बछड़ा सुखपूर्वक बढ़ने लगा। वह युवा हुआ। उसमें अपार शक्ति थी। राजा ने देखा। वह बहुत प्रसन्न हुआ।

कुछ समय बीता। एक दिन राजा पुन वहाँ आया। उसने देखा कि वही बछड़ा आज बूढ़ा हो गया है, आँखें गड़ी जा रही है, पैर लड़खड़ा रहे है और दूसरे छोटे-बड़े बैलों का संघट्टन सह रहा है। राजा का मन वैराग्य से भर गया। संसार की परिवर्तन-शीलता का भान हुआ। वह प्रत्येक-बुद्ध हो गया।[1]

बौद्ध-ग्रन्थ के अनुसार

उस समय कलिंग राष्ट्र मे दन्तपुर नाम का नगर था। वहाँ करकण्डु नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन वह उद्यान मे गया। वहाँ उसने एक आम्र-वृक्ष देखा। वह फलो से लदा हुआ था। राजा ने एक आम तोड़ा और वही मगल-शिला पर बैठ उसे खाया। राजा के साथ वाले सभी मनुष्यो ने एक-एक आम तोड़ा। कच्चे आम भी तोड़ लिए गए। वृक्ष फल-विहीन हो गया।

घूम-फिर कर राजा पुन उसी वृक्ष के नीचे आ ठहरा। उसने ऊपर देखा। वृक्ष की शोभा नष्ट हो चुकी थी। वह वृक्ष अत्यन्त असुन्दर प्रतीत होने लगा। राजा ने पास मे खड़े दूसरे आम्र-वृक्ष की ओर देखा। वह भी फल-हीन था, पर इतना असुन्दर नही दीख रहा था। राजा ने सोचा—"यह वृक्ष फल-रहित होने पर भी मुण्ड-मणि पर्वत की तरह सुन्दर लगता है लेकिन यह फल-युक्त होने से ही इस दशा को प्राप्त हुआ है। गृहस्थी भी फल वाले वृक्ष की तरह है। प्रव्रज्या फल-रहित वृक्ष के समान है। धन वाले को सर्वत्र भय है, अकिञ्चन को भय नही। मुझे भी फल-रहित वृक्ष की तरह होना चाहिए। विचारो की तीव्रता बढ़ी। फलित-वृक्ष का ध्यान कर वृक्ष के नीचे खड़े ही खड़े वह प्रत्येक-बुद्ध हो गया।"[2]

२-द्विमुख

जैन-ग्रन्थ के अनुसार

पाञ्चाल देश मे काम्पिल्य नाम का नगर था। वहाँ जय नाम का राजा राज्य करता था। वह हरिकुलवंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी रानी का नाम गुणमाला था।

एक दिन राजा आस्थान मण्डप मे बैठा था। उसने दूत से पूछा—"संसार मे ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मेरे पास नही है और दूसरे राजाओ के पास है?" दूत ने कहा—"राजन्! तुम्हारे यहाँ चित्र-सभा नही है।" राजा ने तत्काल चित्रकारो को बुलाया और चित्र-सभा का निर्माण करने की आज्ञा दी। चित्रकारो ने कार्य प्रारम्भ किया। पृथ्वी

१—सम्पूर्ण कथानक के लिए देखिये—सुखबोधा, पत्र १३३।

२—कुम्भकार जातक (संख्या ४०८), जातक, चतुर्थ खण्ड, पृ० ३७।

को खुदाई होने लगी। पाँचवें दिन एक रत्नमय देदीप्यमान् महामुकुट निकला। राजा को सूचना मिली। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

थोड़े ही काल मे चित्र-सभा का कार्य सम्पन्न हुआ। शुभ दिन देख कर राजा ने वहाँ प्रवेश किया और मगल-वाद्य ध्वनियो के बीच उस मुकुट को धारण किया। उस मुकुट के प्रभाव से उसके दो मुँह दीखने लगे। लोगो ने उसका नाम 'द्विमुख' रखा।

काल अतिक्रान्त हुआ। राजा के सात पुत्र हुए, पर एक भी पुत्री नही हुई। गुण-माला उदासीन रहने लगी। उसने मदन नामक यक्ष की आराधना प्रारम्भ की। यक्ष प्रसन्न हुआ। उसके एक पुत्री हुई। उसका नाम 'मदनमञ्जरी' रखा।

उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत ने मुकुट की बात सुनी। उसने दूत भेजा। दूत ने द्विमुख राजा से कहा—"या तो आप अपना मुकुट चण्डप्रद्योत राजा को समर्पित करें या युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ ?"

द्विमुख राजा ने कहा—"मैं अपना मुकुट तभी दे सकता हूं जबकि वह मुझे चार वस्तुएँ दे – (१) अनलगिरि हाथी, (२) अग्निभीरु रथ, (३) शिवादेवी और (४) लोहजघ लेखाचार्य।"

दूत ने जा कर चण्डप्रद्योत से सारी बात कही। वह कुपित हुआ और चतुरगिणी सेना ले द्विमुख पर उसने चढाई कर दी। वह सीमा पर पहुँचा। सेना का पडाव डाला और गरुड-व्यूह की रचना की। द्विमुख भी अपनी सेना ले सीमा पर आ डटा। उसने सागर-व्यूह की रचना की।

दोनो ओर भयकर युद्ध हुआ। मुकुट के प्रभाव से द्विमुख की सेना अजेय रही। प्रद्योत की सेना भागने लगी। वह हार गया। द्विमुख ने उसे बन्दी बना डाला।

चण्डप्रद्योत कारागृह मे बन्दी था। एक दिन उसने राजकन्या मदनमञ्जरी को देखा। वह उसमे आसक्त हो गया। ज्यो-त्यो रात बीती। प्रातःकाल हुआ। राजा द्विमुख वहाँ आया। उसने प्रद्योत को उदासीन देखा। कारण पूछने पर उसने सारी बात कही। उसने कहा—"यदि मदनमञ्जरी नही मिली तो मैं अग्नि मे कूद कर मर जाऊँगा।" द्विमुख ने अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया। चण्डप्रद्योत अपनी नववधू को साथ ले उज्जैनी चला गया।

एक बार इन्द्र-महोत्सव[1] आया। राजा की आज्ञा से नागरिको ने इन्द्रध्वज की

१–इस महोत्सव का प्रारम्भ भरत ने किया था। निशीथचूर्णि (पत्र ११७४) में इसको आषाढी पूर्णिमा के दिन मनाने का तथा आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति (पत्र ३५९) में कार्तिक पूर्णिमा को मनाने का उल्लेख है। लाड देश मे श्रावण पूर्णिमा को यह महोत्सव मनाया जाता था।

स्थापना की। वह इन्द्रध्वज अनेक प्रकार के पुष्पों, घण्टियों तथा मालाओं से सज्जित किया गया। लोगों ने उसकी पूजा की। स्थान-स्थान पर नृत्य-गीत होने लगे। सारे लोग मोद-मग्न थे। इस प्रकार सात दिन बीते। पूर्णिमा के दिन महाराज द्विमुख ने इन्द्रध्वज की पूजा की।

पूजा-काल समाप्त हुआ। लोगो ने इन्द्रध्वज के आभूषण उतार लिए और काष्ठ को सडक पर फेंक दिया। एक दिन राजा उसी मार्ग से निकला। उसने उस इन्द्रध्वज काष्ठ को मल-मूत्र में पड़े देखा। उसे वैराग्य हो आया। वह प्रत्येक-बुद्ध हो पंच-मुष्टि लोच कर प्रव्रजित हो गया।[1]

बौद्ध-ग्रन्थ के अनुसार

उत्तर-पञ्चाल राष्ट्र में कम्पिल नाम का नगर था। वहाँ दुमुख नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन वह प्रातःकाल के भोजन से निवृत्त हो, अलंकार पहन कर राज्यांगण की शोभा देख रहा था। उसी समय ग्वालो ने व्रज का द्वार खोला। वृषभ व्रज से निकले। कामुकता के वशीभूत हो उन्होने एक गौ का पीछा किया। काम-मात्सर्य से दो साँड लड़ने लगे। एक नुकीले सींग वाले साँड ने दूसरे साँड की जाँघ मे प्रहार किया। तीव्र प्रहार से आँतें बाहर निकल आईं। वही उसका प्राणान्त हो गया। राजा ने यह देखा और सोचा—"सभी प्राणी कामुकता के कारण कष्ट पाते हैं। मुझे चाहिए कि मैं इन कष्टदायी कामभोगों को छोड दूँ।" उसने खडे ही खडे प्रत्येक-बोधि प्राप्त कर ली।[2]

३-नमि

जैन-ग्रन्थ के अनुसार

अवन्ती देश मे सुदर्शन नाम का नगर था। वहाँ मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था। युगबाहु इसका भाई था। उसकी पत्नी का नाम मदनरेखा था। मणिरथ ने युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा गर्भवती थी। वह वहाँ से अकेली चल पडी। जंगल में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसे रत्नकम्बल मे लपेट कर वही रख दिया और स्वयं शौच-कर्म करने जलाशय में गई। वहाँ एक जलहस्ती ने उसे सूँड से पकड़ा और आकाश में उछाला। विदेह राष्ट्र के अन्तर्गत मिथिला नगरी का नरेश पद्मरथ शिकार करने जगल में आया। उसने उस बच्चे को उठाया। वह निष्पुत्र था। पुत्र की सहज प्राप्ति पर उसे प्रसन्नता हुई। बालक उसके घर में बढ़ने लगा। उसके प्रभाव से पद्मरथ

१–सुखबोधा, पत्र १३५-१३६।

२–कुम्भकार जातक (सं० ४०८), जातक, चतुर्थ खण्ड, पृ० ३९-४०।

के शत्रु राजा भी नत हो गए। इसलिए बालक का नाम 'नमि' रखा। युवा होने पर उसका विवाह १००८ कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ।

पद्मरथ विदेह राष्ट्र की राज्यसत्ता नमि को सौंप प्रव्रजित हो गया। एक बार महाराज नमि को दाह-ज्वर हुआ। उसने छह मास तक अत्यन्त वेदना सही। वैद्यो ने रोग को असाध्य बतलाया। दाह-ज्वर को शान्त करने के लिए रानियाँ स्वयं चन्दन घिस रही थी। उनके हाथ में पहिने हुए कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से राजा को कष्ट होने लगा। उसने कंकण उतार देने के लिए कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य-चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण को छोड कर शेष सभी ककण उतार दिए। कुछ देर बाद राजा ने अपने मंत्री से पूछा—"कंकण का शब्द क्यो नही सुनाई दे रहा है?" मत्री ने कहा—"राजन्! उनके घर्षण से उठे हुए शब्द आपको अप्रिय लगने हैं, यह सोचकर सभी रानियो ने एक-एक ककण के अतिरिक्त शेष ककण उतार दिए हैं। अकेले मे घर्षण नही होता। घर्षण के बिना शब्द कहाँ से उठे?"

राजा नमि ने सोचा—"सुख अकेलेपन मे है। जहाँ द्वन्द्व है, वहाँ दुःख है।" विचार आगे बढा। उसने सोचा यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो अवश्य ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँगा। उस दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा थी। राजा इसी चिंतन मे लीन हो, सो गया। रात्रि के अंतिम प्रहर मे उसने स्वप्न देखा। नन्दीघोष की आवाज से जागा। उसका दाह-ज्वर नष्ट हो चुका था। उसने स्वप्न का चिन्तन किया। उसे जाति-स्मृति हो आई। वह प्रतिबुद्ध हो प्रव्रजित हो गया।[1]

बौद्ध-ग्रन्थ के अनुसार

विदेह-राष्ट्र मे मिथिला नाम की नगरी थी। वहाँ निमि नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन वह गवाक्ष मे बैठा हुआ राजपथ की शोभा देख रहा था। उसने देखा एक चील मांस का एक टुकडा लिए आकाश में उडी। इधर-उधर के गीध आदि पक्षी उसे घेर उससे भोजन छीनने लगे। छीना-झपटी हुई। चील ने मांस का टुकड़ा छोड दिया। दूसरे पक्षी ने उसे उठा लिया। गीधो ने उस पक्षी का पीछा किया। उससे छूटा तो दूसरे ने ग्रहण किया। उसे भी उसी प्रकार कष्ट देने लगे। राजा ने सोचा—"जिस-जिस पक्षी ने मांस का टुकड़ा लिया, उसे-उसे ही दुःख सहना पड़ा, जिस-जिस ने छोडा उसे ही सुख मिला। इन पाँच काम-भोगो को जो-जो ग्रहण करता है, वह दुःख पाता है, जो-जो इन्हें ग्रहण नहीं करता, वह सुख पाता है। ये काम-भोग बहुतों के लिए

१—सुखबोधा, पत्र १३६-१४३।

साधारण है। मेरे पास १६ हजार स्त्रियाँ हैं। मुझे काम-भोगो को त्याग सुखपूर्वक रहना चाहिए।"

खडे ही खडे उसने भावना की वृद्धि की और प्रत्येक-बोधि को प्राप्त कर लिया।[1]

४-नग्गति (नगगति[2])

जैन-ग्रंथ के अनुसार

गाधार जनपद मे पुण्ड्रवर्द्धन नाम का नगर था। वहाँ सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। एक बार उत्तरापथ से उसके दो घोडे भेंट आए।

एक दिन राजा और राजकुमार दोनो घोडो पर सवार हो उनकी परीक्षा करने निकले। राजा जिस घोडे पर बैठा था, वह विपरीत शिक्षा वाला था। राजा ज्यो-ज्यो लगाम खीचता त्यो-त्यो वह तेजी से दौडता था। दौडते-दौडते वह बारह योजन तक चला गया। राजा ने लगाम ढीली छोड दी। घोडा वही रुक गया। उसे एक वृक्ष के नीचे बाँध राजा घूमने लगा। फल खा कर भूख शान्त की। रात बिताने के लिए राजा पहाड पर चढा। वहाँ उसने सप्तभोम वाला एक सुन्दर महल देखा। राजा अन्दर गया। वहाँ एक सुन्दर कन्या देखी। एक दूसरे को देख दोनो मे प्रेम हो गया। राजा ने कन्या का परिचय पूछा, पर उसने कहा—"पहले मेरे साथ विवाह करो, फिर मे अपना सारा वृत्तान्त तुम्हे बताऊँगी।"

राजा ने उसके साथ विवाह किया। कन्या का नाम कनकमाला था। रात बीती। प्रातःकाल कन्या ने कथा सुनाई।

राजा ने दत्तचित्त हो कथा सुनी। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह एक महीने तक वहीं रहा।

एक दिन उसने कनकमाला से कहा—"प्रिये! शत्रुवर्ग कही मेरे राज्य का नाश न कर दे, इसलिए अब मुझे वहाँ जाना चाहिए। तू मुझे आज्ञा दे।" कनकमाला ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा! परन्तु आपका नगर यहाँ से दूर है। आप पैदल कैसे चल सकेंगे? मेरे पास प्रज्ञप्ति विद्या है, आप इसे साध ले।" राजा ने विद्या की साधना की। विद्या सिद्ध होने पर उसके प्रभाव से अपने नगर पहुँच गया।

राजा को प्राप्त कर लोगो ने महोत्सव मनाया। सामतो ने राजा से पूर्व वृत्तान्त पूछा। राजा ने सारी बात बताई। सब आश्चर्य से भर गए।

१-कुम्भकार जातक (स० ४०८), जातक खण्ड ४, पृ० ३९।

२-बौद्ध जातक (सं० ४०८) मे इसे नग्गजी और शतपथ ब्राह्मण (८।१।४।१०) मे नग्नजित् कह कर पुकारा है।

राजा पाँच-पाँच दिनो से उसी पर्वत पर कनकमाला से मिलने जाया करता था। वह कुछ दिन उसके साथ बिता कर अपने नगर को लौट आता। इस प्रकार काल बीतने लगा। लोग कहने—"राजा पर्वत पर है।" उसके बाद उसका नाम 'नग्गति' पड़ा।

एक दिन राजा भ्रमण करने निकला। उसने एक पुष्पित आम्र-वृक्ष देखा। एक मञ्जरी को तोड वह आगे निकला। साथ वाले सभी व्यक्तिओ ने मञ्जरी, पत्र, प्रवाल, पुष्प, फल आदि सारे तोड डाले। आम्र का वृक्ष अब केवल ठूँठ मात्र रह गया। राजा पुन उसी मार्ग से लौटा। उसने पूछा—"वह आम्र-वृक्ष कहाँ है?" मंत्री ने अँगुली के इशारे से उस ठूँठ की ओर संकेत किया। राजा आम की उस अवस्था को देख अवाक् रह गया। उसे कारण ज्ञात हुआ। उसने सोचा—"जहाँ ऋद्धि है, वहाँ शोभा है परन्तु ऋद्धि स्वभावत चञ्चल होती है।" इन विचारो से वह सबुद्ध हो गया।[1]

बौद्ध-ग्रन्थ के अनुसार

गांधार राष्ट्र में तक्षशिला नाम का नगर था। वहाँ 'नग्गजी' नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन उसने एक स्त्री को देखा। वह एक-एक हाथ में एक-एक कंगन पहने सुगन्धी पीस रही थी। राजा ने देखा, एक-एक कंगन के कारण न रगड होती है और न आवाज। इतने मे ही उस स्त्री ने दायें हाथ का कंगन बाएँ हाथ मे पहन लिया और दायें हाथ से सुगंधी समेटती हुई बाएँ हाथ से पीसने लगे। अब एक हाथ में दो कंगन हो गए। आपस के घर्षण से शब्द होने लगा। राजा ने यह सुना। उसने सोचा—"यह कंगन अकेला था तो रगड नही खाता था, अब दो हो जाने के कारण रगड खाता है और आवाज करता है। इसी प्रकार ये प्राणी भी अकेले-अकेले मे न रगड खाते है और न आवाज करते हैं। दो-तीन होने के कारण रगड खाते हैं, आवाज करते हैं। मुझे भी चाहिए कि मैं अकेला हो जाऊँ और अपना ही विचार करता रहूँ।" इन विचारो ही विचारो मे विपश्यना की वृद्धि करते हुए वह प्रत्येक-बुद्ध हो गया।[2]

जैन-कथानक के अनुसार

प्रत्येक बुद्ध का नाम	*राष्ट्र*	*नगर*	*पिता का नाम*	*वैराग्य का कारण*
१. करकण्डु	कलिंग	कांचनपुर	दधिवाहन	बूढा बैल
२. द्विमुख	पाञ्चाल	काम्पिल्य	जय	इन्द्र-ध्वज
३. नमि	विदेह	मिथिला	युगबाहु	एक चूडी की निरववता
४. नग्गति	गांधार	पुण्ड्रवर्धन पुरिसपुर	दृढसिंह	मंजरी विहीन आम्र वृक्ष

१–सुखबोधा, पत्र १४१-१४५।

१–कुम्भकार जातक (सं० ४०८), जातक, चौथा खण्ड, पृष्ठ ३९।

बौद्ध-कथानक के अनुसार

प्रत्येक बुद्ध का नाम	राष्ट्र	नगर	पिता का नाम	वैराग्य
१. करण्डु (करकण्डु)	कलिंग	दन्तपुर	०	फल-विहीन आम्र-वृक्ष
२. दुमुख	उत्तर-पांचाल	कम्पिल	०	वृषभ की कामुकता
३. निमि	विदेह	मिथिला	०	मांस के टुकडे के लिए पक्षियों की छिनाझपटी
४. नग्गजी	गाधार	तक्षशिला	०	एक कंगन की नीरवता

समीक्षा

उपर्युक्त वर्णन मे यह ज्ञात हो जाता है कि चारों प्रत्येक-बुद्धो के नामो में और राष्ट्रों मे प्राय: समानता है, किन्तु उनके वैराग्य के निमित्तो में व्यत्यय मालूम होता है। जैन-कथानक में वैराग्य का जो निमित्त नग्गति और नमि का है, वह बौद्ध-कथानक मे करण्डु और नग्गजी का है।

बौद्ध-कथानक मे करकण्डु को दंतपुर का राजा बताया है। परन्तु जैन कथानक से यह स्पष्ट है कि करकण्डु की माँ चम्पा से निकल कर दंतपुर पहुँची। वहाँ दंतवक्र नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ करकण्डु का जन्म हुआ। आगे चल कर वह काचनपुर का राजा बना और बाद मे चम्पा नगरी का भी राज्य उसे प्राप्त हो गया। कलिंग की राजधानी कांचनपुर थी।

दूसरे प्रत्येक-बुद्ध का नाम, प्राकृत भाषा के अनुसार 'दुम्मुह' और पाली के अनुसार 'दुम्मुख' है। विदेह राज्य मे दो 'नमि' हुए हैं। दोनो ने अपने अपने राज्य का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। एक तीर्थङ्कर हुए और दूसरे प्रत्येक-बुद्ध।[1] उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन मे प्रत्येक-बुद्ध नमि का वृत्तान्त है।

जैन-कथानक के अनुसार अवन्ती देश के राजा मणिरथ के छोटे भाई 'युगबाहु' थे। जब मणिरथ ने उनकी हत्या कर दी, तब उनकी पत्नी मदनरेखा उस राष्ट्र को छोड आगे निकल गई। जंगल में उसने पुत्र को जन्म दिया। उसके नवजात शिशु को मिथिला का नरेश पद्मरथ ले गया। उस बालक का नाम नमि रखा। कालान्तर में उसे विदेह राष्ट्र की राज्यसत्ता सौंप वह मुनि बन गया। इसी प्रकार कुछ काल बीता बाद नमि का बडा भाई, जो अवन्ती राष्ट्र का अधिपति था, भी अपने राष्ट्र की राज्यसत्ता नमि को सौंप प्रव्रजित हो गया। अब नमि विदेह और अवन्ती—दोनों राष्ट्रो का अधिपति बन गया। इससे यह स्पष्ट होता है कि पालित-पुत्र होने के कारण नमि पहले विदेह राष्ट्र का अधिपति बना और बाद में अवन्ती का।

१–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २६७।

जैन-कथानक के अनुसार नेमिचन्द्र ने (सुखबोधा, पत्र १४४) नग्गति के प्रकरण में गान्धार की राजधानी पुण्ड्रवर्धनपुर माना है और चूर्णि (पृ० १७१) तथा शान्त्याचार्य (बृहद् वृत्ति, पत्र ३०४) ने उसकी राजधानी 'पुरुषपुर' माना है। कथानक के इसी प्रकरण में इसकी राजधानी 'तक्षशिला' है। विद्वानों ने गान्धार देश की तीन राजधानियाँ मानी हैं—

पुण्ड्रवर्धन[१] (पुष्कलावती पुक्खली), तक्षशिला[२], पुरुषपुर[३]। संभव है ये तीनों नगर भिन्न-भिन्न समय में गान्धार की राजधानियाँ रही हों। यह भी संभव है कि एक ही राज्यकाल में राजधानियों के समय-समय के परिवर्तन से ही भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न उल्लेख हुए हों।

चारों प्रत्येक-बुद्धों के कथानक, जो जैन-साहित्य में निबद्ध हैं, बहुत ही विस्तृत और परिपूर्ण हैं। उनमे ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों का सुन्दर गुम्फन है और वे जीवन के अथ से इति तक का सारा वृत्तान्त प्रस्तुत करते हैं।

बौद्ध-कथानकों में उनका जीवन नाम मात्र का है, केवल उनके प्रतिबुद्ध होने के निमित्त का वर्णन है। कथानक की सम्पूर्णता की दृष्टि से यह बहुत ही अपर्याप्त है।

डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी जातकों मे उल्लिखित इन चारों प्रत्येक-बुद्धों को पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु मानते हैं। इसी धारणा के आधार पर उन्होंने इनका काल-निर्णय भी किया है।[४]

मुनि विजयेन्द्र सूरि ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए राय चौधरी की भूल बताई है।[५]

विन्टरनिट्ज ने माना है—प्रत्येक-बुद्धों की कथाएँ, जो जैन और बौद्ध-साहित्य में प्रचलित हैं, प्राचीन भारत के श्रमण-साहित्य की निधि रही हैं।[६]

उत्तराध्ययन की कथाओ के आधार पर करकण्डु और द्विमुख का अस्तित्व भगवान् महावीर के शासन काल में सिद्ध होता है। उसके दो मुख्य आधार हैं—

१–इसकी पहचान 'चारसद्दा' से की जाती है।
२–डी डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स, भाग १, पृ० ९८३।
३–इसकी पहचान 'पेशावर' से की जाती है।
४–पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया (पाँचवाँ संस्करण) पृ० १४७।
५–तीर्थङ्कर महावीर, भाग २, पृ० ५७४।
६–The Jainas in the History of India Literature, p. 8.

(१) करकण्डु पद्मावती का पुत्र था। वह चेटक राजा की पुत्री और दधिवाहन की पत्नी थी। ये दोनों भगवान् महावीर के समसामयिक थे।[1]

(२) द्विमुख की पुत्री मदनमञ्जरी का विवाह उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत के साथ हुआ था। यह भी भगवान् महावीर के समसामयिक थे।[2]

चारों प्रत्येक-बुद्ध एक साथ हुए थे, इसलिए उन चारो का अस्तित्व भगवान् महावीर के समय में ही सिद्ध होता है।

डॉ० हीरालाल जैन ने करकण्डु का अस्तित्व-काल ई० पू० ८०० से ५०० के बीच माना है।[3] उक्त अभिमत के अनुसार यदि हम प्रत्येक-बुद्धों का अस्तित्व ई० पू० ५०० के आसपास मान लें तो दोनो धाराओ की दूरी समाप्त हो जाती है। प्रथम धारा के अनुसार प्रत्येक-बुद्ध भगवान् पार्श्व के शासन-काल में माने जाते है और दूसरी धारा के अनुसार वे भगवान् महावीर के शासन-काल में माने जाते हैं। भगवान् महावीर दीक्षित हुए उससे पूर्व भगवान् पार्श्व का शासन-काल था। प्रत्येक-बुद्ध भगवान् महावीर की दीक्षा से पूर्व प्रव्रजित हुए हों और उनके शासन-काल मे भी जीवित रहे हो तो दोनो मान्यताएँ सत्य के निकट पहुँच जाती हैं।

प्रत्येक-बुद्धो का उल्लेख वैदिक-साहित्य मे नही है। इससे यह स्पष्ट है कि वे श्रमण-परम्परा के थे। उपनिषद् साहित्य में जनक (या निमि) तथा महाभारत मे जनक के रूप मे उसी व्यक्ति का उल्लेख हुआ है, जिसका उत्तराध्ययन मे 'नमि' के रूप में उल्लेख है। उत्तराध्ययन सूत्र मे उनके प्रत्येक-बुद्ध होने का उल्लेख नही है। इसका प्रथम उल्लेख उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में मिलता है। उनके जीवन-वृत्त टीकाओ में मिलते हैं। उनका प्राचीन आधार क्या रहा है, यह निश्चयपूर्वक नही बताया जा सकता।

बौद्ध-साहित्य में चारों प्रत्येक-बुद्धो का उल्लेख इस तथ्य की ओर ध्यान खींचता है कि वे महावीर के शासन काल से पूर्व प्रव्रजित हो चुके थे। भगवान् पार्श्व की परम्परा श्रमणो की सामान्य परम्परा रही है। भगवान् महावीर के काल मे निर्ग्रन्थ, आजीवक, शाक्य आदि श्रमण-संघो मे भेद बढ चुका था। उस स्थिति में भगवान् महावीर के शासन-काल में प्रव्रजित होने वाले प्रत्येक-बुद्धों का बौद्ध-साहित्य में स्वीकार हो, यह संभव नहीं लगता। इन कारणों से प्रत्येक-बुद्धो का अस्तित्व भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के शासन का संधि-काल होना चाहिए।

१–सुखबोधा, पत्र १३३-१३५।

२–वही, पत्र १३६।

३–करकण्डु चरिउ (मुनि कनकामर कृत) हीरालाल जैन द्वारा संपादित, भूमिका, पृ० १५।

प्रकरण : तीसरा

भौगोलिक परिचय

उत्तराध्ययन सूत्र मे अनेक देशो तथा नगरो का भिन्न-भिन्न स्थलों मे निर्देश हुआ है। ढाई हजार वर्ष की इस लम्बी कालावधि में कई देशों और नगरों के नाम परिवर्तित हुए, कई मूलत: नष्ट हो गए और कई आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध हैं। हमे उन सभी का अध्ययन प्राचीन प्रतिबिम्ब में करना है और वर्तमान मे उनकी जो स्थिति है, उसे भी यथासाध्य प्रस्तुत करना है। जो नगर उस समय समृद्ध थे, वे आज खण्डहर मात्र रह गए हैं। पुराने नगर मिटते गए, नए उदय मे आते गए। कई नगरों की बहुत छानबीन हुई है परन्तु आज भी ऐसे अनेक नगर हैं जिनकी छानबीन आवश्यक लगती है। आगम के व्याख्या-ग्रन्थो मे तथा अन्यान्य जैन-रचनाओं मे बहुत कुछ सामग्री विकीर्ण पड़ी है। आवश्यकता है कि उनमे भूगोल सम्बन्धी सारी सामग्री एकत्र संकलित हो।

उत्तराध्ययन मे आये हुए देश व नगर

(१) मिथिला (६।४)	(१२) गान्धार (१८।४५)
(२) कम्बोज (११।१६)	(१३) सौवीर (१८।४७)
(३) हस्तिनापुर (१३।१)	(१४) सुग्रीव नगर (१६।१)
(४) कम्पिल्ल (१३।२, १८।१)	(१५) मगध (२०।१)
(५) पुरिमताल (१३।२)	(१६) कोशाम्बी (२०।१८)
(६) दशार्ण (१३।६)	(१७) चम्पा (२१।१)
(७) काशी (१३।६)	(१८) पिहुड (२१।३)
(८) पाञ्चाल (१३।२६, १८।४५)	(१९) सोरियपुर (२२।१)
(९) इषुकार नगर (१४।१)	(२०) द्वारका (२२।२७)
(१०) कलिंग (१८।४५)	(२१) श्रावस्ती (२३।३)
(११) विदेह (१८।४५)	(२४) वाणारसी (२५।१३)

विदेह और मिथिला

विदेह राज्य की सीमा उत्तर मे हिमालय, दक्षिण मे गंगा, पश्चिम मे गंडकी और पूर्व में मही नदी तक थी।

जातक के अनुसार इस राष्ट्र का विस्तार तीन सौ योजन था।[1] इसमें सोलह हजार गाँव थे।[2]

विक्रम की चौथी-पाँचवी शताब्दी के बाद इसका नाम 'तीरहुत' पड़ा, जिसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। विक्रम की १४वी शताब्दी में रचित 'विविध तीर्थकल्प' में इसे 'तीरहुत्ति' नाम से पहचाना है।[3] इसी का अपभ्रष्ट रूप 'तिरहुत' आज भी प्रचलित है।

यह एक समृद्ध राष्ट्र था। यहाँ का प्रत्येक घर 'कदली-वन' से सुशोभित था। खीर यहाँ का प्रिय भोजन माना जाता था। स्थान-स्थान पर वापी, कूप और तालाब मिलते थे। यहाँ की सामान्य जनता भी संस्कृत में विशारद थी। यहाँ के अनेक लोग धर्म-शास्त्रों में निपुण होते थे।[4]

वर्तमान में नेपाल की सीमा के अन्तर्गत (जहाँ मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिले मिलते हैं) छोटे नगर 'जनकपुर' को प्राचीन मिथिला कहा जाता है।[5]

सुरुचि जातक से मिथिला के विस्तार का पता लगता है। एक बार बनारस के राजा ने ऐसा निश्चय किया कि वह अपनी कन्या का विवाह एक ऐसे राजपुत्र से करेगा जो एक पत्नी-व्रत धारण करेगा। मिथिला के राजकुमार सुरुचि के साथ विवाह की बातचीत चल रही थी। एक पत्नी-व्रत की बात सुन कर वहाँ के मन्त्रियों ने कहा—'मिथिला का विस्तार सात योजन है। समूचे राष्ट्र का विस्तार तीन सौ योजन है। हमारा राज्य बहुत बड़ा है। ऐसे राज्य में राजा के अन्तःपुर में सोलह हजार रानियाँ अवश्य होनी चाहिए।'[6]

मिथिला का दूसरा नाम 'जनकपुरी' था। जिनप्रभ सूरि के समय यह 'जगती' (प्रा० जगई) नाम से प्रसिद्ध थी। इसके पास ही महाराज जनक के भाई 'कनक' का निवास-स्थान 'कनकपुर' बसा हुआ था।[7] यहाँ जैन-श्रमणों की एक शाखा 'मैथिलिया' का उद्‌भव हुआ था।[8]

१–सुरुचि जातक (सं ४८९), भाग ४, पृ० ५२१-५२२।
२–जातक (सं ४०६), भाग ४, पृ० २९।
३–विविध तीर्थकल्प, पृ० ३२ :
 'संपइकाले 'तीरहुत्ति देसो' त्ति भण्णई।
४–वही, पृ० ३२।
५–दी एन्शियन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ७१८।
६–जातक सं० ४८९, भाग ४, पृ० ५२१ ५२२।
७–विविध तीर्थकल्प, पृ० ३२।
८–कल्पसूत्र, सूत्र २१३, पृ० ६४।

भगवान् महावीर ने यहाँ छः चातुर्मास बिताए ।[१] आठवें गणधर अकंपित की यह जन्म-भूमि थी ।[२] प्रत्येक-बुद्ध नमि को कङ्कण की ध्वनि से यहीं वैराग्य हुआ था । बाणगंगा और गंडक—ये दो नदियाँ इस नगर को परिवेष्टित कर बहती थी ।[३] चौथे निह्नव अश्वमित्र ने वीर निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात् 'सामुच्छेदिक-वाद' का प्रवर्तन यहीं से किया था ।[४] दशपूर्वधर आर्य महागिरि का यह प्रमुख विहार क्षेत्र था ।[५]

जैन-आगमों में उल्लिखित दस राजधानियों में मिथिला का नाम है ।[६]

कम्बोज

यह जनपद गान्धार के पश्चिम का प्रदेश था ।[७] डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने इसे काबुल नदी के तट पर माना है । कुछ इसे बलुचिस्तान से लगा ईरान का प्रदेश मानते हैं ।[८] रायस डेविड्स ने इसे उत्तर-पश्चिम के छोर का प्रदेश माना है और इसकी राजधानी के रूप में द्वारका का उल्लेख किया है ।[९]

यह जनपद जातीय अश्वों और खच्चरों के लिए प्रसिद्ध था । जैन-आगम-साहित्य तथा आगमेतर-साहित्य में स्थान-स्थान पर कम्बोज के घोड़ों का उल्लेख मिलता है ।[१०] आचार्य बुद्धघोष ने इसे 'अश्वों का घर' कहा है ।[११]

पञ्चाल और काम्पिल्य

कनिंघम के अनुसार आधुनिक एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद और आस-पास के जिले पञ्चाल राज्य की सीमा के अन्तर्गत आते हैं ।[१२]

पञ्चाल जनपद दो भागों में विभक्त था—(१) उत्तर पंचाल और (२) दक्षिण

१-कल्पसूत्र, सूत्र १२२, पृ० ४१ ।
२-आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६४४ ।
३-विविध तीर्थकल्प, पृ० ३२ ।
४-आवश्यक भाष्य, गाथा १३१ ।
५-आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ७८२ ।
६-स्थानांग, १०।७१७ ।
७-अशोक (गायकवाड़ लेक्चर्स), पृ० १६८, पद-संकेत १ ।
८-बौद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृ० ४५६-४५७ ।
९-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २८ ।
१०-उत्तराध्ययन, ११।१६ ।
११-सुमंगलविलासिनी, भाग १, पृ० १२४ ।
१२-देखिए—दी एन्शियण्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४१२, ७०५ ।

पञ्चाल। पाणिनि व्याकरण में इसके तीन विभाग मिलते हैं—(१) पूर्व पञ्चाल, (२) अपर पञ्चाल और (३) दक्षिण पञ्चाल।[१]

द्विमुख पञ्चाल का प्रभावशाली राजा था।[२] पञ्चाल और लाट देश एक शासन के अधीन भी रहे हैं।[३]

बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित १६ महाजनपदों में पञ्चाल का उल्लेख है।[४] किन्तु जैन-आगम में निर्दिष्ट १६ जनपदों में उसका उल्लेख नहीं है।

कनिंघम ने काम्पिल्ल की पहचान उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ से २८ मील उत्तर-पूर्व, गंगा के समीप में स्थित 'कांपिल' से की है।[५] कायमगंज रेलवे स्टेशन से यह केवल पाँच मील दूर है। महाराज द्विमुख इसी नगर में शोभाहीन ध्वजा को देख कर प्रतिबुद्ध हुए।[६]

हस्तिनापुर

इसकी पहिचान मेरठ जिले के मवाना तहसील में मेरठ से २२ मील उत्तर-पूर्व में स्थित हस्तिनापुर गाँव से की गई है।

जैन आगमों में उल्लिखित दस राजधानियों में इसका उल्लेख है[७] और यह कुरु-जनपद की प्रसिद्ध नगरी थी। जिनप्रभ सूरि ने इसकी उत्पत्ति का ऊहापोह करते हुए लिखा है—"ऋषभ के सौ पुत्र थे। उनमें एक का नाम 'कुरु' था। उसके नाम से 'कुरु' जनपद प्रसिद्ध हुआ। कुरु के पुत्र का नाम 'हस्ती' था। उसने हस्तिनापुर नगर बसाया। इस नगर के पास गंगा नदी बहती थी।[८] पाली-साहित्य में इसका नाम 'हत्थिपुर' या 'हत्थिनीपुर' आता है।

१-पाणिनि व्याकरण, ७।३।१३।

२-सुखबोधा, पत्र १३५-१३६।

३-प्रभावक चरित, पृ० २४।

४-अंगुत्तरनिकाय, भाग १, पृ० २१३।

५-दी एन्शियन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४१३।

६-सुखबोधा, पत्र १३५-१३६।

७-स्थानांग, १०।३।७१९।

८-विविध तीर्थकल्प, पृ० २७ :

हत्थिपुर या हत्थिनीपुर के पाली विवरणों में इसके समीप गंगा के होने का कोई उल्लेख नहीं है। रामायण, महाभारत, पुराणों में इसे गंगा के पास स्थित बताया है।

पुरिमताल

इसकी अवस्थिति के विषय मे भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं । कई विद्वान् इसकी पहचान मानभूम के पास 'पुरुलिया' नामक स्थान से करते है ।[1] हेमचन्द्राचार्य ने इसे अयोध्या का शाखानगर माना है ।[2] आवश्यक निर्युक्ति में विनीता के बहिर्भाग मे 'पुरिमताल' नामक उद्यान का उल्लेख हुआ है । वहाँ भगवान् ऋषभ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था और उसी दिन चक्रवर्ती भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई थी ।[3] भरत का छोटा भाई ऋषभसेन 'पुरिमताल' का स्वामी था । जब भगवान् ऋषभ वहाँ आए तब उसने उसी दिन भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । विजयेन्द्र सूरि ने इस नगर की पहचान आधुनिक प्रयाग से की है, किन्तु अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं । उन्होंने इतना मात्र लिखा है कि 'जैन-ग्रन्थो में प्रयाग का प्राचीन नाम 'पुरिमताल' मिलता है ।'[4]

सातवाँ वर्षावास समाप्त कर भगवान् महावीर कुडाक सन्निवेश से 'लोहार्गला' नामक स्थान पर गए । वहाँ से उन्होंने पुरिमताल की ओर विहार किया । नगर के बाहर 'शकटमुख' नाम का उद्यान था । भगवान् उसी मे ध्यान करने ठहर गए ।

पुरिमताल से विहार कर भगवान् उन्नाग और गोभूमि होते हुए राजगृह पहुँचे ।

चित्र का जीव सौधर्म कल्प से च्युत हो पुरिमताल नगर में एक श्रेष्ठी के घर में उत्पन्न हुआ ।[5] आगे चल कर ये बहुत बडे ऋषि हुए ।

जार्ल सरपेन्टियर ने माना है कि 'पुरिमताल' का उल्लेख अन्यत्र देखने मे नही आता । यह 'लिपि-कर्त्ता' का दोष संभव है । इसके स्थान पर 'कुरु-पञ्चाल' या ऐसा ही कुछ होना चाहिए ।[6] यह अनुमान यथार्थ नहीं लगता । हम ऊपर देख चुके हैं कि

१–भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ३३ ।

२–त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १।३।३८९ :

अयोध्याया महापुर्याः, शाखानगर मुत्तमम् ।
ययौ पुरिमतालाख्यं, भगवानृषभध्वजः ॥

३–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ३४२ :

उज्जाणपुरिमताले पुरी विणीआइ तत्थ नाणवरे ।
चक्कुप्पया य भरहे निवेअणं चेव दुण्हंपि ॥

४–तीर्थङ्कर महावीर, भाग १, पृ० २०९ ।

५–सुखबोधा, पत्र १८७ ।

६–दी उत्तराध्ययन, पृ० ३२८ ।

पुरिमताल का अनेक ग्रन्थों मे उल्लेख हुआ है। यह अयोध्या का उपनगर था, ऐसा भगवान् महावीर के विहार-क्षेत्र से प्रतीत होता है।

दशार्ण

बुन्देलखण्ड में धसान नदी बहती है। उसके आसपास के प्रदेश का नाम 'दसण्ण' दशार्ण है।

दशार्ण नाम के दो देश मिलते हैं—एक पूर्व में और दूसरा पश्चिम मे। पूर्व-दशार्ण मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ जिले में माना जाता है। पश्चिम-दशार्ण मे भोपाल राज्य और पूर्व-मालव का समावेश होता है।

बनास नदी के पास बसी हुई मृत्तिकावती नगरी दशार्ण जनपद की राजधानी मानी जाती है। कालीदास ने दशार्ण जनपद का उल्लेख करते हुए 'विदिशा' (आधुनिक भिलसा) का उसकी राजधानी के रूप मे उल्लेख किया है।[1]

जैन-आगमों में उल्लिखित साढे पच्चीस आर्य देशों में 'दशार्ण' जनपद का उल्लेख है।[2]

दशार्ण जनपद के प्रमुख नगर दो थे—(१) दशार्णपुर (एलकच्छ, एडकाक्ष—झाँसी से ४० मील उत्तर-पूर्व 'एरच-एरछ' गाँव) और (२) दशपुर (आधुनिक मदसौर)।

आर्य महागिरि इसी जनपद मे दशार्णपुर के पास गजाग्रपद (दशार्णकूट) पर्वत पर अनशन कर मृत्यु को प्राप्त हुए थे।[3] दशार्णभद्र इस जनपद का राजा था। महावीर ने उसे इसी पर्वत पर दीक्षित किया था।

काशी और वाणारसी

काशी जनपद पूर्व मे मगध, पश्चिम मे वत्स (वंश), उत्तर मे कोशल और दक्षिण मे 'सोन' नदी तक विस्तृत था।

काशी जनपद की सीमाएँ कभी एक-सी नहीं रही हैं। काशी और कोशल में सदा संघर्ष चलता रहता और कभी काशी कोशल का और कभी कौशल काशी का अंग बन जाता था। ई० पू० छठी-पाँचवी शताब्दी में काशी कोशल के अधीन हो गया था। उत्तराध्ययन सूत्र मे हरिकेशबल के प्रकरण में टीकाकार ने बताया है कि हरिकेशबल वाणारसी के तिन्दुक उद्यान में अवस्थित थे। वहाँ कोशलिकराज की पुत्री भद्रा यक्ष-

---

१—मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक २३-२४।

२—बृहत्कल्प भाष्य, भाग ३, पृ० ९१३।

३—आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १५६-१५७।

पूजन के लिए आई।[1] इस घटना से भी काशी पर कोशल का प्रभुत्व प्रमाणित होता है। काशी राज्य का विस्तार ३०० योजन बताया गया है।[2]

वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यह नगर 'बरना' (वरुणा) और 'असी'—इन दो नदियों के बीच में स्थित था।[3] इसलिए इसका नाम 'वाराणसी' पड़ा। यह नैरुक्त नाम है।[4] आधुनिक बनारस गंगा नदी के उत्तरी किनारे पर गंगा और वरुणा के संगम-स्थल पर है।

जैन-आगमोक्त दस राजधानियों मे इसका उल्लेख है। यूआन् चुआङ्ग ने वाराणसी को देश और नगर—दोनों माना है। उसने वाराणसी देश का विस्तार चार हजार 'ली' और नगर का विस्तार लम्बाई मे १८ 'ली' और चौड़ाई में ६ 'ली' बताया है।[5]

काशी, कोशल आदि १८ गणराज्य वैशाली के नरेश चेटक की ओर से कूणिक के विरुद्ध लड़े थे।[6] काशी के नरेश 'शंख' ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी।[7]

इषुकार (उसुयार) नगर

जैन-ग्रन्थकारों ने इसे कुरु जनपद का एक नगर माना है।[8] यहाँ 'इषुकार' नाम का राजा राज्य करता था।

उत्तराध्ययन मे वर्णित इस नगर से सम्बन्धित कथा का उल्लेख बौद्ध-जातक (सं० ५०६) में मिलता है। वहाँ 'वाराणसी' नगरी का उल्लेख है और राजा का नाम 'एषुकार' है।

राजतरंगिणी (७।१३१०, १३१२) मे 'हुष्कपुर' नगर का उल्लेख हुआ है। आज भी काश्मीर में 'बारामूल' (सं० बराह, बराहमूल) से दो मील दक्षिण-पूर्व में बीहट नदी के पूर्वी किनारे पर 'हुशकार' या 'उसकार' नगर विद्यमान है।

'ह्युयेनशान ने काश्मीर की घाटी में, ईस्वी सन् ६३१ के सितम्बर महीने में पश्चिम

१–सुखबोधा, पत्र १७४।
२–धजविहेट्ठ जातक (सं० ३९१), जातक, भाग ३, पृ० ४५४।
३–दि एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४९९।
४–विविध तीर्थकल्प, पृ० ७२।
५–यूआन् चुआङ्गस ट्रैवेल्स इन इण्डिया, भाग २, पृ० ४६-४८।
६–निरयावलिका, सूत्र १।
७–स्थानांग, ८।६२१।
८–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६५।

की ओर से प्रवेश किया था। उसने पूजनीय स्थानों की उपासना कर 'हुशकार' में रात्रि बिताई।'[1]

अबुरिहान ने भी 'उसकार' का उल्लेख कर उसे नदी के दोनों ओर स्थित माना है।[2]

अल्बरूनी का कथन है कि काश्मीर की नदी भेलम 'उसकार' नगर से होती हुई घाटी में प्रवेश करती है।[3] सम्भव है कि यह 'उसकार' नगर ही 'इषुकार—एषुकार' नगर हो।

कलिंग

वर्तमान उडीसा का दक्षिणी भाग 'कलिंग' कहा जाता है। साढे पचीस आर्य-देशो में इसकी गणना की गई है। बौद्ध-ग्रन्थों में उल्लिखित १६ महाजनपदों मे इसका उल्लेख नही है।

यूआन् चुआङ्ग ने कलिंग जनपद का विस्तार पाँच हजार 'ली' और राजधानी का विस्तार बीस 'ली' बताया है।[4]

कलिंग देश की राजधानी काञ्चनपुर मानी जाती थी।[5] सातवीं शताब्दी से यह नगर 'भुवनेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है।

गान्धार

इसकी अवस्थिति की चर्चा करते हुए कनिंघम ने लिखा है कि इसका विस्तार पूर्व-पश्चिम में एक हजार 'ली' (१६६ मील) और उत्तर-दक्षिण मे ८०० 'ली' (१३३ मील) था। इसके आधार पर यह पश्चिम मे लंघान और जलालाबाद तक, पूर्व में सिन्धु तक, उत्तर मे स्वात और बुनिर पर्वत तक और दक्षिण में कालबाग पर्वत तक था।[6]

इस प्रकार स्वात से भेलम नदी तक का प्रदेश गान्धार के अन्तर्गत था।

जैन-साहित्य में गान्धार की राजधानी 'पुण्ड्वर्धन' का उल्लेख है और बौद्ध-साहित्य मे 'तक्षशिला' का।

गान्धार उत्तरापथ का प्रथम जनपद था।

१–दि एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० १०४-१०५।
२–वही, पृ० १०४।
३–अल्बरूनी'ज इण्डिया, पृ० २०७।
४–यूआन् चुआङ्ग'स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग २, पृ० १९८।
५–बृहत्कल्प सूत्र, भाग ३, पृ० ९१३।
६–दि एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया (सं० १८७१), पृ० ४८।

सौवीर

आधुनिक विद्वान् 'सौवीर' को सिन्धु और झेलम नदी के बीच का प्रदेश मानते हैं।[1] कुछ विद्वान् इसे सिन्धु नदी के पूर्व में मुल्तान तक का प्रदेश मानते हैं।[2]

'सिन्धु-सौवीर' ऐसा संयुक्त नाम ही विशेष रूप से प्रचलित है। किन्तु सिन्धु और सौवीर पृथक्-पृथक् राज्य थे। उत्तराध्ययन में उद्रायण को 'सौवीरराज' कहा गया है।[3] टीका से भी उसकी पुष्टि होती है। उसमें उद्रायण को सिन्धु, सौवीर आदि सोलह जनपदों का अधिपति बतलाया गया है।[4]

सुग्रीव नगर

इस नगर की आधुनिक पहचान ज्ञात नहीं है और प्राचीन-साहित्य में भी इसके विशेष उल्लेख नहीं मिलते।

मगध

मगध जनपद वर्तमान गया और पटना जिलों के अन्तर्गत फैला हुआ था। उसके उत्तर में गंगा नदी, पश्चिम में सोन नदी, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत का भाग और पूर्व में चम्पा नदी थी।[5]

इसका विस्तार तीन सौ योजन (२३०० मील) था और इसमें अस्सी हजार गाँव थे।[6]

मगध का दूसरा नाम 'कीकट' था। मगध नरेश तथा कलिंग नरेशों के बीच वैमनस्य चलता था।[7]

कौशाम्बी

कनिंघम ने इसकी आधुनिक पहचान यमुना नदी के बाएँ तट पर, इलाहाबाद से सीधे रास्ते से लगभग ३० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'कोसम' गाँव से की है।[8]

१–इण्डिया अज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० ७०।
२–पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० ५०७, नोट १।
३–उत्तराध्ययन, १८।४८।
४–सुखबोधा, पत्र २५२।
५–बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २४।
६–वही, पृ० २४।
७–वसुदेवहिण्डी, पृ० ६१-६४।
८–दी एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४५४।

कौशाम्बी और राजगृह के बीच अठारह योजन का एक महा अरण्य था। वहाँ बलभद्र प्रमुख कक्कडदास जाति के पाँच सौ चोर रहते थे। कपिल मुनि द्वारा वे प्रतिबुद्ध हुए।[1]

जब भगवान् महावीर साकेत के 'सुभूमि भाग' नामक उद्यान में विहार कर रहे थे, तब उन्होंने अपने साधु-साध्वियों के विहार की सीमा की। उसमें कौशाम्बी दक्षिण दिशा की सीमा-निर्धारण नगरी थी।[2]

कौशाम्बी के आसपास की खुदाई में अनेक शिलालेख, प्राचीन मूर्तियाँ, आयगपट्ट, गुफाएँ आदि निकली हैं। उनके सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह क्षेत्र जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र था। कनिंघम ने खुदाई में प्राप्त कई एक प्रमाणों से इसे बौद्धों का प्रमुख केन्द्र माना है। परन्तु कौशाम्बी के जैन-क्षेत्र होने के विषय में सर विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है—"मेरा यह दृढ निश्चय है कि इलाहाबाद जिले के अन्तर्गत 'कोसम' गाँव में प्राप्त अवशेषों में ज्यादातर जैनों के हैं। कनिंघम ने जो इन्हे बौद्ध अवशेषों के रूप में स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है। नि सन्देह ही यह स्थान जैनों की प्राचीन नगरी 'कौशाम्बी' का प्रतिनिधित्व करता है। इस स्थान पर, जहाँ मन्दिर विद्यमान हैं, वे आज भी महावीर के अनुयायियों के लिए तीर्थ-स्थल बने हुए हैं। मैंने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बौद्ध-साहित्य की कौशाम्बी किसी दूसरे स्थल पर थी।"[3]

चम्पा

यह अंग जनपद की राजधानी थी। कनिंघम ने इसकी पहचान भागलपुर से २४ मील पूर्व में स्थित आधुनिक 'चम्पापुर' और 'चम्पानगर' नामक दो गाँवों से की है। उन्होंने लिखा है—"भागलपुर से ठीक २४ मील पर 'पत्थारघाट' है। यहीं या इसके आसपास ही चम्पा की अवस्थिति होनी चाहिए। इसके पास ही पश्चिम की ओर एक

१—उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, पत्र २८८-२८९।

२—बृहत्कल्प सूत्र, भाग ३, पृ० ९१२।

३—Journal of Royal Asiatic Society, July, 1894.

I feel certain that the remains at kosam in the Allahabad District will prove to be Jain, for the most part and not Buddhist as Cunningham supposed. The village undoubtedly represents the Kausambi of the Jains and the site, where temples exist, is still, a place of pilgrimage for the votaries of Mahāvira. I have shown good reasons for believing that the Buddhist Kausambi was a different place.

बड़ा गाँव है, जिसे चम्पानगर कहते हैं और एक छोटा गाँव है जिसे चम्पापुर कहते हैं। संभव है ये दोनों प्राचीन राजधानी 'चम्पा' की सही स्थिति के द्योतक हों।"[१]

फाहियान ने चम्पा को पाटलिपुत्र से १८ योजन पूर्व दिशा में, गंगा के दक्षिण तट पर स्थित माना है।[२]

स्थानांग (१०।७१७) में उल्लिखित दस राजधानियों में तथा दीघनिकाय में वर्णित छः महानगरियों में चम्पा का उल्लेख है।

महाभारत के अनुसार चम्पा का प्राचीन नाम 'मालिनी' था। महाराज चम्प ने उसका नाम परिवर्तित कर 'चम्पा' रखा।[३]

यह भी माना जाता है कि मगध सम्राट् श्रेणिक की मृत्यु के बाद कुमार कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा नहीं लगा। उसने एक स्थान पर चम्पक के सुन्दर वृक्षों को देख कर 'चम्पा' नगर बसाया।[४]

पिहुंड

यह समुद्र के किनारे पर स्थित एक नगर था।[५] सरपेन्टियर ने माना है कि यह भारतीय नगर प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः यह बर्मा का कोई तटवर्ती नगर हो सकता है।[६] जेकोबी ने इसका कोई ऊहापोह नहीं किया है।

डॉ० सिलवेन लेवी का अनुमान है कि इसी पिहुंड नगर के लिए खारवेल के शिलालेख में पिहुड (पिथुड), पिहुडग (पिथुडग) नाम आया है तथा टालेमी का 'पिटुण्ड्र' भी पिहुड का ही नाम है। लेवी के अनुसार इसकी अवस्थिति मैसोलस और मानदस—इन दो नदियों के बीच स्थित मैसोलिया का अन्तरिम भाग है। दूसरे शब्दों में गोदावरी और महानदी के बीच का पुलिन (Delta) प्राचीन पिहुंड है।[७]

डॉ० विमलचरण लॉ ने लिखा है कि इस नगर की खोज चिकाकोल और कलिंगपटम के अंतरिम भागों में नागावली (अपर नाम लांगुलिया) नदी के तटीय प्रदेशों में करनी चाहिए।[८]

१–दि एन्शिएण्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ५४६-५४७।
२–ट्रेवल्स ऑफ फाहियान, पृ० ६५।
३–महाभारत, १२।५।१३४।
४–विविध तीर्थकल्प, पृ० ६५।
५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६१ :
  समुद्दतीरे पिहुंडं नाम नगरं।
६–The Uttarādhyayana Sūtra, p. 357.
७–ज्योग्राफी ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ६५।
८–सम जैन केनोनिकल सूत्राज, पृ० १४६।

सम्राट् खारवेल का राज्याभिषेक ई० पू० १६६ के लगभग हुआ। राज्यकाल के ग्यारहवें वर्ष में उसने दक्षिण देश को विजित किया और पिथुड (पृथुदकदर्भपुरी) का ध्वंस किया।[1] यह 'पिथुड' नगर 'पिहुड' होना चाहिए।

सोरियपुर

यह कुशावर्त जनपद की राजधानी थी। वर्तमान मे इसकी पहचान आगरा जिले में यमुना नदी के किनारे बटेश्वर के पास आए हुए 'सूर्यपुर' या 'सूरजपुर' से की जाती है।[2]

सोरिक (सोरियपुर) नारद की जन्मभूमि थी।[3] सूत्रकृतांग मे एक 'लोरी' में अनेक नगरों के साथ 'सोरियपुर' का भी उल्लेख हुआ है।[4]

द्वारका

द्वारका की अवस्थिति के विषय में अनेक मान्यताएँ प्रचलित है :

(१) रायस डेविड्स ने द्वारका को कम्बोज की राजधानी बताया है।[5]

(२) बौद्ध-साहित्य मे द्वारका को कम्बोज का एक नगर माना गया है।[6] डॉ० मललशेखर ने इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्भव है यह कम्बोज 'कंसभोज' हो, जो कि अन्धकवृष्णिदास पुत्रों का देश था।[7]

(३) डॉ० मोतीचन्द्र ने कम्बोज को पामीर प्रदेश मान कर द्वारका को बदरवंशा से उत्तर मे स्थित 'दरवाज' नामक नगर माना है।[8]

(४) घट जातक (सं० ३५५) के अनुसार द्वारका के एक ओर समुद्र था और दूसरी ओर पर्वत था। डॉ० मललशेखर ने इसी को मान्य किया है।[9]

१–भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० १८५।
२–कालक-कथासग्रह, उपोद्घात, पृ० ५२।
३–आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १९४।
४–सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र ११९।
५–Buddhist India p 28
Kamboja was the adjoining country in the extreme north-west, with Dvārakā as its capital.
६–पेतवत्थु, भाग २, पृ० ९।
७–दि डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग १, पृ० ११२६।
८–ज्योग्राफिकल एण्ड इकोनॉमिक स्टडीज इन दी महाभारत, पृ० ३२-४०।
९–दि डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग १, पृ० ११२५।

(५) भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार द्वारका सौराष्ट्र जनपद का एक नगर था। वर्तमान द्वारिका कस्बे से आगे २० मील की दूरी पर कच्छ की खाड़ी में एक छोटा-सा टापू है, उसमें एक दूसरी द्वारका बसी हुई है, जिसे 'बेट द्वारिका' कहते हैं। अनुश्रुति है कि यहाँ भगवान् कृष्ण सैर करने आया करते थे। द्वारिका और बेट द्वारिका —दोनों नगरों में राधा, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि के मन्दिर पाए जाते हैं।[1]

(६) कई विद्वानों ने इसकी अवस्थिति पंजाब में मानने की संभावना की है।[2]

(७) डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने द्वारका की अवस्थिति का निर्णय संशयास्पद माना है। उनका कहना है कि प्राचीन द्वारका समुद्र में डूब गई।[3]

(८) आधुनिक द्वारकापुरी प्राचीन द्वारका नहीं है। प्राचीन द्वारका गिरनार पर्वत की तलहटी मे जूनागढ़ के आसपास बसी होनी चाहिए।[4]

(९) पुराणों के अनुसार यह भी माना जाता है कि महाराज रैवत ने समुद्र के बीच में कुशस्थली नगरी बसायी। यह आनर्त जनपद में थी। वही भगवान् कृष्ण के समय मे 'द्वारका' या 'द्वारवती' नाम से प्रसिद्ध हुई।[5]

(१०) जैन-साहित्य में उल्लेख है कि जरासन्ध के भय से भयभीत हो हरिवंश में उत्पन्न दशार्ह वर्ग मथुरा को छोड़ कर सौराष्ट्र में गए। वहाँ उन्होंने द्वारवती नगरी बसाई।[6]

महाभारत में इसी प्रसंग में कहा गया है कि जरासन्ध के भय से यादवों ने पश्चिम दिशा की शरण ली और रैवतक पर्वत से सुशोभित रमणीय कुशस्थली (द्वारवती) नगर में जा बसे। कुशस्थली दुर्ग की मरम्मत कराई।[7]

(११) जैन-आगम में साढे पचीस आर्य-देशों में द्वारका को सौराष्ट्र जनपद की राजधानी के रूप में उल्लिखित किया गया है।[8] यह नगर नौ योजन चौड़ा और बारह

१–बौद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ४८७।
२–बॉम्बे गेजेटीअर, भाग १, पार्ट १, पृ० ११ का टिप्पण १।
३–इण्डियन एण्टिक्वेरी, सन् १९२५, सप्लिमेण्ट, पृ० २५।
४–पुरातत्त्व, पुस्तक ४, पृ० १०८।
५–वायुपुराण, ६।२७।
६–दशवैकालिक, हारिभद्रीय टीका, पत्र ३६।
७–महाभारत, सभापर्व, १४।४९-५१,६७।
८–बृहत्कल्प, भाग ३, पृ० ९१२,९१४।

योजन लम्बा था।[1] इसके चारों ओर पत्थर का प्राकार था।[2] ऐसा भी उल्लेख है कि इसका प्राकार सोने का था। इसके ईशान कोण में रैवतक पर्वत था।[3] इसके दुर्ग की लम्बाई तीन योजन थी। एक एक योजन पर सेनाओं के तीन-तीन दलों की छावनी थी। प्रत्येक योजन के अन्त में सौ सौ द्वार थे।[4]

इन सब तथ्यों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन द्वारका रैवतक पर्वत के पास थी। रैवतक पर्वत सौराष्ट्र में आज भी विद्यमान है। संभव है कि प्राचीन द्वारका इसी की तलहटी में बसी हो और पर्वत पर एक सगीन दुर्ग का निर्माण हुआ हो।

भागवत और विष्णुपुराण में उल्लेख है कि जब कृष्ण द्वारका को छोड़ कर चले गए तब वह समुद्र में डूब गई। केवल कृष्ण का राज-मन्दिर बचा रहा।[5] जैन-ग्रन्थों में भी उसके डूब जाने की बात मिलती है।[6]

जैन ग्रन्थों में उल्लेख है कि एक बार कृष्ण ने भगवान अरिष्टनेमि से द्वारका-दहन के विषय में प्रश्न पूछा। उस समय अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे। अरिष्टनेमि ने कहा— "बारह वर्ष के बाद द्वीपायन ऋषि के द्वारा इसका दहन होगा।" द्वीपायन परिव्राजक ने यह बात लोगों से सुनी। 'मैं द्वारका दहन का निमित्त न बनूं'—यह सोच वह उत्तरापथ में चला गया। काल की गणना ठीक न कर सकने के कारण वह बारहवें वर्ष द्वारका में आया। यादवकुमारो ने उसका तिरस्कार किया। निदान-अवस्था में मर कर वह देव बना और उसने द्वारका को भस्म कर डाला।[7]

द्वारवती-दहन से पूर्व एक बार फिर अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर आए थे।[8] जब द्वारवती का दहन हुआ तब वे पल्हव देश मे थे।

श्रावस्ती

यह कोशल राज्य की राजधानी थी। इसकी आधुनिक पहचान सहेट-महेट से की गई है। इसमें सहेट गोंडा जिले मे और महेट बहराइच जिले में है। महेट उत्तर मे है

१-ज्ञाताधर्मकथा, पृ० ९९,१०१।
२-बृहत्कल्प, भाग २, पृ० २५१।
३-ज्ञाताधर्मकथा, पृ० ९९।
४-महाभारत, सभापर्व, १४।५४-५५।
५-भागवत, ११।३१।२३ विष्णुपुराण, ५।२७।३६।
६-सुखबोधा, पत्र ३९-४०।
७-दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ३६-३७।
८-सुखबोधा, पत्र ३८।

और सहेट दक्षिण में ।[1] यह स्थान उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से पक्की सड़क के रास्ते दस मील दूर है। बहराइच से इसकी दूरी २६ मील है।

विद्वान् वी० स्मिथ ने श्रावस्ती को नेपाल देश के खजूरा प्रान्त में माना है। यह स्थान बालपुर के उत्तर दिशा में और नेपालगंज के पास उत्तर-पूर्वीय दिशा में है।[2]

यूआन् चुआङ् ने श्रावस्ती को जनपद मान कर उसका विस्तार छ हजार ली माना है। उसकी राजधानी के लिए उसने 'प्रासाद नगर' का प्रयोग किया है और उसका विस्तार बीस ली माना है।[3]

१—दी एन्शियण्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४६९-४७४।

२—जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग १, जन् १९००।

३—यूआन् चुआङ्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, भाग १, पृ० ३७७।

प्रकरण चौथा
व्यक्ति परिचय

इस सूत्र में अनेक व्यक्तियो के नाम उल्लिखित हुए हैं। कई व्यक्ति इतिहास की परिधि मे आते हैं और कई प्राग्-ऐतिहासिक हैं। उनकी अविकल सूची तथा परिचय नीचे दिया जा रहा है :

महावीर (२। सू० १)

इस अवसर्पिणी-काल मे जैन-परम्परा के अंतिम तीर्थङ्कर।

नायपुत्त (६।१७)

भगवान् महावीर का वंश 'नाय'—'ज्ञात' था, इसलिए वे 'नायपुत्त' कहलाते थे।

कपिल (अध्ययन ८)

देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० ६५-६७।

नमि (अध्ययन ९)

देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० १०५-१०८।

गौतम (अध्ययन १०)

इनके पिता का नाम वसुभूति, माता का नाम पृथ्वी और गोत्र गौतम था। इनका जन्म (ई० पू० ६०७) गोबर-ग्राम (मगध) में हुआ। इनका मूल नाम इन्द्रभूति था।

एक बार मध्यम पावापुरी मे आर्य सोमिल नाम के एक ब्राह्मण ने विशाल यज्ञ किया। इसमें भाग लेने के लिए अनेक विद्वान् आए। इनमे इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति—ये तीनो भाई भी थे। ये चौदह विद्याओ मे पारंगत थे।

भगवान् महावीर भी बारह योजन का विहार कर मध्यम पावापुरी पहुँचे और गाँव के बाहर महासेन नामक उद्यान में ठहरे। भगवान् को देख सब का मन आश्चर्य से भर गया।

इन्द्रभूति को जीव के विषय मे सन्देह था। वे महावीर के पास वाद-विवाद करने आए। उन्हें अपनी विद्वत्ता पर अभिमान था। उन्होंने सोचा—

यमस्य मालवो दूरे, किं स्यात् को वा वचस्विनः।
अपोषितो रसो नूनं, किमजेयं च चक्रिणः॥

—यम के लिए मालवा कितना दूर है? वचस्वी मनुष्य द्वारा कौन-सा रस (शृङ्गार आदि) पोषित नहीं होता? चक्रवर्ती के लिए क्या अजेय है?

भगवान् ने जीव का अस्तित्व साधा। इन्द्रभूति ने अपने पाँच सौ शिष्यों सहित भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

गौतम भगवान् के प्रथम गणधर थे। ये ५० वर्ष तक गृहस्थ, तीस वर्ष तक छद्मस्थ तथा बारह वर्ष तक केवली पर्याय में रहे और अन्त में अनशन कर ९२ वर्ष की अवस्था में (ई० पू० ५१५ में) राजगृह के वैभारगिरि पर्वत पर मुक्त हो गए।

जैन-आगमों में गौतम द्वारा पूछे गए प्रश्न और भगवान् द्वारा दिए गए उत्तरों का सुन्दर संकलन है।

हरिकेसबल (अध्ययन १२)

देखिए—उत्तरज्झयणाणि पृ० १४१, १४२।

कौशलिक (१२।२०)

कौशलिक कोशल देश के राजा का नाम है। यहाँ कौशलिक से कौन-सा राजा अभिप्रेत है यह स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। कौशलिक पुत्री की घटना वाराणसी में घटित हुई। काशी पर कौशल देश का प्रभुत्व महाकोशल और प्रसेनजित् के राज्यकाल में रहा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कौशलिक महाकोशल या प्रसेनजित् के लिए प्रयुक्त है। महाकौशल के साथ कौशलिक राष्ट्र का अधिक निकट सम्बन्ध है। संभव है यहाँ वह उसी के लिए व्यवहृत हुआ हो।

भद्रा (१२।२०)

महाराज कौशलिक की पुत्री।

देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० १४१, १४२।

चुलणी (१३।१)

यह काम्पिल्यपुर के राजा 'ब्रह्म' की पटरानी और अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की माँ थी। उत्तरपुराण (७३।२८७) में इसका नाम 'चूडादेवी' दिया गया है।

ब्रह्मदत्त (१३।१)

इसके पिता का नाम ब्रह्म और माता का नाम 'चुलणी' था। इनका जन्मस्थान पाञ्चाल जनपद में कंपिल्यपुर था। महावग्गजातक में भी चूलनी ब्रह्मदत्त को पाञ्चाल का राजा माना है। ये अंतिम चक्रवर्ती थे। आधुनिक विद्वानों ने इनका अस्तित्व काल ई० पू० दसवी शताब्दी के आस-पास माना है।[1]

चित्र, सम्भूत (अध्ययन १३)

देखिए—उत्तराज्झयणाणि, पृ० १५३-१५६।

१—केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० १८०।

पुरोहित (१४।३)

पुरोहित का नाम मूल सूत्र में उल्लिखित नहीं है। वृत्ति में इसका नाम भृगु बतलाया गया है।[1]

देखिये—सुखबोधा, पत्र २०४।

यशा (१४।३)

कुरु जनपद के इषुकार नगर मे भृगु पुरोहित रहता था। उसकी पत्नी का नाम यशा था। उसके दो पुत्र हुए। अपने पुत्रों के साथ वह भी दीक्षित हो गई।

कमलावती (१३।३)

यह इषुकार नगर के महाराज 'इषुकार' की पटरानी थी।

इषुकार (१४।३)

यह कुरु जनपद के इषुकार नगर का राजा था। यह इसका राज्यकालीन नाम था। इसका मौलिक नाम 'सीमधर' था।[2] अन्त मे अपने राज्य को छोड यह प्रव्रजित हुआ।[3] बौद्ध-ग्रन्थकारों ने इसे 'एसुकारी' नाम से उल्लिखित किया है।[4]

संजय (१८।१)

देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २२१।

गर्दभालि (१८।१९)

ये जैन-शासन में दीक्षित मुनि थे। पाञ्चाल जनपद का राजा 'सजय' इनके पास दीक्षित हुआ था।

भरत (१८।३४)

ये भगवान् ऋषभ के प्रथम पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती थे। इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' पड़ा।

सगर (१८।३५)

ये दूसरे चक्रवर्ती थे। अयोध्या नगरी मे जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। वह ईक्ष्वाकुवंशीय था। उसके भाई का नाम सुमित्रविजय था। उसके दो पत्नियाँ थीं—विजया और यशोमती। विजया के पुत्र का नाम अजित था। वे दूसरे तीर्थङ्कर हुए और यशोमती के पुत्र का नाम सगर था।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९४।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९४।

३–उत्तराध्ययन, १४।४९।

४–हत्थिपाल जातक, संख्या ५०९।

मघव (१८।३६)

श्रावस्ती नगरी के राजा समुद्रविजय की पटरानी भद्रा के गर्भ से इनका जन्म हुआ। ये तीसरे चक्रवर्ती हुए।

सनत्कुमार (१८।३७)

कुरु—जांगल जनपद में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहाँ कुरुवंश का राजा अश्वसेन राज्य करता था। उसकी भार्या का नाम सहदेवी था। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सनत्कुमार रखा। ये चौथे चक्रवर्ती हुए।

शान्ति (१८।३८)

ये हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम अचिरा देवी था। ये पाँचवें चक्रवर्ती हुए और अन्त मे अपना राज्य त्याग कर सोलहवें तीर्थङ्कर हुए।

कुन्थु (१८।३९)

ये हस्तिनापुर के राजा सूर के पुत्र थे। इनकी माता का नाम श्रीदेवी था। ये छठे चक्रवर्ती हुए और अन्त में राज्य त्याग कर सत्रहवें तीर्थङ्कर हुए।

अर (१८।४०)

ये गजपुर नगर के राजा सुदर्शन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम देवी था। ये सातवें चक्रवर्ती हुए और अन्त में राज्य छोड अठारहवें तीर्थङ्कर हुए।

महापद्म (१८।४१)

कुरु जनपद में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहाँ पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम 'जाला' था। उसके दो पुत्र हुए—विष्णुकुमार और महापद्म। महापद्म नौवें चक्रवर्ती हुए।

हरिषेण (१८।४२)

काम्पिल्यनगर के राजा महाहरिश की रानी का नाम मेरा था। उनके पुत्र का नाम हरिषेण था। वे दसवें चक्रवर्ती हुए।

जय (१८।३३)

ये राजगृह नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'वप्रका' था। ये ग्यारहवें चक्रवर्ती हुए[१]।

दशार्णभद्र (१८।४४)

ये दशार्ण जनपद के राजा थे। ये भगवान् महावीर के समकालीन थे। (पूरे विवरण के लिए देखिए—सुखबोधा, पत्र २५०, २५१)।

करकण्डु १८।४५)

देखिए 'प्रत्येक-बुद्ध'—प्रकरण दूसरा।

१—'भरत' से लेकर 'जय' तक के तीर्थङ्करों तथा चक्रवर्तियों का अस्तित्वकाल प्राग्-ऐतिहासिक है।

द्विमुख (१८।४५)

देखिए—'प्रत्येक-बुद्ध'—प्रकरण दूसरा।

नमि (१८।४५)

देखिए—'प्रत्येक-बुद्ध'—प्रकरण दूसरा।

नग्गति(१८।४५)

देखिए—'प्रत्येक-बुद्ध'—प्रकरण दूसरा।

उद्रायण (१८।४७)

ये सिन्धु-सौवीर जनपद के राजा थे। ये सिन्धु-सौवीर आदि सोलह जनपदों, वीतभय आदि ३६३ नगरों, महासेन आदि दस मुकुटधारी राजाओं के अधिपति थे। वैशाली गणतंत्र के राजा चेटक की पुत्री 'प्रभावती' इनकी पटरानी थी।

काशीराज (१८।४८)

इनका नाम नन्दन था और ये सातवें बलदेव थे। ये वराणसी के राजा अग्निशिख के पुत्र थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और छोटे भाई का नाम दत्त था।

विजय (१८।४९)

ये द्वारकावती नगरी के राजा ब्रह्मराज के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुभद्रा था। ये दूसरे बलदेव थे। इनके छोटे भाई का नाम द्विपिष्ठ था।

उत्तराध्ययन के वृत्तिकार नेमिचन्द्र ने लिखा है कि "आवश्यक निर्युक्ति में इन दो बलदेवों—नन्दन और विजय का उल्लेख आया है। इसलिए हम उसी के अनुसार यहाँ उनका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि ये दोनों कोई दूसरे हों और आगमज्ञ-पुरुष उन्हें जानते हों तो उनकी दूसरी तरह से व्याख्या करें।"[1]

इस कथन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रगत ये दोनों नाम उस समय सन्दिग्ध थे। शान्त्याचार्य ने इन दोनों पर कोई ऊहापोह नहीं किया है। नेमिचन्द्र ने अपनी टीका में कुछ अनिश्चित-सा उल्लेख कर छोड़ दिया है।

यदि हम प्रकरणगत क्रम पर दृष्टि डालें तो हमें यह लगेगा कि सभी तीर्थङ्करों, चक्रवर्तियों तथा राजाओं के नाम क्रमशः आए हैं। उद्रायण भगवान् महावीर के समय में हुआ था। उनके बाद ही दो बलदेवों—काशीराज नन्दन और विजय का उल्लेख असंगत-सा लगता है। अतः यह प्रतीत होता है कि ये दोनों महावीरकालीन ही कोई राजा होने चाहिएँ। जिस श्लोक (१८।४८) में काशीराज का उल्लेख है, उसी में 'सेय' शब्द भी आया है। टीकाकारों ने इसे विशेषण माना है। कई इसे नामवाची मानकर 'सेय' राजा की ओर संकेत करते हैं। आगम-साहित्य में भी कहीं 'काशीराज सेय' का

१-सुखबोधा, पत्र २५६।

उल्लेख ज्ञात नहीं है। भगवान् महावीर ने आठ राजाओं को दीक्षित किया था, ऐसा उल्लेख स्थानांग में आया है।[1] उसमें 'सेय' नाम का भी एक राजा था। परन्तु वह आमलकल्पा नगरी का राजा था, काशी का नहीं। इसी उल्लेख में 'काशीराज शंख' का भी नाम आया है। तो क्या श्लोकगत काशीराज से 'शख' का ग्रहण किया जाय ?

भगवान् महावीर-कालीन राजाओ मे 'विजय' नामका कोई राजा दीक्षित हुआ हो—ऐसा ज्ञात नही है। पोलासपुर में विजय नाम का राजा हुआ था। उसका पुत्र अतिमुक्तक (अइमुत्तय) भगवान् के पास दीक्षित हुआ—ऐसा उल्लेख अंतगडदशा में है।[2] परन्तु महाराज विजय के प्रव्रजित होने की बात वहाँ नही है।

विजय नाम का एक दूसरा राजा उत्तरपूर्व दिशा के मृगग्राम नगर मे हुआ था। उसकी रानी का नाम मृगा था।[3] परन्तु वह भी दीक्षित हुआ हो, ऐसा उल्लेख नही मिलता।

महाबल (१८।५०)

टीकाकार नेमिचन्द्र ने इनकी कथा विस्तार से दी है। उन्होंने अन्त मे लिखा है कि व्याख्या-प्रज्ञप्ति मे महाबल की कथा का उल्लेख है। वे हस्तिनापुर के राजा बल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। वे तीर्थङ्कर विमल के परम्परागत आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हुए। बारह वर्ष तक श्रामण्य का पालन किया। मर कर ब्रह्म-लोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत हो वाणिज्यग्राम में एक श्रेष्ठी के यहाँ पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए। उनका नाम 'सुदर्शन' रखा। ये भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित होकर सिद्ध हुए।

यह कथा व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार दी गई है। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि महाबल वही है या अन्य।[4]

हमारी मान्यता के अनुसार यह कोई दूसरा होना चाहिए। क्या यह विपाक सूत्र (श्रुत १ अ० ३) मे वर्णित पुरिमताल नगर का राजा तो नहीं है। किन्तु वहाँ उसके दीक्षित होने का उलेख नही है।

संभव है कि यह विपाक सूत्र (श्रुत २, अ० ७) में वर्णित महापुर नगर का राजा बल का पुत्र महाबल हो।

१–स्थानांग, ८।६२१।
२–अन्तगडदशा सूत्र, वर्ग ६।
३–विपाक सूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १।
४–सुखबोधा, पत्र २५९।

बलभद्र, मृगा और बलश्री (अध्ययन १९)

बलभद्र सुग्रीवनगर (?) का राजा था। उसकी पटरानी का नाम 'मृगा' और पुत्र का नाम 'बलश्री' था। रानी मृगा का पुत्र होने के कारण जनता मे वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

देखिए—उत्तरज्झयणाणि पृष्ठ २३६, २३७

श्रेणिक (२०।२)

यह मगध साम्राज्य का अधिपति था। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों परम्पराओं मे इसकी चर्चा मिलती है। पौराणिक ग्रन्थो[1] मे इसकी शिशुनागवंशीय, बौद्ध-ग्रन्थों में हर्यङ्क कुल में उत्पन्न[2] और जैन-ग्रन्थों[3] में वाहीक कुल में उत्पन्न माना गया है। रायचौधरी का अभिमत है कि 'बौद्ध-साहित्य में जो हर्यङ्क कुल का उल्लेख है वह नागवंश का ही द्योतक है। कोवेल ने वे हर्यङ्क का अर्थ 'सिंह' किया, परन्तु इसका अर्थ 'नाग' भी होता है। प्रोफेसर भण्डारकर ने नागदशक में बिम्बिसार को गिनाया है और इन सभी राजाओं का वंश 'नाग' माना है।[4]

बौद्ध ग्रन्थ महावंश में इस कुल के लिए 'शिशुनाग वंश' लिखा है।[5] जैन-ग्रन्थो में उल्लिखित 'वाहीक कुल' भी नागवंश की ओर सकेत करता है, क्योकि वाहीक जनपद नाग जाति का मुख्य केन्द्र था। तक्षशिला उसका प्रधान कार्य-क्षेत्र था और यह नगर वाहीक जनपद के अन्तर्गत था। अत श्रेणिक को शिशुनागवंशीय मानना अनुचित नहीं है।

बिम्बिसार शिशुनाग की परम्परा का राजा था—इस मान्यता से कुछ विद्वान् सहमत नहीं हैं। विद्वान् गैगर और भण्डारकर ने सिलोन के पाली वंशानुक्रम के आधार पर बिम्बसार और शिशुनाग को वंश-परम्परा का पृथक्त्व स्थापित किया है। उन्होंने शिशुनाग को बिम्बसार का पूर्वज न मानकर उसे उत्तरवर्ती माना है।[6]

विभिन्न परम्पराओ मे श्रेणिक के विभिन्न नाम मिलते हैं। जैन-परम्परा मे उसके दो नाम है—(१) श्रेणिक और (२) भंभासार।[7] नाम की सार्थकता पर ऊहापोह करते

१–भागवत महापुराण, द्वितीय खण्ड, पृ० ९०३।
२–अश्वघोष बुद्धचरित्र, सर्ग ११ श्लोक २ :
जातस्य हर्यङ्ककुले विशाले···।
३–आवश्यक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६७७।
४–स्टडीज इन इण्डिया एन्टिक्वीटीज, पृ० २१६।
५–महावंश, परिच्छेद, गाथा २७-३२।
६–स्टडीज इन इण्डियन एन्टिक्वीटीज, पृ० २१५-२१६।
७–अभिधान चिन्तामणि ३।३७६।

हुए लिखा गया है कि वह श्रेणी का अधिपति था, इसलिए उसका नाम 'श्रेणिक' पड़ा।[1] जब श्रेणिक बालक था तब एक बार राजमहल में आग लग गई। श्रेणिक भयभीत हो कर भागा। उस स्थिति में भी वह 'भंभा' को आग की लपटों से निकालना नहीं भूला, इसलिए उसका नाम 'भंभासार' पड़ा।[2]

बौद्ध-परम्परा में इसके दो नाम प्रचलित हैं—(१) श्रेणिक और (२) बिम्बिसार।[3] श्रेणिक नामकरण का पूर्वोक्त कारण मान्य रहा है।[4] इसके अतिरिक्त दो कारण और बताए हैं—(१) या तो उसकी सेना महती थी इसलिए उसका नाम 'सेनिय' पड़ा या (२) उसका गोत्र 'सेनिय' था, इसलिए वह 'श्रेणिक' कहलाया।[5]

इसका नाम बिम्बिसार इसलिए पडा कि इसके शरीर का सोने जैसा रंग था।[6] दूसरी बात यह है कि तिब्बत के ग्रन्थों में इसकी माता का नाम 'बिम्बि' उल्लिखित मिलता है। अत इसे बिम्बिसार कहा जाने लगा।[7]

पुराणों में इसे अजातशत्रु[8], विधिसार[9] कहा जाता है। अन्यत्र इसे 'विंध्यसेन' और 'सुबिन्दु' भी कहा गया है।[10]

१–अभिधान चिन्तामणि, स्वोपज्ञ टीका, पत्र २८५।

२–(क) त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०।६।१०६-११२।

(ख) स्थानांग वृत्ति, पत्र ४६१।

३–इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग १४, अंक २, जून १९३८, पृ० ४१५।

४–वही, पृ० ४१५।

५–धम्मपाल-उदान टीका, पृ० १०४।

६–पाली इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११०।

७–इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग १४, अंक २, जून १९३८, पृ० ४१३।

८–भागवत, द्वितीय खण्ड, पृ० ९०३।

९–वही, १२।१।

१०–भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, पृ० २५२।

श्रेणिक के पिता का नाम 'प्रसेनजित'[1] और माता का नाम 'धारिणी'[2] था। श्रेणिक के २५ रानियों के नाम आगम-ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं।[3] वे इस प्रकार हैं—

(१) नन्दा	(९) भद्रा	(१७) कृष्णा
(२) नन्दवती	(१०) सुभद्रा	(१८) सुकृष्णा
(३) नन्दुत्तरा	(११) सुजाता	(१९) महाकृष्णा
(४) नन्दिश्रेणिक	(१२) सुमना	(२०) वीरकृष्णा
(५) मरुय	(१३) भूतदिन्ना	(२१) रामकृष्णा
(६) सुमरुय	(१४) काली	(२२) पितृसेनकृष्णा
(७) महामरुय	(१५) सुकाली	(२३) महासेनकृष्णा
(८) मरुदेवा	(१६) महाकाली	(२४) चेल्लणा[4]
		(२५) अपतगधा[5]

बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार श्रेणिक के पाँच सौ रानियाँ थी।[6] पर कहीं भी उनका नामोल्लेख नहीं मिलता।

१–आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६७१।

हरिषेणाचार्य ने बृहत्कल्प कोष (पृ० ७८) में श्रेणिक के पिता का नाम 'उपश्रेणिक' और माता का नाम 'प्रभा' दिया है।

उत्तरपुराण (७४।४,८ पृ० ४७१) में पिता का नाम 'कूणिक' और माता का नाम 'श्रीमती' दिया है। यह अत्यन्त भ्रामक है।

अन्यत्र पिता का नाम महापद्म, हेमजित, क्षेत्रोजा, क्षेत्प्रोजा भी मिलते हैं। (देखिए—पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २०५)।

२–अणुत्तरोववाइयदशा, प्रथम वर्ग।

३–अन्तकृद्दशा, सातवाँ वर्ग।

४–आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १६४।

५–निशीथ चूर्णि, सभाष्य, भाग १, पृ० १७।

६–महावग्ग, ८।१।१५।

श्रेणिक के अनेक पुत्र थे। अनुत्तरोपपातिक[1] तथा निरयावलिका[2] में उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) जाली[3]	(१०) अभयकुमार[5]	(१९) महाद्रुमसेन	(२८) सुकृष्णकुमार
(२) मयाली	(११) दीर्घसेन	(२०) सीह	(२९) महाकृष्णकुमार
(३) उवयाली	(१२) महासेन	(२१) सीहसेन	(३०) वीरकृष्णकुमार
(४) पुरिससेण	(१३) लष्टदंत	(२२) महासीहसेन	(३१) रामकृष्णकुमार
(५) वारिसेण	(१४) गूढ़दन्त	(२३) पूर्णसेन	(३२) सेणकृष्णकुमार
(६) दीर्घदंत	(१५) शुद्धदन्त	(२४) कालीकुमार	(३३) महासेणकृष्णकुमार
(७) लष्टदंत	(१६) हल्ल	(२५) सुकालकुमार	(३४) कूणिक[6]
(८) वेहल्ल[4]	(१७) द्रुम	(२६) महाकालकुमार	(३५) नंदिसेन[7]
(९) वेहायस	(१८) द्रुमसेन	(२७) महाकृष्णकुमार	

ज्ञाताधर्मकथा में श्रेणिक की पत्नी धारिणी से उत्पन्न मेघकुमार का उल्लेख है।[8]

इनमे से अधिकांश पुत्र राजा श्रेणिक के जीवन-काल में ही जिन-शासन में प्रव्रजित हो भगवान् महावीर के जीवन-काल में ही स्वर्गवासी हो गए।

जाली आदि प्रथम पाँच कुमारों ने सोलह-सोलह वर्ष तक, तीन ने बारह-बारह वर्ष

१-अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रथम वर्ग तथा द्वितीय वर्ग।

२-निरयावलिका, १।

३-जाली आदि प्रथम सात पुत्र तथा दीर्घसेन से पुण्यसेन तक के तेरह पुत्र (कुल २० पुत्र) धारिणी से उत्पन्न हुए थे (देखिए—अनुत्तरोपपातिक दशा, वर्ग १,२)।

४-वेहल्ल और वेहायस—ये दोनों चेल्लणा के पुत्र थे।

५-अभयकुमार बेणातट (आधुनिक कृष्णा नदी के तट पर) के व्यापारी की पुत्री नन्दा का पुत्र था (अनुत्तरोपपातिक दशा, वर्ग १)। बौद्ध-ग्रन्थों में अभय को उज्जैनी की नर्तकी 'पदुमावती' का पुत्र बताया है (डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, भाग १, पृ० १२३)। कुछ विद्वान् इसे नर्तकी आम्रपाली का पुत्र बताते हैं (डॉ० ला : ट्राइब्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३२८)।

६-कूणिक चेल्लणा का पुत्र था। इसका दूसरा नाम अशोकचन्द्र था। देखिए—आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पत्र १६७।

७-त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ३२०।

८-ज्ञाताधर्मकथा, प्रथम भाग, पत्र १९।

तक और अन्तिम दो ने पाँच-पाँच वर्ष तक श्रामण्य का पालन किया।[1] इसी प्रकार दीर्घसेन आदि १३ कुमारों ने सोलह-सोलह वर्ष तक श्रामण्य का पालन किया।[2]

श्रेणिक की अनेक रानियाँ भी भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुई थीं। आगम तथा आगमेतर ग्रन्थों में श्रेणिक से सम्बन्धित इतने उल्लेख हैं कि उनके अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि वह जैनधर्मावलम्बी था। उसका जीवन भगवान् महावीर की जीवन-घटनाओं से इतना संपृक्त था कि स्थान-स्थान पर भगवान् को श्रेणिक की बातें कहते पाते हैं। इसके अनेक पुत्र तथा रानियों का जैन-शासन में प्रव्रजित होना भी इसी ओर संकेत करता है कि वह जैन धर्मावलम्बी था। बौद्ध-ग्रन्थ उसे महात्मा बुद्ध का भक्त मानते हैं। कई विद्वान् यह भी मानते हैं कि महाराज श्रेणिक जीवन के पूर्वार्द्ध में जैन रहा होगा, किन्तु उत्तरार्द्ध में वह बौद्ध बन गया था। इसीलिए जैन कथा-ग्रन्थों में उसके नरक जाने का उल्लेख मिलता है। नरक-गमन की बात वस्तु-स्थिति का निरूपण है। इससे यह सिद्ध नही होता कि वह पहले जैन था और बाद में बौद्ध हो गया। नरक-गमन के साथ-साथ भावी तीर्थङ्कर का उल्लेख भी मिलता है। कई यह भी अनुमान करते हैं कि वह किसी धर्म विशेष का अनुयायी नही बना किन्तु जैन, बौद्ध आदि सभी धर्मों के प्रति समभाव रखता था तथा सब मे उसका अनुराग था।

कुछ भी हो जैन-साहित्य में जिस विस्तार से उसका तथा उसके परिवार का वर्णन मिलता है, वह अन्यत्र नही है। श्रेणिक का सम्पूर्ण जीवन तथा आगामी जीवन का इतिहास जैन-ग्रन्थों में सन्दृब्ध है। यदि उसका जैनधर्म के साथ गाढ़ सम्बन्ध नहीं होता तो इतना विस्तृत उल्लेख जैन-ग्रन्थों मे कभी नही मिलता।

श्रेणिक के जीवन का विस्तार से वर्णन निरयावलिका में है। इसके भावी तीर्थङ्कर-जीवन का विस्तार स्थानांग (९।३।६९३) की वृत्ति (पत्र ४५८-४६८) में है।

अनाथी मुनि (२०।९)

ये कौशाम्बी नगरी के रहने वाले थे। इनके पिता बहुत धनाढ्य थे।[3] एक बार

१–अनुत्तरोपपातिक दशा, वर्ग १।

२–वही, वर्ग २।

३–कई विद्वान् इनके पिता का नाम 'धनसंचय' देते हैं। इस नामकरण का आधार उत्तराध्ययन (२०।१८) में आए 'पभूयधणसंचयो' शब्द है, परन्तु यह आधार भ्रामक है। यह शब्द उनके पिता की आढ्यता का द्योतक हो सकता है न कि नाम का। यदि हम नाम के रूप में केवल 'धनसंचय' शब्द लेते हैं, तो 'पभूय' शब्द शेष रह जाता है और अकेले में इसका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। टीकाकार इस विषय में मौन हैं।

बचपन में ये नेत्र-रोग से पीडित हुए। विपुल-दाह के कारण सारे शरीर में भयंकर वेदना उत्पन्न हुई। चतुष्पाद चिकित्सा कराई गई, पर व्यर्थ। भाई-बन्धु भी उनकी वेदना को बँटा नहीं सके। अत्यन्त निराश हो, उन्होंने सोचा—'यदि मैं इस वेदना से मुक्त हो जाऊँ, तो प्रव्रज्या स्वीकार कर लूँगा।' वे रोग-मुक्त हो गए। माता-पिता की आज्ञा से वे दीक्षित हुए। एक बार राजगृह के मण्डिकुक्षि[1] चैत्य मे महाराज श्रेणिक अनाथी मुनि से मिले।[2] मुनि ने राजा को सनाथ और अनाथ का अर्थ समझाया। राजा श्रेणिक उनसे धर्म की अनुशासना ले अपने स्थान पर लौट गया।[3] मूल ग्रन्थ मे 'अनाथी' का नाम नही है, किन्तु प्रसंग से यही नाम फलित होता है।

पालित (२१।१)

यह चम्पा नगरी का सार्थवाह था। यह श्रमणोपासक था। निर्ग्रन्थ प्रवचन में इसे श्रद्धा थी। यह सामुद्रिक-व्यापार करता था। एक बार यह सामुद्रिक यात्रा के लिए निकला। जाते-जाते समुद्र-तट पर स्थित 'पिहुंड'[4] नगर मे रुका। वहाँ एक सेठ की लड़की से ब्याह करके लौटा। यात्रा के बीच उसे एक पुत्र हुआ। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा। जब वह युवा बना तब उसका विवाह ६४ कलाओ में पारगत 'रूपिणी' नामक एक कन्या से हुआ। एक बार वध-भूमि में ले जाने वाले चोर को देख कर वह विरक्त हुआ। माता-पिता की आज्ञा ले, वह दीक्षित हुआ और कर्म क्षय कर मुक्त हो गया।

समुद्रपाल (२१।४)

देखिए—'पालित'।

रूपिणी (२१।७)

देखिए—'पालित'।

रोहिणी (२२।२)

यह नौवें बलदेव 'राम' की माता, वसुदेव की पत्नी थी।

देवकी (२२।२)

यह कृष्ण की माता और वसुदेव की पत्नी थी।

१—दीघनिकाय, भाग २, पृ० ९१ मे इसे 'मद्दकुच्छि' नाम से परिचित किया है।

२—डॉ० राधाकुमुद बनर्जी (हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० १८७) मण्डिकुक्षि में राजा श्रेणिक के धर्मानुरक्त होने की बात बताते हैं। किन्तु वे अनाथी मुनि के स्थान पर अनगारसिंह (२०।५८) शब्द से भगवान् महावीर का ग्रहण करते हैं। परन्तु यह भ्रामक है। क्योंकि स्वयं मुनि (अनाथी) अपने मुँह से अपना परिचय देते हैं और अपने को कौशाम्बी का निवासी बताते हैं। देखिए—उत्तराध्ययन, २०।१८।

३—देखिए—उत्तराध्ययन, अध्ययन २०।

४—देखिए—भौगोलिक परिचय के अन्तर्गत 'पिहुंड' नगर।

राम (२२।२)

देखिए—'रोहिणी'।

केशव (२२।२)

यह कृष्ण का पर्याय नाम है। ये वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। ये अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे।

समुद्रविजय (२२।६३)

ये सोरियपुर नगर मे अधककुल के नेता थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—(१) अरिष्टनेमि, (२) रथनेमि, (३) सत्यनेमि और (४) दृढनेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक बुद्ध हुए।

शिवा (२२।४)

देखिए—'समुद्रविजय'।

अरिष्टनेमि (२२।४)

ये बाईसवें तीर्थङ्कर थे। ये सोरियपुर नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शिवा था। ये गौतम गोत्रिय थे। कृष्ण इनके चचेरे भाई थे और आयुष्य में इनसे बड थे।

राजीमती (२२।६)

यह भोजकुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री थी। इसका वैवाहिक-सम्बन्ध अरिष्टनेमि से तय हुआ था। किन्तु विवाह के ठीक समय पर अरिष्टनेमि को वैराग्य हो आया और वे मुनि बन गए। राजीमती भी, कुछ काल बाद, प्रव्रजित हो गई।

विष्णुपुराण (४।१४।२१) के अनुसार उग्रसेन के चार पुत्रियाँ थी—कसा, कंसवती, सुतनु और राष्ट्रपाली। सभव है 'सुतनु' राजीमती का ही दूसरा नाम हो। उत्तराध्ययन (२२।३७) में रथनेमि राजमती को 'सुतनु' नाम से सम्बोधित करते हैं।

वासुदेव (२२।८)

कृष्ण का पर्यायवाची नाम है।

दसारचक्र[1] (२२।११)

दस यादव राजाओ को 'दसार' कहा जाता है। वे ये है—

(१) समुद्रविजय
(२) अक्षोभ्य
(३) स्तिमित
(४) सागर
(५) हिमवान्
(६) अचल
(७) धरण
(८) पूरण
(९) अभिचन्द
(१०) वसुदेव

१—विशेष विवरण के लिए देखिए—'उत्तराध्ययन–टिप्पण', पृ० १६०-१६१।

रथनेमि (२२।३४)

ये अन्धककुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र थे और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के लघु-भ्राता थे। अरिष्टनेमि के प्रव्रजित हो जाने पर ये राजीमती में आसक्त हो गए। पर राजीमती का उपदेश सुन कर वे संभल गए और दीक्षित हो गए। एक बार पुन रैवतक पर्वत पर वर्षा से प्रताडित साध्वी राजीमती को एक गुफा में कपडे सुखाते समय नग्न अवस्था में देख, वे विचलित हो गए। साध्वी राजीमती के उपदेश से वे संभल गए और अपने विचलन पर पश्चात्ताप करते हुए चले गए।[1]

भोजराज (२२।४३)

जैन-साहित्य के अनुसार 'भोजराज' शब्द राजीमती के पिता उग्रसेन के लिए प्रयुक्त है।

अन्धकवृष्णि (२२।४३)

हरिवंशपुराण के अनुसार यदुवंश का उद्‌भव हरिवंश से हुआ। यदुवंश मे नरपति नाम का राजा था। उसके दो पुत्र थे—(१) शूर और (२) सुवीर। सुवीर मथुरा में राज्य करता था और शूर शौर्यपुर का राजा बना। अन्धक-वृष्णि आदि 'सूर' के पुत्र थे और भोजनकवृष्णि आदि सुवीर के।

अन्धकवृष्णि की मुख्य रानी का नाम सुभद्रा था। उसके दस पुत्र हुए—

(१) समुद्रविजय	(६) अचल
(२) अक्षोभ्य	(७) धारण
(३) स्थिमिति सागर	(८) पूरण
(४) हिमवान्	(९) अभिचन्द्र
(५) विजय	(१०) वसुदेव

ये दसों पुत्र दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए। अन्धकवृष्णि के दोकन्याएँ थीं—(१) कुन्ती और (२) मद्री।

भोजकवृष्णि की पत्नी का नाम पद्मावती था। उसके उग्रसेन, महासेन और देवसेन[2]—ये तीन पुत्र हुए[3]। उनके एक गान्धारी नाम की पुत्री भी हुई।[4]

अरिष्टनेमि, रथनेमि आदि अन्धकवृष्णि राजा समुद्रविजय के पुत्र थे।

कृष्ण आदि अन्धकवृष्णि वसुदेव के पुत्र थे। वैदिक पुराणों में इनकी वंशावली भिन्न-भिन्न प्रकार से दी गई है।

१–सुखबोधा, पत्र २७७-७८।

२–उत्तरपुराण, (७०।१०) में इनका नाम महाद्युतिसेन दिया है।

३–देखिए—हरिवंशपुराण, १८।६-१६।

४–उत्तरपुराण, ७०।१०१।

पूरे विस्तार के लिए देखिए—पारजीटर एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ १०४-१०७।

पार्श्व (२३।१)

ये जैन-परम्परा के तेईसवें तीर्थङ्कर थे। इनका समय ई० पू० आठवीं शताब्दी है। ये भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुए थे। ये 'पुरुषादानीय' कहलाते थे।

कुमार-श्रमण केशी (२३।२)

ये भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चौथे पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त हुए। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदत्त सूरि थे, जिन्होंने वेदान्त दर्शन प्रसिद्ध आचार्य 'लोहिय' से शास्त्रार्थ कर उनको पाँच सौ शिष्यों सहित दीक्षित किया। इन नवदीक्षित मुनियों ने सौराष्ट्र, तेलंगादि प्रान्तों में विहार कर जैन-शासन की प्रभावना की। तीसरे पट्टधर आचार्य समुद्रविजय सूरि थे। उनके समय में 'विदेशी' नामक एक प्रचारक आचार्य ने उज्जैन नगरी में महाराज जयसेन, उनकी रानी अनंगसुन्दरी और उनके राजकुमार केशी को दीक्षित किया।[1] ये ही भगवान् महावीर के तीर्थ-काल में पार्श्व-परम्परा के आचार्य थे। आगे चल कर इन्होंने नास्तिक राजा परदेशी को समझाया और उसे जैन-धर्म में स्थापित किया।[2]

पूरे विवरण के लिए देखिये—उत्तरज्झयणाणि, आमुख पृष्ठ २९९-३०२।

वर्द्धमान (२३।५)

ये चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। इनका समय ई० पू० छठी शताब्दी था।

जयघोष, विजयघोष (२५।१)

वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई रहते थे। वे काश्यप-गोत्रीय थे। वे यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कार्यों में रत थे और चार वेदों के ज्ञाता थे। वे दोनों युगलरूप में जन्मे। जयघोष पहले दीक्षित हुआ। फिर उसने विजयघोष को प्रव्रजित किया। दोनों श्रामण्य की आराधना कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

गार्ग्य (२७।१)

ये स्थविर आचार्य गर्ग गोत्र के थे। जब उन्होंने देखा कि उनके सभी शिष्य अविनीत, उद्दण्ड और उच्छृङ्खल हो गये हैं, तब आत्मभाव से प्रेरित हो, शिष्य समुदाय को छोड़ कर, वे अकेले हो गये और आत्मा को भावित करते हुए विहरण करने लगे।

विशेष विवरण के लिए देखिए- -उत्तराध्ययन का २७ वाँ अध्ययन।

१—समरसिंह, पृ० ७५-७६।

२—नाभिनन्दनोद्धार प्रबन्ध, १३६।

पाँचवाँ : प्रकरण

१–निक्षेप-पद्धति

निक्षेप निर्युक्तिकालीन व्याख्या-पद्धति का मुख्य अंग है। शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। उनके अप्रस्तुत अर्थों का अग्रहण और प्रस्तुत अर्थ का बोध निक्षेप के द्वारा ही होता है। अप्रस्तुत अर्थों की व्याख्या मे तत् तत् शब्द से सम्बन्धित अनेक ज्ञातव्य बातें प्रस्फुटित होती हैं। इस दृष्टि से निक्षेप-पद्धति का ऐतिहासिक मूल्य भी बहुत है। प्रत्येक शब्द का निक्षेप किया जा सकता है और उससे सम्बन्धित समग्र विषयों की व्याख्या करणीय है, किन्तु निर्युक्ति व अन्य व्याख्याओं में इतने निक्षेप प्राप्त नहीं हैं। मुख्य-मुख्य शब्दों के ही निक्षेप बतलाए गए हैं। उनमे से कुछेक शब्दों के निक्षेप यहाँ उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

१–अंग

इसका अर्थ है विभाग। यह चार प्रकार का है—(१) नाम-अंग, (२) स्थापना-अंग, (३) द्रव्य-अंग और (४) भाव-अंग।

द्रव्य-अंग के छः प्रकार हैं—

(क) गन्ध-अंग	(ख) औषध-अंग	(ग) मद्य-अंग
(घ) आतोद्य अंग	(ङ) शरीर-अंग	(च) युद्ध-अंग

(क) *गंध अंग*

उस समय में नेत्रबाला, प्रियंगु, तमालपत्र, श्यामक और चातुर्जातिक[1]—तज, इलायची, तेजपत्ता और नागकेसर—इन द्रव्यों को पीस कर एक चूर्ण बनाया जाता था। उसमे चमेली की भावना देने से वह गन्ध-द्रव्य करोड़ मूल्य का अर्थात् बहुमूल्यवान् हो जाता था।

चार तोला खशखश, चार तोला हाडबेर, एक तोला देवदारु, चार तोला सौंफ, चार तोला तमालपत्र—इन सबको पीस कर मिलाने से एक प्रकार का गन्ध-चूर्ण बनता था। यह चूर्ण वशीकरण के लिए प्रयुक्त होता था। जो व्यक्ति वशीकरण का प्रयोग करना चाहता था, वह इस चूर्ण को लगा स्नान करता और इसीका विलेपन करता था।

१–भैषज्यरत्नावली, परिभाषा प्रकरण, श्लोक १९ :
त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्।
नागकेसरसंयुक्तं, चातुर्जातिकमुच्यते ॥

वह अपने कपड़ों में भी इसी चूर्ण की गन्ध देता था। इतना कर लेने पर वह जिसको वश में करने की इच्छा करता, वह व्यक्ति स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था। राजा चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता ने राजा उदयन को वश में करने के लिए इसी चूर्ण का प्रयोग किया था।

(ख) *औषध-अंग*

पिण्डहरिद्रा, दारुहरिद्रा, इन्द्रयव, सूंठ, पिप्पली, मरीच, आर्द्रा और बेल की जड़—इन सात द्रव्यों को एक साथ पीस कर उसमें पानी डाल गुटिका बनाई जाती थी। इस गुटिका के प्रयोग से खुजली, तिमिर रोग, अर्द्धशिरोरोग, समस्त सिर की व्यथा, तीन या चार दिन के अन्तर से आने वाला ज्वर—ये सभी रोग तथा चूहे, सर्प आदि के दंश इस गुटिका से शान्त हो जाते थे।

(ग) *मद्य-अंग*

सोलह सेर द्राक्षा, चार सेर[1] धाय के पुष्प और ढाई सेर इक्षु रस—इनको मिलाकर मद्य बनाया जाता था।

(घ) *आतोद्य-अंग*

मुकुन्दा नाम का वाद्य अकेला ही अपने गम्भीर स्वर के कारण तूर्य का काम कर देता था, इसलिए वह आतोद्य का विशिष्ट अंग माना जाता था। इसकी विशिष्टांगता को समझाने के लिए निर्युक्तिकार ने दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जैसे—(१) अभिमार नामक वृक्ष का काष्ठ अग्नि-उत्पादक शक्ति के कारण अग्नि का विशिष्ट अंग है और (२) शाल्मली वृक्ष का फूल, बड़ा होने के कारण, अकेला ही बच्चों का मुकुट बन जाता है।[2]

(ङ) *शरीर-अंग*

शरीर के अंग आठ हैं—शिर, उर, उदर, पीठ, दो बाहु और दो ऊरु।

शरीर के उपांग ग्यारह हैं—कर्ण, नासा अक्षि, जंघा, हस्त, पाद, नख, केश, श्मश्रु, अङ्गुलि और ओष्ठ।

(च) *युद्ध-अंग*

इसके आठ अंग हैं—यान, आवरण, प्रहरण, कौशल, नीति, दक्षता, व्यवसाय और शरीर का आरोग्य। (इनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत युद्ध-प्रकरण)

१—बृहद्वृत्ति (पत्र १४३) का अभिमत है कि यह माप मागध-देश का है।
२—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५२।

भाव-अंग के दो प्रकार हैं—१-श्रुत-अंग और २-नोश्रुत-अंग।

१-श्रुत अंग के बारह प्रकार हैं—(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायाग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अन्तकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

(२) नोश्रुत-अग के चार प्रकार हैं—

(१) मानुष्य—	मनुष्यता।
(२) धर्मश्रुति—	धर्म का श्रवण
(३) श्रद्धा—	धर्म करने की अभिलाषा।
(४) वीर्य—	तप और संयम मे शक्ति।[1]

२—करण

इसके छ प्रकार है—

(क) नामकरण	(घ) क्षेत्रकरण
(ख) स्थापनाकरण	(ङ) कालकरण और
(ग) द्रव्यकरण	(च) भावकरण

द्रव्यकरण

इसके दो प्रकार है—

(१) सज्ञाकरण—जिसकी क्रिया के अनुगत सज्ञा हो, जैसे—'कटकरण' अर्थात् कटनिष्पादक उपकरण, 'अर्थकरण' अर्थात् सिक्का ढालने का ठप्पा।

(२) नो-संज्ञाकरण—जिसकी सज्ञा क्रिया के अनुरूप रूढ न हो।

क्षेत्रकरण

क्षेत्र—आकाश के बिना कुछ भी नही किया जा सकता, इसलिए द्रव्यकरण को भी अवकाश की प्रधानता क कारण 'क्षेत्रकरण' कहा जाता है, जैसे—इक्षुक्षेत्रकरण, शालिक्षेत्रकरण, तिलक्षेत्रकरण।

१-(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १४४-१५६।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९२,९३।
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र १४१-१४४।

कालकरण

जिस द्रव्य की जितने काल प्रमाण में निष्पत्ति होती है, उसके लिए वह 'कालकरण' है। जैसे—भोजन पकाने में एक मुहूर्त लगता है तो भोजन की निष्पत्ति में वही 'कालकरण' है।

ज्योतिष के पाँच अंग हैं—(१) तिथि, (२) नक्षत्र, (३) वार, (४) योग और (५) करण। करण का सम्बन्ध काल से है।

कालकरण के ग्यारह प्रकार है—

(१) बव	(२) बालव	(३) कौलव
(४) स्त्रीविलोचन	(५) गरादि	(६) वणिज
(७) वृष्टि	(८) शकुनि	(९) चतुष्पद
(१०) नाग	(११) किंस्तुघ्न	

इनमें प्रथम सात 'चल' और अन्तिम चार 'ध्रुव' है। प्रत्येक का समय चार-चार प्रहर का है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन रात मे 'शकुनि', अमावस्या के दिन में 'चतुष्पद', रात्रि मे 'नाग' और प्रतिपदा के दिन 'किंस्तुघ्न'—ये चार करण अवस्थित रूप से होते हैं।

भावकरण

इसके दो प्रकार हैं—अजीवकरण और जीवकरण।

अजीवकरण पाँच प्रकार का है—(१) पाँच प्रकार के वर्ण, (२) पाँच प्रकार के रस, (३) दो प्रकार के गन्ध, (४) आठ प्रकार के स्पर्श और (५) पाँच प्रकार के संस्थान।

जीवकरण दो प्रकार का होता है—(१) श्रुतकरण और (२) नोश्रुतकरण।

श्रुतकरण के दो भेद हैं—(१) बद्ध और (२) अबद्ध।

बद्ध का अर्थ है—श्रुत में निबद्ध। इसके दो प्रकार है—(१) निशीथ और (२) अनिशीथ।

निशीथ—जिसको एकान्त मे पढ़ा जाता है या जिसकी व्याख्या एकान्त में की जाती है। निशीथ के दो प्रकार हैं—

(१) लौकिक— बृहदारण्यक आदि।
(२) लोकोत्तर— निशीथ सूत्र आदि।

अनिशीथ के दो प्रकार हैं—

(१) लौकिक— पुराण आदि ।

(२) लोकोत्तर— आचारांग आदि ।

अबद्ध के दो प्रकार हैं—

(१) लौकिक—बत्तीस अड्डिया, छत्तीस पच्चड्डिया, सोलह करण और पाँच संस्थान ।

(२) लोकोत्तर—अर्हत्-प्रवचन में पाँच सौ आदेश अबद्ध है । इनका अङ्ग या उपाङ्ग में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता । जैसे—

(क) मरुदेवा अत्यन्त स्थावर (पूर्वकाल मे स्थावरकाय से अनिःसृत) होकर सिद्ध हुई ।

(ख) स्वयम्भूरमण समुद्र मे मत्स्य और पद्म के वलय-वर्जित सभी संस्थान होते हैं ।

(ग) विष्णुकुमार महर्षि ने लक्ष योजन प्रमाण की शरीर-विकुर्वणा की थी ।

(घ) अतिवृष्टि के कारण 'कुणाला' का नाश हुआ और उसके बाद तीसरे वर्ष साकेत नगरी में 'करुड' और 'कुरुड' (बृहद्वृत्ति के अनुसार 'कुरुड' और 'विकुरुड') नामक मुनियो का मरण हुआ और वे अत्यन्त अशुभ अध्यवसायों के कारण सातवें नरक में गए ।

(ङ) कुणाला नगरी के विनाश के तेरहवें वर्ष मे श्रमण भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान की निष्पत्ति हुई, आदि आदि ।

नोश्रुतकरण दो प्रकार का है—

(१) गुणकरण— तप करण और संयम-करण ।

(२) योजनाकरण— मन, वचन और काया का व्यापार ।[1]

३—संयोग

जिसके साथ या जिसमे 'यह मेरा है'—ऐसी बुद्धि होती है, उसे अथवा आत्मा के साथ आठ कर्मों के सम्बन्ध को 'संयोग' कहते हैं । इसके छ प्रकार हैं —

(१) नाम-संयोग
(२) स्थापना-संयोग
(३) द्रव्य-संयोग
(४) क्षेत्र-संयोग
(५) काल-संयोग
(६) भाव-संयोग

द्रव्य संयोग दो प्रकार का है—(१) संयुक्त द्रव्य-संयोग और (२) इतरेतर द्रव्य-संयोग । इतरेतर द्रव्य संयोग के छः प्रकार हैं । उनमें एक प्रकार है—सम्बन्धन-संयोग ।

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०३-१०८ ।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १९४-२०५ ।

संबंधन संयोग चार प्रकार का है—

(१) द्रव्य-सम्बन्धन संयोग।
(२) क्षेत्र-सम्बन्धन संयोग।
(३) काल-सम्बन्धन सयोग।
(४) भाव-सम्बन्धन संयोग।

द्रव्य-सम्बन्धन सयोग तीन प्रकार का है—

(१) सचित्त द्रव्य सम्बन्धन सयोग—
(क) द्विपद— पुत्र के संयोग से 'पुत्री'।
(ख) चतुष्पद— गाय के संयोग से 'गोमान्'।
(ग) अपद— आराम (बगीचे) के सयोग से 'आरामिका'। पनस के सयोग से 'पनसवान्'।

(२) अचित्त द्रव्य-सम्बन्धन सयोग—कुण्डल के संयोग से 'कुण्डली'।

(३) मिश्र द्रव्य-सम्बन्धन सयोग— रथ पर चढ़कर जाने वाले को 'रथिक' कहा जाता है।

क्षेत्र-सम्बन्धन सयोग दो प्रकार का होता है—

(१) अनर्पित (अविशेष)।
(२) अर्पित (विशेष) सुराष्ट्र से सम्बन्धित 'सोराष्ट्रक'। मालव से सम्बन्धित 'मालवक'। मगध से सम्बन्धित 'मागध'।

काल-सम्बन्धन संयोग के दो प्रकार हैं—

(१) अनर्पित

(२) अर्पित—वसन्तकाल से सम्बन्धित को 'वासन्तिक' कहा जाता है।

भाव-सम्बन्धन संयोग दो प्रकार का है—

(१) आदेश— औदयिक आदि भाव।
(२) अनादेश— छः भावों में से कोई एक भाव।

४–पर-संयोग

इसके चार प्रकार हैं—

(१) द्रव्य-बाह्य संयोग— दण्ड के संयोग से 'दण्डी'।
(२) क्षेत्र-बाह्य सयोग— अरण्य में पैदा होने वाला 'अरण्यज' और नगर में पैदा होने वाला 'नगरज' कहलाता है।

(१) काल-बाह्य संयोग— दिन में पैदा होने वाला 'दिनज' और रजनी में पैदा होने वाला 'रजनीज' कहलाता है।

(२) तदुभय संयोग— (क) द्रव्य क्रोधी—दण्ड रखने वाला क्रोधी होता है।
(ख) क्षेत्र क्रोधी—मालव और सुराष्ट्र में रहने वाला क्रोधी होता है।
(ग) काल क्रोधी—वसन्त में पैदा होने वाला या वसन्त में क्रोधी होता है।[1]

उपर्युक्त निक्षेप में चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार—दोनों ने बहुत विस्तार से अनेक अवान्तर भेदों का उल्लेख किया है। हमने केवल संक्षेप में उनका विवरण प्रस्तुत किया है।

२–निरुक्त

निरुक्त का अर्थ है—शब्दों की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या। इस पद्धति से शब्द का मूलस्पर्शी अर्थ ज्ञात हो सकता है। आगम के व्याख्यात्मक साहित्य में इस पद्धति से शब्दों पर बहुत विचार हुआ है। उनकी छान-बीन से शब्द की वास्तविक प्रकृति को समझने में बहुत सहारा मिलता है और अर्थ सही रूप में पकड़ा जाता है। उत्तराध्ययन चूर्णि में अनेक निरुक्त दिये गये हैं। उनका संकलन शब्द-बोध में सहायक है। उत्तराध्ययन चूर्णि के कुछ निरुक्त ये हैं

पण्डित—	पापाड्डीन पण्डित ।	(पृ० २८)
	पण्डिति बुद्धि साऽस्य जातेति पण्डित ।	(पृ० ४०)
क्षुद्र—	क्षणतीति क्षुद्र ।	(पृ० २९)
कल्याण—	कल्यं आनयतीति कल्याणम् ।	(पृ० ४१)
ववहार—	विविह वा पहरणं विविओ वा अपहार ववहार ।	(पृ० ४३)
आतुर—	अत्यर्थं तरतीत्यातुर ।	(पृ० ५४)
मेधावी—	मेरया धावतीति मेधावी ।	(पृ० ५७)
नाग—	नास्य किञ्चिदगम्यं नाग ।	(पृ० ५९)
संग्राम—	समं ग्रसत इति संग्राम ।	(पृ० ५९)
	नमन्तं ग्रसतीति संग्राम ।	(पृ० १८४)

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१ २४।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २०-४०।

नगर—	नात्र करो विद्यते इति नगरम ।	(पृ० ६६)
निगम—	नयन्तीति निगमा ।	(पृ० ६६)
दारुण—	मण दारयतीति दारुण ।	(पृ० ७०)
समण—	समो सव्वत्थमणो जस्स भवति स समणो ।	(पृ० ७२)
सजत—	सम्म जतो सजतो ।	(पृ० ७२)
पाणि—	पातेति पिबति वा तेणेति पाणी ।	(पृ० ७४)
तृण—	तरन्तीति तृणम ।	(पृ० ७४)
प्रज्ञा—	प्रज्ञायते अनया इति प्रज्ञा ।	(पृ० ७७)
	प्रागेव ज्ञायते अनयेति प्रज्ञा ।	(पृ० २१०)
आतप—	आताप्यते येन स आतप ।	(पृ० ७६)
तन्तु—	तनात्यसौ नयते वा तन्तु ।	(पृ० ७९)
पङ्क—	पत त्यस्मिन्निति पङ्क ।	(पृ० ७६)
फल—	फलतीति फलम ।	(पृ० ८३)
देह—	दिह्यतीति देहम ।	(पृ० ८६)
मनुष्य—	मनसि शेते मनुष्य ।	(पृ० ९६)
वीरिय —	विराजयत्यनेनैव वीरिय ।	(पृ० ९६)
काय —	चीयत इति काय ।	(पृ० ९६)
सङ्ग—	सज्यते यत्र स सङ्ग ।	(पृ० ९७)
नैयायिक—	नयनशीलो नयायिक ।	(पृ० ९८)
योनि—	युवति जुषन्ति वा तामिति योनि ।	(पृ० १०१)
क्षेत्र —	क्षीयते इति क्षेत्रम ।	(पृ० १०१)
पूर्व—	पूरयतीति पूर्वम ।	(पृ० १०१)
वस्तु—	वसति तस्मिन इति वस्तु ।	(पृ० १०१)
वर्ष—	आवर्षतीति वर्ष ।	(पृ० १०१)
दास—	दयति इति दास ।	(पृ० १०१)
मित्र—	मज्जति मज्जन्ति वा तमित मित्रम ।	(पृ० १०२)
पाप—	पातयते तमिति पापम ।	(पृ० ११०)
	पासयति पातयति वा पापम ।	(पृ० १५२)
बन्धु—	दानमानक्रियया बध्नातीति बन्धु ।	(पृ० ११२)
दीप—	दीप्यते इति दीप ।	(पृ० ११४)
मोह—	मुह्यते येन स मोह ।	(पृ० ११५)
पद्म—	पद्यते अनेनेति पदम ।	(पृ० ११७)

जीवित—	जीव्यते येन तज्जीवितम् ।	(पृ० ११७)
अश्व—	अश्नाति अश्नुते वा अध्वानमिति अश्वः ।	(पृ० १२२)
स्थावर—	तिष्ठन्तीति स्थावरा· ।	(पृ० १३२)
मांस—	मन्यते स भक्षयिता येनोपभुक्तेन बलवन्तमात्मानमितिमांसम् ।	(पृ० १३३)
पुण्य—	पुणातीति पुण्यम् ।	(पृ० १३६)
भिक्षाक—	भिक्षां आकुरिति भिक्षाकः ।	(पृ० १३८)
गृही—	धर्मार्थकामान् गृह्णातीति गृही ।	(पृ० १३८)
व्रत—	व्रियत इति व्रतम् ।	(पृ० १३८)
दिव—	दिव्यति तस्मिन् इति दिवम् ।	(पृ० १३८)
पिंडोलग—	पिंडेसु दीयमाणेसु ओलति पिडोलगा ।	(पृ० १३८)
अग—	अंग्यते अनेन इति अङ्गम् ।	(पृ० १३६)
राति—	रातीति राति ।	(पृ० १३६)
छवि—	छादयति छादयन्ति वा तमिति छिद्यते वाऽसौ छवि ।	(पृ० १३६)
दीर्घ—	दीर्यन्ते इति दीर्घ ।	(पृ० १४०)
	दीर्यते वा दीर्घ ।	(पृ० १५३, १५४)
आयु—	एति याति वा तस्मिन् इति आयु· ।	(पृ० १४०)
यश—	अश्नुते लोकेष्विति यश ।	(पृ० १४०)
निग्गंथ—	नास्य ग्रंथो विद्यत इति निर्ग्रन्थ ।	[1](पृ० १४६)
	निर्गतो वा ग्रन्थतो निर्गंथो ।	(पृ० १४६)
विद्या—	विद्यत इति विद्या ।	(पृ० १४७)
पुरुष—	पिबति प्रीणाति चात्मानमिति पुरुष ।	(पृ० १४७)
	पूर्णो वा सुखदुःखानामिति पुरुष· ।	(पृ० १४७)
	पुरुषु शयनाद् वा पुरुष ।	(पृ० १४७)
मित्र—	मेज्जतो मेयन्ति वा तदिति मित्रम् ।	(पृ० १४६)
माता—	मातयति मन्यते वाऽसौ माता ।	(पृ० १५०)
	मिमीते मिनोति वा पुत्रधर्मानिति माता ।	(पृ० १५०)
पिता—	पाति बिभर्ति वा पुत्रमिति पिता ।	(पृ० १५०)
स्नुषा—	स्नेहेति स्नवन्ति वा तामिति स्नुषा ।	(पृ० १५०)
भार्या—	बिभर्त्ति भयते वासौ भार्या ।	(पृ० १५०)
पुत्र—	पुनातीति पुत्र· ।	(पृ० १५०)
	पुनाति पिबति वा पुत्र ।	(पृ० १८०)

पशु—	पश्यतीति पशु ।	(पृ० १५१)
पात्र—	पाति जीवानामात्मानं वा तेनेति पात्रम् ।	(पृ० १५२)
पिण्ड—	पिण्डयति तं इति पिण्डः ।	(पृ० १५५)
पाश—	पश्यतीति पाश ।	(पृ० १५७)
आएस—	आएसं जाणतित्ति आइसो आवेसो वा ।	(पृ० १५८)
	आविशति वा वेश्मनि, तत्र आविशति वा गत्वा इत्याएसा ।	(पृ० १५८)
ओदन—	उतत्ति उदत्ति वा तमिति ओदनम ।	(पृ० १५८)
अञ्जन—	अञ्जन्ति तस्मिन्निति अञ्जनम् ।	(पृ० १५८)
गुरु—	गृणातीति गीर्यते वा गुरु ।	(पृ० १६१)
समुद्र—	समंताद् अतीव उत्ता पृथिवी सर्वतस्तेनेनि समुद ।	(पृ० १६६)
धीर—	धातीति धीर ।	(पृ० १६७)
नि श्रेयस—	नियत निश्चितं वा श्रेय नि श्रेयसम ।	(पृ० १६७)
कलह—	कलाभ्यो हीयते येन स कलह ।	(पृ० १६७)
आमिष—	यत् सामान्य बहुभि प्रार्थ्यते तद् आमिषम् ।	(पृ० १७२)
मन्थु—	मथ्यते इति मन्थु ।	(पृ० १७५)
गण्ड—	गच्छतीति गण्डम् ।	(पृ० १७६)
पेशल—	प्रिय करोतीति पेशल ।	(पृ० १७७)
प्रासाद—	प्रसीदन्ति अस्मिन् जणस्य नयनमनासि इति प्रासाद· ।	(पृ० १८१)
गृह—	गृह्णातीति गृहम ।	(पृ० १८१)
मुनि—	मनुते मन्यते वा जगति त्रिकालावस्थाभावानिति मुनि ।	(पृ० १८२)
गोपुर—	गोभि पूर्यत इति गोपुरम् ।	(पृ० १८२)
धनु—	घ्नन्ति तेन धारयन्ति वा धनु ।	(पृ० १८३)
केयण—	कीरति त केयण ।	(पृ० १८३)
अध्वा—	अत्ति प्राणानित्यध्वा ।	(पृ० १८३)
मास—	मीयते तमिति मास ।	(पृ० १८४)
घोर—	घूर्णते अस्य भयं घोरा ।	(पृ० १८४)
	घूर्णत इति घोर ।	(पृ० २०८)
मणि—	मन्यते इति मणि ।	(पृ० १८५)
रूप—	रोचते तदिति रूपम् ।	(पृ० १८५)
पर्वत—	पर्वतीति पर्वत ।	(पृ० १८५)
पृथ्वी—	प्रथते पृथति वा तस्यां पृथिवी ।	(पृ० १८५)
विष—	वेवेष्टि विष्णाति वा विषम् ।	(पृ० १८५)

दुम—	दोसु मातो दुमो ।	(पृ० १८७)
तीर्थ—	तीर्यते तार्यते वा तीर्थम् ।	(पृ० १९०)
विसूचिका—	सूचिरिव विदधतीति विसूचिका ।	(पृ० १९१)
आतङ्क—	विविधैर्दुःखविशेषैरात्मानमङ्कयतीति आतङ्क ।	(पृ० १९१)
धन—	दधाति धीयते वा धनम् ।	(पृ० १९२)
	धीयते धीयन्ते वाऽनेनेति प्राणिन इति धनम् ।	(पृ० २०५)
आलय—	आलीयन्ते तस्मिन्नित्यालय ।	(पृ० १९३)
ग्राम—	ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्राम ।	(पृ० १९३)
आस—	अम्सेत्ति अस्सेति असति य आसु पहाति त्ति आसो ।	(पृ० १९८)
कुंजर—	कु-भूमी तं जरेती कुजरं ।	(पृ० १९९)
हरि—	हरति ह्रियते वा हरि ।	(पृ० २०३)
नाम—	नयति नीयते वा नाम ।	(पृ० २०३)
उपधि—	उपदधाति तीर्थम् उपधि ।	(पृ० २०४)
उपकरण—	उपकरोतीत्युपकरणम् ।	(पृ० २०४)
आशा—	आशासन्ति तमित्याशा ।	(पृ० २०४)
पांशु—	पश्यति पाशयति वा पांशु ।	(पृ० २०४)
स्थल—	तिष्ठति तस्मिन्निति स्थलम् ।	(पृ० २०५)
गिर्—	गीयते गिरति गृणाति वा गिरा ।	(पृ० २०६)
ब्रह्म—	बृहति वा अनेनेति ब्रह्म ।	(पृ० २०७)
महान्—	महन्ति तमिति महान् ।	(पृ० २०७)
पराक्रम—	परत क्रामतीति पराक्रम ।	(पृ० २०८)
यक्ष—	नेति क्षयमिति यक्षा ।	(पृ० २०८)
गिरि—	गृणाति गिरन्ति वा तस्मिन् गिरीः ।	(पृ० २०८)
पत्नि—	पाति तामिति पत्नि ।	(पृ० २०८)
नख—	न क्षीयन्ति नखा ।	(पृ० २०८)
अक्षि—	अश्नोति इति अक्षि ।	(पृ० २०९)
पतंग—	पंत पतन्तीति पतंगा ।	(पृ० २०९)
अग्नि—	अभाणं अग्गी ।	(पृ० २०९)
मुख—	खन्यते तत् खनन्ति वा तत् मुखम् ।	(पृ० २०९)
जिह्वा—	जायते जयति जिनति वा जिह्वा ।	(पृ० २०९)
नेत्र—	नयतीति नेत्रम् ।	(पृ० २०९)
काष्ठ—	कश्यतीति काष्ठम् ।	(पृ० २०९)

अर्थ—	इर्यति रक्षति वा अर्थ ।	(पृ० २१०)
यूप—	युवन्ति तेनात्मन समुच्छ्रितेन यूपा ।	(पृ० २११)
मृग—	मृग्यते इति मृग ।	(पृ० २१४)
नग—	न गच्छतीति नग ।	(पृ० २१४)
हस—	हसन्तीति हसा ।	(पृ० २१४)
गङ्गा—	गां गच्छतीति गङ्गा ।	(पृ० २१४)
श्वपाक—	श्वयति स्वसिति वाचा पुन पच्चतीति श्वपाका ।	(पृ० २१५)
सत्य—	सद्भ्यो हित सत्यम् ।	(पृ० २१५)
नर—	नृत्यन इति नर ।	(पृ० २१६)
स्थली—	स्थाल्यायाल स्थली ।	(पृ० २१६)
भुजङ्ग—	भुजाभ्या गच्छतीति भुजङ्ग ।	(पृ० २२६)
द्विज—	दो वारा जाता द्विजा ।	(पृ० २३१)
उरग—	उरेण गच्छतीति उरग ।	(पृ० २३१)
सत्कार—	शोभन कार सत्कार ।	(पृ० २३६)
मुखरी—	मुखेन अरिमावहतीति मुखरी ।	(पृ० २४५)
स्थविर—	स्थिरीकरणात् स्थविर ।	(पृ० २७०)
गणधर—	गण धारयतीति गणधर ।	(पृ० २७०)

३–सभ्यता और संस्कृति

उत्तराध्ययन की रचना अनेक-कर्तृक है। उसका रचना-काल वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी से दसवी शताब्दी तक का है।

इसके मुख्य व्याख्या-ग्रन्थ चार है—

(१) निर्युक्ति— द्वितीय भद्रबाहु (विक्रम की छठी शताब्दी)।

(२) चूर्णि— गोपालिक महत्तर शिष्य (विक्रम की सातवीं शताब्दी)।

(३) बृहद्वृत्ति—वादिवेताल शान्ति सूरि (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी)।

(४) सुखबोधा—नेमिचन्द्रसूरि (विक्रम की बारहवीं शताब्दी)।

प्रस्तुत अध्ययन मूल आगम तथा उक्त व्याख्या-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इससे आगमकालीन तथा व्याख्याकालीन सभ्यता और संस्कृति के विविध रूप हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

राजा और युवराज

सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि चिह्न राजा के लक्षण माने जाते थे। छत्र, चामर, सिंहासन आदि राज-चिह्न थे।[1] राजा सर्वशक्ति-सम्पन्न व्यक्तित्व होता था।

सामान्यत राजा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था। यदि ज्येष्ठ पुत्र विरक्त हो जाता तो छोटे पुत्र को राज-सिंहासन दे दिया जाता था। कभी-कभी समझदार व वय प्राप्त हुए बिना ही राजा लोग अपने पुत्र को युवराज पद दे देते थे। अचलपुर के राजा जितशत्रु ने अपने पुत्र को शिशुवय में ही युवराज बना दिया था।[2]

राजकुमार जब दुर्व्यसनो मे फँस जाते, तो राजा उन्हे देश-निकाला दे देते थे। उज्जैनी का राजपुत्र मूलदेव सभी कलाओं में निपुण था। किन्तु उसे जुआ खेलने का व्यसन था। राजा ने उसे घर से निकाल दिया।[3] शखपुर के राजा सुन्दर का राजकुमार 'अगडदत्त' था। वह मद्य, मांस, आदि सभी व्यसनों में प्रवीण था। एक बार उसने नगर में कुछ गडबडी पैदा कर दी। राजा ने उसे देश-निकाला दे दिया।[4]

कई राजा गोकुल-प्रिय होते थे। राजा करकण्डु के पास अनेक गोकुल थे। उसके पास लम्बे सीगवाला एक गन्ध-वृषभ था।[5]

अन्तःपुर

राजाओ के अन्त पुर मे अनेक रानियाँ होती थी। वे बारी-बारी से राजा के वास-भवन मे जाती थी।[6] कञ्चनपुर के राजा विक्रमयशा के पाँच सौ रानियाँ थी।[7]

कभी-कभी राजा लोग सुन्दर गृहिणियो को बलात् अपने अन्त पुर में ले आते थे। एक बार कञ्चनपुर मे नागदत्त नामक सार्थवाह की सुन्दर पत्नी विष्णुश्री को राजा ने

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ४८९।
२-वही, पत्र ९९।
३-सुखबोधा, पत्र ५९।
४-वही, पत्र ८४ :
रे! रे! भणह कुमारं, सिग्घं चिय वज्जिऊण मह विसयं।
अन्नत्थ कुणसु गमण, मा भणसु य जं न कहिय ति॥
५-वही, पत्र १३५।
६-वही, पत्र १४२ :
एगेगा वारएण रएणीय राइणो वासभवणे आगच्छइ।
७-वही, पत्र २३९।

अपने अन्तःपुर मे रख लिया। नागदत्त ने बहुत अनुनय किया। राजा ने आग्रह नहीं छोड़ा। अन्त में वह अपनी पत्नी के वियोग में मर गया।[१]

न्याय

छोटी-छोटी बातों का मामला राजकुल मे ले जाया जाता था। करकण्डु और किसी ब्राह्मण-कुमार के बीच एक बाँस के डण्डे को लेकर झगड़ा हो गया। दोनों राजकुल में उपस्थित हुए। दोनों के तर्क सुनने के बाद राजा ने निर्णय दिया कि बाँस करकण्डु को दे दिया जाए क्योंकि वह उसके द्वारा सरक्षित श्मशान मे उगा हुआ है।[२]

कर-व्यवस्था

उस समय अठारह प्रकार के कर प्रचलित थे।[३] कर वसूल करने वाले को 'सुकपाल' (सं० शुल्कपाल) कहा जाता था।[४] व्यापारी लोग शुल्क से बचने के लिए अपना माल छिपाते थे। अचल नाम का एक व्यापारी जब पारसकुल से धन कमाकर बेन्यातट आया तो वहाँ के राजा विक्रम को राजी रखने के लिए हिरण्य, सुवर्ण और मोतियो से भरे थाल लेकर वह राजा के पास गया। राजा ने उसे बैठने के लिए आसन दिया। अचल ने कहा—"राजन्! मैं पारसकुल से आया हूँ। आप मेरा माल जाँचने के लिए व्यक्तियो को भेजें।" राजा अपने पचजनो के साथ गया। अचल ने अपने जहाजो मे माल दिखाया। राजा ने पूछा—"इतना ही है?" अचल ने कहा—"हाँ! सारा माल बोरों में था।" राजा ने सारा माल तुलवाया। पंचो ने उसे तौला। भार से, पैरो के प्रहार से तथा बाँस के द्वारा छेद करने से उन्हें यह पता लगा कि इस माल के बीच और कोई सार-वस्तु है। राजा ने अपने आदमियों को आदेश दिया कि इस अचल को बाँधो, यह प्रत्यक्ष चोर है। राजा ने सारे बोरे खुलवाए। किसी मे सोना, किसी में चाँदी, किसी मे मणि-मुक्ता और किसी में प्रवाल निकला। राजा सारे वाहनों को अपने आरक्षकों के अधिकार में देकर चला गया।[५]

राजा या जमींदार गाँव में प्रत्येक व्यक्ति से बिना पारिश्रमिक दिए ही काम कराते थे। बारी-बारी से सबको कार्य करना पड़ता था।[६]

१–सुखबोधा, पत्र २३९।
२–वही, पत्र १३४।
३–बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५।
४–सुखबोधा, पत्र ७१।
५–वही, पत्र ६४-६५।
६–बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३।

राजा के पुत्र-जन्म और राज्याभिषेक के अवसर पर जनता को कर-मुक्त किया जाता था।

अपराध और दण्ड

अपराधों मे चौर्य-कर्म प्रमुख था। चोरों के अनेक वर्ग यत्र-तत्र कार्यरत रहते थे। लोगों को चोरों का आतंक सदा बना रहता था। राजा चोरो के दमन के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे।

चोरों के प्रकार

उत्तराध्ययन मे पाँच प्रकार के चोरों का उल्लेख है—

(१) आमोष— धन-माल को लूटने वाले।
(२) लोमहार— धन के साथ-साथ प्राणों को लूटने वाले।
(३) ग्रन्थि-भेदक— ग्रन्थि-भेद करने वाले।
(४) तस्कर — प्रतिदिन चोरी करने वाले।[१]
(५) कण्णुहर— कन्याओ का अपहरण करने वाले।[२]

लोमहार बहुत क्रूर होते थे। वे अपने आपको बचाने के लिए लोगों की नृशंस हत्या कर देते थे। ग्रन्थि-भेदक 'घुर्घुरक' (?) तथा विशेष कैंचियों से गाँठो को काटकर धन चुराते थे।[३]

कई चोर धन की तरह स्त्री-पुरुषों को चुरा ले जाते थे। एक बार उज्जैनी के सागर सेठ के पुत्र को किसी चोर ने चुराकर मालव के एक रसोइए के हाथ बेंच दिया।[४]

चोर इतने निष्ठुर होते थे कि वे चुराया हुआ अपना माल छिपाने के लिए अपने कुटुम्बी जनो को भी मार देते थे। एक चोर अपना सारा धन अपने घर के एक कुएँ में रखता था। एक दिन उसकी पत्नी ने देख लिया, तो उसने सोचा, कहीं भेद न खुल जाए इसलिए उसने अपनी पत्नी को मार कर कुएँ मे डाल दिया। उसका पुत्र चिल्लाया। लोगों ने उसे पकड लिया।[५]

१–उत्तराध्ययन, ९।२८ ; सुखबोधा, पत्र १४९।
२–उत्तराध्ययन, ७।५।
३–सुखबोधा, पत्र १४९।
४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७४ :
उज्जेणीए सागरस्स सुतो चोरेहिं हरिउं मालवके सूयगारस्स हत्थे विक्कीतो।
५–सुखबोधा, पत्र ८१।

उस समय के चोर नाना प्रकार की सेंध लगाते थे। उत्तराध्ययन वृत्ति में कई प्रकार की सेंधों का उल्लेख हुआ है—(१) कपिशीर्षाकार, (२) कलशाकृति, (३) नन्दावर्त सस्थान, (४) पद्माकृति, (५) पुरुषाकृति[१] और (६) श्रीवत्स सस्थान[२]।

दण्ड-व्यवस्था

उस समय दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। एक बार वाराणसी के राजा शङ्ख ने किसी अपराध पर अपने मन्त्री नमुची के प्रच्छन्न-वध की आज्ञा दे दी।[३]

पोदनपुर के पुरोहित विश्वभूति के दो लड़के थे—कमठ और मरुभूति। एक बार कमठ अपने छोटे भाई की पत्नी में आसक्त हो गया। बात राजा तक पहुँची। राजा ने कमठ के गले में मिट्टी के शरावों की माला पहना, गधे पर बिठा, 'यह अकृत्यकारी है'—ऐसी घोषणा करते हुए सारे नगर में घुमा, उसे निर्वासित कर दिया।[४]

एक बार इन्द्र-महोत्सव के उत्सव पर एक राजा ने अपने नगर के सभी नागरिकों को उपस्थित होने के लिए कहा। सभी लोग एकत्रित हुए। किन्तु एक पुरोहित-पुत्र वेश्या के घर में छिप गया। जब राजा को पता लगा तो उसे शूली-वध का दण्ड दिया गया। उसके पिता पुरोहित ने राजा से बहुत अनुनय किया और अपनी सारी सम्पत्ति देने की अर्जी की किन्तु राजा ने उसे नहीं छोड़ा।[५]

अपराधियों को चाण्डालों के मुहल्ले में रहने का भी दण्ड दिया जाता था।[६] चोरों की अतिक्रूरता पर उनके वध का आदेश दिया जाता था।[७]

मनुष्यों की हत्या करने पर व्यक्तियों को मरण-दण्ड दिया जाता था।[८]

गुप्तचर

उस समय छोटे-छोटे राज्य होते थे। प्रत्येक राज्य में गुप्तचर सक्रिय रहते थे। एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते समय 'गुप्तचर' की सम्भावना से साधु भी पकड़ लिए जाते थे।[९]

१–बृहद्वृत्ति, पत्र २०७।
२–वही, पत्र २१५।
३–सुखबोधा, पत्र १८६।
४–वही, पत्र २८६।
५–बृहद्वृत्ति, पत्र २११।
६–सुखबोधा, पत्र १९१।
७–बृहद्वृत्ति, पत्र १५६।
८–वही, पत्र २०७।
९–वही, पत्र १२२।

निःस्वामिक धन

निःस्वामिक धन पर राजा का अधिकार होता था। कुरु जनपद के उसुकार नगर के राजा इषुकार ने अपने भृगु पुरोहित के सारे परिवार के प्रव्रजित हो जाने पर उसका सारा धन अपने खजाने के लिए मँगवाया था।[1]

युद्ध

व्यूह-रचना भारतीय युद्ध-नीति का प्रमुख अङ्ग रहा है। भगवान् महावीर के समय में भी वह पद्धति प्रचलित थी।

जब उज्जैनी का राजा चण्डप्रद्योत और काम्पिल्य के राजा द्विमुख के बीच में युद्ध हुआ तब उसमें चण्डप्रद्योत ने गरुड-व्यूह और द्विमुख ने सागर-व्यूह की रचना की थी।[2]

युद्ध के नौ अङ्ग माने जाते थे—

(१) यान	(४) कौशल	(७) व्यवसाय
(२) आवरण	(५) नीति	(८) परिपूर्णाङ्ग शरीर
(३) प्रहरण	(६) दक्षता	(९) आरोग्य[3]

चूर्णिकार ने इनकी व्याख्या में लिखा है कि यदि युद्ध में यान-वाहन न हों तो बेचारे पैदल सैनिक क्या करेंगे? यान-वाहन हों और आवरण (कवच) न हों तो सेना सुरक्षित कैसे रह सकती है? आवरण हों और प्रहरण न हों तो शत्रु को पराजित नहीं किया जा सकता। प्रहरण हों और उनको चलाने का कौशल न हो तो युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। कौशल होने पर भी युद्ध की नीति (पीछे हटने या आगे बढ़ने) के अभाव में शत्रु को नहीं जीता जा सकता। नीति के होने पर भी दक्षता (शीघ्र निर्णायकता) के बिना सफलता प्राप्त नहीं होती। दक्षता होने पर भी व्यवसाय (कठोर श्रम) न हो तो युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। इन सबका आधारभूत है, शरीर का परिपूर्णाङ्ग और स्वस्थ होना।[4]

१—उत्तराध्ययन, १४।३७।

२—सुखबोधा, पत्र १३६।
रइओ गरुडव्वूहो पज्जोएण, सायरव्वूहो दोमुहेण।

३—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५४।
जाणावरणपहरणे जुद्धे कुसलत्तणं च नीई अ।
दक्खत्तं ववसाओ सरीरमारोग्गया चेव॥

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९३।

युद्ध में पराजित राजाओं के साथ साधारण सैनिक-सा व्यवहार भी कर लिया जाता था। द्विमुख ने चण्डप्रद्योत को बन्दी बना पैरों मे बेडियाँ डाल दी थी।[1]

युद्ध में चतुरङ्गिणी सेना का नियोजन किया जाता था।[2]

शस्त्र

प्रस्तुत सूत्र में अनेक शस्त्रों का नामोल्लेख हुआ है। वे शस्त्र युद्ध में काम आते थे।

(१) असि—तलवार। यह तीन प्रकार की होती थी।

असि— लम्बी तलवार।

खड्ग— छोटी तलवार।

ऋष्टि[3]— दुधारी तलवार।

(२) भल्ली—एक प्रकार का भाला, बर्छी।

(३) पट्टिस— इसके पर्याय-नाम तीन हैं—खुरोपम, लोहदण्ड, तीक्ष्णधार। इनके आधार पर उसका आकार यह बनता है—जो खुरपे के आकार वाला लोहदण्ड तथा तीक्ष्ण धार वाला होता है, उसे पट्टिस कहा जाता है।

(४) मुसंढी— यह लकडी की बनी होती है और इसमें लोहे के काँटे जडे हुए होते हैं।

(५) शतघ्नी—यान्त्रिक तोपा।

इनके अतिरिक्त मुद्गर, शूल, मुशल, चक्र, गदा आदि के नाम भी मिलते हैं।

सुरक्षा के साधन

नगर की सुरक्षा के लिए जो साधन काम में लिए जाते थे, उनमें से कुछेक के नाम प्रस्तुत सूत्र में मिलते हैं[4] —

प्राकार— धूलि अथवा ईंटों का कोट।

गोपुर— प्रतोलीद्वार या नगर-द्वार।

अट्टालिका— प्राकार-कोष्ठक के ऊपर आयोधन स्थान अर्थात् बुर्ज।

उत्सूलक— खाइयाँ या ऊपर से ढके गर्त। गर्त पानी से भरे रहते थे।

१–सुखबोधा, पत्र १३६।
बंधिऊण पज्जोओ पवेसिओ नयरं। दिन्नं चलणे कडयं।

२–उत्तराध्ययन १८।२।

३–शेषनाममाला, १४८,१९।

४–बृहद्वृत्ति, पत्र ३११।

अन्तर्देशीय व्यापार

भारतीय व्यापारी अन्तर्देशीय व्यापार में दक्ष थे। वे किराना लेकर बहुत दूर-दूर तक जाते थ।

सार्थवाह पुत्र अचल यहाँ से वाहनो को भर कर पारसकुल (ईरान) गया। वहाँ सारा माल बेच कर बेन्यातट पर आया।[1]

चम्पा नगरी का वणिक् पालित चम्पा से नौकाओं में माल भर कर रास्ते के नगरो में व्यापार करता हुआ 'पिहुण्ड'[2] नगर मे पहुँचा।[3]

भारत मे रत्नो का विशाल व्यापार होता था। विदेशी लोग यहाँ रत्न खरीदने आया करते थे। पारसकुल के व्यापारी भी यहाँ रत्न खरीदने आते थे। एक बार एक वणिक् के पुत्रो ने विदेशी वणिको के हाथ सारे रत्न बेच दिये थे।[4]

जब व्यापारी दूर देश व्यापार करने जाते तब उन्हे राजा की अनुमति प्राप्त करनी पडती थी। चम्पा नगरी के सुवर्णकार कुमारनन्दी ने पचशैलद्वीप के लिए प्रस्थान की घोषणा से पूर्व वहाँ के राजा की अनुमति प्राप्त की और उसे सुवर्ण आदि बहुमूल्य उपहार प्रदान किये।[5]

जो माल दूर देशो से आता था, उसकी जाँच करने के लिए व्यक्तियों का एक विशेष समूह होता था।[6]

अनेक अमीर लोग मिलजुल कर घृत के घडो से गाडी भर नगरो मे बेचने के लिए जाते थे।[7]

बडे नगरो मे कुत्रिकापण होते थे। वहाँ सभी प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त होती थीं।[8] इनकी तुलना आधुनिक कोओपरेटिव स्टोरों से की जा सकती है।

व्यापारी लोग बैलों, भैसो आदि पर माल लाद कर सार्थ के रूप में चलते थे।[9]

१-सुखबोधा, पत्र ६४।

२-देखिए—भौगोलिक परिचय के अन्तर्गत पिहुण्ड नगर।

३-उत्तराध्ययन, २१।२।

४-बृहद्वृत्ति, पत्र १४७ :

रयणाणि विदेसीवणियाण हत्थे विक्कीयाणि।

५-सुखबोधा, पत्र २५२।

६-वही, पत्र ६५।

७-वही, पत्र ५१।

८-वही, पत्र ९३।

९-बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५।

शिल्पी वर्ग

व्यापारियों का एक वर्ग था 'शिल्पी वर्ग'। शिल्पी वर्ग के लोग नाना प्रकार के कलात्मक व जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाते थे।

उस समय लुहार वर्ग का कार्य उन्नति पर था। वे लोग खेती-बारी के लिए काम में आने वाले हल, कुदाली आदि तथा लकड़ी काटने के वसूला, फरसा आदि बनाकर बेचते थे।[१] नगरों में स्थान-स्थान पर लुहार की शालाएँ होती थीं।[२] क्षौर-कर्म के लिए नाई की दुकानें यत्र-तत्र मिलती थी।[३] कुम्भकार अनेक प्रकार के कुम्भ तैयार करते थे—

(१) निष्पावकुट—	धान्य भरने के घड़े।
(२) तैलकुट—	तैल के घडे।
(३) घृतकुट[४]—	घी के घडे।

सिक्का

वस्तु-विनिमय के साथ-साथ सिक्कों का लेन-देन भी चलता था।[५] उस समय के प्रमुख सिक्के ये थे—

(१) कार्षापण[६]—	रुपया
(२) विंशोपक[७]—	रुपये का बीसवाँ भाग।
(३) काकिणी[८]—	ताँबे का सबसे छोटा सिक्का। विंशोपक का चौथा भाग तथा रुपए का ८०वाँ भाग।
(४) कोडी[९]—	बीस कोडियो की एक काकिणी।
(५) सुवर्णमाषक[१०]—	छोटा सिक्का।

१–उत्तराध्ययन, ३६।७५।
२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७।
३–बृहद्वृत्ति, पत्र ५७।
४–सुखबोधा, पत्र ७३।
५–बृहद्वृत्ति, पत्र २०९।
६–वही, पत्र २७६।
७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१।
८–उत्तराध्ययन, ७।११।
९–बृहद्वृत्ति, पत्र २७२।
१०–सुखबोधा, पत्र १२४।

दीनार

एक बार एक द्रमक ने मजदूरी कर हजार कार्षापण कमाए। उसने एक सार्थवाह के साथ अपने गाँव की ओर प्रस्थान किया। उसने कार्षापण को भुनाया और उससे अनेक काकिणियाँ प्राप्त कीं। वह रास्ते में भोजन के लिए प्रतिदिन एक-एक काकिणी खर्च करता था।[1]

एक बार राजा ने एक कार्पटिक को भोजन कराकर उसे युगलक और दीनार देकर भेजा था।[2]

एक आभीरी ने एक वणिक् से रुपए देकर रुई ली थी।[3]

यान-वाहन

उस समय मुख्यरूप से यातायात के लिए दो साधन थे—जलमार्ग के लिए नौका और जहाज तथा स्थल मार्ग के लिए शकट—बैलगाड़ी, रथ, हाथी, घोड़ा और ऊँट।

द्वीपों से जितना व्यापार होता था, वह नौकाओं और जहाजों से होता था। व्यापारी अपना माल भर कर नौकाओं द्वारा दूर-दूर देशों में जाते थे। कभी-कभी रास्ते में नौका टूट जाती और सारा माल पानी में बह जाता। जहाज के वलयमुख में प्रविष्ट होने का बहुत डर रहता था।[4]

एक-एक, दो-दो व्यक्तियों की यात्राएँ बहुत कम होती थीं। जब कभी बड़े-बड़े सार्थवाह यात्रा में निकलते तब उनके साथ दूसरे व्यक्ति भी हो जाते थे। इस प्रकार एक-एक सार्थवाह के साथ हजारों व्यक्ति चलते थे। इससे रास्ते का भय भी कम रहता था और सब अपने-अपने स्थान पर सुरक्षित पहुँच जाते थे।[5]

शिविका में भी लोग आते-जाते थे। यह पुरुषों द्वारा वहन की जाती थी। राजा-महराजा और समृद्ध लोग इसका विशेष उपयोग करते थे।[6] अधिकतर लोग पैदल आते-जाते थे। इसीलिए यह पद प्रचलित था—'पंथ समा नत्थि जरा'[7]।

१–बृहद्वृत्ति, पत्र २७६।
२–वही, पत्र १४६ :
...जुयलयं दीणारो य दिण्णो।
३–वही, पत्र २०९।
४–सुखबोधा, पत्र २५२।
६–बृहद्वृत्ति, पत्र २७७।
५–वही, पत्र ६७।
७–सुखबोधा, पत्र १७।

आखेट कर्म

राजा लोग आखेट-कर्म मे बहुत रस लेते थे। जब वे शिकार के लिए जाते तब चतुरंगिणी सेना से सज्ज होकर, घोड़े पर बैठ प्रस्थान करते थे।[१] मुख्यत हिरणो का शिकार किया जाता था।[२] उनको पकड़ने के लिए 'पाश' और 'कूटजाल' काम में लिए जाते थे।[३] पक्षियो का शिकार भी किया जाता था। उनको पकड़ने के लिए 'बाज' शिक्षित किए जाते थे। जाल और वज्रलेप का भी उपयोग होता था।[४]

मछलियाँ पकड़ने का भी बहुत प्रचलन था। उनको पकड़ने के दो साधन थे—बडिश और जाल। जब जाल मे मछलियाँ फंस जाती, तब उसे खीच लिया जाता। बडिश मकर के आकार के होते थे।[५]

पशु

उस समय कम्बोज देश में आकीर्ण और कन्थक घोड़े बहुत ही प्रसिद्ध थे।

आकीर्ण—शील, रूप, बल आदि गुणो से व्याप्त।

कन्थक— खरखराहट या शस्त्र प्रहार से नही चौंकने वाले।

ये दोनो प्रकार के घोड़े चलने मे बहुत तेज होते थे।[६]

उत्तराध्ययन मे अनेक स्थानो पर 'गलि-अश्व' का भी उल्लेख आता है। वे दुर्विनीत होते थे। उन्हे चलाने या रोकने मे भी चाबुक का प्रयोग करना पड़ता था।[७]

युद्धो मे व राजा की सवारी के लिए हाथी का उपयोग होता था। राजा लोग अपनी पुत्रियो को विवाह मे हाथी और घोड़े भी देते थे।[८] हाथी तान सुनने के रसिक होते थे।[९] हाथी को वश मे करने के लिए समुचित शिक्षा दी जाती थी। एक बार एक राजकुमार ने अपने प्रधान हाथी, जो उन्मत्त होकर जन-समूह को त्रस्त कर रहा था, को शास्त्र-विधि से वश में कर लिया।[१०]

१–उत्तराध्ययन, २८।१,२।

२–वही, १८।३।

३–वही, १९।६३।

४–वही, १९।६५।

५–वही, १९।६४, बृहद्वृत्ति, पत्र ४६०।

६–बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८।

७–वही, पत्र ४८।

८–सुखबोधा, पत्र ८८।

९–वही, पत्र २४७।

१०–वही, पत्र २४७ :
सत्थमणिएहिं करणेहि नीओ समं।

हाथियो को शङ्ख और शृङ्खलाओ से अलकृत करते थे।[१]

कई व्यक्ति वीणा-वादन में इतने निपुण होते थे कि उनकी वीणा के स्वर को सुनकर हाथी भी झूमने लग जाते।[२]

हाथी विभिन्न प्रकार के होते थे। गन्धहस्ती हाथियों मे श्रेष्ठ माना जाता था। उसका उपयोग युद्ध-स्थल में किया जाता था। उसके मल-मूत्र मे इतनी गन्ध होती थी कि उससे दूसरे सभी हाथी मदोन्मत्त हो जाते थे। वह जिधर जाता, सारी दिशाएँ गन्ध से महक उठती थी। प्रद्योत के पास नलगिरि नाम का ऐसा ही एक हाथी था।[३] राजा लोग अश्ववाहनिका के लिए घोडो पर सवार होकर जाते थे।[४]

पशुओं का भोजन

पशुओ को कण, ओदन और यवस् (मूँग, उडद आदि धान्य) दिए जाते थे।[५] घोडो को यवस् और तुष विशेष रूप से दिये जाते थे।[६]

चावलो की भूसी अथवा चावल मिश्रित भूसी पुष्टिकारक तथा सुअर का प्रिय भोजन था।[७]

जनपद

जनपद अनेक भागो मे विभक्त थे। उनके विभाजन के हेतु थे--(१) कर पद्धति, (२) व्यवसाय, (३) भौगोलिक स्थिति और (४) प्राकार।

१-बृहद्वृत्ति, पत्र ११।

२-सुखबोधा, पत्र ६०।

३-वही, पत्र २५४ :

तत्थ नलगिरिणा मुत्तपुरीसाणि मुक्काणि। तेण गन्धेण हत्थी उम्मत्ता। तं च दिसं गन्धो एइ···।

४-वही, पत्र १०३।

५-उत्तराध्ययन, ७।१।

६-सुखबोधा, पत्र ९६।

७-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७।

जनपद का मुख्य भाग

(१) ग्राम—	कृषक आदि लोगों का निवास-स्थान।
(२) नगर—	कर-मुक्त वस्ती।
(३) राजधानी—	जनपद का मुख्य नगर।
(४) निगम—	व्यापारिक नगर।
(५) आकर—	खान का समीपवर्ती गाँव, मजदूर-बस्ती।
(६) पल्ली—	बीहड स्थान में होने वाली बस्ती, चोरों का निवास-स्थान।
(७) खेट—	जिसके रेत का प्राकार हो, वह बस्ती।
(८) कर्बट—	छोटा नगर।
(९) द्रोणमुख—	जहाँ जल और स्थल दोनो निर्गम और प्रवेश के मार्ग हो। वृत्तिकार ने इस प्रसग में भृगुकच्छ और ताम्रलिप्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है।
(१०) पत्तन—	(क) जलपत्तन—जलमध्यवर्ती द्वीप। (ख) स्थलपत्तन—निर्जल भू-भाग में होने वाला। वृत्तिकार ने जलपत्तन के प्रसग में काननद्वीप और स्थलपत्तन के प्रसंग में मथुरा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।
(११) मडंब—	जिसके ढाई योजन तक कोई दूसरा गाँव न हो।
(१२) संबाध—	जहाँ चारों वर्णों के लोगों का अति मात्रा में निवास हो।
(१३) आश्रमपद—	तापस-निवास।
(१४) विहार—	जहाँ देवगृह या भिक्षुओ के निवास-स्थान विपुल मात्रा मे हो।
(१५) सन्निवेश—	यात्रा से आये हुए मनुष्यो के रहने का स्थान।
(१६) समाज—	ऐसा स्थान जहाँ पथिकों का आवागमन अधिक हो।
(१७) घोष—	आभीरो की बस्ती।
(१८) स्कन्धावार—	सैनिक छावनी, ऊर्ध्व भू-भाग पर होने वाला सैनिक-निवास।
(१९) सार्थ—	व्यापारी समूह का विश्राम-स्थान।
(२०) संवर्त—	भयभीत लोगो का सुरक्षा-स्थान।[1]

१—बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५।

प्रासाद-गृह

मकान अनेक प्रकार के होते थे ।

राजाओं या समृद्ध लोगों के गृह 'प्रासाद' कहलाते थे । वे सात या उससे अधिक मंजिलों के होते थे । उनकी भित्तियाँ सोने-चाँदी की होती थीं और खम्भे मणि-मुक्ताओं से अलंकृत किए जाते थे ।[1] राजप्रासादों के आँगण मणि और रत्नों से जटित होते थे । एक ओर ऐसे प्रासाद तथा धनवानों के गृहो की श्रेणियाँ थी तो दूसरी ओर निर्धन व्यक्तियों की बस्तियाँ भी थीं । वे बहुत गंदी होती थी । उनके गृह-द्वार जीर्ण चटाई से ढँके जाते थे ।[2]

झरोखे वाले मकानो का प्रचलन था । उसमें बैठ कर नगरावलोकन किया जाता था ।[3] कई बड़े मकानों में भोंहरे भी होते थे ।[4] केवल भूमि-गृहों का भी उल्लेख मिलता है ।[5]

इस सूत्र में पाँच प्रकार के प्रासादो का उल्लेख हुआ है—(१) उच्चोदय, (२) मधु, (३) कर्क, (४) मध्य और (५) ब्रह्म ।[6]

'वर्द्धमानगृह' और 'बालग्गपोइया' का भी उल्लेख मिलता है ।[7]

वास्तुसार में घरो के चौसठ प्रकार बतलाए है । उनमे तीसरा प्रकार वर्द्धमान है । जिसके दक्षिण दिशा मे मुखवाली गावीशाला हो, उसे 'वर्द्धमान' कहा गया है ।[8] बालग्गपोइया का अर्थ है—'चन्द्रशाला' या 'जलाशय मे निर्मित लघु प्रासाद ।[9]

अटवी और उद्यान

राजगृह नगर के पास अठारह योजन लम्बी एक महाअटवी थी, जहाँ बलभद्र प्रमुख पाँच सौ चोर निवास करते थे । वे पथिकों को पकड़-पकड कर अपने सरदार के पास ले जाते थे ।[10]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ११० ।
२–वही, पत्र ११० ।
३–वही, पत्र ४५१ ।
४–वही, पत्र ६० ।
५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१ ।
६–उत्तराध्ययन, १३।१३ ।
७–वही, ९।२४ ।
८–वास्तुसार ८२, पृ० ३८ ।
९–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ ।
१०–सुखबोधा, पत्र १२५ ।

प्रस्तुत सूत्र तथा वृत्ति मे अनेक उद्यानो के नाम उल्लिखित हुए हैं—

(१) काम्पिल्य में— केसर उद्यान (१८।१)।
(२) राजगृह में— मण्डिकुक्षी उद्यान (२०।२)।
(३) श्रावस्ती में— तिन्दुक उद्यान (२३।४)।
कोष्ठक उद्यान (२३।८)।
(४) उज्जैनी में— स्नपन उद्यान (बृहद् वृत्ति, पत्र ४६)। संभव है यह केवल स्नान के लिए ही काम मे आता था।
(५) वीतभयनगर में— मृगवन उद्यान (सुखबोधा, पत्र २५४)।
(६) सेयविया में— पोलास उद्यान (सुखबोधा, पत्र ७१)।

उद्यानों में वृक्षों से घिरे हुए तथा नागरबेल आदि वल्लियो से आच्छादित मण्डप होते थे। मुनि प्राय: उन मण्डपों मे ध्यान करते थे।[1]

उद्यानिका महोत्सव धूमधाम से मनाया जाता था। उसमें नगर के सभी नर-नारी गाँव के बाहर निश्चित स्थान पर एकत्रित होते थे। वे मस्त हो कर अनेक क्रीडाओ में संलग्न रहते थे। स्त्रियाँ अलग से इकट्ठी हो कर नृत्य और गीतो से महोत्सव मनाती थी।[2]

प्रकृति विश्लेषण

उज्जैनी के लोग बहुत विवेकी होते थे। वे सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे को जानने में निपुण थे।[3]

मगध के लोग इगित को समझने मे कुशल होते थे।[4]

मालव और सौराष्ट्र के लोग क्रोधी होते थे।[5]

विवाह

विवाह के समय तिथि और मुहूर्त भी देखे जाते थे।[6] विवाह से पूर्व देवमंदिर में वेदिका का पूजन तथा मूर्ति के आगे प्रणमन किया जाता था।[7] कन्या-विक्रय का भी

१–सुखबोधा, पत्र २२८।
२–वही, पत्र २४७।
३–वही, पत्र ६०:
अइनिउणो उज्जेणीजणो जाणइ सुंदरासुंदरविसेसं।
४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४३:
इंगितज्ञाश्च मागधाः।
५–वही, पृ० २४।
६–सुखबोधा, पत्र १४२।
७–वही, पत्र १४१।

प्रचलन था।[1] जया, विजया, ऋद्धि, वृद्धि आदि औषधियों से संस्कारित पानी से वर को स्नान कराया जाता था और उसके ललाट से मुशल का स्पर्श करना माङ्गलिक माना जाता था।[2] माता-पिता विवाह से पूर्व अपनी लड़की को यक्ष-मन्दिर में भेजते थे और यह मान्यता प्रचलित थी कि यक्ष के द्वारा उपभुक्त होने पर ही लड़की पति के पास जा सकती है। एक ब्राह्मणी ने अपनी लड़की को विवाह से पूर्व यक्ष-मन्दिर में इसीलिए भेजा था।[3]

विवाह के कई प्रकार प्रचलित थे। उनमें स्वयंवर और गन्धर्व-पद्धति भी अनुमोदित थी।

स्वयंवर

इस पद्धति में कन्या स्वयं अपने वर का चुनाव करती थी। कभी-कभी कन्या वर की खोज में विभिन्न स्थानों पर जाती थी। एक बार मथुरा के राजा जितशत्रु ने अपनी पुत्री निर्वृति को इच्छानुसार वर की खोज करने के लिए कहा। वह सेना और वाहन ले कर इन्द्रपुर गई। वहाँ के राजा इन्द्रदत्त के बाईस पुत्र थे। कन्या ने एक शर्त रखते हुए कहा—"आठ रथ-चक्र हैं। उनके आगे एक पुतली स्थापित है। जो कोई उसकी बाईं आँख को बाण से बींधेगा, उसी का मैं वरण करूँगी।" राजा अपने पुत्रों को ले कर रंगमंच पर उपस्थित हुआ। बारी-बारी से राजा के सभी पुत्रों ने पुतली को बींधने का प्रयास किया, किन्तु कोई सफल नहीं हो सका। अन्त में राजा का एक पुत्र सुरेन्द्रदत्त, जो मन्त्री की कन्या से उत्पन्न था, रंगमंच पर आया। चारों ओर से हो-हल्ला होने लगा। दो व्यक्ति नंगी तलवार ले कर दोनों ओर खड़े हो गये और कुमार से कहा—यदि तुम इस कार्य में असफल रहे तो हम तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देंगे। कुमार उनकी चुनौती स्वीकार करते हुए, आगे आया और देखते-देखते पुतली की बाईं आँख को बाण से बींध डाला। कुमारी ने उसके गले में वरमाला पहना दी।[4]

गन्धर्व-विवाह

विवाह की दूसरी पद्धति थी गंधर्व-विवाह। इसका अर्थ है—'बिना पारिवारिक अनुमति के वर-कन्या का ऐच्छिक विवाह'। गन्धर्व देश की राजधानी पुण्ड्रवर्धन थी। वहाँ के राजा का नाम सिंहरथ था। एक बार उसे उत्तरापथ से दो घोड़े उपहार में

१–सुखबोधा, पत्र ९७।
२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०।
३–वही, पत्र १३६।
४–वही, पत्र १४८-१५०।

मिले। राजा ने उनकी परीक्षा करनी चाही। एक पर राजा स्वयं चढ़ा और दूसरे पर राजकुमार। राजा जिस घोड़े पर सवार हुआ था, वह विपरीत शिक्षा वाला था। ज्यों-ज्यों उसकी लगाम खींची जाती, त्यों-त्यों वह वेग से दौडता था। इस प्रकार वह घोड़ा राजा को ले कर १२ योजन चला गया। अन्त में राजा ने लगाम ढीली कर दी। घोड़ा वहीं रुक गया। घोड़े को वहीं एक वृक्ष से बाँध राजा पर्वत पर दीख रहे सात मंजिले प्रासाद पर चढ़ा और वहाँ एक युवती से गन्धर्व-विवाह कर लिया।[1]

पाञ्चाल राजा के पुत्र ब्रह्मदत्त ने अपने मामा पुष्पचूल की लडकी पुष्पावती से गन्धर्व-विवाह किया।[2]

क्षितिप्रतिष्ठान नगर के राजा जितशत्रु ने एक दरिद्र चित्रकार की पुत्री कनकमञ्जरी के वाक्कौशल से प्रभावित हो कर गन्धर्व-विवाह कर लिया।[3]

यह अन्तर्जातीय-विवाह का भी एक उदाहरण है।

पुनर्विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी।[4]

बहुपत्नी प्रथा

उस समय बहुपत्नी प्रथा भी समृद्धि का अग समझी जाती थी। राजा व राजकुमार अपने अन्तःपुर मे रानियों की अधिकाधिक सख्या रखने मे गौरव का अनुभव करते थे।[5] और यह अन्तःपुर अनेक राजाओ के साथ मित्रतापूर्ण-सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण उनकी राजनीतिक सत्ता को शक्तिशाली बनाने मे सहायक होता था। धनवान् लोग बहु-पत्नी प्रथा को धन, संपत्ति, यश और सामाजिक गौरव का कारण मानते थे।

चम्पा नगरी का सुवर्णकार कुमारनन्दी ने एक-एक कर पाँच सौ कन्याओ के साथ विवाह किया था। जब कभी वह सुन्दर कन्या को देखता, उससे विवाह कर लेता था।[6]

तलाक प्रथा और वैवाहिक शुल्क

छोटी-मोटी बातो के कारण पत्नियों को छोड देने की प्रथा थी।

१–सुखबोधा, पत्र १४१.

···कओ गंधव्व विवाहो।

२–वही, पत्र १९०

······तओ सा तेण गधव्वविवाहेण विवाहिआ।

३–वही, पत्र १४२।

४–उत्तराध्ययन, १३।२५; १८।१६।

५–सुखबोधा, पत्र १४२।

६–वही, पत्र २५२।

एक वणिक् ने अपनी पत्नी को इसलिए छोड दिया कि वह सारा दिन शरीर की साज-सज्जा में व्यतीत करती थी और घर की सार-संभाल में असमर्थ थी ।[१]

एक ब्राह्मण-पुत्री ने भी प्रसग पर यही कहा—"तू दूसरा पति कर ले ।"[२]

किसी चोर के पास बहुत धन था। उसने यथेच्छ शुल्क दे कर अनेक कन्याओ के साथ विवाह किया था ।[३]

चम्पा नगरी के सुवर्णकार ने पाँच-पाँच सौ सुवर्ण दे कर अनेक कन्याओ के साथ विवाह किया था ।[४]

दहेज

राजकन्याओ के विवाह में घोडे, हाथी आदि भी दहेज मे दिए जाते थ ।

वाराणसी के राजा सुन्दर ने अपनी कन्या कमलसेना को हजार गाँव, सौ हाथी, एक लाख पदाति, दस हजार घोडे और विपुल भण्डार दहेज में दिया ।[५]

सौतिया डाह

राजाओ के अनेक पत्नियाँ होती थी। परस्पर एक-दूसरे से ईर्ष्या होना स्वाभाविक था। वे एक-दूसरे के प्रति शिकायत करती और समय-समय पर अनेक षड्यंत्र भी रच लेती थी।

क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु की प्रिय रानी कनकमञ्जरी पर अन्य रानियो ने आरोप लगाया। राजा ने स्वयं उसकी परीक्षा की। किन्तु उसे कोई दोष हाथ नहीं लगा। अन्त मे उसने कनकमञ्जरी को पटरानी बना दिया ।[६]

कंचनपुर के राजा विक्रमयशा की पाँच सौ रानियो ने राजा की प्रिय रानी विष्णुश्री को ईर्ष्या द्वेष वश कार्मणयोग (टोना) कर मार डाला ।[७]

१–सुखबोधा, पत्र ९७ ।
२–बृहद् वृत्ति, पत्र १३७ ।
३–वही, पत्र २०७ ।
४–वही, पत्र २५२ ।
५–वही, पत्र ८८ :
  वरगामाण सहस्सं, सयं गइ वाण विउलभंडारं ।
  पाइक्काण य लक्खं, तुरयाणं दससहस्साइ ॥
६–वही, पत्र १४३ ।
७–वही, पत्र २३९ ।

यवनिका का प्रयोग

प्राचीन-काल में बड़े घरों की बहू-बेटियाँ पुरुषों के समक्ष साक्षात् नही आती थीं। जब कभी उन्हें सभाओं में आना-जाना होता, तो वहाँ एक पर्दा लगाया जाता था। एक ओर पुरुष और दूसरी ओर स्त्रियाँ बैठ जाती थीं।

पाटलिपुत्र के राजा शकडाल के मन्त्री नंद की सातों पुत्रियों को लौकिक काव्य सुनाने के लिए सभा में बुलाया गया। वे आई। उन्हे एक यवनिका के पीछे बिठाया गया और एक-एक को काव्य सुनाने के लिए कहा गया।[१]

वेश्या

वेश्याएँ नगर की शोभा, राजाओ की आदरणीया और राजधानी की रत्न मानी जाती थी।[२] उज्जैनी में देवदत्ता नाम की प्रधान गणिका रहती थी।[३]

कभी-कभी राजा वेश्याओ को अपने अन्त पुर में भी रख लेते थे। मथुरा के राजा ने काला नाम की वेश्या को अपने अन्त पुर में रख लिया था।[४]

प्रसाधन

गध, माल्य, विलेपन और स्नान (सुगधी द्रव्य) का प्रयोग प्रसाधन के लिए किया जाता था।[५] केशो को सँवारने के लिए कघी का उपयोग होता था।[६] कई स्त्रियाँ पूरा दिन अपने शरीर को साज-सज्जा मे व्यतीत कर देती थी।[७]

प्राय· गृहिणियाँ अपने पति के भोजन कर लेने पर भोजन, स्नान कर लेने पर स्नान तथा अन्यान्य प्रसाधन भी अपने पति के कर लेने पर ही करती थीं।[८]

भोजन

चावलो से निष्पन्न ओदन और उसके साथ अनेक प्रकार के व्यञ्जन प्रतिदिन के भोजन मे काम आते थे।[९]

१–सुखबोधा, पत्र २८।
२–वही, पत्र ६४।
३–वही, पत्र २१८।
४–वही, पत्र १२०।
५–उत्तराध्ययन, २०।२९।
६–सुखबोधा, पत्र ९७।
७–वही, पत्र ९७।
८–उत्तराध्ययन, २०।२९।
९–वही, १२।३४।

पूड़े और खाजे उस समय के विशेष मिष्ठान्न थे, जो विशेष अवसरों पर बनाए जाते थे। प्रस्तुत सूत्र (१२।३५) में जो 'पभूयमन्नं' शब्द आया है, वृत्तिकार ने उसका अर्थ 'पूड़े' और 'खाजे' किया है।[१]

'घृतपूर्ण' घी और गुड़ से बनाए जाते थे। यह प्रमुख मिष्ठान्न था।[२]

गन्ने चूसने का प्रचलन था। कई लोग गन्नों को कोल्हुओं[३] में पेर कर रस पीते थे। गन्ने को छील कर उसकी दो-दो अंगुल की गंडेरियाँ बनाई जातीं। उन पर पीसी हुई इलायची डाली जाती और उन्हें कर्पूर से वासित किया जाता था। काँटे से उन्हें थोड़ा काटा जाता था।[४] ईख के साथ कद्दू बोने का भी प्रचलन था। कद्दू को लोग गुड़ के साथ मिला कर खाते थे।[५] दशपुर में 'इक्षुगृह' का उल्लेख मिलता है।[६]

फसल को सूअरों का भय रहता था। कृषक लोग सींग आदि बजा कर अपने-अपने खेतों की रक्षा करते थे।[७]

दास प्रथा

उत्तराध्ययन में दास को भी एक काम-स्कन्ध माना गया है। उसका अर्थ है—'कामनापूर्ति का हेतु'। चार काम-स्कन्ध ये हैं—(१) क्षेत्र-वास्तु—भूमि और गृह, (२) हिरण्य—सोना, चाँदी, रत्न आदि, (३) पशु और (४) दासपौरुष।[८]

जिस प्रकार क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य और पशु क्रीत होते थे, उसी प्रकार दास भी क्रीत होते थे। इनका क्रीत सामग्री के रूप में उपयोग किया जा सकता था।

दास-चेटों की तरह दास-चेटियाँ भी होती थीं। ये अपनी स्वामिनी के साथ यक्ष-मंदिर में खाद्य, भोज्य, गन्ध, माल्य, विलेपन और पटल ले कर जाती थीं।[९]

दासीमह भी मनाया जाता था। उसमें दासियाँ धूम-धाम से मन-बहलाव करती थीं।[१०]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६९।
२–वही, पत्र २०९।
३–सुखबोधा, पत्र ५३।
४–वही, पत्र ६१-६२।
५–वही, पत्र १०३।
६–वही, पत्र २३।
७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९८।
८–उत्तराध्ययन, ३।१७।
९–सुखबोधा, पत्र १७४।
१०–वही, पत्र १२४।

बड़े घरों में दासियाँ भोजन आदि परोसने का कार्य भी करती थीं।[१]

दासों को स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त नहीं था।[२]

दास-चेटक भी वेदाध्ययन करते और विशेष शिक्षा के लिए अन्य देशों में जाते थे। कभी-कभी उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो कर अध्यापक अपनी कन्या उन्हें दे देते थे। रत्नपुर के अध्यापक ने अपनी कन्या सत्यभामा का विवाह कपिल नामक दास-चेटक से किया।[३]

विद्यार्थी

विद्यार्थी विद्याभ्यास के लिए दूसरे-दूसरे नगरों मे जाते थे। सम्पन्न लोग उनके निवास व खान-पान की व्यवस्था करते थे।

शखपुर का राजकुमार अगडदत्त वाराणसी गया और वहाँ कलाचार्य के पास कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने लगा।[४]

कौशाम्बी नगरी के ब्राह्मण काश्यप का पुत्र कपिल श्रावस्ती मे पढ़ने गया और अपने कलाचार्य की सहायता से अपने भोजन का प्रबन्ध वहाँ के धनी शालीभद्र के यहाँ किया।[५]

विद्यार्थी का समाज मे बहुत सम्मान था। जब कोई विद्याध्ययन समाप्त कर घर आते, तब उनका सार्वजनिक सम्मान किया जाता था। दशपुर के सोमदेव ब्राह्मण का लड़का रक्षित जब पाटलिपुत्र से चौदह विद्याएँ सीख कर लौटा तो नगर ध्वजा-पताकाओ से सज्जित किया गया। राजा स्वयं स्वागत करने के लिए सामने गया। उसने रक्षित का सत्कार किया और उसे अग्राहार—उच्चजीविका प्रदान की। नगर के लोगो ने उसका अभिनन्दन किया। वह हाथी पर बैठ कर अपने घर गया। वहाँ भी उसके स्वजनो और मित्रो ने उसका आदर किया। घर चन्दन-कलशो से सजाया गया। वह घर के बाहर उपस्थानशाला में बैठ गया और आगन्तुक लोगो से उपहार स्वीकार करने लगा। उसका घर द्विपद, हिरण्य तथा सुवर्ण आदि से भर गया।[६]

ब्राह्मण चौदह विद्याओ मे पारंगत होते थे। वे चौदह विद्याएँ ये हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द, (६) ज्योतिष, (७) ऋग्वेद, (८) यजुर्वेद,

१–सुखबोधा, पत्र १२४।
२–उत्तराध्ययन, १।३६।
३–सुखबोधा, पत्र २४३।
४–वही, पत्र ३०।
५–वही, पत्र १२४।
६–वही, पत्र २३।

(९) सामवेद, (१०) अथर्ववेद, (११) मीमांसा, (१२) न्याय, (१३) पुराण और (१४) धर्मशास्त्र।[१] बहत्तर कलाओं के शिक्षण का भी प्रचलन था।[२]

व्यसन

मानव-स्वभाव की दुर्बलता सदा रही है। उससे प्रभावित मनुष्य व्यसनों के जाल में फँसता रहा है। विलास और अज्ञान ने मनुष्य को सदा इस ओर प्रवृत्त किया है।

शंखपुर नगर का राजकुमार अगडदत्त सभी व्यसनों में प्रवीण था। वह मद्य पीता था, जुआ खेलता था, मांस तथा मधु का भक्षण करता था और नट-समूह तथा वेश्या-वृन्द से घिरा रहता था।[३]

मद्यपान बहुत मात्रा में प्रचलित था। मद्य के अनेक प्रकार थे[४]—

(१) मधु— महुआ की मदिरा।
(२) मैरेय— सिरका।
(३) वारुणी— प्रधान सुरा।
(४) मृद्वीका—द्राक्षा की मदिरा।
(५) खर्जूरा— खजूर की मदिरा।

क्रूरता और खाद्य-लोलुपता विपुल मात्र में थी। लोग भैंस का मांस खा लेते थे।[५]

पितरों को मास और मदिरा की बलि दी जाती थी। शिवभूति नामक सहस्रमल्ल को राजा ने कहा—"श्मशान में जाकर कृष्ण-चतुर्दशी के दिन बलि देकर आओ।" उसने मदिरा और पशुओं की बलि दी और पशु को वहीं पकाकर खा गया।[६]

१—बृहद्वृत्ति, पत्र ५२३।
२—सुखबोधा, पत्र २१८।
३—वही, पत्र ८४ :
मज्जं पिएइ जूयं रमेइ पिसियं महुं च भक्खेइ।
नडपेडय-वेसाविंद-परिगओ भमइ पुरमज्झे॥
४—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५४।
५—वही, पत्र ५२।
६—सुखबोधा, पत्र ७५ :
वच्च माइघरे सुसाणे कण्हचउद्दसीए बलिं देहि। सुरा पसुओ य दिण्णो।... सो गंतूण माइबलिं दाऊण 'छुहिओ मि' त्ति तत्थेव सुसाणे तं पसुं पउलेत्ता खाइ।

मल्ल-विद्या

मल्ल-विद्या का व्यवस्थित शिक्षण दिया जाता था। जो व्यक्ति यह विद्या सीखना चाहता, उसे पहले वमन और विरेचन कराया जाता। कई दिनों तक उसे खाने के लिए पौष्टिक तत्त्व दिए जाते और धीरे-धीरे उसे मल्ल-विद्या का अभ्यास कराया जाता था।

मल्ल प्रायः राज्याश्रित रहते थे। स्थान-स्थान पर दंगल होते और जो मल्ल जीतता उसे 'पताका' दी जाती थी। उज्जैनी में अट्टण नामका एक मल्ल था। वह दुर्जेय था। वह 'सोपारक' नगर में प्रतिवर्ष जाता और वहाँ के मल्लों को हराकर पताका ले आता था।[1] मल्लयुद्ध तब तक चलता जब तक हार-जीत का निर्णय नहीं हो जाता। एक बार एक राजा ने मल्लयुद्ध आयोजित किया। पहले दिन न कोई हारा, न कोई जीता। दूसरे दिन दोनों सम रहे। तीसरे दिन एक हारा, एक जीता।[2] दंगल में विभिन्न दाँव-पेच भी प्रयुक्त होते थे।[3] एक दिन का दंगल पूरा हो जाने पर मल्लों को दूसरे दिन के लिए तैयार करने के लिए संमर्दक लोग नियुक्त किए जाते थे, जो तेल आदि से मालिश कर मल्लों को तैयार करते थे। कई मल्ल हार जाने पर कुछ महीनों तक रसायन आदि का सेवन कर पुन बलिष्ठ हो दंगल के लिए तैयार होते थे।[4]

रोग और चिकित्सा

उस समय के मुख्य रोग हैं—

श्वास, खाँसी, ज्वर, दाह, उदरशूल, भगंदर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मुशूलख, अरुचि, अक्षिवेदना, खाज, कर्णशूल, जलोदर और कोढ।[5]

उस समय चिकित्सा की कई पद्धतियाँ प्रचलित थी। उनमें आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति सर्वमान्य थी। पंचकर्म—वमन, विरेचन, आदि का भी विपुल प्रचलन था।[6]

१-बृहद्वृत्ति, पत्र १९२।
२-वही, पत्र १९२,१९३।
३-वही, पत्र १९३।
४-वही, पत्र १९३।
५-सुखबोधा, पत्र १६३ :
साले खासे जरे डाहे, कुच्छिसूले भगंदरे।
अरिसा अजीरए दिट्ठी-मुहसूले अरोयए॥
अच्छिवेयण कंडू य, कन्नबाहा जलोयरे।
कोढे एमाइणो रोगा, पीलयंति सरीरिणं॥
६-उत्तराध्ययन, १५।८।

चिकित्सा के चार मुख्य पाद माने गए हैं—(१) वैद्य, (२) रोगी, (३) औषधि, और (४) प्रतिचर्या करने वाले।[१]

विद्या और मंत्रों, शल्य-चिकित्सा तथा जड़ी-बूटियों से भी चिकित्सा की जाती थी। इनके विशारद आचार्य यत्र-तत्र सुलभ थे।

अनाथी मुनि ने मगध सम्राट् राजा श्रेणिक से कहा—"जब मैं अक्षि-वेदना से अत्यन्त पीडित था तब मेरे पिता ने मेरी चिकित्सा के लिए वैद्य, विद्या और मंत्रों के द्वारा चिकित्सा करने वाले आचार्य, शल्य-चिकित्सक और औषधियों के विशारद आचार्यों को बुलाया था।[२]

पशु-चिकित्सा के विशेषज्ञ भी होते थे। किसी एक वैद्य ने चिकित्सा कर एक सिंह की आँखें खोल दी।[3]

वैद्य को प्राणाचार्य भी कहा जाता था।[४] रसायनों का सेवन करा कर चिकित्सा की जाती थी।[५]

मंत्र और विद्या

यह वीर-निर्वाण के छठे शतक की बात है। अंतरंजिया नगरी में एक परिव्राजक रहता था। वह अपने पेट को लोहे की पट्टी से बाँधे रखता और जम्बू-वृक्ष की एक टहनी को अपने हाथ में लेकर घूमता था। लोग उससे इसका कारण पूछते तो वह कहता—"ज्ञान से पेट फूट न जाए इसलिए पेट को लोहे से बाँधे रखता हूँ और इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में मेरा कोई प्रतिपक्षी नहीं है, इसलिए यह टहनी रखता हूँ।" वह परिव्राजक सात विद्याओं में निपुण था—

(१) वृश्चिकी	(४) मृगी
(२) सार्पी	(५) वराही
(३) मूषकी	(६) काकी
	(७) सउलिया (शकुनिका—चील)[६]

१–उत्तराध्ययन, २०।२३ , सुखबोधा, पत्र २६९।

२–उत्तराध्ययन, २०।२२ ; सुखबोधा, पत्र २६९।

३–बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२ :

केनचिद् भिषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्घाटितमटव्याम्।

४–वही, पत्र ४७५।

५–वही, पत्र ११।

६–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, १७३।

इसी गाँव में श्रीगुप्त आचार्य भी अनेक विद्याओं में पारंगत थे। वे इनकी प्रतिपक्षी विद्याओं के ज्ञाता थे। वे विद्याएँ ये हैं[1]—

(१) मयूरी
(२) नकुली
(३) बिडाली
(४) व्याघ्री
(५) सिंही
(६) उलूकी
(७) ओलावी—बाज।[2]

एक बार परिव्राजक और आचार्य श्रीगुप्त के शिष्य रोहगुप्त में परस्पर इन विद्याओं का प्रयोग हुआ और अन्त में रोहगुप्त की विजय हुई।[3]

भूतवादी लोग भी यत्र-तत्र घूमते थे। वे अपने वश में किए हुए भूतों से मनोवाञ्छित कार्य करा सकते थे।

एक बार एक नगर में उपद्रव हुआ। तीन भूतवादी राजा के पास आए और बोले—"हम आपके नगर का उपद्रव मिटा देंगे।" राजा ने पूछा—"कैसे ?" एक भूतवादी ने कहा—"मेरे पास एक मन्त्रसिद्ध भूत है। वह सुन्दर रूप बनाकर नगर मे घूमेगा। जो उसको एकटक देखेगा, वह मर जाएगा और जो नीचा मुँह कर निकल जाएगा, वह सभी रोगों से मुक्त हो जाएगा।" राजा ने कहा—"मेरे ऐसा भूत नही चाहिए।"

दूसरे भूतवादी ने कहा—"मेरा भूत विकराल रूप बनाकर अट्टहास करता हुआ, नाचता-गाता हुआ नगर मे घूमेगा। उसको देखकर जो उसका उपहास करेगा, उसके टुकडे-टुकडे हो जाएँगे और जो उसकी पूजा करेगा, वह रोग-मुक्त हो जाएगा।" राजा ने कहा—"मेरे ऐसा भूत नही चाहिए।"

तीसरे भूतवादी ने कहा—"मेरा भूत समदृष्टि है। कोई उसका प्रिय करे या अप्रिय, वह किसी पर प्रसन्न या नाराज नही होता। लोग उसे देखते ही रोग-मुक्त हो जाएँगे।" राजा ने कहा—"यह भूत अच्छा है।" भूतवादी ने उस भूत की सहायता से नगर का सारा उपद्रव मिटा दिया।[4]

कई व्यक्ति 'संकरी विद्या' मे प्रवीण होते थे। इसके स्मरण-मात्र से दास-दासी वर्ग उपस्थित हो जाता था।[5] इनके अतिरिक्त निम्न विद्याएँ प्रचलित थी—

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, १७४।
२—देशीनाममाला, १।१६० :
सेणे ओलयओलावया य……।
३—बृहद्वृत्ति, पत्र १६९।
४—सुखबोधा, पत्र ५,६।
५—वही, पत्र १९०।

(१) छिन्न-विद्या
(२) स्वर-विद्या
(३) भौम-विद्या
(४) अंतरिक्ष-विद्या
(५) स्वप्न-विद्या
(६) लक्षण-विद्या
(७) दण्ड-विद्या
(८) वास्तु-विद्या
(९) अंग-स्फुरण-विद्या
(१०) स्त-विद्या[1]

मतवाद

वह युग धार्मिक मतवादो का युग था। बाह्य वेशों और आचारों के आधार पर भी अनेक मतवाद प्रचलित थे। विरोधी मतवादों के कुछ उदाहण ये हैं—

१—सेतुकरण (वृक्ष-सिंचन) में धर्म है।
२—असेतुकरण मे धर्म है।
३—गृहवास में धर्म है।
४—वनवास मे धर्म है।
५—मुण्ड होने पर धर्म हो सकता है।
६—जटाधारी होने से धर्म हो सकता है।
७—नग्न रहने से धर्म हो सकता है।
८—वस्त्र रखने से धर्म हो सकता है।[2]

तापस

उत्तराध्ययन में तापसो के कुछेक प्रकार उल्लिखित हुए हैं। उस समय की सम्प्रदाय-बहुलता को देखते हुए ये बहुत अल्प हैं। किन्तु इनका आकलन भी उस समय की धार्मिक स्थिति का परिचायक है—

चीवरधारी—	चीवर या वल्कल पहनने वाले।
अजिनधारी—	चर्म के वस्त्र पहनने वाले।
नग्न—	मृगचारिक, उद्दण्डक, आजीवक आदि सम्प्रदाय।
जटी—	जटा रखने वाले।
संघाटी—	चिथरो को जोडकर पहनने वाले।
मुण्डी—	सिर मुडाने वाले।
शिखी—	सिर पर शिखा रखने वाले।[3]

१-बृहद्वृत्ति, पत्र २१५,२१६।
२-उत्तराध्ययन, ५।२१ ; बृहद्वृत्ति, पत्र ४१९।
३-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८।

एक बार कोडिन्न, दिन्न और सेवाली—तीनों तापस अपने-अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों के साथ अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए आए ।

कोडिन्न एकान्तर तप करता और कन्द-मूल खाता था । दिन्न बेले-बेले की तपस्या करता और भूमि पर गिरे हुए जीर्ण पत्ते खाकर निर्वाह करता था। सेवाली तेले-तेले की तपस्या करता और शैवाल खाकर निर्वाह करता था ।[१]

स्थान-स्थान पर शिव, इन्द्र, स्कन्द और विष्णु के मन्दिर होते थे और उनकी पूजा की जाती थी ।[२]

विकीर्ण

पुत्र-प्राप्ति के लिए मंत्र और औषधियो से संस्कृत जल से स्त्री को स्नान कराया जाता था ।[३]

अमात्य आदि विशेष पद पर रहने वाले व्यक्तियों की वेश-भूषा भिन्न प्रकार की होती थी ।[४]

उत्सवों के अवसर पर घरो पर ध्वजाएँ फहराई जाती थीं ।[५]

सूक्ष्म वस्त्र तथा कम्बल यत्र से बनाए जाते थे ।[६]

नदी के किनारे प्रपा बनाने का रिवाज था। ऐसी प्रपाओ में पथिकों तथा परिव्राजकों को अन्न-पानी का दान किया जाता था ।[७]

किसी के मरने पर अनेक लौकिक कृत्य किए जाते थे। मृतक के पीछे रोने की रिवाज थी ।[८]

शबर जाति के लोग तमाल के पत्ते पहनते थे ।[९]

इस प्रकरण के अन्तर्गत सभ्यता और संस्कृति का कुछ लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। ये तथ्य केवल संकेत मात्र हैं। उत्तराध्ययन की टीका सुखबोधा में संगृहीत प्राकृत कथाओं के आधार पर और भी अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला जा सकता है ।

१–सुखबोधा, पत्र १५५ ।
२–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, ३१५ ।
३–सुखबोधा, पत्र २१७ ।
४–वही, पत्र २१७ ।
५–बृहद्वृत्ति, पत्र १४७ ।
६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९ ; बृहद्वृत्ति, पत्र १२२ ।
७–सुखबोधा, पत्र १८८ ।
८–वही, पत्र २०२ ।
९–बृहद्वृत्ति, पत्र १४२ :
शबरनिवसनं तमालपत्रम् ।

प्रकरण : छठा

तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय जन-मानस श्रमण और वैदिक—दोनों परम्पराओं से प्रभावित रहा है। भारत की सभ्यता और संस्कृति इन परम्पराओं के आधार पर विकसित हुई और फली-फूली। दोनों परम्पराओं में एक ऐसी अनुस्यूति थी, जो भेद में अभेद को प्रोत्साहित करती थी। दोनों परम्पराओं के साधकों ने अनुभूतियाँ प्राप्त की। उनमें कई अनुभूतियाँ समान थीं और कई असमान। कुछ अनुभूतियों का परस्पर विनिमय भी हुआ। इस अध्याय में उन्हीं का एक विहंगावलोकन है। यह देख कर हमें बहुत आश्चर्य होगा कि कतिपय श्लोकों में विचित्र शब्द-साम्य और अर्थ-साम्य है। मूलत: कौन, किस परम्परा का है—यह निर्णय करना कष्टसाध्य है। फिर भी सिद्धान्त के आधार पर हम एक निश्चय पर पहुँच सकते है। उदाहरण के लिए उत्तराध्ययन सूत्र में 'कालीपव्वंगसंकासे' 'किस्से धमणिसंतए'—ये पद आए हैं[1]। बौद्ध-साहित्य में भी इनकी आवृत्ति हुई है।[2] जैन-सूत्रों में ये विशेषण ऐसे तपस्वी के लिए आए हैं, जो तपस्या के द्वारा अपने शरीर को इतना कृश बना देता है कि वह काली पर्व के सदृश हो जाता है और उसकी नाड़ियों का जाल स्फुट दीखने लगता है। ये विशेषण यथार्थ हैं क्योंकि ऐसी तपस्या जैन मत में सम्मत रही हैं। बौद्ध-साहित्य में ये पद ब्राह्मण के लक्षण बताते समय तथा सामान्य साधु के लिए प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु यहाँ यह शंका होती है कि तपस्या के बिना शरीर इतना कृश नहीं होता और ऐसी कठोर तपस्या बौद्धों को अमान्य रही है। इससे यह लगता है कि उन्होंने ये शब्द जैन या वैदिक धर्म के प्रभाव-काल में स्वीकृत किए हैं। डॉ० विन्टरनित्ज की मान्यता है कि "कथाओं, संवादों और गाथाओं की समानता का कारण यह है कि ये सब बहुत काल से प्रचलित श्रमण-साहित्य के अंश थे और उन्हीं से जैन, बौद्ध, महाकाव्यकारों तथा पुराणकारों ने इन्हें अपना लिया है।"[3]

यहाँ उत्तराध्ययन के अध्ययन-क्रम से तुलनात्मक सामग्री प्रस्तुत की गई है—

१–उत्तराध्ययन, २।३।

२–धम्मपद २६।१३ ; थेरगाथा २४६।

३–The Jainas in the History of Indian Literature, p. 7.

मापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥ (१।१४)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ (१।१५)

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥ (१।१७)

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥ (२।३)

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥ (२।१०)

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥ (२।१८)

असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥ (२।१९, २०)

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥ (२।२५)

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥ (२।३९)

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई ॥ (३।१७)

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति ॥ (४।१)

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, नाप्यन्यायेन पृच्छतः ।
ज्ञानवानपि मेधावी, जडवत् समुपाविशेत् ॥ (शान्तिपर्व २८७।३५)

अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथञ्ञमनुसासति ।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो ॥ (धम्मपद १२।३)

मा कासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो ।
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा ॥ (थेरीगाथा २४७)

काल(ला)पब्बंगसंकासो, किसो धम्मनिसन्थतो ।
मत्तञ्ञू अन्नपाम्हि, अदीनमनसो नरो ॥ (थेरगाथा २४६,६८६)

अष्टचक्रं हि तद् यानं, भूतयुक्तं मनोरथम् ।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ, कृशौ धमनिसंततौ ॥ (शान्तिपर्व ३३४।११)

एवं चीर्णेन तपसा, मुनिर्धमनिसन्तत: । (भागवत ११।१८।६)

पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मि झायन्त, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ (धम्मपद २६।१३)

फुट्ठो डंसेहि मकसेहि, अरञ्ञस्मि ब्रहावने ।
नागो संगामसीसे'व, सतो तत्राऽधिवासये ॥ (थेरगाथा ३४,२४७,६८७)

एक एव चरेन्नित्यं, सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्, न जहाति न हीयते ॥ (मनुस्मृति ६।४२)

अनिकेत: परितपन्, वृक्षमूलाश्रयो मुनि: ।
अयाचक: सदा योगी, स त्यागी पार्थ ! भिक्षुक ॥ (शान्तिपर्व १२।१०)

पांसुभि: समभिच्छिन्न:, शून्यागारप्रतिश्रय ।
वृक्षमूलनिकेतो वा, त्यक्तसर्वप्रियाप्रिय: ॥ (शान्तिपर्व ९।१३)

सुत्वा रुसितो बहुं वाचं, समणाणं पुथुवचनानं ।
फरुसेन ते न पतिवज्जा, न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति ॥ (सुत्तनिपात, व० ८,१४।१८)

चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं ।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किंचि लोकस्मि ॥ (सुत्त०, व० ८,१४।८)

खेत्तं वत्थुं हिरञ्ञं वा, गवास्सं दासपोरिसं ।
थियो बन्धू पुथू कामे, यो नरो अनुगिज्झति ॥ (सुत्त०, व० ८,१।४)

उपनीयति जीवितं अप्पमायु, जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा ।
एतं भयं मरणे पेक्खमाणो, पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि ॥ (अंगुत्तर नि०,पृ० १५६)

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥ (४।३)

चीराजिणं नगिणिणं, जडीसंघाडिमुण्डिणं।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सील परियागयं ॥ (५।२१)

जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥ (८।१३)

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥ (९।१४)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ (९।३४)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥ (९।४०)

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥ (९।४४)

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥ (९।४८)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ (९।४९)

चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो ।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो ॥ (थेरगाथा ७८६)

न नग्गचरिया न जटा न पंका, नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजो व जल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥ (धम्मपद १०।१३)

आथब्बणं सुपिनं लक्खणं, नो विदहे अथो पि नक्खत्तं ।
विरुतं च गब्भकरण, तिकिच्छं मामको न सेवेय्य ॥ (सुत्त०, ब० ८,१४।१३)

सुसुखं बत जीवाम ये सं नो नत्थि किंचनं ।
मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ ॥ (जातक ५३६, श्लोक १२५;
जातक ५२६, श्लोक १६, धम्मपद १५)

सुसुखं बत जीवामि, यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलाया प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन ॥ (मोक्षधर्म पर्व, २७६।२)

यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ॥ (धम्मपद ८।४)

मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं,
एकञ्च भावितत्तान मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥
यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने,
एकंच भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्यो य चे वस्ससतं हुतं ॥ (धम्मपद ८।७,८)

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते ॥ (शान्तिपर्व २९८।५)

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुंजेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मान, कलं अग्घति सोलसिं ॥ (धम्मपद ५।११)

अट्ठंगुपेतस्स उपोसथस्स, कलं पि ते नानुभवंति सोलसिं ॥ (अंगु० नि०, पृ० २२१)

पर्वतोपि सुवर्णस्य, समो हिमवता भवेत् ।
नालं एकस्य तद्वित्त, इति विद्वान् समाचरेत् ॥ (दिव्यावदान, पृ० २२४)

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
सर्वं तन्नालमेकस्य, तस्माद् विद्वाञ्छमं चरेत् ॥ (अनुशासनपर्व ९३।४०)

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥ (उद्योग पर्व ३९।८४)

वोछिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ (१०।२८)

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवंति ॥ (१३।२२)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ (१३।२३)

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा ॥ (१३।२४)

तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगय डहिय उ पावगेणं ।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥ (१३।२५)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइयो, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥ (१३।३१)

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया ! ।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥ (१४।६)

वेया अहीया न भवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥ (१४।१२)

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
त एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥ (१४।१५)

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पगामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥ (१४।१६,१७)

यद् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तदित्यवितृष्णां त्यजेत् ॥ (विष्णुपुराण ४।१०।१०)

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना ।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं ॥ (धम्मपद २०।१३)

तं पुत्रपशुसम्पन्नं, व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति ॥

सञ्चिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति ॥ (शान्ति० १७५।१८,१९)

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन् ! स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ (उद्योग० ४०।१५)

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं, कर्मान्वेति स्वयं कृतम् । (उद्योग० ४०।१८)

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते, वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र, पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ (उद्योग० ४०।१७)

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते, ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान्, यथा तात पतत्रिणः ॥ (उद्योग० ४०।१७)

अनुगम्य विनाशान्ते, निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं, ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥ (शान्ति० ३२१।७४)

अच्चयन्ति अहोरत्ता ··· ··· ·· ··· ··· ··· ··· ।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ·· ··· ·· ··· ··· ··· ··· ॥ थेरगाथा (१४८)

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र !, पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥
(शान्तिपर्व १७५।६;२७७।६; जातक ५०९।४)

वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो, न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति ।
गन्धे रसे मुच्चनं आहु सन्तो, सकम्मुना होति फलूपपत्ति ॥ (जातक ५०९।६)

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं, मृत्युरादाय गच्छति ॥ (शान्ति० १७५।२०)

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते, किं ते दारैर्ब्राह्मण ! यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं, पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ (शान्ति० १७५।३८)

अब्भाहयंमि लोगंमि सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥ (१४।२१)

केण अब्भाहओ लोगो? केण वा परिवारिओ?।
का वा अमोहा वुत्ता? जाया! चिंतावरो हुमि ॥ (१४।२२)

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! वियाणह ॥ (१४।२३)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ ॥ (१४।२४,२५)

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कखे सुए सिया ॥ (१४।२७)

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो, वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं, छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥ (१४।२९)

वन्तासी पुरिसो राय! न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि ॥ (१४।३८)

सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा ॥ (१४।४६)

नागो व्व बन्धणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महाराय! उसुयारि त्ति मे सुयं ॥ (१४।४८)

करकण्डू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु गन्धारेसु य नग्गई ॥
एए नरिन्दवसभा, निक्खन्ता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं, सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥ (१८।४५,४६)

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीष किं धीर इव भाषसे ॥ (शान्तिपर्व १७५।७,२७७।७)

कथमभ्याहतो लोक, केन वा परिवारित ।
अमोघा का पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ (शान्तिपर्व १७५।८,२७७।८)

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारित ।
अहोरात्रा पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥ (शान्तिपर्व १७५।९,२७७।९)

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च ।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन ॥
राज्या राज्या व्यतीतायामायुरल्पतर यदा ।
गाधोदके मत्स्य इव सुख विन्देत कस्तदा ॥
(यस्या राज्या व्यतीताया न किञ्चिच्छुभमाचरेत ।)
तदैव वन्ध्य दिवसमिति विद्याद् विचक्षण ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम ॥ (शान्तिपर्व १७५।१०,११,१२;
शान्तिपर्व (२७७।१०,११,१२)

यस्स अस्स सक्खी मरणेन राज जराय मेत्तो नरविरियसेट्ठ ।
यो चापि जञ्जा न मरिस्स कदाचि पस्सेय्यु त वस्ससत अरोग ॥ (जातक ५०९।७)

साखाहि रुक्खो लभते समन्न, पहीणसाख पन खानु माहु ।
पहीणपुत्तस्स ममज्झ होति वासेट्ठि भिक्खाचरियाय कालो ॥ (जातक ५०९।१५)

अवमी ब्राह्मणो कामे ते त्व पच्चावमिस्ससि ।
वन्तादो पुरिसो राज न सो होति पससियो ॥ (जातक ५०९।१८)

सामिषं कुररं दृष्ट्वा, बध्यमान निरामिषे ।
आमिषस्य परित्यागात कुररं सुखमेधते ॥ (शान्तिपर्व १७८।९)

इद वत्वा महाराज एसुकारी दिसम्पति,
रट्ठ हित्वान पब्बजि नागो छेत्वा व बन्धन ॥ (जातक ५०९।२०)

करण्डुनाम कलिङ्गान गन्धारानञ्च नग्गजि,
निमिराजा विदेहान पञ्चालानञ्च दुम्मुखो,
एते रट्ठानि हित्वान पब्बजिसु अकिञ्चना ॥ (जातक ४०८।५)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥ (१६।१५)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥ (२०।३६,३७)

न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मुच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ (२०।४८)

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥ (२०।२४)

धिरत्थु ते जसोकामी ! जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ (२२।४२)

अग्गिहोत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो, धम्माणं कासवो मुहं ॥ (२५।१६)

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥ (२५।२२)

कोहा व जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ (२५।२३)

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ (२५।२६)

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥ (२५।२६)

जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा,
ब्याधिपि दुक्खा मरणंपि दुक्खं ॥ (महावग्ग १।६।१९)
अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना व सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं ॥
अत्तना व कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं ।
अभिमन्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्ममयं मणिं ॥
अत्तना व कतं पाप, अत्तना संकिलिस्सति ।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति ॥
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये ॥ (धम्मपद १२।४,५,६)
उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ (गीता ६।५,६)
दिसो दिसं यन्तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं ।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो न ततो करे ॥ (धम्मपद ३।१०)
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्त्तारमीश पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जन परमं साम्यमुपैति ॥ (मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)
धिरत्थु तं विसं वन्तं यमहं जीवितकारणा ।
वन्तं पच्चावमिस्सामि मतम्मे जीविता वरं ॥ (विसवन्त जातक ६९)
अग्गिहुत्तमुखा यञ्ञा, सावित्ती छन्दसो मुखं ।
राजा मुखं मनुस्सानं, नदीन सागरो मुखं ॥
नक्खत्तानं मुखं चन्दो, आदिच्चो तपत मुखं ।
पुञ्ञं आकंखमानानं, संघोवे यजतं मुखं ॥ (सुत्तनिपात ३३।२०,२१)
निधाय दंडं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च ।
यो हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ (धम्मपद २६।२३)
अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये ।
याय नाभिसजे किंचि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ (धम्मपद २६।२६)
वारिपोक्खरपत्ते व, आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ (धम्मपद २६।१९)
न मुण्डकेण समणो, अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालाभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ॥

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ (२५।३०)

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ (२५।३१)

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥ (२७।८)
न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ (३२।५)

न तेन भिक्खु होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ॥ (धम्मपद १९।९,११)
न मोनेन मुनी होति, मुल्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥ (धम्मपद १९।१३)
न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति ॥ (धम्मपद १९।१५)
न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो। (धम्मपद २६।११)
मौनाद्धि स मुनिर्भवति, नारण्यवसनान्मुनि ॥ (उद्योगपर्व ४३।३५)

।

समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति ॥ (धम्मपद १९।१०)
पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥ (धम्मपद १९।१४)
न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मणो।
कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो ॥
कस्सको कम्मुना होति, सिप्पिको होति कम्मुना।
वाणिजो कम्मुना होति, पेस्सिको होति कम्मुना ॥ (सुत्तनिपात, महा० ९।५७,५८)
न जच्चा वसलो होती, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ॥ (सुत्तनिपात, उर० ७।२१,२७)
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां, विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ (गीता ४।१३)
ते तथा सिक्खित्ता बाला अञ्जमञ्जम गारवा।
नादयिस्सन्ति उपज्झाये खलुंको विय सारथिं ॥ (थेरगाथा ९७९)
सच लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभूय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ॥
नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातंगरञ्ञेव नागो ॥
एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा।
अप्पोस्सुक्को मातंगरञ्ञेव नागो ॥ (धम्मपद २३।९,१०,११)
अद्धा पससाम सहायसंपदं सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।
एते अलद्धा अनवज्जभोजी, एगो चरे खग्गविसाणकप्पो ॥ (सुत्तनिपात्त, उर० ३।१३)

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥ (३२।२०)
एविन्दियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥ (३२।१००)

त्रयी धर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसंनिभम् ।
नास्ति तात ! सुखं किञ्चिदत्र दुःखशताकुले ॥ (शांकरभाष्य, श्वेता० उप०, पृ०२३)
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता २।६४)

ब्राह्मण

जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई थे। जयघोष मुनि बन गए। विजयघोष ने यज्ञ का आयोजन किया। मुनि जयघोष यज्ञवाट में भिक्षा लेने गए। यज्ञ-स्वामी ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि यह भोजन केवल ब्राह्मणों को ही दिया जायगा। तब मुनि जयघोष ने समभाव रखते हुए उसे ब्राह्मण के लक्षण बताए। उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन में १९वें श्लोक से ३२वें श्लोक तक ब्राह्मणों के लक्षणों का निरूपण है और (२८,२९,३०,३१) के अतिरिक्त प्रत्येक श्लोक के अंत में 'तं वयं बूम माहणं' ऐसा पद है।

इसकी तुलना धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग (२६वाँ), सुत्तनिपात के वासेट्ठसुत्त (३५) के २४५वें अध्याय से होती है।

धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग में ४२ श्लोक हैं और उनमें नौ श्लोकों के अतिरिक्त (१,२, ५,६,७,८,१०,११,१२) सभी श्लोकों का अन्तिम पद 'तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' है।

सुत्तनिपात का 'वासेट्ठ सुत्त' गद्य-पद्यात्मक है। उसमें ६३ श्लोक है। उनमें २९ श्लोकों (२७-४५) का अन्तिम चरण 'तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' है। इसमें कौन ब्राह्मण होता है और कौन नहीं, इन दोनों प्रश्नों का सुन्दर विवेचन है। अन्तिम निष्कर्ष यही है कि ब्राह्मण जन्मना नहीं होता, कर्मणा होता है।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २४५ में ३६ श्लोक हैं। उनमें सात श्लोकों (११, १२,१३,१४,२२,२३,२४) के अन्तिम चरण में 'तं देवा ब्राह्मणं विदुः' ऐसा पद है।

तीनों में ब्राह्मण के स्वरूप की मीमांसा है।

उत्तराध्ययन के अनुसार ब्राह्मण

(१) जो संयोग में प्रसन्न नहीं होता, वियोग में खिन्न नहीं होता,
(२) जो आर्य-वचन में रमण करता है, जो पवित्र है, जो अभय है,
(३) जो अहिंसक है,
(४) जो सत्यनिष्ठ है,
(५) जो अचौर्यव्रती है,
(६) जो ब्रह्मचारी है,

(७) जो अनासक्त है,
(८) जो गृहत्यागी है,
(९) जो अकिंचन है,
(१०) जो गृहस्थो मे अनासक्त है और
(११) जो समस्त कर्मों से मुक्त है, वह ब्राह्मण कहलाता है ।

धम्मपद तथा सुत्तनिपात के अनुसार ब्राह्मण

(१) जिसके पार, अपार और पारापार नही है, जो निर्भय है, जो अनासक्त है,
(२) जो ध्यानी है, निर्मल है, आसनबद्ध है, उत्तमार्थी है,
(३) जो पाप-कर्म से विरत है,
(४) जो सुसवृत है,
(५) जो सत्यवादी है, धर्मनिष्ठ है,
(६) जो पंशुकूल (फटे चीथड़ों से बना चीवर) को धारण करता है,
(७) जो कुबला, पतला और नसों से मढे शरीर वाला है,
(८) जो अकिंचन है, त्यागी है,
(९) जो संग और आसक्ति से विरत है,
(१०) जो प्रबुद्ध है, जो क्षमाशील है, जो जितेन्द्रिय है,
(११) जो चरम शरीरी है,
(१२) जो मेधावी है, मार्ग-अमार्ग को जानता है,
(१३) जो संसर्ग-रहित है, अल्पेच्छ है,
(१४) जो अहिंसक है, अविरोधी है, जो सत्यवादी है, जो अचौर्यव्रती है, जो अतृष्ण है, जो नि सशय है, जो पवित्र है, जो अनुस्रोतगामी है, जो नि क्लेश है, जो प्राणियो की च्युति और उत्पत्ति को जानता है और
(१५) जो क्षीणाश्रव है, अर्हत् है, जिसके पूर्व, पश्चात् और मध्य में कुछ नही है, जो सम्पूर्ण ज्ञानी है—वह ब्राह्मण है ।

महाभारत के अनुसार ब्राह्मण

(१) जो लोगों के बीच रहता हुआ भी असंग होने के कारण सूना रहता है,
(२) जो जिस किसी वस्तु से अपना शरीर ढँक लेता है,
(३) जो रूखा-सूखा खा कर भी भूख मिटा लेता है,
(४) जो जहाँ कहीं भी सो रहता है,

(५) जो लोकैषणा से विरत है, जिसने स्वाद को जीत लिया है, जो स्त्रियों मे आसक्त नहीं होता,
(६) जो सम्मान पा कर गर्व नहीं करता,
(७) जो तिरस्कार पा कर खिन्न नहीं होता,
(८) जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान दे दिया है,
(९) जो अनासक्त है, आकाश की तरह निर्लेप है,
(१०) जो किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता,
(११) जो एकाकी विचरण करता है, जो शान्त है,
(१२) जिसका जीवन धर्म के लिए होता, जिसका धर्म हरि (आत्मा) के लिए होता है, जो रात-दिन धर्म में लीन रहता है,
(१३) जो निस्तृष्ण है, जो अहिंसक है, जो नमस्कार और स्तुति से दूर रहता है, जो सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है और
(१४) जिसके मोह और पाप दूर हो गए हैं, जो इहलोक और परलोक के भोगों में आसक्त नही होता—वह ब्राह्मण है—ब्रह्मज्ञानी है ।

प्रकरण : सातवाँ

उपमा और दृष्टान्त

उत्तराध्ययन में गंभीर अर्थ भी सरल-सुबोध पद्धति से प्रकटित हुआ है। इस प्रकटन में उपमाओं और दृष्टान्तो का विशिष्ट योग है। यह एक पवित्र धर्म-ग्रन्थ है। किन्तु उपमाओं की बहुलता देख कर ऐसी प्रतीति होती है कि यह काव्य-ग्रन्थ है। इसीलिए संभव है विन्टरनित्ज ने इसे उत्कृष्ट श्रमण-काव्य कहा।

मनुष्य-जीवन की तुलना पके हुए द्रुम-पत्र तथा कुश की नोक पर टिके हुए ओस-बिन्दु से की गई है (१०।२)। काम-भोगों की तुलना किंपाक फल से की गई है (३२।२०)। ये फल देखने में मनोरम और खाने में मधुर होते हैं। किन्तु इनका परिपाक होता है मृत्यु।

कहीं-कहीं उपमा-बोध बहुत सजीव हो उठा है। भृगु पुरोहित अपनी पत्नी से कह रहा है—"मैं पुत्र-विहीन हो कर वैसा हो रहा हूँ, जैसा पंख-विहीन पंछी होता है"—

'पंखाविहूणो व जहेह पक्खी' (१४।३०)

साँप जैसे केंचुली को छोड कर चला जाता है, वैसे ही पुत्र भोगो को छोड कर चले जा रहे हैं (१४।३४)।

महारानी कमलावती ने कहा—"जैसे पक्षिणी पिंजडे में रति नही पाती, वैसे ही मैं इस बन्धन मे रति नही पा रही हूँ"—

'नाहं रमे पक्खिणि पजरे वा' (१४।४१)

अमा की अंधियारी में दीए के सहारे चलने वाले का दीया बुझ जाए, उस समय वह देख कर भी नही देख पाता। इसी प्रकार धन से मूढ़ बना व्यक्ति देख कर भी नही देख पाता। (४।५)

उपमा और दृष्टान्तो का अविकल संकलन नीचे दिया जा रहा है—

उपमाएँ

गलियस्से व कसं	१।१२
कसं व दट्ठुमाइण्णे	१।१२
गलियस्सं व वाहए	१।३७
भूयाण जगई जहा	१।४५
कालीपव्वंगसंकासे	२।३

नागो संगामसीसे वा	२।१०
पंकभूया उ	२।१७
धयसित्तव्व पावए	३।१२
महासुक्का व दिप्पन्ता	३।१४
दीवप्पणट्ठे व	४।५
भारुण्डपक्खी व	४।६
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी	४।८
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं	५।१०
धुत्ते व कलिना जिए	५।१६
पक्खी पत्तं समादाय	६।१५
कुसग्गमेत्ता	७।२४
बज्झई मच्छिया व खेलंमि	८।५
तरन्ति अतरं वणिया व	८।६
निज्जाइ उदगं व थलाओ	८।९
आसीविसोवमा	९।५३
अबले जह भारवाहए	१०।३३
आसे जवेण पवरे	११।१६
जहाइण्णसमारूढे	११।१७
जहा करेणुपरिकिण्णे, कुजरे सट्ठिहायणे	११।१८
वसहे जूहाहिवई	११।१९
सीहे मियाण पवरे	११।२०
अप्पडिहयबले जोहे	११।२१
जहा से चाउरन्ते चक्कवट्टी महिड्डिए	११।२२
जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरन्दरे	११।२३
जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे	११।२४
जहा से उडुवई चन्दे	११।२५
जहा से सामाइयाणं कोट्ठागारे	११।२६
जहा सा दुमाण पवरा, जम्बू नाम सुदंसणा	११।२७
जहा सा नईण पवरा	११।२८
जहा से नगाण पवरे, सुमहं मन्दरे गिरी	११।२९
जहा से सयंभूरमणे	११।३०
समुद्दगम्भीरसमा	११।३१

अगणि व पक्खन्द पयंगसेणा	१२।२७
जहेह सीहो व मियं गहाय	१३।२२
नागो जहा पंकजलावसन्नो	१३।३०
जहा य अग्गी अरणीऽसन्तो	१४।१८
खीरे घयं	१४।१८
तेल्ल महातिलेसु	१४।१८
पंखा विहूणो व्व जहेह पक्खी	१४।३०
भिच्चा विहूणो व्व रणे नरिन्दो	१४।३०
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए	१४।३०
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी	१४ ३३
जहा य भोई ! तणुयं भुयगो, निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो	१४।३४
छिन्दत्तु जालं अबलं व रोहिया, मच्छा जहा ···	१४।३५
नहेव कुचा समइक्कमन्ता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा	१४।३६
पक्खिणि पजरे वा	१४।४१
गिद्धोवमे	१४।४७
उरगो सुवण्णपासे व	१४।४७
नागो व्व बन्धणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए	१४।४८
विसं तालउड जहा	१६।१३
विसमेव गरहिए	१७।२०
अमयं व पूइए	१७।२१
विज्जुसंपायचचलं	१८।१३
उम्मत्तो व्व महिं चरे	१८।५१
देवे दोगुन्दगे चेव	१९।३
विसफलोवमा	१९।११
फेणबुब्बुयसन्निभे	१९।१३
जहा किम्पागफलाणं परिणामो न सुन्दरो	१९।१७
गुरुओ लोहभारो व्व	१९।३५
आगासे गंगसोउ व्व पडिसोओ व्व दुत्तरो	१९।३६
बाहाहिं सागरो	१९।३६
वालुयाकवले	१९।३७
असिधारागमणं	१९।३७
अहीवेगन्तदिट्ठीए	१९।३८

जीमूयनिद्धसंकासा	३४।४
गवलरिट्ठगसन्निभा	३४।४
खंजणंजणनयणनिभा	३४।४
नीलाऽसोगसंकासा	३४।५
चासपिच्छसमप्पभा	३४।५
वेरुलियनिद्धसंकासा	३४।५
अयसीपुप्फसंकासा	३४।६
कोइलच्छदसन्निभा	३४।६
पारेवयगीवनिभा	३४।६
हिंगुलुयधाउसकासा	३४।७
तरुणाइच्चसन्निभा	३४।७
सुयतुण्डपईवनिभा	३४।७
हरियालभेयसंकासा	३४।८
हलिद्दाभेयसन्निभा	३४।८
सणासणकुसुमनिभा	३४।८
संखंककुन्दसंकासा	३४।९
खीरपूरसमप्पभा	३४।९
रययहारसंकासा ।	३४।९

दृष्टान्त

१।४	कुत्ती का दृष्टान्त ।
१।५	सूअर का दृष्टान्त ।
४।३	चोर का दृष्टान्त ।
५।१४,१५	गाडीवान् का दृष्टान्त ।
७।१-१०	उरभ्र का दृष्टान्त ।
७।११,१२	कागिणी और आम्र का दृष्टान्त ।
७।१४-१६	तीन वणिकों का दृष्टान्त ।
७।२३	कुशाग्र बिन्दु का दृष्टान्त ।
१०।१	द्रुमपत्र का दृष्टान्त ।
१०।२	कुशाग्र बिन्दु का दृष्टान्त ।
११।१५	शंख का दृष्टान्त ।
१४।४२,४३	दवाग्नि का दृष्टान्त ।

१४।४४,४६	पक्षी का दृष्टान्त ।
१६।१८-२१	पाथेय का दृष्टान्त ।
१६।२२,२३	जलते हुए घर का दृष्टान्त ।
१६।७७-८३	मृग का दृष्टान्त ।
२२।४५	गोपाल का दृष्टान्त ।
२५।४०,४१	मिट्टी के गोले का दृष्टान्त ।
३२।११	दवाग्नि का दृष्टान्त ।
३२।१३	बिडाल का दृष्टान्त ।
३२।२०	किंपाक फल का दृष्टान्त ।

प्रकरण : आठवाँ

छन्दोविमर्श

उत्तराध्ययन का अधिक भाग पद्यात्मक है। इसमें १६३८ श्लोक हैं। इसमें दोनों प्रकार के छन्द—मात्रावृत्त और वर्णवृत्त व्यवहृत हुए हैं।

मात्रावृत्त	वर्णवृत्त
गाथा	अनुष्टुप्
	उपजाति
	इन्द्रवज्रा
	उपेन्द्रवज्रा
	वंशस्थ

कुछ चरणों में नौ, दस, ग्यारह आदि अक्षर हैं। नवाक्षर वाले कई छन्द हैं, जैसे—महालक्ष्मी, सारंगिका, पाइत्ता, कमल आदि।[1] किन्तु उनसे नवाक्षर वाले चरणों की गण-संगति नहीं बैठती है, इसलिए उन्हें गाथा छन्द के अन्तर्गत ही रखा गया है। इसी प्रकार दस, ग्यारह आदि अक्षरों वाले छन्दों[2] से भी चरणों की संगति नहीं है। गाथा छन्द में सबका समावेश हो जाता है, इसलिए हमने उन्हें गाथा की कोटि में रखा है।

अध्ययन १

इसमें ४८ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।३,२।१,२;३।१,२;४।३;५।१;६।३;७।४; ९।१;११।१,२,१२।२;१६।१; १७।३,२०।२,३;२१।२,३;२२।१; २३।२;२५।१; २९।१,२, ३२।१;३४।३; ४२।१,३;४३।१,३,४४।२;४५।३

उपजाति छन्द—१३,४८

वंशस्थ छन्द— ४७

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोकों के शेष चरण तथा अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २

इसमें ४६ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।१;२।१;३।३;१०।१;१२।३;१८।४;२३।१,३;३५।२;३८।१;४०।१

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के अवशिष्ट चरण तथा शेष श्लोक।

१–प्राकृत पैंगलम्, पृ० २१६-२२३।

२–वही, पृ० २२४-२४२।

अध्ययन ३

इसमें २० श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १९।२,२०।१

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ४

इसमें १३ श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

उपजाति छन्द—सम्पूर्ण अध्ययन ।

अध्ययन ५

इसमें ३२ श्लोक है । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— ३।१;८।१,१०।३,१६।३; १९।१,२,४,२३।१,२७।३, २९।३,३०।१,३१।३;
३२।३

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोको के शेष चरण तथा अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ६

इसमें १७ श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा-छन्द— ६।४,१७ ।

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ७

इसमें ३० श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— २।१,१५।३,१६।४,१९।२,२०।१,२४।१

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ८

इसके पद्य गीत-गेय है । इनका लक्षण 'उग्गाहा' से कुछ मिलता है ।[1]

अध्ययन ९

इनमें ६२ श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १;२,३,४,५,७।१,९।१,४,१०।३,१२।३,१४।३,२०।१;२६।१,२८।३;३६।१,
२,३८।२,४४।३,४६।१;४९।१,३;५३।३;५५।१,४;५६।२,५९,६०;६१।३;
६२।४

उपजाति छन्द—४८

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोको के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

१—प्राकृत पैंगलम्, पृ० ६२ ।

अध्ययन १०

चूर्णि के अनुसार इस अध्ययन में वृत्त हैं, गाथाएँ नहीं हैं।

अध्ययन ११

इसमें ३२ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द—१।३;२।४;५।१; ६।१,३; ७।१;६।३; १०।१; ११।३; १३।१,२; १५।१,२; १६।१,४;१७।४;१८।१,३,४; १६।१,२; २०।१,४;२१।१,३,४;२२।१,३,४; २३।१,३,४,२४।१,४;२५।१,३,४;२६।४, २७।१,४;२८।१,३,४;२६।१,४; ३०।१,३,४

वंशस्थ छन्द—३१

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन १२

इसमें ४७ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द—४।३,४

उपजाति छन्द—६ से १७; २०से२५, २७से३३; ३५से४७

इन्द्रवज्रा छन्द—१८,१६

अनुष्टुप् छन्द—४।१,२ व अवशिष्ट श्लोक। २६वें श्लोक का तीसरा चरण चम्पकमाला छन्द के सदृश है।

अध्ययन १३

इसमें ३५ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द—१,२,३,६।१,६।१,२८।२,२६।१

इन्द्रवज्रा छन्द—२४

उपजाति छन्द—१० से १५,१७ से २३; २५ से २७; ३० से ३५

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण तथा अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन १४

इसमें ५३ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द—२२।३;२६।२;४६।४,४७।३;५२।१;५३।१

उपजाति छन्द—१ से २०; २८ से ३७,४०;४१

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन १५

इसमें १६ श्लोक हैं। वे इन्द्रवज्रा की कोटि के वृत्त हैं।

अध्ययन १६

इसमें १७ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—
गाथा छन्द—५।२,६।२;११।४,१२।२,४;१७।१
अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन १७

इसमें २१ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—
गाथा छन्द—३।३,४,४।१,२,४,५।१,४, ६।४,७।३,४,८।४,९।२,३,४,१०।३,४,११।३,४,
१२।४;१३।१,४,१४।१,४,१५।४,१६।४;१७।४,१८।३,४,१९।३,४
उपजाति छन्द—१,२,२०,२१
उपेन्द्रवज्रा छन्द—९।३
अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन १८

इसमें ५३ श्लोक है। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—
गाथा छन्द—३।१,४।१,३,५।१,६।४, ७।१,८।३, ९।१,२,३, १०।३, ११।२, १५।२,१८।३,
१९।३,२१।१,३,४,२२।३, २३।१,३, २८।२,४,३०।४, ३१।१,३, ३३।१,२;
३४।३,३५।२,३,३६।४;३७।१,४०।२,४१।४,४३।१,२,४८।१,४
अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन १९

इसमें ९८ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—
गाथा छन्द—१।३,४।१,३,५।२,३,६।२,७।१,२,४,८।१,३,९।३,१३।३,२८।१,२९।१,३१।४;
३२।३,३४।३,३७।३,३९।३; ४५।१,३,४७।१,३,४८।३,४९।३,५१।२,५२।३;
५३।१,५४।१,५५।१,५६।१; ५९।४, ६०।३; ६२।२, ६३।४, ६४।१,३,६६।१;
६८।२,३;७१।२, ७२।४,७३।४, ७५।१, ७६।१;८१।३,८३।३; ८४।१;८५।१;
८६।२,९२।४,९४।१
उपजाति छन्द—१०;९७।१
अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।
श्लोक—८८। यह गाथा छन्द की परिगणना में आ सकता है, किन्तु गण गाथा छन्द के अनुरूप नहीं है।

अध्ययन २०

इसमें ६० श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द — १।१,८।१,६।३,१०।१,१६।१;१६।१,२,२०।१,२१।४,२२।१,२७।१;२८।३;
३१।३,३३।३,३५।१,४५।४,५४।२,५६।३

इन्द्रवज्रा छन्द— ५५

उपजाति छन्द—३८ से ५३,५८

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

श्लोक—६० मात्रा की दृष्टि से गाथा छन्द की परिगणना में आ सकता है। किन्तु गण गाथा छन्द के अनुरूप नहीं है।

अध्ययन २१

इसमे २४ श्लोक है। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।३,२।१,४,३।१,४।१,३,४,६।२,१०।१,३

उपजाति छन्द—११ से २०,२२ से २४

२१वाँ श्लोक मिश्रित छन्दो में है।

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोको के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक

अध्ययन २२

इसमे ४६ श्लोक है। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।१;२।४,३।१;४।३;५।३,६।१,२,७।१,६।३,४,१०।१,३;११।१;१२।१,
३,१७।१,१६।१,२० से २४,२५।१,३,२६।३,२७।४;२८।१,३०।१,२,३,
३१।१,३२।१,३;३३।४;४०।१,४१।१,२,४,४३।२,४४।३

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोको के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २३

इसमें ८६ श्लोक है। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है —

गाथा छन्द— ३।४,६।३;१७।२,४,१८।३;२७।१,२,४०।४,४८।३;५०।१;५३।३,५८।३;
६५।३;८८।३

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २४

इसमें २७ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।१,२;२।१;३।१,३,४;४।३,६।३;८।४,११।१;१२।१;१४।४,१५।१;१६।२,
३,१७।४;१८।३;१६।१;२१।१,२३।१;२५।१;२६।१,२

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २५

इसमें ४३ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— ४।३;५।१,३,६।१,७।२;६।१;११।१,१३।३,२०।३,२२।३,२६।१,४;३०।१; ३४।२,३५।२,३७।३,३८।३,३६।१,४०।४,४३।३

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २६

इसमें ५२ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— २।१,४।१,५।१,३,४,६।४,११।१,३,४;१२।१,३,४;१३।४,१५।३,१६।१, २,४,१७।३,४,१८।१, ३,४,१६, २०,२१।२,२२।३,२३।१,३,२४ से ३०; ३२ से ३४,३५।१,४, ३६।३,३८।१, २,३६।३,४०।१,४२।१,३,४३।१,३, ४४।३,४८।१,५१।१,५२।१

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २७

इसमें १७ श्लोक है। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— २।३,६।२,१०।१,२,११।३,४,१३।२,१४।१,१५।१,१६।१,४,१७।३

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

अध्ययन २८

इसमें ३६ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १०।२,१६,१७,१८।१,२,४,१६,२१ से २७;२६,३०,३२,३३।२

अनुष्टुप् छन्द— उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

श्लोक—२०,२८,३१ मात्रा की दृष्टि से गाथा छन्द की परिगणना में आ सकते हैं, किन्तु गण गाथा छन्द के अनुरूप नहीं है।

अध्ययन २९

यह सारा अध्ययन गद्यात्मक है।

अध्ययन ३०

इसमें ३७ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— २;५।३,६।३;६।१,२,४,१०।३,४,११;१२।१;१३।२,३,४;१५।१;१७;१८; २०,२१।१,२,३;२२ से २४,२५।१;२६।३,४;२७।४;२८।१,३;३०;३१।२; ३२।१,४;३३।१,२;३६।३

अनुष्टुप छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

श्लोक—८,१६ मात्रा की दृष्टि से गाथा छन्द की परिगणना में आ सकते हैं, किन्तु गण गाथा छन्द के अनुरूप नहीं है ।

अध्ययन ३१

इसमें २१ श्लोक हैं । उनका छन्द बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।१,६।१,७।२,१०।२;११।१;१२।१,१३।१;१४।१;१५।१;१६।२

अनुष्टु् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ३२

इसमें १११ श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

उपजाति छन्द—सम्पूर्ण अध्ययन ।

अध्ययन ३३

इसमें २५ श्लोक है । उनका छन्द-बोध इप प्रकार है—

गाथा छन्द— ४।१,३,५,६;७।१,२,६।३;११।२,१३।२;१४।१,१५।२;१६।१,३;१७।३;
१६।४,२०।१,२१।४,२२।४,२३।४

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ३४

इसमें ६१ श्लोक हैं । उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द—१।१;२।१,२,४।२,३,५।१,३;७।१,३,८।१,३;२५।३,२६।१,४,२८।४;२६।२;
३०।४,३१।४;३२।४ ।

श्लोक—१० से २१,२३,३३ से ६१ गाथा, अनुष्टुप् आदि मिश्रित छन्दों में हैं ।

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ३५

इसमें २१ श्लोक हैं । उनक छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द—१।१,३,४।३;६।३,६।२;१०।२;११।१;१३।३;१४।३,४;१५।३;१६।१;१७।४;
१६।३;२०।३

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोकों के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक ।

अध्ययन ३६

इसमें २६८ श्लोक हैं। उनका छन्द-बोध इस प्रकार है—

गाथा छन्द— १।१,२,६।३;७।४,८।१,२,६।१;१०।३;११।४,१३।२,१४।२;१५।४,१६।१;
१७।१;१८।१;१६।१, २०।३;२१।१,४, २२।४,२३।४,२४।४,२५।४,२६।४,
२७।४,२८।४,२९।४, ३०।४,३१।४,३२।४; ३३।१,४,३४।४,३५।४,३६।४;
३७।४;३८।४,३६।४,४०।४, ४१।४,४५।१;४६।१,४;४७।३,४८।२,५०।३;
५१।३,४,५२।३,४,५३।३,४,५४।४; ५६।१,५८।१,३,४; ५६।३,४;६०।३;
६५।१,६६।३,६६।३;७०।१,३;७२।१,७३।३,४,७४।३,४, ७५।३,४,७६।१,
४,७७।४,८०।१,४; ८१।२,८२।२,४, ८४।३,८५।३,४,८६।२, ८८।१,३,४;
८६।२,३,६०।२,९२।१,३, ९४।१,९५।१,२,३,९७।१,३, १००।२;१०२।४;
१०३।२;१०४।२,४; १०६।१;१०८।३,१०९।३, ११३।१,३,४, ११४।२,३;
११५।२,११७।३; ११८।४;११९।१,२, १२२।१,३,४, १२३।२,३,१२४।२;
१२६।१,४, १२७।३,१२८।१,२, १३२।४,१३३।२; १३४।२,३; १३६।३;
१३८।१,२,१४१।४; १४२।२; १४३।२,३; १४५।१,३;१४६।३;१४७।३,
१४८।३,१४९।१,१४१।४,१५१।१,३,४; १५२।२,३;१५३।२, १५५।२,४;
१५६।२;१५७।१,१६१।१,३, १६२।१,४,१६३।४, १६४।४,१६५।१,३,५;
१६६।१, १६७।२,३, १६८।२,४; १७१।१,२; १७२।१ ,४, १७५।३, ४,
१७६।३,४,१७७।२,४,१७६।१,२,१८०।१,४; १८१।१,२; १८४।१,३,४;
१८५।१,४; १८६।१,४,१८८।२,३, १९१।३,४; १६२।१,४; १९३।१,४;
१९५।१; १९७।१,२; १९८।२,२००।१,४; २०१।१,४,२०२।४,२०४।४;
२०५।१,४;२०६।४;२०७।२,४, २११।४,२१३।३, २१४।२,३,४; २१५।१;
२२२।१; २२४।३, २२८।४; २२९।४, २३०।१,४; २३१।१,४; २३३।१;
२३४।१; २३६।४; २३७।१, २३९।३, २४०।१, २४१।१, ४; २४३।१,३;
२४५।३; २४६।२, २४९।३, २५२।१,२,३; २५३।१,४,२५४।३,४,२५६;
२५७;२५८,२५९;२६६

अनुष्टुप् छन्द—उक्त श्लोको के शेष चरण व अवशिष्ट श्लोक।

श्लोक—२६० से २६७ मात्रा की दृष्टि से गाथा छन्द की परिगणना में आ सकतेहैं,
किन्तु गण गाथा छन्द के अनुरूप नही है।

प्रकरण : नौवाँ

१–व्याकरण-विमर्श

आर्ष-साहित्य में अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं। उत्तराध्ययन मे बृहद् वृत्तिकार ने यत्र-तत्र व्याकरण का विमर्श किया है। जहाँ बृहद्वृत्तिकार का विमर्श प्राप्त नही है वहाँ हमने अपनी ओर से उसकी पूर्ति की है। प्रस्तुत विषय नौ भागो में विभक्त है—१–सन्धि, २–कारक, ३–वचन, ४–समास, ५–प्रत्यय, ६–लिङ्ग, ७–क्रिया और अर्द्धक्रिया, ८–आर्ष-प्रयोग और ९–विशेष-विमर्श।

१–सन्धि

जत्तं १।२१

इसमें दो शब्द हैं—'जं' और 'तं'। 'ज' के बिन्दु का लोप और 'त' को द्वित्व करने पर 'जत्तं' (सं० यत् तत्) रूप निष्पन्न हुआ है।[1]

सुइरादवि ७।१८

यह संस्कृत-तुल्य सन्धि-प्रयोग है। (सं० सुचिरादपि)।

विप्परियासुवेइ २०।४६

यह सन्धि का अलाक्षणिक प्रयोग है। (विप्परियासं+उवेइ)।

(क) ह्रस्व का दीर्घीकरण

मणूसा ४।२

यहाँ एक सकार का लोप और उकार को दीर्घ किया गया है।

समाययन्ती ४।२

यहाँ 'ती' में इकार दीर्घ है।

परत्था ४।५

यहाँ 'त्था' में अकार दीर्घ है।

फुसन्ती ४।११

यहाँ 'ती' में इकार दीर्घ है।

अणेगवासानउया ७।१३

यहाँ 'वासा' मे अकार दीर्घ है।[2]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५।

२–वही, पत्र २७७।

पउराए ८।१

यहाँ छन्द की दृष्टि से 'रकार' को दीर्घ किया है ।

नराहिवा ९।३२

यहाँ 'वा' में अकार दीर्घ है ।[1]

पुणरावि १०।१६

यहाँ 'रा' में अकार दीर्घ है ।

कंटकापहं १०।३२

यहाँ 'का' में अकार दीर्घ है । यह अलाक्षणिक है ।[2]

अन्नमन्नमणूरत्ता १३।५

यहाँ 'णू' में उकार दीर्घ है ।

भवम्मी १४।१

यहाँ 'म्मी' में इकार दीर्घ है ।

वी १४।३

यहाँ इकार दीर्घ है ।

इच्छई १५।५

यहाँ 'इकार' दीर्घ है ।[3]

अग्गमाहिसी १९।१

यहाँ 'मा' में अकार दीर्घ है ।

अग्गीविवा २०।४७

यहाँ 'वा' में अकार दीर्घ है ।[4]

जत्था २१।१७

यहाँ अकार दीर्घ है ।

मंताजोगं ३६।२६४

यहाँ 'ता' में अकार दीर्घ है ।

(ख) दीर्घ का ह्रस्वीकरण

पक्खिणि १४।४१

यहाँ 'णि' में इकार ह्रस्व है ।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३१३ ।

२—वही, पत्र ३४० ।

३—वही, पत्र ४१५ ।

४—वही, पत्र ४७९ ।

२६।२७ पमाणि

यहाँ 'णि' में इकार ह्रस्व है।

२—कारक

(क) विभक्ति विहीन प्रयोग

विभक्ति विहीन रूप	*विभक्ति विहीन रूपों की प्राप्त विभक्तियाँ*
१।७ बुद्धपुत्त	बुद्धपुत्ते
१।३६ भाय	भाया
१।३६ कल्लाण	कल्लाणं
२।२२ भिक्खु	भिक्खू
२।४२ कल्लाण	कल्लाण
४।१ जीविय	जीवियं
४।३ मोक्ख	मोक्खो
४।४ ससारमावन्न	संसारमावन्ने
४।७ जीविय	जीविय
५।१० आउ	आउम्मि
७।३० एव	एवं
८।२ असिणेह	असिणेहे
१०।३६ गाम	गामे
१२।११ भोयण	भोयणं
१२।१६ इसि	इसिं
१२।३० खडिय	खंडिये
१२।३७ जाइविसेस	जाइविसेसो
१२।४७ उत्तम ठाण	उत्तमं ठाणं
१३।२४ सुदर	सुदरं
१३।३५ संजम	संजमं
१४।२ निव्विण्ण	निव्विण्णा
१४।३ कुमार	कुमारा
१४।५ पोराणिय	पोराणियं
१४।५ तव	तवं
१४।१६ तेल्ल	तेल्लं
१४।१६ इन्दियगेज्झ	इन्दियगेज्झे

१४।४५	हत्थ	हत्थम्मि
१५।६	भोइय	भोइया
१७।६	संजय	सजयं
२०।४३	जीविय	जोवियं
२०।४३	संजय	सजय
२१।१२	अहिंस	अहिंसं
२१।१४	वयजोग	वयजोगं
२१।१५	सव्व	सव्वं
२१।१५	सव्व	सव्वं
२४।२४	उल्लघणपल्लंघणे	उल्लंघने पल्लंघने
२५।२७	मुहाजीवो	मुहाजीवी
२८।१७	पुण्ण	पुण्ण
२८।३१	निस्सकिय	निस्सकिय
२८।३१	निक्कखिय	निक्कखिय
३२।१४	इंगिय	इंगिय
३२।२०	जीविय	जीविये
३३।११	सोलसविह	सोलसविहं

(ख) **विभक्ति-व्यत्यय**

१।१ आणुपुव्वि—यहाँ तृतीया के अर्थ मे द्वितीया विभक्ति है। (१६)*

१।३१ कालेण—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति है। (५६)

१।३३ नाइदूर—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे द्वितोया विभक्ति है। (५६)

२।३ अदीणमणसो—यहाँ प्रथमा के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। वृत्तिकार ने इसके दो रूप किये हैं—अदीनमना, अदीनमानस। (८४)

२।४ एसणं— यहाँ चतुर्थी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (८६)

२।२४ तेसि—यहाँ चतुर्थी के स्थान में षष्ठी विभक्ति और एकवचन के स्थान में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। (१११)

---

* यहाँ से लेकर पूरे प्रकरण की सभी संख्याएँ बृहद् वृत्ति की पत्र-संख्याएँ हैं।

५।१ दुरुत्तरं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। टीकाकार ने इस व्यत्यय के साथ-साथ इसे क्रिया-विशेषण भी माना है। (२४१)
५।११ परलोगस्स—यहाँ पचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। (२४६)
५।१६ अकाममरणं—यहाँ तृतीया के अर्थ में द्वितीया है। (२४८)
५।१६ सव्वेसु भिक्खूसु—
५।१६ सव्वेसुगारिसु— } यहाँ षष्ठी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (२४६)
५।३२ सकाममरणं—
५।३२ तिण्हमन्नयरं— } यहाँ तृतीया के अर्थ मे द्वितीया विभक्ति है। (२५४)
७।२४ कम्स—यहाँ द्वितीया के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है। (२८३)
८।२ सिणेहकरेहि—यहाँ सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति है। (२६०)
८।८ सव्वदुक्खाण—यहाँ तृतीया के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है।(२६३)
६।३५ अप्पाणं—यहाँ तृतीया के अर्थ मे द्वितीया विभक्ति है। (३१४)
६।५४ माया—यहाँ तृतीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है।(३१८)
११।१६ चउदसहिं ठाणेहि—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति है। (३४५)
११।१८ मित्तेसु—यहाँ चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (३४६)
११।१५ भिक्खू—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे प्रथमा विभक्ति है। (३४८)
११।३१ सुयस्स···विउलस्स - यहाँ दोनो शब्दों मे तृतीया के स्थान पर षष्ठी विभक्ति है। (३५३)
१२।३ जन्नवाडं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (३५८)
१२।६ अट्ठा—यहाँ चतुर्थी के अर्थ में प्रथमा विभक्त है। (३६०)
१२।१७ मे—यहाँ द्वितीया के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है। (३६०)
१२।१७ —यहाँ चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग हुआ है। (३६३)
१३।१० कडाण कम्माण—यहाँ पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। (३८४)
१३।२६ तस्स—यहाँ पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। (३६०)
१४।४ कामगुणे—यहाँ पंचमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (३६७)
१४।२८ जहिं—यहाँ द्वितीया के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति है। (४०४)
१५।८ आउरे—यहाँ षष्ठी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (४१७)
१५।१२ तं—यहाँ तृतीया विभक्ति होनी चाहिए। (४१६)
१८।२ हयाणीए गयाणीए रहाणीए···पायत्ताणीए—यहाँ तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। (४३८)
१८।१० मे—यहाँ द्वितीया के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (४३६)
१८।१८ महया—यहाँ द्वितीया के अर्थ मे तृतीया विभक्ति है। (४४१)

१८।३१ पसिणाणं—यहाँ तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। (४४६)
१९।९ विसएहि—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (४५२)
१९।३९ अग्गिसिहा दित्ता—यहाँ द्वितीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है। (४५७)
१९।९१ यहाँ गौरव आदि शब्दों में पचमी के स्थान में सप्तमी विभक्ति है। (४६५)
२०।४१ सपराए—यहाँ षष्ठी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (४७८)
२०।४९ उत्तमट्ठं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (४७९)
२१।१३ सव्वेहिं भूएहिं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (४८५)
२१।१६ माणवेहिं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (४८६)
२१।२१ परमट्ठपएहिं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (४८७)
२२।८ जा से—'जा' मे तृतीया और 'से' मे चतुर्थी विभक्ति है। (४९०)
२२।४९ भोगेसु—यहाँ पचमी के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति है। (४९७)
२३।३ ओहिनाणसुए—यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (४९८)
२३।५ तेणेव कालेणं—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति है। (४९९)
२३।१२ महामुणी – यहाँ तृतीया के अर्थ मे प्रथमा विभक्ति है। (५००)
२३।८० सारीरमाणसे दुक्खे—यहाँ तृतीया के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति है। (५१०)
२५।४ तेणेव कालेणं—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति है। (५२३)
२५।८ तेसिं—यहाँ चतुर्थी के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है। (५२३)
२५।१८ विज्जामाहणसपया—यहाँ षष्ठी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (५२६)
२५।२७ मुहाजीवी—यहाँ द्वितीया के अर्थ मे प्रथमा विभक्ति है। (५२८)
२५।३२ सव्वकम्मविनिम्मुक्क—यहाँ प्रथमा के अर्थ मे द्वितीया विभक्ति है। (५२९)
२६।७ गुरुपूया—यहाँ सप्तमी के अर्थ मे प्रथमा विभक्ति है। (५३५)
२७।१४ भत्तपाणे—यहाँ तृतीया के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति है। (५५३)
३०।१६ सल्ली—यहाँ सप्तमी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है। (६०५)
३०।२० चरमाणो—यहाँ षष्ठी के अर्थ मे प्रथमा विभक्ति है। (६०५)
३०।२८ एगंत —यहाँ सप्तमी के अर्थ मे द्वितीया विभक्ति है। (६०८)
३१।२ असजमे—यहाँ पचमी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (६१२)
३१।१३ गाहासोलसएहिं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (६१४)
३१।१७ भावणाहिं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (६१६)
३२।११० तस्स सव्वस्स दुहस्स—यहाँ तीनों शब्दों में पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। (६३९)
३३।१८ आणुपुव्वि—यहाँ तृतीया के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (६४१)
३३।१८ सव्वेसु वि पएसेसु—यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (६४६)

३४।४४ तेण—यहाँ पंचमी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति है। (६५६)
३४।५१ तेण—यहाँ पंचमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (६६०)
३४।५६ दुग्गई—यहाँ सप्तमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। (६६१)
३५।० जेहिं—यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है। (६६४)
३५।१३ कयविक्कए—यहाँ पंचमी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। (६६७)
३६।२६११,२—इनमें तृतीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है। (७०६)

३—वचन

(क) वचन-व्यत्यय

(१) बहुवचन के स्थान पर एकवचन

३।१६ से दसंगेऽभिजायई
४।१ जणे पमत्ते
५।२८ भिक्खाए वा गिहत्थे वा
१२।१३ जहिं
१२।१८ जो
१८।१६ दारे य परिरक्खए
२१।१७ पत्ते
२३।१७ पंचम
२३।३६ पवज्जिए
२३।५० अग्गी
२४।११ आहारोवहिसेज्जाए
३६।४ अरूवी
३६।४८ तं
३६।२६० परित्तससारी
३६।२६२ गुणगाही

(२) एकवचन के स्थान पर बहुवचन

१२।२ उच्चारसमिईसु

४—समास

३।५ कम्मकिब्बिसा

इसका संस्कृत रूप है 'कर्मकिल्बिषा.'। प्राकृत व्याकरण के अनुसार पूर्वापरनिपात करने पर इसका रूप 'किल्बिषकर्माणः' होगा। (१८३)

४।५ दीवप्पणट्ठे

टीकाकार ने इसके दो संस्कृत रूपान्तर दिए हैं—'प्रणष्टदीपः' और 'दीपप्रणष्ट'। प्राकृत व्याकरण के अनुसार पूर्वापरनिपात की व्यवस्था होने के कारण पहला रूप निष्पन्न होता है और 'आहिताग्न्यादे' इस सूत्र से दूसरा रूप। (२१२)

६।३ अतेउरवरगओ

यहाँ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'वर' शब्द का पूर्वनिपात किया गया है। संस्कृत में इसका रूप 'वरान्तपुरगत' होगा। (३०६)

१२।४२ जन्नसिट्ठं

टीकाकार ने इसका संस्कृत रूप 'श्रेष्ठयज्ञ' दिया है। (३७२)

१३।१३ चित्तधणप्पभूय

यह प्राकृत प्रयोग है। संस्कृत के अनुसार 'पभूय' का प्रागनिपात करने पर इसका रूप 'प्रभूतचित्रधन' होगा। (३८६)

१४।१० पज्जलणाहिएणं

संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—'प्रज्वलनाधिकेन' और 'अधिकप्रज्वलनेन'। (३९९)

१४।४१ संताणछिन्ना

इसका संस्कृत रूप 'छिन्नसन्ताना' होगा। (४०६)

१४।४१ परिग्गहारम्भनियत्तदोसा

प्राकृत के अनुसार 'दोस' शब्द का पूर्वनिपात किया गया है। इसका संस्कृत रूप 'परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता' होगा। (४०६)

१४।५२ भावणभाविया

इसके संस्कृत रूपान्तर दो होंगे—

भावनाभाविता अथवा भावितभावना। (४१२)

१५।१ नियाणछिन्ने

इसके संस्कृत रूपान्तर दो होंगे—

निदानछिन्न अथवा छिन्ननिदान.। (४१४)

१६।सूत्र १ संयमबहुले

इसके संस्कृत रूपान्तर दो होंगे—

संयमबहुल. अथवा बहुलसंयमः। (४२३)

२२।५ लक्खणस्सरसंजुओ

प्राकृत के अनुसार 'सर' का पूर्वनिपात होकर इसका संस्कृत रूप 'स्वरलक्षणसंयुत·' होगा। (४८६)

२६।२३ गोच्छगलइयंगुलिओ

यहाँ प्राकृत के अनुसार 'अंगुलि' का पूर्वनिपात किया गया है। इसका संस्कृत रूपान्तर 'अंगुलिलातगोच्छक' होगा। (५४०)

२६।सूत्र४३ सत्तसमइसमत्ते

'समत्त' का पूर्वनिपात होने पर इसका संस्कृत रूप 'समाप्तसत्वसमिति' होगा। (५६०)

२६।सूत्र५४ मणगुत्ते

'गुत्त' का पूर्वनिपात होने पर इसका इसका संस्कृत रूप 'गुप्तमना' होगा। (५६१)

३०।२५ अट्ठविहगोयरग्ग

'अग्ग' का पूर्वनिपात होने पर इसका सस्कृत रूप 'अष्टविधाग्रगोचर.' होगा। (६०७)

३४।४ जीमूयनिद्धसकासा

प्राकृत के अनुसार 'निद्ध' का पूर्वनिपात किया गया है। इसका संस्कृत रूप 'स्निग्धजीमूतसंकाशा' होगा। (६५२)

३५।१७ जिब्भादन्ते

'दंत' का पूर्वनिपात होने पर इसका संस्कृत रूप 'दान्तजिह्व' होगा। (६६८)

५–प्रत्यय

१।४;६।११ सव्वसो

आर्ष प्रयोग के कारण यहाँ 'तस्' प्रत्यय के स्थान मे 'शस्' प्रत्यय हुआ है। (४५)

१।१६ दम्मंतो

आर्ष प्रयोग के कारण यहाँ 'दमितो' (सं० दमित·) के स्थान में 'दम्मंतो' हुआ है। (५३)

१।३६ सासं

प्राकृत व्याकरण के अनुसार यह 'शास्यमानं' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (६२)

३।१८ जसोबले

यश और बल को यशस्वी और बली से अभिन्न मानकर मत्वर्थीय प्रत्यय का लोप किया गया है। (१८८)

५।३२ आघायाय

यह 'तृन्' प्रत्यय के अर्थ में आर्ष प्रयोग है। (२५४)

७।३० अबालं

यह प्रयोग 'अबालत्तं' के स्थान पर हुआ है। निर्देश्य का भाव-प्रधान कथन होने के कारण यहाँ अबालत्वं का ग्रहण करना चाहिए। (२८५)

९।३५ बज्झओ

यहाँ तृतीया के अर्थ में 'तस्' प्रत्यय हुआ है। (३१४)

९।४९ विज्जा

यह त्वा प्रत्यय का रूप है। (३१७)

१०।२८ सारइयं

सारयं के स्थान पर यह प्रयोग हुआ है। (३३८,३३९)

२०।४३ लप्पमाणे

प्राकृत व्याकरण के कारण 'लपन्' के स्थान पर यह प्रयोग हुआ है। (४७८)

२४।१९ अणुपुव्वसो

तृतीया विभक्ति के अर्थ मे यहाँ 'शस्' प्रत्यय का प्रयोग है। (५१८)

२६।३३ अणइक्कमणा

यह 'अणइक्कमणं' के स्थान पर प्रयुक्त है (५४३)

३४।२३ इस श्लोक में 'ईर्ष्या' आदि शब्दों मे 'मतु' प्रत्यय का लोप माना गया है। (६५६)

६—लिङ्ग

१।६ संसग्गि

यहाँ पुल्लिङ्ग 'संसग्ग' के स्थान में स्त्रीलिङ्ग 'संसग्गि' है। (४७)

३।१७ कामखधाणि

यहाँ स्कंध शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग हुआ है। (१८८)

५।१२ सुया···ठाणा

यहाँ नपुंसकलिङ्ग के स्थान पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग हुआ है। (२४६,२४७)

५।२६

इस श्लोक में सर्वत्र पुल्लिङ्ग के स्थान में नपुंसकलिङ्ग का निर्देश हुआ है। (२५२)

६।३६

इस श्लोक में क्रोध आदि शब्दों में पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिङ्ग का निर्देश किया गया है। (३१४)

१३।१४ भोगाइ इमाइ

यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिंग का निर्देश है। (३८६)

१६।१ ज विवित्तमणाइन्नं रहियं

यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिंग माना गया है। (४२८)

१८।१४ दाराणि

यहाँ पुल्लिंग के स्थान में नपुंसकलिङ्ग है। (४४१)

१८।२३ किरियं अकिरियं

यहाँ स्त्रीलिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग है।

१८।२३ विणयं

यहाँ पुल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग है।

१८।३४ कामाइं

यहाँ पुल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग है। (४४८)

२३।११ इमा वा

यहाँ पुल्लिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग है। (४६६)

२४।११ तिन्नि

यहाँ स्त्रीलिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग है। (५१६)

२५।२१ रागद्दोसभयाईयं

यहाँ पुल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग है। (५२७)

२६।२६ आरभटा

इस श्लोक में आए हुए 'आरभट' आदि शब्दों में रूढ़ि से स्त्रीलिंग किया गया है। (५४१)

२८।२८ सुदिट्ठपरमत्थसेवणा, वावन्नकुदंसणवज्जणा, सम्मत्तसद्दहणा

यहाँ नपुंसकलिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग का प्रयोग है। (५६६)

२६।सू०७२ तिन्नि

यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिंग है। (५६५)

३०।२७ ठाणा वीरासणाईया

यहाँ नपुंसकलिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग है। (६०७)

३०।३६ छट्ठो सो परिकित्तिओ

टीकाकार ने इन तीनों शब्दों को नपुंसकलिंग मान कर व्याख्या की है और इनको 'तप' का विशेषण माना है। (६१०) हमने इनको मूल रूप में पुल्लिंग मानकर 'व्युत्सर्ग' के विशेषण माने हैं।

३२।२० यहाँ नपुंसक के स्थान पर सर्वत्र पुल्लिंग का प्रयोग है। (६२८)

३५।१२ यहाँ नपुंसक के स्थान पर सर्वत्र पुल्लिंग का प्रयोग है। (६६६)

३६।८ यहाँ नपुंसक के स्थान पर सर्वत्र पुल्लिंग का प्रयोग है। (६७३)

७—क्रिया और अर्द्धक्रिया

२।६,२२ विहन्नई

यहाँ कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृवाच्य का प्रयोग हुआ है। (८८,११०)

२।११ लब्भामि

यहाँ द्वित्व अलाक्षणिक है।

२।१३ संचिक्ख

यह 'स्था' धातु के 'स्यादि' के प्रथमपुरुष का एकवचन है—संतिष्ठेत्। परन्तु 'अचां सन्धिलोपौ बहुलम्' सूत्र से 'एकार' का लोप करने पर 'संचिक्ख' रूप बना है। (१२०)

२।४१ उइज्जन्ति

यहाँ भविष्यत्काल का व्यत्यय हुआ है। इसका रूप होगा 'उदेष्यन्ति'। (१२७)

२।४५ अत्थि

यह विभक्ति-प्रतिरूपक निपात है। इसका बहुवचनपरक अर्थ है—'हैं'। (१३२)

२।४५ अभू-भविस्सई

यहाँ बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग हुआ है। (१३२)

३।३ गच्छई

शान्त्याचार्य (१८२) ने इसे एकवचन और नेमिचन्द्र[1] ने बहुवचन माना है।

३।६ परिमस्सई

यहाँ बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग है।

१–सुखबोधा, पत्र ६७।

४।१ गहिन्ति
सौत्रिक नियमों के कारण यह भविष्यत् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (गमिष्यन्ति, ग्रहीष्यन्ति वा)। (१९४)

६।४ छिद
यहाँ 'यादादि' के स्थान में 'तुदादि' है। (०)

७।२२ जिच्चं
यह 'जीयेत' के स्थान में सौत्रिक प्रयोग है। (२८२)

७।२२ संविदे
यहाँ 'संवित्ते' के स्थान पर 'संविदे' प्रयोग है। (२८२)

९।१८ गच्छसि
यह 'गच्छ' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। (३११)

१२।५ अब्बवी
यहाँ बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग है। (३५८)

१२।१७ लहित्थ
यह सौत्रिक प्रयोग है। इसका संस्कृत रूप होगा 'लप्स्यध्वे'। (३६३)

१२।२५ आहु
यहाँ एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग है। (३६६)

१२।४० चरे
यहाँ बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग है। (३७१)

१२।४४ होमं हुणामी
चूर्णिकारने 'हुणामी' को उत्तमपुरुष की क्रिया माना है।[1] बृहद् वृत्तिकार ने इसे प्रथम पुरुष की क्रिया माना है और अग्नि को गम्य मानकर 'होम' को साधन माना है। (३७३)

१६।७६ बित
यह ब्रूते के स्थान पर आर्ष-प्रयोग है। (४६२)

२०।१५ भवइ
यहाँ उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष है। (४७४)

२५।३८ मा भमिहिसि
यहाँ 'घादि' के अर्थ में भविष्यत् का प्रयोग है। (५३०)

३६।५४ सिज्झई
यहाँ बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग हुआ है। (६८४)

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३१२।

८—आर्ष-प्रयोग

१।२७ पेहाए

यहाँ 'ए' अलाक्षणिक है। (५८)

२।२० सुसाणे

यह 'श्मशान' के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है।

३।२ विस्संभिया

यहाँ बिन्दु अलाक्षणिक है। (१८१)

४।८ छन्दं

यहाँ बिन्दु अलाक्षणिक है।

५।२१ परियागयं

यह आर्ष-प्रयोग है। यहाँ एक 'यकार' का लोप किया गया है। (२५०)

६।४ सपेहाए

इसके संस्कृत रूप दो होंगे—(१) सप्रेक्षया और (२) स्वप्रेक्षया। पहले रूप के अनुसार बिन्दु का लोप है। (२६४)

७।६ आगयाएसे

प्राकृत नियमानुसार यहाँ 'आगए' की सप्तमी विभक्ति का लोप कर 'आएस' के साथ संधि की गई है। (२७५)

६।५८ लोगुत्तमुत्तमं—यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

८।३ हियनिस्सेसाए

मूल शब्द 'निस्सेयसाए' है। यहाँ 'य' वर्ण का लोप हुआ है। (२६४)

१२।७ आसा—यहाँ तृतीया के 'एकार' का लोप हुआ है।

१२।७ इहमागओ सि

यहाँ 'मकार' को आगमिक प्रयोग माना है। (३५६)

१३।५ इस श्लोक में प्रयुक्त 'अन्नमन्न' शब्द का 'नकार' अलाक्षणिक है। (३८३)

१३।७ अन्नमन्नेण

यहाँ 'मकार' अलाक्षणिक है।

१३।२८ वित्ता

यहाँ आकार अलाक्षणिक है। (३६०)

१७।२० रूवंधरे

यहाँ 'व' में बिन्दु का निर्देश प्राकृत के कारण हुआ है। (४३६)

१८।११ पत्थिवा

यहाँ 'वा' में आकार अलाक्षणिक है। (४४०)

१८।१६ हुट्ठतुट्ठमलंकिया
यहाँ बहुवचन के स्थान में मकार अलाक्षणिक है।

१८।३० सव्वत्था
यहाँ 'त्था' में आकार अलाक्षणिक है। (४४६)

१६।२७ दंतसोहणमाइस्स
यहाँ 'मकार' अलाक्षणिक है। (४५६)

१६।६६ फरसुमाईहिं
१६।६७ मुट्ठिमाईहिं
२०।५२ चरित्तमायार
} यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२१।२३ अणुत्तरेनाणधरे
यहाँ 'अणुत्तरे' में एकार अलाक्षणिक है। (४८७)

२३।२५ धम्म
यहाँ बिन्दु अलाक्षणिक है। (५०२)

२३।८४ सासयवासं
यहाँ 'सासयं' में बिन्दु अलाक्षणिक है। (५११)

२५।५ भिक्खमट्ठा
यहाँ मकार अलाक्षणिक है तथा प्राकृत के कारण 'ट्ठा' को दीर्घ और बिन्दु का लोप हुआ है। (५२३)

२६।सू०२३ दीहमद्धं
यहाँ मकार अलाक्षणिक है। (५८५)

३०।२५ भिक्खायरियमाहिया
यहाँ मकार अलाक्षणिक है और 'भिक्खायरिया' में विभक्ति का लोप है। (६०७)

३०।३३ आयरियमाइयम्मि
यहाँ मकार अलाक्षणिक है। (६०६)

३३।६ चक्खुमचक्खु
यहाँ मकार अलाक्षणिक है। (६४२)

९-विशेष-विमर्श

१।४ मुहरी
यहाँ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'मुखर' के स्थान पर 'मुहरी' का प्रयोग है। (४५)

२।१० समरेव

यहाँ 'रकार' अलाक्षणिक है। वास्तव में यहाँ 'सम.एव' चाहिए था। प्रतीत होता है कि लिपिकर्त्ता के दोष से 'ए' के स्थान पर 'र' लिख दिया गया हो।

२।३६,१५।१६ अणुक्कसाई

इसके संस्कृत रूपान्तर दो बनते है—(१) 'अनुत्कशायी' (२) 'अनुकषायी'। 'क' का द्वित्व प्रयोग प्राकृत के अनुसार मानने पर इसका रूप 'अणुक्कसाई' होता है। (१२४)

२।४० से

मगध देश के अनुसार इसका अर्थ 'अथ' होता था। (१२६)

३।७ पहाणाए

'पहाणीए' के स्थान में यह आर्ष-प्रयोग है।

३।१३ कम्मुणो

यह 'कम्मस्स' के स्थान पर अर्द्धमागधी का प्रयोग है।

३।१३ पाढवं

यह संस्कृत पार्थिव के इकार का लोप किया गया है।

३।१४ विसालिसेहिं

यह मागधदेशीय भाषा का प्रयोग है। (१८७)

३।१७ } दासपोरुसं
६।५ } 'पोरुसेय' के स्थान पर 'पोरुस' का प्रयोग सौत्रिक है। (१८८)

५।१०;८।१० कायसा

यह सौत्रिक प्रयोग है। (२४६, २६४)

५।२० गारत्था

सौत्रिक प्रयोग के कारण यहाँ आदि के 'अ' का लोप हुआ है। (२४६)

५।२१ नगिणिणं जडी

ये प्राचीन प्रयोग हैं। इनको उपचार से भाववाची 'नाग्न्य' और 'जटीत्व' मानकर अर्थ किया गया है। (२५०)

६।६ अज्झत्थं

यहाँ मूल शब्द 'अज्झत्तत्थं' (सं० अध्यात्मस्थं) है। 'तकार' का लोप करने पर अज्झत्थं रूप निष्पन्न हुआ है।

६।५५ बम्भूहिं

यह आर्ष-प्रयाग है। (३१८)

१०।१ पंडुयए
यह आर्ष-प्रयोग है। इसका संस्कृत रूप है 'पाण्डुरकम्'। (३३३)

१०।१६ मिलेक्खुया
यह 'मिलिच्छा' के स्थान पर अर्द्धमागधी का प्रयोग है।

१०।३१ देसिय
यह प्रयोग 'देसय' (सं० देशकः) के स्थान पर हुआ है। (३४०)

१२।६ कयरे
यहाँ 'एकार' प्राकृत लक्षण से हुआ है। (३५८)

१२।१० जायणजीविणु त्ति
यहाँ 'जीविणु' के 'वि' में इकार का प्रयोग आर्ष है। (३६०)

१२।२४ वेयावडियट्ठयाए
यहाँ 'अट्ठयाए' में 'या' का प्रयोग स्वार्थ में हुआ है। (३६५)

१७।२० विसमेव
यहाँ 'एव' का प्रयोग 'इव' के अर्थ में हुआ है।

१८।३२ ताई
यहाँ 'इ' का प्रयोग छन्दपूर्ति के लिए हुआ है और 'ता' को सौत्रिक मान इसको 'तत्' अर्थवाची माना है। (४४६)

१८।३८ 'भारहं'
यहाँ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'त' का 'ह' हुआ है। (४४८)

१८।५० अद्दाय
यह आर्ष-प्रयोग है।

१९।६४ उल्लिओ
यहाँ उल्लिहिओ (सं० उल्लिखित) के स्थान पर आर्ष-प्रयोग है। (४६०)

१९।६८ महं
'महतीं' के स्थान पर ऐसा प्रयोग हुआ है। (४६६)

२०।४८ दुरप्पा
यह दुरप्पया (सं० दुरात्मता) के स्थान पर आर्ष-प्रयोग है। (४७९)

२२।१२ गगणं फुसे
यह प्रयोग 'गगणं फुसा' के स्थान पर हुआ है।

२२।१८,१९ जिय
यह प्रयोग जीव के अर्थ में हुआ है। ह्रस्वीकरण छन्द की दृष्टि से किया गया है।

२४।१५ जल्लियं
यह 'जल्ल' के स्थान पर आर्ष-प्रयोग है। (५१७)

२५।१६ वेयसां
'वेयाण' के स्थान पर यह मागधी प्रयोग है।

२६।३६,४० देसियं
यहाँ देवसियं शब्द के वकार का लोप होने पर 'देसिय' शब्द निष्पन्न हुआ है।

२९।सू० ३३ अकरणयाए
यह अकरणेन के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है। (५८७)

२९।सू० ४९ अज्जवयाए
यह आर्जवेन के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है। (५९०)

३०।२८ सयणासणसेवणया
यह सयणासनसेवन के स्थान पर आर्ष-प्रयोग है।

३०।३१ जे
यह यत् के स्थान में आर्ष-प्रयोग है। (६०६)

३०।३२ आसणदायणं
यह आसनदान के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है। (६०६)

३२।२६ अतालिसे
यह मागधदेशीय शब्द है। (६३१)

३२।१०२ वइस्से
यह द्वेष्य के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है। (६३५)

३६।१७१ खहयरा
यह खचर के अर्थ में सौत्रिक प्रयोग है। (६६६)

३६।१८० सणप्पया
यह सनरवा के अर्थ में सौत्रिक प्रयोग है। (६६६)

३६।२०४ वाणमन्तर
यह व्यन्तर के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है। (७०१)

प्रकरण : दसवाँ

परिभाषा-पद

आगम-साहित्य में वस्तु-बोध कराने की पद्धतियाँ दो हैं—वर्णनात्मक और प्रकारात्मक। तीसरी पद्धति है—परिभाषात्मक। किन्तु यह क्वचित्-क्वचित् ही मिलती है। उत्तराध्ययन में तीनों पद्धतियाँ प्राप्त है। प्रथम दो मुख्य पद्धतियाँ बहु-व्याप्त हैं, इसलिए उनका पृथक् निर्देश आवश्यक नहीं लगता। यहाँ हम केवल परिभाषात्मक पद्धति का निर्देश करना चाहेंगे। वह निर्देश-संग्रह स्वयं एक परिभाषा-पद बन जायगा। उसका अध्ययन हमारे अनेक शास्त्रीय अध्ययन में आलोक भरता है, इसलिए उस पद का संकलन यहाँ उपयोगी होगा।

१. विनीत (१।२;११।१०-१३)

आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसपन्ने से 'विणीए त्ति' वुच्चई ॥१।२॥

'जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इगित और आकार को जानता है, वह विनीत है।'

अह पन्नरसहि ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले ॥११।१०॥
अप्पं चाऽहिक्खिवई पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई सुयं लद्धुं न मज्जई ॥११।१२॥
न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई ॥११।१२॥
कलहडमरवज्जए बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई ॥११।१३॥

'जो नम्र-व्यवहार करता है, जो चपल और मायावी नहीं होता, जो कुतूहल नही करता, जो दूसरों का तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध को टिका कर नहीं रखता, जो मित्र-भाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है, जो श्रुत प्राप्त कर मद नही करता, जो स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार नहीं करता, जो मित्रों पर क्रोध नहीं करता, जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त में प्रशसा करता है, जो कलह और हाथापाई नहीं करता, जो कुलीन और लज्जालु होता है और जो प्रतिसंलीन होता है, वह विनीत है।'

२. अविनीत (१।३;११।६-९)

आणाऽनिद्देसकरे गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे 'अविणीए त्ति' वुच्चई ॥१।३॥

'जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, जो गुरु की शुश्रूषा नहीं करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और जो तथ्य को नही जानता, वह अविनीत है।'

अह चउदसहिं ठाणेहि वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ ॥११।६॥
अभिक्खणं कोही हवइ पबन्ध च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणे वमइ सुयं लद्धूण मज्जई ॥११।७॥
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं ।११।८॥
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चई ॥११।९॥

'जो बार-बार क्रोध करता है, जो क्रोध को टिका कर रखता है, जो मित्र-भाव रखने वाले को भी ठुकराता है, जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है, जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है, जो मित्रो पर कुपित होता है, जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त मे बुराई करता है, जो असबद्ध-भाषी है, जो द्रोही है, जो अभिमानी है, जो सरस आहार आदि में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है, जो असविभागी है और जो अप्रीतिकर है, वह अविनीत है।'

३. शिक्षाशील (११।४,५)

अह अट्ठहिं ठाणेहि सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ॥११।४॥
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥११।५॥

'जो हास्य नहीं करता, जो दान्त है, जो मर्म का प्रकाशन नही करता, जो चरित्र से हीन नहीं है, जिसका चरित्र कलुषित नहीं है, जो अति लोलुप नहीं है, जो क्रोध नहीं करता, जो सत्य में रत है, वह शिक्षाशील कहा जाता है।'

४. भिक्षु

देखिए—पन्द्रहवाँ अध्ययन ।

५. पाप-श्रमण

देखिए—सत्रहवाँ अध्ययन ।

६ ब्राह्मण

देखिए—२५।१९-२७ ।

७. द्रव्य (२८।६)

गुणाणमासओ दव्वं—'जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है ।'

८. गुण (२८।६)

एगदव्वसिया गुणा—'जो किसी एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण हैं ।'

९. पर्याय (२८।६,१३)

लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥२८।६॥

'जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहते हैं, वे पर्याय हैं ।'

एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं ॥२८।१३॥

'एकत्व, पृथकत्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग—ये पर्याय के लक्षण हैं ।'

१०. धर्मास्तिकाय (२८।९)

गइलक्खणो उ धम्मो—'धर्म का लक्षण है गति ।'

११. अधर्मास्तिकाय (२८।९)

अहम्मो ठाणलक्खणो—'अधर्म का लक्षण है स्थिति ।'

१२. आकाशास्तिकाय (२८।९)

भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ।

'आकाश का लक्षण है अवकाश । वह सब द्रव्यों का भाजन है ।'

१३. काल (२८।१०)

वत्तणालक्खणो कालो—'काल का लक्षण है वर्तना ।'

१४. जीव (२८।१०,११)

जीवो उवओगलक्खणो—'जीव का लक्षण है उपयोग ।'

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥२८।११॥

'ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप, वीर्य और उपभोग—ये जीव के लक्षण हैं।'

१५. पुद्गल (२८।१२)

सद्दन्धयारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

'शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।'

१६. सम्यक्त्व (२८।१५)

तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥

'इन (जीव, अजीव आदि नौ) तथ्य-भावों के सद्भाव (वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व होता है। उस अन्तःकरण की श्रद्धा को ही भगवान् ने सम्यक्त्व कहा है।'

१७. निसर्ग-रुचि (२८।१७,१८)

भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
सहसम्मुइयासवसंवरो य रोएइ उ निसग्गो ॥२८।१७॥

'जो परोपदेश के बिना केवल अपनी आत्मा से उपजे हुए भूतार्थ (यथार्थ ज्ञान) से जीव, अजीव, पुण्य, पाप को जानता है और जो आश्रव और संवर पर श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-रुचि है।'

जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव नऽन्नह त्ति य निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥२८।१८॥

'जो जिनेन्द्र द्वारा दृष्ट तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थों पर स्वयं ही—'यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है'—ऐसी श्रद्धा रखता है, उसे निसर्ग-रुचि वाला जानना चाहिए।'

१८. उपदेश-रुचि (२८।१९)

एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥

'जो दूसरों—छद्मस्थ या जिन—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन भावों पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेश रुचि-वाला जानना चाहिए।'

१९. आज्ञा-रुचि (२८।२०)

रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम॥

'जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, वह आज्ञा-रुचि है।'

२०. सूत्र-रुचि (२८।२१)

जो सुत्तमहिज्जन्तो सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥

'जो अङ्ग-प्रविष्ट या अङ्ग-बाह्य सूत्रों को पढता हुआ सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्र-रुचि है।'

२१. बीज-रुचि (२८।२२)

एगेण अणेगाइं पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं।
उदए व्व तेल्लबिन्दू सो बीयरुइ त्ति नायव्वो॥

'पानी में डाले हुए तेल की बूँद की तरह जो सम्यक्त्व (रुचि) एक पद (तत्त्व) से अनेक पदों में फैलता है, उसे बीज-रुचि जानना चाहिए।'

२२. अभिगम-रुचि (२८।२३)

सो होइ अभिगमरुई सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य॥

'जिसे ग्यारह अङ्ग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुत-ज्ञान अर्थ-सहित प्राप्त हैं, वह अभिगम-रुचि है।'

२३. विस्तार-रुचि (२८।२४)

दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहि य वित्थाररुइ त्ति नायव्वो॥

'जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नय-विधियों से उपलब्ध हैं, वह विस्तार-रुचि है।'

२४. क्रिया-रुचि (२८।२५)

दंसणनाणचरित्ते तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम॥

'दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसकी वास्तविक रुचि है, वह क्रिया-रुचि है।'

२५. संक्षेप-रुचि (२८।२६)

अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥

'जो जिन-प्रवचन में विशारद नहीं है और अन्यान्य प्रवचनों का अभिज्ञ भी नहीं है, किन्तु जिसे कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण स्वल्प ज्ञान मात्र से जो तत्त्व-श्रद्धा प्राप्त होती है, उसे संक्षेप-रुचि जानना चाहिए ।'

२६. धर्म-रुचि (२८।२७)

जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥

'जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रद्धा रखता है, उसे धर्म रुचि जानना चाहिए ।'

२७. चारित्र (२८।३३)

चयरित्तकरं चारित्तं ।

'जो कर्म संचय को रिक्त करता है, उसे चारित्र कहते हैं ।'

२८. द्रव्य-अवमौदर्य (३०।१५)

जो जस्स उ आहारो तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहन्नेणेगसित्थाई एवं दव्वेण ऊ भवे ॥

'जिसका जितना आहार है, उससे कम खाता है, कम से कम एक सिक्थ (धान्य कण) खाता है और उत्कृष्टत एक कवल कम खाता है, वह द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है ।'

२९. क्षेत्र-अवमौदर्य (३०।१६-१८)

गामे नगरे तह रायहाणि निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कब्बडदोणमुह पट्टणमडम्बसंबाहे ॥३०।१६॥
आसमपए विहारे सन्निवेसे समायघोसे य ।
थलिसेणाखन्धारे सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥३०।१७॥
वाडेसु व रच्छासु व घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥३०।१८॥

'ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेडा, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, संबाध, आश्रम-पद, विहार, सन्निवेस, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट, पाडा, गलियाँ, घर—इनमें अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता।'

३०. काल-अवमौदर्य (३०।२०,२१)

दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वो ॥३०।२०॥
अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ घासमेसन्तो ।
चउभागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे ॥३०।२१॥

'दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रह-काल हो उसमें भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है। अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे (इस प्रकार) काल से अवमौदर्य तप होता है।'

३१. भाव-अवमौदर्य (३०।२२,२३)

इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि ।
अन्नयरवयत्थो वा अन्नयरेणं व वत्थेण ॥३०।२२॥
अन्नेण विसेसेण वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ ।
एव चरमाणो खलु भावोमाणं मुणेयव्वो ॥३०।२३॥

'स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले—अमुक विशेष प्रकार की दशा, वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है।'

३२. पर्यवचरक (३०।२४)

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहि ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

'द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय (भाव) कहे गए हैं, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है।'

३३. भिक्षा-चर्या (३०।२५)

अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया ॥

'आठ प्रकार के गोचराग्र तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षा-चर्या कहा जाता है।'

३४. रस-विवर्जन (३०।२६)

खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयण।
परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं ॥

'दूध, दही, घृत, आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है।'

३५. काय-क्लेश (३०।२७)

ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं ॥

'आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे काय-क्लेश कहा जाता है।'

३६. विविक्त-शयनासन (३०।२८)

एगन्तमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं ॥

'एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त शयनासन (संलीनता) तप है।'

३७. प्रायश्चित्त ३०।३१

आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं ॥

'आलोचनार्ह आदि जो दस प्रकार के प्रायश्चित्त हैं, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।'

३८. विनय (३०।३२)

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥

'अभ्युत्थान (खड़े होना), हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।'

३९. वैयावृत्त्य (३०।३३)

आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवण जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं॥

'आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्त्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्त्य कहा जाता है।'

४०. व्युत्सर्ग (३०।३६)

सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

'सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।'

४१ लोक (३६।२)

जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।

'जो जीव और अजीवमय है, वह लोक है।'

४२. अलोक (३६।२)

अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए।

'जो अजीव आकाशमय है, वह अलोक है।'

४३. कन्दर्पी भावना (३६।२६३)

कन्दप्पकोक्कुइयाइं तह सीलसहावहासविगहाहिं।
विम्हावेन्तो य परं कन्दप्पं भावणं कुणइ॥

'काम कथा करना, हँसी-मजाक करना, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करना—कन्दर्पी भावना है।'

४४. आभियोगी भावना (३६।२६४)

मन्ताजोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजन्ति।
सायरसइड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ॥

'सुख, रस और समृद्धि के लिए मंत्र, योग और भूति-कर्म का प्रयोग करना आभियोगी भावना है।'

४५. किल्विषिकी भावना (३६।२६५)

नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥

'ज्ञान, केवलज्ञानी, धर्माचार्य, संघ और साधुओं की निन्दा करना, माया करना—किल्विषिकी भावना है।'

४६. आसुरी भावना (३६।२६६)

अणुबद्धरोसपसरो तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवि।
एएहि कारणेहिं आसुरियं भावणं कुणइ ॥

'क्रोध को बढ़ावा देना, निमित्त बताना—आसुरी भावना है।'

४७. मोही भावना (३६।२६७)

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायारभण्डसेवा जम्मणमरणाणि बन्धन्ति ।।

'शास्त्र या विष-भक्षण के द्वारा, अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूद कर आत्म-हत्या करना, मर्यादा से अधिक उपकरण रखना—मोही भावना है।'

प्रकरण : ग्यारहवाँ

सूक्त और शिक्षा-पद

सूक्त :

विणय मेसेज्जा । १।७

विनय की खोज करो।

अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए । १।८

जो अर्थवान् है, उसे सीखो। निरर्थक को छोड़ दो।

अणुसासिओ न कुप्पेज्जा । १।९

अनुशासन मिलने पर क्रोध न करो।

खंतिं सेविज्ज पण्डिए । १।९

क्षमाशील बनो।

खुड्डेहिं सह संसग्गि हासं कीडं च वज्जए । १।९

ओछे व्यक्तियों का संसर्ग मत करो, हँसी-मखौल मत करो।

मा य चण्डालियं कासी । १।१०

नीच कर्म मत करो।

बहुयं मा य आलवे । १।१०

बहुत मत बोलो।

कडं कडेत्ति भासेज्जा अकडं नो कडे त्ति य । १।११

किया हो तो ना मत करो और न किया हो तो हाँ मत करो।

ना पुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए । १।१४

बिना पूछे मत बोलो और पूछने पर झूठ मत बोलो।

कोहं असच्चं कुवेज्जा । १।१४

क्रोध को विफल करो।

अप्पा चेव दमेयव्वो । १।१५

आत्मा का दमन करो।

अप्पा हु खलु दुद्दमो । १।१५

आत्मा बहुत दुर्दम है।

अप्पा दन्तो सुही होइ । १।१५

सुख उसे मिलता है, जो आत्मा को जीत लेता है।

मायं च वज्जए सया । १।२४

कपट मत करो ।

न सिया तोत्तगवेसए । १।४०

चाबुक की प्रतीक्षा मत करो।

अदीणमणसो चरे । २।३

मानसिक दासता से मुक्त होकर चलो ।

मणं पि न पओसए । २।११

मन में भी द्वेष मत लाओ ।

नाणी नो परिदेवए । २।१३

ज्ञानी को विलाप नही करना चाहिए ।

न य वित्तासए पर । २।२०

दूसरो को त्रस्त मत करो ।

नाणुतप्पेज्ज संजए । २।३०

संयमी को अनुताप नही करना चाहिए ।

रसेसु नाणुगिज्झेज्जा । २।३९

रस-लोलुप मत बनो ।

सुई धम्मस्सदुल्लहा । ३।८

धर्म सुनना बहुत दुर्लभ है ।

सद्धा परमदुल्लहा । ३।९

श्रद्धा परम दुर्लभ है ।

सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई । ३।९

कुछ लोग सही मार्ग को पा कर भी भटक जाते है ।

वीरियं पुण दुल्लहं । ३।१०

क्रियान्विति सबसे दुर्लभ है ।

सोही उज्जुयभूयस्स । ३।१२

पवित्र वह है जो सरल है ।

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई । ३।१२

धर्म का वास पवित्र आत्मा में होता है ।

असंखयं जीविय मा पमायए । ४।१

जीवन का धागा टूटने पर संधता नहीं, अत प्रमाद मत करो ।

जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं । ४।१

बुढापा आने पर कोई त्राण नही देता ।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि । ४।३

किए कर्मों को भुगते बिना मुक्ति कहाँ ?

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते । ४।५

प्रमत्त मनुष्य धन से त्राण नही पाता ।

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं । ४।६

समय बडा निर्मम है और शरीर बडा निर्बल है ।

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं । ४।८

इच्छा को जीतो, स्वतंत्र बन जाओगे ।

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउ । ४।१०

तुरत ही सम्भल जाना बडा कठिन काम है ।

अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो । ४।१०

आत्मा की रक्षा करो, कभी प्रमाद मत करो ।

न मे दिट्ठे परे लोए चक्खुदिट्ठा इमा रई । ५।५

परलोक किसने देखा है, यह सुख आँखो के सामने है ।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा । ६।२

सत्य की खोज करो ।

मेत्तिं भूएसु कप्पए । ६।२

सब जीवो के साथ मैत्री रखो ।

न चित्ता तायए भासा । ६।१०

भाषा मे शरण मत ढूँढो ।

कम्मसच्चाहु पाणिणो । ७।२०

किया हुआ कर्म कभी विफल नही होता ।

जायाए घासमेसेज्जा रसगिद्धे न सिया भिक्खाए । ८।११

मुनि जीवन-निर्वाह के लिए खाए, रस-लोलुप न बने ।

समयं गोयम ! मा पमायए । १०।१

एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत कर ।

मा वन्तं पुणो वि आइए । १०।२९

वमन को फिर मत चाटो ।

महप्पसाया इसिणो हवन्ति । १२।३१

ऋषि महान् प्रसन्न-चित होते हैं ।

न हु मुणी कोवपरा हवन्ति । १२।३१

मुनि कोप नहीं किया करते ।

आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि । १३।२०
मुक्ति के लिए अभिनिष्क्रमण करो ।

कत्तारमेवं अणुजाइ कम्म । १३।२३
कर्म कर्त्ता के पीछे दौडता है ।

मा कासि कम्माइं महालयाइं । १३।२६
असद् कर्म मत करो ।

वेया अहीया न भवन्ति ताणं । १४।१२
वेद पढने पर भी त्राण नही होते ।

धणेण किं धम्मधुराहिगारे । १४।१७
धन से धर्म की गाडी कब चलती है ?

अभयदाया भवाहि य । १८।११
अभय का दान दो ।

अणिच्चे जीव लोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि । १८।११
यह संसार अनित्य है, फिर क्यो हिंसा में आसक्त होते हो ।

पडन्ति नरए घोरे जे नरा पावकारिणो । १८।२५
पाप करने वाला घोर नरक मे जाता है ।

दिव्वं च गइं गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारियं । १८।२५
धर्म करने वाला दिव्य गति मे जाता है ।

चइत्ताण इमं देहं गन्तव्वमवसस्स मे १९।१६
इस शरीर को छोड कर एक दिन निश्चित ही चले जाना है ।

निम्ममत्तं सुदुक्करं । १९।२९
ममत्व का त्याग करना सरल नहीं है ।

जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं । १९।३८
साधुत्व क्या है, लोहे के चने चबाना है ।

इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं । १९।४४
उसके लिए कुछ भी दुसाध्य नही है, जिसकी प्यास बुझ चुकी हैं ।

पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं ? १९।७६
जंगली जानवरों व पक्षियों की परिचर्या कौन करता है ?

वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं । १९।९८
धन दु:ख बढाने वाला है ।

माणुस्सं खु सुदुल्लहं । २०।११
मनुष्य जीवन बहुत मूल्यवान् है ।

अप्पणा अणाहो सन्तो कहं नाहो भविस्ससि । २०।१२

तू स्वयं अनाथ है, दूसरों का नाथ कैसे होगा ?

न तं अरी कण्ठ छेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा । २०।४८

कण्ठ छेदने वाला शत्रु वैसा अनर्थ नहीं करता, जैसा बिगडा हुआ मन करता है ।

पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा । २१।१५

मुनि प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे ।

न यावि पूयं गरह च संजए । २१।१५

मुनि पूजा और गर्हा—इन दोनो को न चाहे ।

अगुन्नए नावणए महेसी । २१।२०

महर्षि न अभिमान करे और न दीन बने ।

नेहपासा भयंकरा । २३।४३

स्नेह का बन्धन बडा भयंकर होता है ।

न त तायन्ति दुस्सील । २५।२८

दुराचारी को कोई नही बचा सकता ।

विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो । ३२।१६

मुनि के लिए एकान्तवास प्रशस्त होता है ।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं । ३२।१९

दु ख काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है ।

समलेट्‌ठुकंचणे भिक्खू । ३५।१३

भिक्षु के लिए मिट्टी का ढेला और कचन समान होते हैं ।

शिक्षा-पद :

आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ।।१।२।।

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह विनीत कहलाता है ।

आणाऽनिद्देसकरे गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई ।।१।३।।

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नही करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और तथ्य को नहीं जानता, वह अविनीत कहलाता है ।

वर मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य ॥१।१६॥

अच्छा यही है कि मैं सयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूं। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥३।१॥

इस संसार मे प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और सयम में पराक्रम।

जणेण सद्धिं होक्खामि इइ बाले पगब्भई।
कामभोगाणुराएणं केसं संपडिवज्जई ॥५।७॥

मैं लोक-समुदाय के साथ रहूँगा—ऐसा मान कर बाल मनुष्य धृष्ट बन जाता है। वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ॥६।६॥

सब दिशाओं से होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म (सुख) जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरों को इष्ट है और सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है—यह देख कर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियो के प्राणो का घात न करे।

बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे ॥६।१३॥

ऊर्ध्व-लक्षी होकर कभी भी बाह्य (विषयों) की आकांक्षा न करे। पूर्व-कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं ॥८।१७॥

जैसे लाभ होता है, वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढता है। दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड से भी पूरा नहीं हुआ।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥९।३४॥

जो पुरुष दुर्जय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, इसकी अपेक्षा वह एक अपने आपको जीतता है, यह उसकी परम विजय है।

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥९।३५॥

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सुख पाता है ।

पंचिन्दियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं ॥९।३६॥

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं । एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं ।

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए ।
तस्सा वि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचण ॥९।४०॥

जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे ।

मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥९।४४॥

जो बाल (अविवेकी) मास-मास तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करता है, फिर भी वह सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता ।

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥९।४८॥

कदाचित् सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएँ तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं ॥९।५३॥

काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं । काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई ।
माया गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं ॥९।५४॥

मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है । मान से अधम-गति होती है । माया से सुगति का विनाश होता है । लोभ से दोनों प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक भय होता है ।

लद्धूण वि उत्तमं सुइं सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०।१९॥

उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना और अधिक दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

धम्मं पि हु सद्दहन्तया दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०।२०॥

उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करने वाले दुर्लभ हैं। इस लोक में बहुत सारे लोग काम-गुणों में मूर्च्छित होते है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

अह पंचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य ॥११।३॥

मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पाँच स्थानों (हेतुओं) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती।

अह अट्ठहि ठाणेहि सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ॥११।४॥

आठ स्थानों (हेतुओं) से व्यक्ति को शिक्षा-शील कहा जाता है।

(१) जो हास्य न करे, (२) जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करे, (३) जो मर्म-प्रकाशन न करे,

नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥११।५॥

(४) जो चारित्र से हीन न हो, (५) जिसका चारित्र दोषों से कलुषित न हो, (६) जो रसों में अति लोलुप न हो, (७) जो क्रोध न करे, (८) जो सत्य मे रत हो—उसे शिक्षा-शील कहा जाता है।

अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छई ॥११।६॥

चौदह स्थानों (हेतुओं) में वर्तन करने वाला संयमी अविनीत कहा जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई ॥११।७॥

(१) जो बार-बार क्रोध करता है,
(२) जो क्रोध को टिका कर रखता है,
(३) जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है,
(४) जो श्रुत प्राप्त कर मद रखता है,

अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं ॥११।८॥

(५) जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है,
(६) जो मित्रों पर कुपित होता है,
(७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है,

पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चई ॥११।९॥

(८) जो असंबद्ध-भाषी होता है,
(९) जो द्रोही है,
(१०) जो अभिमानी है,
(११) जो सरस आहार आदि में लुब्ध है,
(१२) जो अजितेन्द्रिय है,
(१३) जो असंविभागी है और
(१४) जो अप्रीतिकर है, वह अविनीत कहलाता है ।

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले ॥११।१०॥

पन्द्रह स्थानों से सुविनीत कहलाता है—

(१) जो नम्र व्यवहार करता है,
(२) जो चपल नहीं होता,
(३) जो मायावी नहीं होता,
(४) जो कुतूहल नहीं करता,

अप्पं चाऽहिक्खिवई पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई सुयं लद्धुं न मज्जई ॥११।११॥

(५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता,
(६) जो क्रोध को टिका कर नहीं रखता,

(७) जो मित्र-भाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है,

(८) जो श्रुत प्राप्त कर मद नहीं करता,

न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई ॥११।१२॥

(९) जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नही करता,

(१०) जो मित्रो पर क्रोध नही करता,

(११) जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त में प्रशसा करता है,

कलहडमरवज्जए बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई ॥११।१३॥

(१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है,

(१३) जो कुलीन होता है,

(१४) जो लज्जावान् होता है और

(१५) जो प्रति-सलीन (इन्द्रिय और मन का सगोपन करने वाला) होता है—वह बुद्धिमान् मुनि विनीत कहलाता है।

वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥११।१४॥

जो सदा गुरुकुल मे वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान (श्रुत अध्ययन के समय तप) करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥१२।३७॥

यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नही है। जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् (अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न) है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

किं माहणा ! जोइसमारभन्ता उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ॥१२।३८॥

मुनि ने कहा—ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए तुम बाहर से (जल से) शुद्धि की क्या माँग कर रहे हो ? जिस शुद्धि की बाहर से माँग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सुदृष्ट (सम्यग् दर्शन) नही करते।

सव्वं बिलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा ॥१३।१६॥

सब गीत विलाप हैं, सब नृत्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब काम-भोग दु:खकर हैं ।

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१४।१३॥

ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दु:ख देने वाले हैं, बहुत दु:ख और थोडा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं ।

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ ॥१४।२४॥

जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नही आती । अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं ।

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ ॥१४।२५॥

जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नही आती । धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती है ।

मरिहिसि राय ! जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ १४।४०॥

राजन् ! इस मनोरम काम-भोगो को छोड कर जब कभी मरना होगा । हे नरदेव ! एक धर्म ही त्राण है । उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नहीं दे सकती ।

देवदाणवगन्धव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं ॥१६।१६॥

उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

एस धम्मे धुवे निअए सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहापरे ॥१६।१७॥

यह ब्रह्मचर्य धर्म, ध्रुव, नित्य, शाश्वत और अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट है इसका । पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे ।

सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं।
जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति किं नाम काहामि सुएण भन्ते ! ॥१७।२॥

(गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर शिष्य कहता है) मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपड़ा भी मेरे पास है, खाने-पीने को भी मिल जाता है। आयुष्मन्! जो हो रहा है, उसे मैं जान लेता हूँ। भन्ते! फिर मैं श्रुत का अध्ययन करके क्या करूँगा?

जे के इमे पव्वइए निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७।३॥

जो प्रव्रजित होकर बार-बार नींद लेता है, खा-पी कर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

आयरियउवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए।
ते चेव खिंसई बाले पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७।४॥

जिन आचार्य और उपाध्याय ने श्रुत और विनय सिखाया उन्हीं की निन्दा करता है, वह विवेक-विकल भिक्षु पाप-श्रमण कहलाता है।

बहुमाई पमुहरे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७।११॥

जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

विवादं च उदीरेइ अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७।१२॥

जो शान्त हुए विवाद को फिर से उभाड़ता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो कुतर्क से अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह में रक्त होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

दुद्धदहीविगईओ आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७।१५॥

जो दूध, दही आदि विकृतियों का बार-बार आहार करता है और तपस्या में रत नहीं रहता, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

जया सव्वं परिच्चज्ज गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं रज्जम्मि पसज्जसि ? ॥१८।१२॥

जब कि तू पराधीन है इसलिए सब कुछ छोड़ कर तुझे चले जाना है, तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है?

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥१९।१५॥

जन्म दुःख है, बुढापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करा ॥१९।२५॥

विश्व के शत्रु और मित्र—सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत ही कठिन कार्य है।

निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ॥१९।८९॥

ममत्व-रहित, अहंकार-रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला (मुनि होता है)।

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु तहा माणवमाणओ ॥ १९।९०

लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने वाला (मुनि होता है)।

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं ॥२०।३६॥

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही काम-दुधा धेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥२०।३७॥

आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥२१।१२॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान् मुनि वीतराग-उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तहेव य।
खन्तीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य ॥ २२।२६

तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शाँति और मुक्ति से बढ़ो।

एगे जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं ॥२३।३६॥

एक को जीत लेने पर पाँच जीते गए। पाँच को जीत लेने पर दस जीते गए। दसों को जीत कर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूँ।

सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो ॥२३।७३॥

शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते हैं।

जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं ॥२३।६८॥

जरा और मृत्यु के वेग मे बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी ॥२३।७१॥

जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नहीं जा पाती। किन्तु जो नौका छेद वाली नहीं होती, वह उस पार चली जाती है।

जो न सज्जइ आगन्तुं पव्वयन्तो न सोयई ।
रमए अज्जवयणंमि तं वयं बूम माहणं ॥२५।२०॥

जो आने पर आसक्त नहीं होता, जाने के समय शोक नही करता, जो आर्य-वचन मे रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

न वि मुण्डिएण समणो ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ॥२५।२९॥

केवल सिर मूड लेने से कोई श्रमण नही होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नही होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।

समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ तवेणं होइ तावसो ॥२५।३०॥

समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२५।३१॥

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है ।

उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई ॥२५।३९॥

भोगो में उपलेप होता है । अभोगी लिप्त नहीं होता । भोगी संसार में भ्रमण करता है । अभोगी उससे मुक्त हो जाता है ।

खलुंका जारिसा जोज्जा दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥२७।८॥

जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यों को धर्म-यान में जोत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर देते हैं ।

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥२८।३०॥

अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र गुण नहीं होते । अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती । अमुक्त का निर्वाण नहीं होता ।

नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥२८।३५॥

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है ।

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगन्तनिसेवणा य सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥३२।३॥

गुरु और वृद्धों (स्थविर मुनियों) की सेवा करना, अज्ञानी जनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्त वास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य रखना—यह मोक्ष का मार्ग है ।

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ॥३२।४॥

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे। जीव आदि पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाए और विविक्त (स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित) घर में रहे ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥३२।७॥

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥ ३२।८॥

जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया है। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी ॥३२।२१॥

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनकी ओर भी मन न करे—राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं, उनकी ओर भी मन न करे—द्वेष न करे।

न कामभोगा समयं उवेन्ति न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥३२।१०१॥

काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्‌विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेन्ति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा ते होन्ति परित्तसंसारी ॥३६।२६०॥

जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं तथा जिन-वचनों का भाव-पूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म-मरण वाले) हो जाते हैं।

बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिन्ति ते वराया जिणवयणं जे न जाणन्ति ॥३६।२६१॥

जो प्राणी जिन-वचनों से परिचित नहीं हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेंगे।

परिशिष्ट-१

नामानुक्रम

द

स

परिशिष्ट-२

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद (मोतीलाल बनारसीदास, देहली, सन् १९६२) — William Dwight Whitney

(गायत्री प्रकाशन, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, १९६०) — सं० श्रीराम शर्मा, आचार्य

अथर्ववेद संहिता (स्वाध्याय-मंडल, भारत मुद्रणालय, पारडी सूरत, सन् १९५७) — सं० भट्टाचार्येण श्रीपादशर्मणा दामोदरभट्टसूनुना सातवलेकर कुल जैन

अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड (देखें अथर्ववेद)

अन्तकृद्दशा (गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३२) — सं० एम० सी० मोदी

अनुत्तरोपपातिकदशा ,, ,, ,,

अभिधान चिन्तामणि कोष (जैन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, सं० २०१३) — हेमचन्द्राचार्य, वि० आचार्य विजयकस्तूर सूरि

अमितगति श्रावकाचार (मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सं० १९७९) — आचार्य अमितगति

अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज, सन् १९३३) — हेमचन्द्राचार्य सं ए० बी० ध्रुव

अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण (जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, सं० २०१७) — श्रीचन्द रामपुरिया

अष्टाङ्ग हृदय (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस) — वाग्भट

आचाराङ्ग वृत्ति (श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सं० १९९१) — शीलाङ्काचार्य

आचाराङ्ग सूत्र (श्री सिद्धचक्र साहित्य समिति, प्रचारक बम्बई, सं० १९९१)

आदि पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०००) — श्री जिनसेनाचार्य, सं० पन्नालाल जैन,

आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव

आवश्यक निर्युक्ति (आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८) — भद्रबाहु

आवश्यक भाष्य ,, ,, ,,

आवश्यक वृत्ति ,, ,, ,, — वृ० मलयगिरि

आवश्यक, वृत्ति (आगमोदय समिति) — हरिभद्र

उत्तरज्झयणाणि (भाग: १ सानुवाद) — वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी
(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६७)

उत्तरज्झयणाणि (भाग : २ टिप्पण) — वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी
(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा कलकत्ता, सन् १९६७)

उत्तराध्ययन चूर्णि (ऋषभदेव केशरीमल श्री श्वेताम्बर संस्था, इन्दौर, सं० १९८९) — जिनदास महत्तर

उत्तराध्ययन निर्युक्ति (देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था, सं० १९७२) — भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)

उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति (देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था, सं० १९७२) — वेतालवादी शान्तिसूरि

उत्तराध्ययन सूत्र (देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था, स० १९७२)

उत्तराध्ययन सूत्र (उप्पसला विश्वविद्यालय, सन् १९२२) — सं० डा० सरपेन्टियर

उदान टीका — धम्मपाल

उपदेशमाला (मास्टर उमेदचन्द रामचन्द, अहमदाबाद, सन् १९३३) — धर्मदास गणि

उपासकदशा (जैन सोसाइटी नं० १५, अहमदाबाद, सं० १९९२) — श्री अभयदेव सूरि, संशोधक पं० भगवानदास

उपासकध्ययन (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६४) — सोमदेव सूरि, सं० अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री

ऋग्वेद (स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सन् १९५७) — सं० सातवलेकर

ऋग्वेद संहिता (श्री परोपकारिणी सभा, अजमेर, सं० २०१० पञ्चमावृत्ति)

ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) (सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, बम्बई, सन् १९६३) — अनु० सं० मुनि मनोहर

ऐतरेय आरण्यक (आनन्दाश्रम, पूना, सन् १९५९) — भा० सायण

ऐतरेय उपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३) — भा० शङ्कराचार्य

ऐतरेय ब्राह्मण (अनन्तशयन सुन्दर विलास मुद्रणालय, सन् १९५२)

ओघनिर्युक्ति (आगमोदय समिति, मेसाणा, सन् १९१९) — भद्रबाहु

औपपातिक सूत्र (वृत्ति सहित)
(पं० मूरालाल कालीदास, सं० १९९४) वृ० अभयदेव सूरि
अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
अंतगडदशा (गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३२) सं० एम०सी० मोदी
करकण्डु चरिअ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) मुनि कनकामर, सं० डा० हीरालाल जैन
कल्पसूत्र (जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, सं० १९९७)
कालक कथा संग्रह
कुम्भकार जातक (जातक खं० ४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
कौटिल्य अर्थशास्त्र (बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई, सन् १९६०) कौटिल्याचार्य
खण्डहरों का वैभव (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५३) मुनि कान्तिसागर
गरुड पुराण (बंगवासी प्रेस) कृष्णद्वैपायन वेदव्यास अनु० पञ्चानन तर्करत्न
गीता (गीता प्रेस, गोरखपुर) महर्षि वेदव्यास
चारित्रभक्ति पूज्यपाद
चित्तसम्भूत जातक (जातक खं० ४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) अनु० भ० आ० कौसल्यायन
छान्दोग्य उपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३) भा० आचार्य शङ्कर
जाबालोपनिषद्
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, सं० १९७६)
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका (देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, सं० १९७६) वृ० शान्तिचन्द्र
जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान डा० हीरालाल जैन
जैन भारती (जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता)
तत्त्वसार देवसेन
तत्त्वार्थ भाष्यानुसारी टीका (देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, सन् १९२६) सिद्धसेन गणी

तत्त्वार्थ (राजवार्तिक) (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सं० २०००) — अकलङ्कदेव

तत्त्वार्थ (श्रुतसागरीय वृत्ति) ,, ,, ,, सं० २०००) — श्रुतसागर सूरि

तत्त्वार्थ सूत्र (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र) (सेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई-२, सं० १९८६) — उमास्वाति

तत्त्वानुशासन (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, प्रथम स०) — रामसेन

ताण्ड्य महाब्राह्मण

तिलोयपण्णत्ती (जैन संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९४३, १९५१) — सं० हीरालाल जैन, ए० एन० उपाध्ये, हि० अ० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री

तिलोय सार (माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९१९) — नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

तीर्थङ्कर महावीर, भाग : १,२ (काशीनाथ सराफ, बम्बई, स० २०१७) — विजयेन्द्र सूरि

तैत्तिरीय संहिता (आनन्दाश्रम, पूना)

तैत्तिरीयारण्यक (आनन्दाश्रम, पूना, सन् १९२६) — भा० सायण

थेरगाथा (बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई, सन् १९३६) — सं० एन० के० भागवत

थेरीगाथा (बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई, सन् १९३७) — सं० एन० के० भागवत

दर्शनसार (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति) — देवसेन आचार्य

दशवैकालिक चूलिका (दसवेआलियं) (जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६४) — वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी

दशवैकालिक निर्युक्ति (देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई, सन् १९१८) — नि० भद्रबाहु

दशवैकालिक वृत्ति (देवचन्द लालचन्द जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, सं० १९७४) — वृ० हरिभद्र

दशवैकालिक सूत्र (जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६४) — वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी

दशाश्रुतस्कन्ध (पन्यास श्री मणिविजयजी गणि ग्रन्थमाला, भावनगर, सं० २०११)

दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी
(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, सं० २०२०) सं० मुनि नथमल
दिव्यावदान (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् १९५९)
दीघनिकाय (महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९३६) अनु० राहुल सांकृत्यायन
देवी भागवत (मनसुखराय मोर, कलकत्ता, सन् १९६०) महर्षि वेदव्यास
देशीनाममाला (बम्बई संस्कृत सीरिज, द्वि० सं०, सन् १९३८) आचार्य हेमचन्द्र
धजविहेठ्ठ जातक (जातक, तृ० ख०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सन् १९४६) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
धम्मपद (कुशीनगर प्रकाशन, देवरिया, सन् १९५४) सं० धर्मानन्द कोसम्बी
ध्यानशतक
धर्मपरीक्षा (श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, सं० १९९८) यशोविजयगणि
नवचक्रेश्वर तंत्र
नाभिनन्दनोद्धार
निरयावलिका (श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सं० १९९०) टी० घासीलालजी महाराज
निशीथ चूर्णि, (सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५७) जिनदास महत्तर
निशीथ सूत्र, सभाष्य सचूर्णि सं० उपाध्याय अमर मुनि
(सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, सन् १९५७) मुनि श्री कन्हैयालाल "कमल"
नंदी चूर्णि (रूपचन्द्र नवलमल पाडी, सिरोही, सन् १९३१) जिनदास महत्तर
नंदी वृत्ति (आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९८०) वृ० मलयगिरि
नंदी सूत्र (सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५८) सं० सुबोध मुनि
पट्टावली समुच्चय (चारित्र-स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद) सं० मुनि दर्शनविजय
पद्म पुराण (मनसुखराय मोर, ५ क्लाईव रो, कलकत्ता, सन् १९५७) महर्षि व्यास
पद्म पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५८) रविसेणाचार्य
पाटलीपुत्र की कथा
पाणिनि व्याकरण (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई) पाणिनी
पातञ्जल योगदर्शन (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१७) महर्षि पतञ्जलि

पातञ्जल योगसूत्र भाष्य विवरण (पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगंज, सन् १९१०) — अनु० रामाप्रसाद, एम० ए०
पाली साहित्य का इतिहास — डॉ० भरतसिंह उपाध्याय
पार्श्वनाथ — सकलकीर्ति
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म — धर्मानन्द कोसम्बी
पासनाहचरिअं
पुरातत्त्व (गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, सं० १९८२) — स० रसिकलाल छोटालाल परीख
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, लखनऊ, सन् १९३३) — अमृतचन्द्र सूरि, स० अजितप्रसाद
पेतवत्थु — सं० राहुल, आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप
प्रभावक चरित (सिंघी जैन ज्ञानपीठ, सं० १९९७) — सं० मुनि जिनविजयजी
प्रभास पुराण
प्रवचनसारोद्धार (देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सं० १९७८) — नेमिचन्द्र सूरि
प्रज्ञापना सूत्र (वृत्ति सहित) (आगमोदय समिति, मेसाणा, सन् १९१८) — श्यामाचार्य, वृ० मलयगिरि
प्राचीन भारतवर्ष — त्रिभुवनदास लहरचन्द शाह
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन — गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
प्राचीन भारतीय इतिहास
प्राचीन भारतीय साहित्य (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९६१) — एम० विन्टरनिट्ज, अनु० लाजपतराय
बावेरु जातक (जातक, ख० ३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९४६) — अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
बुद्धचर्या (महाबोधि सोसायटी, सारनाथ द्वि० सं०, सन् १९५२) — राहुल सांकृत्यायन
बुद्ध चरित — अश्वघोष
बुद्धकालीन भारतीय भूगोल (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २०१८) — भरतसिंह उपाध्याय
बुद्धवचन (महाबोधि सभा, सारनाथ, बाराणसी, च० सं०) — अनु० आनन्द कौसल्यायन

बृहत्कल्प भाष्य (जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३-३७) — भद्रबाहु
बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति (जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३-३७)
बृहत्कल्प सूत्र (जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३-३७)
बृहदारण्यक उपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० ०१४) — भा० शङ्कराचार्य
बाम्बे गजेटियर
बौधायन धर्म शास्त्र (सूत्र) (Leipzig, सन् १८८४) — बौधायन सं० E. Hultzsch, Ph. D.
बौद्ध धर्म-दर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव
बौद्ध संस्कृति — राहुल सांकृत्यायन
बंगला भाषार इतिहास
ब्रह्म पुराण (मनसुखराय मोर, कलकत्ता, स० १९५४) — महर्षि वेदव्यास
ब्रह्माण्ड पुराण (मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता, सन् १९५४) — महर्षि वेदव्यास
भगवती वृत्ति (आगमोदय समिति) — अभयदेव सूरि
भगवती सूत्र (जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, स० १९८८) — अनु० बेचरदास दोसी
भद्रबाहु चरित्र
भागवत (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१८) — महर्षि वेदव्यास
भागवत महापुराण (,, ,,) — ,,
भारतवर्ष का इतिहास — भगवद्दत्त
भारतवर्ष में जाति भेद — आ० क्षितिमोहन सेन
भारतीय इतिहास
भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९४८) — डॉ० बलराम श्रीवास्तव, रतिभानुसिंह नाहर
भारतीय संस्कृति और अहिंसा — धर्मानन्द कोसम्बी, अनु० विश्वनाथ दामोदर
भिक्षुजस रसायन (तेरापन्थ आचार्य चरित्रावली खं० १, जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता) — श्रीमज्जयाचार्य

भैषज्य रत्नावली
मज्झिम निकाय (हिन्दी अनुवाद) राहुल सांकृत्यायन
(महाबोधि सभा, सारनाथ, सन् १९३३)
मत्स्य पुराण (नन्दलाल मोर, ६ क्लाइव रो, कलकत्ता-१, सन् १९५४) महर्षि वेदव्यास
मनुस्मृति (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४६) सं० नारायणराम आचार्य
मरणसमाधि प्रकीर्णक (आगमोदय समिति, बम्बई, सं० १९८३)
महाजनक जातक (जातक ख० ६ ; हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सं० २०१३) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
महापुराण (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन् १९४४) आचार्य जिनसेन
अनु० पं० पन्नालाल जैन
महाभारत (गीता प्रेस, गोरखपुर, प्र० सं०) महर्षि वेदव्यास
महाभारत मीमासा चिन्तामणि विनायक वैद्य
महावग्ग (विहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, सन् १९५६) सं० भिक्खु जगदीश कश्यप
महावंश (बम्बई विश्वविद्यालय)
महावीर जयन्ती स्मारिका (सन् १९६२, १९६३ राजस्थान जैन सभा, जयपुर) सं० पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
मातंग जातक (जातक ख० ४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
मार्कण्डेय पुराण (मनसुखराय मोर, कलकत्ता सन् १९६२) महर्षि वेदव्यास
मुण्डकोपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६) भा० शङ्कराचार्य
मूलाचार (जैन ग्रन्थमाला समिति, १९७७) बट्टकेर आचार्य
मूलाराधना (विजयोदया टीका सहित) (शोलापुर, सन् १९३५) शिवार्य, टी० अपराजित सूरि
मूलाराधना वृ० अमितगति
मूलाराधना दर्पण (शोलापुर, सन् १९६५) पं० आशाधर
मूलाराधना, विजयोदया वृत्ति अपराजित सूरि
मेघदूत टी० मल्लिनाथ

मोक्खपाहुड कुन्दकुन्दाचार्य

मोहनजोदड़ो सर जॉन मार्शल

यशस्तिलक (जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर सन् १९४६) सं० के० के० हेन्दीकी

याज्ञवल्क्य स्मृति (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पंचम संस्करण, १९४९) सं० नारायणराम आचार्य

यूआन् चुआङ्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया (मुशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, सन् १९६१) वाटर

योगशास्त्र (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९२६) आचार्य हेमचन्द्र

योगशास्त्र वृत्ति "

राजप्रश्नीय सूत्र सं० बेचरदास दोसी

रामायण (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१७) महर्षि वाल्मीकि

वसुदेवहिण्डी (आत्मानन्द सभा, भावनगर १९३०) सङ्घदास गणि वाचक

वसुनन्दी श्रावकाचार (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, सन् १९५२) आचार्य वसुनन्दि

वायु पुराण (मनसुखराय मोर, कलकत्ता, सन् १९५९) महर्षि वेद व्यास

वाशिष्ठ धर्मशास्त्र

वास्तुसार

विष्णु पुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १९९३) अनु० मुनिलाल गुप्त

विनय पिटक (महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९३५) अनु० राहुल सांस्कृत्यायन

विपाक सूत्र (डा० पी० एल० वैद्य, पूना, सन् १९३५) सं० डा० पी० ल० वैद्य

विविध तीर्थकल्प (सिंघी जैन ज्ञानपीठ, सं० १९९१) जिनप्रभ सूरि

विशुद्धि मार्ग (महाबोधी सभा, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९५६) बुद्धघोष, अनु० भिक्षु धर्मरक्षित

विशेषावश्यक भाष्य (दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, वी० स० २४८९) जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण

वैदिक कोष

वैदिक साहित्य का विकास

वैदिक संस्कृति का विकास

वैशेषिक दर्शन (पुस्तक भण्डार, बरेली, द्वि० १९५४) दर्शनानन्द सरस्वती

व्यवहार चूलिका सं० मुनि माणक
(वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर सं० १९९४)
व्यवहार भाष्य संशोधक मुनि माणक
(वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर, सं० १९९४)
शतपथ ब्राह्मण (चौखम्बा सम्कृत सीरिज, वाराणसी) भा० सायण
श्वेताश्वतर उपनिषद् भा० शङ्कराचार्य
गीता प्रेस, गोरखपुर २००९)
शान्त सुधारस (भगवानदास मनसुखदास महेता, सन् १९३६) विनय विजयजी
शिवस्वरोदय
श्रमण भगवान महावीर कल्याण विजय गणि
(क० वि० शास्त्र संग्रह समिति, जालोर, सं० १९९८)
षट् खण्डागम (सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द, मेलसर)
समतिशतस्थान
समर सिंह
समवायाग (आगमोदय समिति, मेसाणा, सन् १९१८)
समवायाग वृत्ति (आगमोदय समिति, मेसाणा, वृ० अभयदेव सूरि
सन् १९१८)
सागार धर्मामृत (मूलचन्द किसनदास कापडिया, प० आशाधर, टी० देवकीनन्दन
सूरत, वी० सं० २४६६) सि० शास्त्री
सिद्धायत नाम ए नासीर
सुखबोधा (पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र, वलाद, वापा नेमिचन्द्राचार्य
अहमदाबाद, वी० सं० २४६६)
सुत्तनिपात (महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, भिक्षु धर्मरत्न, एम० ए०
सन् १९५७)
सुमगल विलासिनी पाली टेक्स्ट सोसायटी
सुरुचि जातक
सुवर्ण भूमि में कालकाचार्य
सूत्रकृताग चूर्णि (श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी जिनदास गणि
श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४१)
सूत्रकृताग निर्युक्ति (श्री गोडीजी पार्श्वनाथ, भद्रबाहु
जैनदेरासर, पेढी, सन् १९५०)

सूत्रकृतांग वृत्ति (आगमोदय समिति, जैन देरासर, पेढी, सं० १९७३) शीलाङ्काचार्य
सूत्रकृतांग सूत्र (आगमोदय समिति, जैन देरासर, पेढी, सं० १९७३)
सोनक जातक (जातक, खं० ५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, स० २०११) भदन्त आनन्द कौसल्यायन
संक्षिप्त जैन इतिहास
सस्कृति के चार अध्याय (राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट दिल्ली, द्वि० सं०) डॉ० रामधारीसिंह दिनकर
संयुक्त निकाय (महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९५४) अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप
साख्य कौमुदी
साख्य दर्शन (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, स० २०२२), (संस्कृत कालेज, कलकत्ता, सं० १९६६) सं० डॉ० रमाशंकर भट्टाचार्य, श्री भूपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य
स्थानाग वृत्ति (शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सं० १९९४) अभयदेव सूरि
स्थानाग सूत्र (शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सं० १९९४)
हठयोग प्रदीपिका
हरिजन सेवक (३० मई १९४८) नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
हरिवंश पुराण (माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला जिनसेन
हस्तिपाल जातक (जातक, ख० ५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २०११) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
हिन्दू सभ्यता डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी, अनु० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
हिन्दी विश्वकोष सं० नगेन्द्रनाथ बसु

कुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ (प्र० अ० भा० दिगम्बर जैन महासभा, नई सड़क दिल्ली, सन् १९५१)
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र — सं० डॉ० एच० एम० जानसन (ओरिएन्टल इन्स्टीच्यूट, पूना, सन् १९३१)
त्रैविद्यगोष्ठी
ज्ञाताधर्मकथा (आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१९)
ज्ञानसार
ज्ञानार्णव (रायचन्द्र-शास्त्रमाला, बम्बई) — शुभचन्द्राचार्य

1. *Albruni's India*
2. *Ancient Indian Historical Tradition* (Motilal Banarsidas, Delhi, 1962) — F E Pargiter
3. *Ancient India as described in Classical Literature* (Westmaster, 1901) — J W. Mackmidle Burm ngham,
4. *Ancient Geography of India* (Calcutta 1924) — Ed Surendra Majumdar, Shastri
5. *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute* (Poona)
6. *Asiatic Researches*
7. *Ashoka* (Motilal Banarsidas, Delhi 3rd, 1962) — Dr. Radha Kumud Mukherjee
8. *Bulletin of the Deccan College Research Institute* (Poona)
9. *Buddhist India* (Ernest Bern Ltd 1903) — Rhy Davids
10. *Buddhist studies*
11. *Cambridge History of India* (Cambridge 1921) — E. J. Rapson
12. *Dictionary of Pali Proper Names* (Luzac & Co Ltd , London, 1937) — Dr G P Malal shekhar,
13. *Early Faith of Ashoka* — Thomas
14. *Encyclopaedia of Religion and Ethics*
15. *Epigraphica Indica* — Delhi, Calcutta
16. *Gautam the Man*
17. *Geographical and Economic Studies in the Mahabharat*
18. *Hindu Civilisation* — Dr. Radha Kumud Mukherjee

19. *History of Indian Literature* (The University of Calcutta, 1933) — M. Winternitz
20. *History of Sanskrit Literature* (Motilal Banarsidass) — A. A. Macdonell
21. *History and Doctrines of the Ājivikas* (Luzac & Co, Ltd, London, 1951) — Dr. A. L. Basham
22. *History of the World*
23. *India as described in early Texts of Buddhism and Jainism*
24. *Indian Antiquary* (Bombay)
25. *Indian Philosophy* — Dr. S. Radhakrishnan
26. *Indian Wisdom* (London, Luzac, 1893) — Monier-Williams, Sir Monier
27. *Indian Historical Quarterly* (Calcutta)
28. *Indische studien*
29. *Journal of the Bihar & Orissa Research Society*
30. *Jainism in the History of Indian Literature* (Jain Sahitya Sansodhak Pratishthan, Ahmedabad, 1946) — M. Winternitz
31. *Journal of Royal Asiatic Society* (Calcutta)
32. *Kshatriya Clans*
33. *Oxford History of India* (Oxford, 1957) — V. A. Smith
34. *Pali English Dictionary* (Pali Text Society, 1959) — Ed. T. W. Rhys Davids
35. *Political History of Ancient India* (2nd. edn. Calcutta) — H. C. Raychaudhuri
36. *Principal Upanishadas* — Dr. S. Radhakrishnan
37. *Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishadas* — A. B. Keith
38. *Religions of India* — F. Max Muller
39. *Sacred Books of the East*
40. *Some Problems of Indian Literature*
41. *The Jain Canonical Literature* (Royal Asiatic Society, Bombay, 1949) — Dr. Bimal Charan Law
42. *Studies in Indian Antiquities* (The University of Calcutta, 1958, 2nd. edn.) — H. C. Raychaudhuri

43. *Travels of Fa-Hian* (London, 1956, 2nd edn.) H. A. Giles
44 *Uttaradhyayan Sutra* (UPPSALA, 1922) Jarl Charpentier, Ph. D.
45. *Vedas* F. Max Muller
46 *Vedic Mythology* A. A. Macdonell
47. *Wonder that was India* Dr. A. L Basham

परिशिष्ट-३

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१६	उद्धारणों	उद्धरणो
४३	६	नेमि	नमि
६४	२३	व्यक्ति	वापी
६६	१	कहा है	×
७८	२	मेरुदेवी	मरुदेवी
८५	१६	नहीं	यही
६३	७	२६३	३६३
१०४	१	नैतिक	वैदिक
११०	३	ध्यज	ध्वज
१२०	१२	बनाऊँगा	बजाऊँगा
१२२	२४-२६	कीचड विधान।	×
१२३	३	×	कीचड और जीव-जन्तु न हो उस स्थिति मे वर्षाकाल मे भी विहार का विधान।
१२६	२	व्यक्ति	व्यक्तिगः
१३८	२६	×	ब्रह्मचर्य-महाव्रत (१) स्त्रियो मे कथावर्जन (२) स्त्रियो के अग-प्रत्यंगो के अवलोकन का वर्जन (३) पूर्वभुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन (४) अति मात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन (५) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४४	५	जांघो	जाँघो
१४८	३	(७) धनुरासन · पकड लेना।	×
१५४	१२	पश्चिम से पूर्व की ओर जाना	सूर्य ऊपर हो, उस समय जाना।
१६०	२१	२०।१७	३०।२७
१७५	२६	सक्रमण किया	सक्रमण नही किया
१८६	१	व्यान	ध्यान
१८६	२	यान	ध्यान
१९०	१	शररी	शरीर
१९८	३	नहीं	×
२१५	२४	प्रसाद	प्रमाद
२२६	१६	अधर्मास्तिकाय	धर्मास्तिकाय
२३०	४	स्पर्श और संस्थान	रस और स्पर्श
२३८	११	×	५–चतुरिन्द्रिय ६–पचेन्द्रिय
२३९	१-२	५–चतुरिन्द्रिय ६–पचेन्द्रिय	× ×
२४२	८	शरीरो	शरीरो के वर्ण।
२४८	२०	सात	नौ
२६०	३०	ज्ञकरी	शंकरी
३२४	२०	गया	गगा
४५४	१३	कुबला	दुबला
४६७	१७	जो अजीव	जो अजीव केवल